



# भारतीय संस्कृति



लेखक

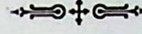
डॉ. दीपक कुमार

भूमिका लेखक

डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'



।। श्रीः ।।
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
508



# भारतीय संस्कृति

लेखक
**डॉ. दीपक कुमार**
वरीय व्याख्याता एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
महाराज महाविद्यालय, आरा-बिहार

भूमिका लेखक
**प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'**
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृतविभाग
पटना विश्वविद्यालय-पटना





**चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन**
वाराणसी

**भारतीय संस्कृति - दीपक कुमार**

ISBN : 978-93-83721-07-8

प्रकाशक :

**चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन**

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के 37/117 गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी 221001
दूरभाष : (0542) 2335263
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in



संस्करण : 2018
₹ 250

वितरक :

**चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस**

4697/2 ग्राउण्ड फ्लोर, गली न. 21-ए
अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली 110002
दूरभाष : (011) 32996391, टेलीफैक्स : 23286537
e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

*

अन्य प्राप्तिस्थान :

**चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान**

38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर
पोस्ट बॉक्स न. 2113
दिल्ली 110007

*

**चौखम्बा विद्याभवन**

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069
वाराणसी 221001

मुद्रक :

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली,

# भूमिका

बीसवीं शताब्दी में भारतीय मनीषियों ने स्वतन्त्रता-संग्राम की बौद्धिक धारा में संस्कृति के अनुशीलन की व्यापक अनुशंसा की तथा पठन-पाठन-लेखन में लगे लोगों ने भारतीय संस्कृति के विविध आयामों की छानबीन शुरू की। एक ओर भारतीय संस्कृति के सैद्धान्तिक पक्षों का विवेचन चल पड़ा तो दूसरी ओर विविध ऐतिहासिक कालखण्डों तथा सांस्कृतिक ग्रन्थों के सांस्कृतिक अनुशीलन की परम्परा का आरम्भ हुआ। शिवदत्त ज्ञानी, वासुदेवशरण अग्रवाल, रामजी उपाध्याय, प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बैजनाथ पुरी जैसे विद्वान् इस क्षेत्र में अग्रगण्य हैं। सुखमय भट्टाचार्य ने महाभारत का, शान्तिकुमार व्यास ने रामायण का तथा कपिलदेव द्विवेदी ने अथर्ववेद का व्यापक सांस्कृतिक सर्वेक्षण किया है। इन अनुप्रयुक्त सर्वेक्षणों या अनुशीलनों का सैद्धान्तिक पक्ष प्रकाशित करने वाले ग्रन्थ फिर भी विरल हैं जो 'भारतीय संस्कृति' की सामान्य श्रेणी में गणनीय हैं। किन्तु इनसे सांस्कृतिक अनुशीलन का नवीन मार्ग तो अनिवार्यतया अनावृत हो गया।

इधर विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में 'संस्कृति' का समावेश भारतीय अस्मिता और महत्ता की दृष्टि से अनिवार्य समझा गया। विशेष रूप से भारतीय इतिहास और संस्कृत के छात्रों के लिए तो अपने देश की संस्कृति के उत्कृष्ट मानकों का अनुशीलन आवश्यक ही है। इतिहास के कुछ समर्थ लेखकों ने भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जयशंकर मिश्र (हिन्दू विश्वविद्यालय) की पुस्तक 'प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास' (दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय द्वारा प्रकाशित) इस दिशा में स्तुत्य प्रयास है। पंढरीनाथ प्रभु की अंग्रेजी पुस्तक Hindu Social Organisation के बीस से अधिक संस्करण इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के रीडर स्व॰ वीरेन्द्रकुमार सिंह ने 'भारतीय संस्कृति' (अक्षयवट प्रकाशन) पर एक छात्रोपयोगी अच्छी पुस्तक लिखी थी। फिर भी अभी भी इस विषय पर अनेक पुस्तकों की आवश्यकता है जिससे संस्कृति का स्वरूप छात्रों के

मानस में प्रभावशाली ढंग से पहुँच सके तथा वे अपने ज्ञान की जीवन-पथ का सहचर (पाथेय) बना सकें।

'समाज' शब्द के समान 'संस्कृति' शब्द भी प्रमेय किन्तु प्राय: अनिर्वचनीय रहा है। यही कारण है कि इन दोनों की अनन्त परिभाषाएँ विद्वानों ने यथावकाश प्रस्तुत की है। पुनः सभ्यता के साथ संस्कृति का मिश्रण भी प्रायः देखा जाता है जो नृतत्त्व-विज्ञान (Anthropology) और समाज-विज्ञान (Sociology) का प्रभाव सूचित करता है। वस्तुतः आधुनिक अर्थ में संस्कृति इन विज्ञानों का ही दिया हुआ शब्द है। तथापि भारतीय परम्परा और बौद्धिकता की दृष्टि से इसे परिष्कृत अर्थ में लेना सम्भव है। जब हम यजुर्वेदीय मन्त्र में 'संस्कृतिर्विश्वधारा' की बात करते हैं तो सर्ववरणीय परिष्कार का ही भाव इसमें आता है। संस्कृति मानव के आत्मिक उत्कर्ष तथा आत्म-साक्षात्कार का मार्ग है। भौतिक सुख के साधनों का विकास करके जीवन को तदनुरूप संचालित करने की प्रवृत्ति सभ्यता है जिसे प्रगतिवादी विचारकों ने भौतिक संस्कृति (Material Culture) की संज्ञा दी है। यह संस्कृति का केवल व्यक्त रूप है, वास्तविक या मौलिक रूप नहीं। वह किसी समाज की पहचान नहीं है। मानव-समुदाय के व्यक्तित्व का निर्माण निरन्तर गतिशील प्रक्रिया से होता है, वही निर्माण संस्कृति का मौलिक अर्थ है। जब मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने के लिए अपने पूरे समुदाय द्वारा स्वीकार्य एक व्यवस्था का निर्माण करता है तो वह व्यवस्था ही संस्कृति का व्यावहारिक अर्थ है।

प्रत्येक राष्ट्र, समाज या समुदाय की व्यवस्था पृथक् होती है। उस पर स्थानीय इतिहास, भूगोल आदि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, अत: संस्कृति-भेद का प्रश्न उठता है। एक समुदाय के लिए जो स्वीकृत आदर्श रूप संस्कृति है, दूसरा समुदाय उसे स्वीकार करे या स्वीकार करके भी उसे आदर्श के रूप में प्रतिष्ठा दे, यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी तो दूसरा समुदाय उसे सर्वथा अस्वीकार करते हुए अवांछनीय कह सकता है। संस्कृति किसी समुदाय की अन्तश्चेतना या प्राण है। निष्प्राण शरीर के समान ही कोई संस्कृतिहीन समुदाय या राष्ट्र होता है। सभी समुदायों के अपने आदर्श, मूल्य और विश्वास होते हैं जिन्हें वे शताब्दियों की परम्परा से धारण किये रहते हैं। उनका ह्रास या मिश्रण होने पर आन्तरिक विरोध होता है, पीढ़ियों का संघर्ष होने लगता है। किन्तु इतिहास में समुदायों का मिश्रण होना अनिवार्य है; कोई-कोई ही ऐसी भाग्यशाली संस्कृति है जिसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ हो।

भारतीय इतिहास में ऐसी चार सांस्कृतिक क्रान्तियों का निरूपण रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में किया है। पहली क्रान्ति तब

हुई जब आर्यों का भारत की आर्येतर जातियों से सम्पर्क हुआ। इसी सम्पर्क के फलस्वरूप भारत की मौलिक संस्कृति बनी थी जिसे आज तक 'भारतीय संस्कृति' के नाम से प्रतिष्ठित किया गया है और जिसके स्रोत वेद, धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराण आदि हैं।

दूसरी सांस्कृतिक क्रान्ति तब हुई जब जैन और बौद्ध धर्म ने उपर्युक्त स्थापित संस्कृति या धर्म के विरुद्ध विद्रोह किया और उपनिषदों की चिन्तन-धारा को वे अपनी अभीष्ट दिशा में ले गये। इससे मूल संस्कृति की सेवा तो हुई किन्तु इस क्रान्ति के सरोवर में शैवाल-जाल भी भर गये। तीसरी क्रान्ति का समय इस्लाम के प्रवेश से आरम्भ होता है। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा इस क्रान्ति का परिणाम है। धर्म के अनेक पथ, कला, शिल्प, परिधान तथा साहित्य का उद्‌गम इसके आयाम हैं। नारियों की प्राचीन स्वतन्त्रता बहुत अधिक नियन्त्रित हो गई। यूरोपीय जातियों के भारत में आगमन से चौथी क्रान्ति हुई। इनके सम्पर्क में तथाकथित संस्कृति को नवजीवन मिला जो आज भारतीय परिसर में सर्वत्र व्याप्त है। अतीत की खोज की प्रवृत्ति भी इससे उत्पन्न हुई।

इन क्रान्तियों को रेखांकित करते हुए भी जब हम शैक्षणिक दृष्टि से 'भारतीय संस्कृति' की चर्चा करते हैं तो मूल रूप से वैदिक-पौराणिक संस्कृति ही हमारी दृष्टि में स्थापित होती है, तथाकथित सामाजिक एवम् अद्यावधि विकसित संस्कृति नहीं। उसकी मौलिक बातों को देखते हुए ही उसके प्रगतिशील रूपों का विवेचन प्रायः संस्कृति के व्याख्याकारों को अभीष्ट रहा है। ऊपर जिन विद्वानों की कृतियों का निर्देश किया गया है, उन सबने अपने ग्रन्थों में यही दृष्टि रखी है। भारतरत्न पाण्डुरंग वामन काणे ने भी अपने विशाल अनेक खण्डात्मक ग्रन्थ 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में भारतीय संस्कृति का शास्त्रमूलक पक्ष ही प्रतिपादित किया है, भले ही अपने समय के साथ विवेचित तथ्यों की प्रासंगिकता दिखाते हुए अपने स्वतन्त्र विचार भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः संस्कृति का कोई भी व्याख्याकार आधुनिक युग को नहीं भूल सकता। देश और काल का अनुरोध रखना ही पड़ता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है पात्र या पाठक वर्ग अर्थात् जिसे दृष्टि में रखकर ग्रन्थ-रचना की जाती है। आज तुलसीदास के समान कोई 'स्वान्तःसुखाय' तो लिखना नहीं चाहता, 'बहुजनसुखाय' या 'बहुजनहिताय' के अतिरिक्त 'जन-विशेष-रञ्जन' ही लेखक का लक्ष्य रहता है, विशेष रूप से पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों पर लिखते हुए तो अवश्य ही 'अधिकारी' को ध्यान में रखना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति का अवगाहन अपने निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के आलोक में करने वाले छात्र-समुदाय तथा इस विषय में सामान्य रूचि रखने वाले पाठकों के

हित–साधन का संकल्प लेकर लिखी गई पुस्तकों में डॉ॰ दीपक कुमार की प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय संस्कृति' अत्यधिक उपादेय है। भारतीय संस्कृति के व्यापक आयाम में जो कुछ भी विवेच्य, प्रमेय तथा अनुसन्धेय है उसके मुख्य उपादान इस ग्रन्थ में पर्याप्त मौलिक प्रमाणों के साथ आ गये हैं। वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, संस्कार, नारियों की स्थिति, विवाह तथा शिक्षा जैसे सामान्य सांस्कृतिक उपादानों पर तो स्वतन्त्र अध्याय इस पुस्तक में हैं ही, कुछ अभिनव पक्षों पर भी लेखक ने गम्भीर विवेचन किया है जैसे–आर्ष महाकाव्यों में विवेचित तात्कालिक संस्कृति, पुराण–कालीन संस्कृति, प्राचीन भारत में अध्यात्म और धर्म की चेतना। अन्त में भारतीय संस्कृति में यज्ञ की महत्ता पर स्वतन्त्र अध्याय देकर इसका गम्भीर एवं व्यापक विवेचन डॉ॰ दीपक कुमार ने किया है। इस आपा–धापी के कोलाहलपूर्ण युग में भी स्वभाव से शान्त, गम्भीर तथा मौन साधना में संलग्न इस अत्युपयोगी ग्रन्थ के लेखक को मैं बहुत–बहुत बधाई देता हूँ तथा आशीर्वाद प्रदान करता हूँ कि वे इसी प्रकार अपनी रचनाओं से साहित्य–कोषागार की वृद्धि–समृद्धि करते रहें जिससे पाठकों–छात्रों का बृहत् समुदाय उनका कृतज्ञ रहे।

भी–33, विद्यापुरी
कंकड़भाग, पटना–20

उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
23. 06. 2010
पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष,
पटना विश्वविद्यालय

# प्राक्कथन

"भारतीय संस्कृति" हम भारतीयों को हमारी सांस्कृतिक सम्पदा को समझने हेतु पाठकों तथा समीक्षकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस विषय पर कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं, तब भी इसकी आवश्यकता है। यहाँ भारतीय सामाजिक संस्थाओं की अविच्छिन्न परम्परा को दर्शाने का प्रयास किया गया है, जो सत्य, त्याग, तप, दया, दान एवं धर्ममूलक अर्थ, काम एवं मोक्ष पर आधृत है। हमारा विपुल संस्कृत वाङ्मय संतुलित समन्वयकारी, सत्य, सनातन एवं अमर जीवन प्रदान करने वाली भारतीय संस्कृति का संरक्षक रहा है। जिन संस्कृत वाङ्मयों के माध्यम से हम भारत के गौरवपूर्ण अतीत और हमारे देश के प्राण-तत्त्व रूप भारतीय संस्कृति को समझते हैं उन संस्कृत वाङ्मयों से प्रसङ्गानुकूल यथासंभव उद्धरण लिए गए हैं तथा उनके अवलोकन के आधार पर भारतीय सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इन सामाजिक संस्थाओं की उपादेयता या अप्रासङ्गिकता को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

प्रथम अध्याय में सभ्यता एवं संस्कृति के बीच मौलिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि संस्कृति का अर्थ वह शिक्षा-दीक्षा है जिससे मनुष्य अपनी 'प्रकृति' से परिमार्जित होकर उन्नति की ओर अग्रसर हो तथा विकृतियों से दूर रहकर अवनति से बचा रह सके। यहाँ भारतीय संस्कृति के व्यापक क्षेत्र को दर्शाया गया है जिसमें धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, साहित्य, समाज तथा रीति-रिवाज सभी समाविष्ट हो जाते हैं। यहाँ भारतीय संस्कृति के इस विविध रूप को दर्शाया गया है।

भारतीय समाज में संतुलन हेतु वर्ण व्यवस्था की अवधारणा आर्यों की अनोखी कल्पना थी, जिसपर सदियों भारतीय समाज आधारित रहा है यद्यपि आधुनिक संदर्भ में यह व्यवस्था विखण्डित दीख पड़ती है। इस पुस्तक में वर्ण व्यवस्था के आधुनिक स्वरूप पर भी चर्चा की गयी है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था का द्वितीय आधार था आश्रम व्यवस्था। यह समाज के साथ-साथ मानव जीवन को सुनियोजित और सुव्यवस्थित करने का प्रधान आधार रहा है। दुर्लभ मनुष्य योनि को सर्वोत्तम एवं

सुन्दर बनाने के लिए पुरुषार्थ चतुष्टय की परिकल्पना का अवलोकन भी किया गया है। यहाँ यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार मानव जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए चार पुरुषार्थों का अनुपालन आवश्यक है। जीवन को परिमार्जित करने में सहायक सोलह संस्कारों की पृथक् अध्याय में चर्चा है जिसमें उपनयन संस्कार के महत्त्व को दर्शाते हुए समाज पर उसके परवर्त्ती कुप्रभावों को भी दर्शाने का प्रयास किया गया है। वर्तमान संदर्भ में इन संस्कार विधियों में आए परिवर्तन पर भी एक दृष्टि डाली गयी है।

आज की शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा धन द्वारा अर्जित की जाती है बच्चों के चारित्रिक मूल्य गौण होते जा रहे हैं। मातृभाषा एवं राष्ट्र भाषा की उपेक्षा हो रही है। बच्चे अवज्ञा करते हैं तथा विपथगामी होते जा रहे हैं। प्राचीन शिक्षा पद्धति में भारतीयशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन किस प्रकार होता था, यह शिक्षा-पद्धति व्यक्तित्व के सर्वोन्मुखी विकास में किस प्रकार सहायक थी, इस दृष्टि से प्राचीन शिक्षा पद्धति को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

'हिन्दू विवाह' नामक अध्याय में प्राचीन विवाह के विभिन्न प्रकारों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए विवाह नामक संस्था की उपयोगिता पर चर्चा की गयी है तथा विवाह नामक संस्था में हो रहे व्यापक परिवर्तन को भी दर्शाया गया है।

संस्कृत वाङ्मय एक ओर नारी के शौर्य साहस, सहयोग, विद्वत्ता, विद्रोह एवं कुर्बानियों की कथाओं से भरा पड़ा है। जहाँ नारी समाज में अत्यन्त आदृत थीं जिनका कालान्तर में सामाजिक अवमूल्यन हुआ। पुनः इस नवजागरण काल में नारियाँ आत्मसम्पन्नता की ओर अग्रसर हो रही हैं तथा अबला जैसी दुर्बल भावनाओं से दूर होती हुए स्त्री-सशक्तिकरण की ओर बढ़ रही हैं। 'प्राचीन काल में नारियों की स्थिति' नामक अध्याय में विभिन्न काल में नारियों की सामाजिक दशा का वर्णन किया गया है।

पुराणकालीन संस्कृति की विशेषताओं पर एक पृथक् अध्याय में चर्चा की गयी है जो भक्ति एवं विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के उत्कर्ष का काल था। भारतीय समाज में ब्राह्मणवादी धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध असंतोष के प्रति समाज में समरसता पैदा करने में पुराणों की भूमिका अहम रही है, यह दर्शाना इस अध्याय का मूल उद्देश्य है। आर्ष महाकाव्यकालीन संस्कृति नामक अध्याय में तत्कालीन आर्य संस्कृति एवं आर्येतर संस्कृतियों का उल्लेख पृथक्-पृथक् कर इन दोनों संस्कृतियों के बीच के वैचारिक भेदों को भी दर्शाया गया है, जो उनको सांस्कृतिक रूप से पृथक्-पृथक् करते थे। रामायण में वर्णित 'वानर संस्कृति' एवं 'राक्षस संस्कृति' के बीच अन्तर को भी दर्शाया गया है।

अगले अध्याय में वैदिक धर्म एवं उपनिषद् कालीन आध्यात्मिक चिंतन का सांस्कृतिक प्रभाव दर्शाया गया है। भारतीय जीवन में अन्य वैदिकेतर धर्मों के प्रति हिन्दुओं की आस्था, प्राकृतिक शक्तियों के प्रति हिन्दुओं का विश्वास एवं वैदिक कर्मकाण्ड जैसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक विषयों को इस अध्याय में सम्मिलित किया गया है। भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराओं का संक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत अध्याय का वर्ण्य-विषय है। भारतीय संस्कृतियों में यज्ञों का अत्यन्त महत्त्व रहा है। हिन्दुओं के संस्कारों में यज्ञ की भूमिका रही है। यज्ञों की उपादेयता को दर्शाने का प्रयास भी लेखक का रहा है, जिसे पृथक् अध्याय में दर्शाया गया है। पृथक्-पृथक् यज्ञों के सामाजिक महत्त्व को दर्शाते हुए यज्ञ संबंधी पारिभाषित शब्दावली की भी व्याख्या दी गयी है।

गुरुवर प्रोफेसर मदन मोहन अग्रवाल (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) का लेखक पर सर्वदा स्नेह रहा है। समय-समय पर इनकी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं एवं बहुमूल्य विचारों द्वारा लेखक का मार्ग दर्शन होता रहा है। इन्हीं के प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद का प्रतिफल यह पुस्तक है।

पूज्य दिवंगत पिता प्रो. केदारनाथ ब्रह्मचारी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, अनुग्रह नारायण सिंह महाविद्यालय, बाढ़) ने वैदिक संस्कारों द्वारा लेखक में वैदिक वाङ्मय एवं उपनिषदीय चिंतन-धाराओं के प्रति जो अवधारणा दी है, इससे पुस्तक लेखन में लेखक की दृष्टि वैदिक साहित्यों के प्रति सुस्पष्ट है।

पुस्तक लिखने के क्रम में आदरणीय माता श्रीमती (डॉ.) शांति ब्रह्मचारी (पूर्व अध्यक्ष, बाढ, नगर परिषद्) ने भी लेखक को समय-समय पर प्रेरित किया, जिससे पुस्तक लेखन में शीघ्रता हो सकी।

निरंतर लेखन के क्रम में दो पुस्तकों के प्रकाशन से प्रोत्साहित होकर इस पुस्तक को लिखने का परम आग्रह चौखम्बा सुर भारती के प्रबंध निर्देशक श्री नीरज गुप्ता जी का था, जिन्होंने विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक के लेखन हेतु बार-बार अनुरोध किया, जिसे टालना संभव नहीं था। अन्य व्यस्तताओं के बीच भी इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में दो वर्ष (2008-2009) लग गए। लेखन के साथ-साथ अक्षर संयोजन (कम्पोजिंग) का कार्य भी श्री राकेश कुमार द्वारा होता रहा, जिससे इसका प्रकाशन त्वरित हो सका है। शीघ्रता में यदि कहीं कोई अशुद्धि रह गई है तो लेखक इसके लिए क्षमार्थी है।

भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अतीव विस्तृत रहा है जिसमें धर्म, दर्शन इतिहास, साहित्य, समाज, रीति-रिवाज सभी समाविष्ट हो जाते हैं। इस विविधरूपिणी एवं बहुमुखी विशाल सांस्कृतिक सम्पदा को उद्घाटित करने की सफलता पाठकों,

समीक्षकों और भारतीय संस्कृति के प्रसारकों पर है, यदि वे पुस्तक को पढ़कर संतुष्ट हो जाते हैं।

204, शिव एपार्टमेन्ट
(गायत्री मन्दिर के सामने)
लोहियानगर, कंकडबाग
पटना (बिहार)
पिन–800020

दीपक कुमार

# विषय-सूची



# संकेत-सूची

| | | |
|---|---|---|
| अथर्व॰ | – | अथर्ववेद |
| अर्थ॰ | – | कौटिल्य अर्थशास्त्र |
| अनु॰/अनु॰ पर्व | – | अश्वमेधिक पर्व |
| अभिज्ञान॰ | – | अभिज्ञान शाकुन्तलम् |
| अयोध्या॰ | – | अयोध्याकाण्ड |
| अश्व॰ पर्व | – | अश्वमेधिक पर्व |
| अष्टा॰ | – | अष्टाध्यायी |
| आश्व॰ गृ॰ सू॰ | – | आश्वलायन गृह्यसूत्र |
| आप॰ ध॰ सू॰ | – | आपस्तम्ब धर्मसूत्र |
| आ॰ ध॰ सू॰ | – | आश्वलायन धर्मसूत्र |
| ईशा॰ | – | ईशावास्योपनिषद् |
| ऐ॰ ब्रा॰ | – | ऐतरेय ब्राह्मण |
| ऋ॰ | – | ऋग्वेद |
| कठ॰ | – | कठोपनिषद् |
| का॰ | – | काशिका |
| का॰ गृ॰ सू॰ | – | कामन्दक ग्रह्यसूत्र |
| कात्या॰ श्रौ॰ सू॰ | – | कात्यायन श्रौत सूत्र |
| कात्या॰ | – | कात्यायन |
| कौ॰ ब्रा॰ | – | कौशीतकी ब्राह्मण |
| कौ॰ अर्थ॰ | – | कौटिल्य अर्थशास्त्र |
| खादि॰ गृ॰सू॰ | – | खादिर गृह्यसूत्र |
| गाथा सप्त॰ | – | गाथा सप्तशती |
| गो॰ गृ॰ सू॰ | – | गोभिल गृह्यसूत्र |
| गो॰ ध॰ सू॰ | – | गौतम धर्मसूत्र |
| छान्दो॰/छा॰ उप॰ | – | छान्दोग्य उपनिषद् |
| तै॰ उप॰ | – | तैत्तिरीय उपनिषद् |
| तै॰ आ॰ | – | तैत्तिरीय आरण्यक |
| तै॰ सं॰ | – | तैत्तिरीय संहिता |

| | | |
|---|---|---|
| द्राह्य॰ गृ॰ सू॰ | – | द्राह्यायन गृह्यसूत्र |
| नारद॰ | – | नारद स्मृति |
| नी॰ वा॰ | – | नीतिवाक्यामृत |
| परा॰ स्मृ॰ | – | पराशर स्मृति |
| पा॰ गृ॰ सू॰/पार॰ गृ॰ सू॰ | – | पारस्कर गृह्यसूत्र |
| बौ॰ गृ॰ सू॰ | – | बौधायन गृह्यसूत्र |
| बौ॰ ध॰ सू॰ | – | बौधायन धर्मसूत्र |
| ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰ | – | ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य |
| बृ॰उ॰/बृहदा॰उप॰ | – | बृहदारण्यकोपनिषद् |
| बृह॰ स्मृ॰ | – | बृहस्पति स्मृति |
| भर्तृ॰ | – | भर्तृहरि |
| भाग॰ पु॰ | – | भागवत पुराण |
| मनु॰ | – | मनुस्मृति |
| महाभा॰/महा॰ | – | महाभारत |
| मालविका॰ | – | मालविकाग्निमित्रम् |
| मुण्डक॰/मुण्डको॰ | – | मुण्डकोपनिषद् |
| मीमां॰ शाङ्कर भा॰ | – | मीमांसासूत्र शाङ्करभाष्य |
| यजु॰ | – | यजुर्वेद |
| याज्ञ॰/याज्ञ॰ स्मृति | – | याज्ञवल्क्य स्मृति |
| रघु॰ | – | रघुवंश |
| लाट्या॰ | – | लाट्यायन श्रौतसूत्र |
| व॰ ध॰ सू॰ | – | वशिष्ट धर्मसूत्र |
| वा॰ रामा॰ | – | वाल्मीकि रामायण |
| वाजस॰ सं॰ | – | वाजसनेयी संहिता |
| वारा॰ गृ॰ सू॰ | – | वाराह गृह्यसूत्र |
| वा॰ | – | वार्तिक |
| विक्रमा॰ | – | विक्रमाङ्कदेवचरित |
| वि॰ स्मृ॰ | – | विष्णु स्मृति |
| वीर मित्रो॰ | – | वीर मित्रोदय |
| शत॰ ब्रा॰ | – | शतपथ ब्राह्मण |
| शान्ति/शां॰ पर्व | – | शान्ति पर्व |
| शुक्रनी॰/शु॰नी॰ | – | शुक्रनीति |
| शङ्ख॰ | – | शङ्खस्मृति |
| शांखा॰ श्रौ॰ सू॰ | – | शांखायन श्रौतसूत्र |
| स्क॰ पु॰ | – | स्कन्द पुराण |
| श्रीमद्॰ | – | श्रीमद्भगवद्गीता |
| श्रीमद्भागवद् | – | श्रीमद्भागवद्महापुराण |

# अध्याय-1
# संस्कृति

संस्कृत में संस्कृति शब्द 'सं' पूर्वक 'कृ' धातु से क्तिन्' प्रत्यय लग कर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है - संवारना, सजाना, परिष्कृत करना, अलंकृत करना, शुद्ध अथवा परिमार्जित करना। विशेष संदर्भ में इसका अन्य अर्थ भी है, यथा - मंत्रोच्चारण द्वारा परिमार्जित, प्रबोधित अथवा शिक्षित करना, संचित अथवा इकट्ठा करना, सुन्दर एवं सम्पूर्ण सृजन। संस्कृति को किसी निश्चित परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उसकी अनुभूति कृति से, प्रदर्शन से और उदाहरणों से होती है। विशिष्ट भू-भाग, जन समूह, निवास की लम्बी कालावधि तथा विशिष्ट जीवन मूल्यों के प्रति उस क्षेत्र के नागरिकों की आस्था व मान्यता संस्कृति के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। इनके अलावा इनमें दार्शनिकता का विशिष्ट एवं निखरा हुआ रूप भी समाविष्ट होता है।

हिन्दी भाषा में संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति अंग्रेजी के 'Culture' शब्द अथवा लैटिन के 'Culture' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'कर्षण' अथवा कृषि कर्म करना (to cultivate) । इसी से Agriculture अर्थात् कृषि कर्म, Fishiculture मत्स्यकर्म, horticulture बागवानी जैसे शब्दों का निर्माण हुआ है। Webster शब्दकोष में Culture शब्द का अर्थ है - जोतने की क्रिया अथवा अभ्यास, उपचित अथवा समुन्नत बनाने में श्रम अथवा साधनों का उपयोग, संस्कार से परिपूर्ण होने की अवस्था, संस्कार का परिणाम, शारीरिक सुधार, मानसिक प्रयत्न द्वारा अर्जित प्रकाश, परिष्कार अथवा अनुशासन।

उपर्युक्त अर्थों से एक बात यह स्पष्ट होती है कि परिमार्जन मनुष्य का अपना प्रयत्न है, एक आभ्यन्तर प्रयास है जो हमें प्रकृति द्वारा सहज प्राप्त नहीं हुआ है। वस्तुतः ये अर्थ हमलोगों में सौष्ठव एवं संस्कार के द्योतक हैं। संस्कृति मानव-जीवन के उन समस्त तत्त्वों की समष्टि का नाम है, जिनकी धर्म और दर्शन से उदय होकर कला-कौशल, समाज एवं व्यवहार में परिणति होती है। के.एम.मुन्शी ने बताया है कि ''हमारे रहन-सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था है जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है, वही संस्कृति है। संस्कृति जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण है।'' मैथ्यू आर्नोल्ड के मत में ''किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति हैं जिनसे समाज, राष्ट्र परिचित होता है। ''शिवदत्त ज्ञानी के अनुसार'' शारीरिक

मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों का विकास संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति में जो संस्कृति जितना अधिक योगदान करेगी, वह संस्कृति उतना ही उत्कृष्ट कहलाएगी। मनुष्य यह उत्कर्ष बुद्धि, शिक्षा एवं संस्कारों के सहयोग से प्राप्त करता है। अत: संस्कृति का संबंध मानवीय बुद्धि, स्वभाव एवं उनकी मनोवृत्तियों से होता है। ये विशेषताएँ या तो स्वत: महान् होती हैं अथवा महत्ता को जन्म देती हैं। अतएव इसे साध्य एवं साधन दोनों रूपों में जाना जा सकता है। जब संस्कृति व्यष्टि तक सीमित होती है, तो व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं किन्तु यही जब समष्टि को आवृत्त कर लेती हैं तो वह राष्ट्रीय चेतना को विकसित करती है। जिनसे साहित्य, धर्म और दर्शन विकसित होते हैं। एक बात और संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका होने के कारण धार्मिक विश्वास से भी सम्बद्ध है। अनेक शिक्षाविदों ने संस्कृति की परिभाषाएँ देते हुए कहा है-

1. **सत्यकेतु विद्यालंकार** - मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसको संस्कृति कहते हैं।

2. **श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य** - किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।

3. **उपाध्याय विद्यानन्दमुनि** - संस्कृति संस्कारों के पुंज का नामान्तर है।

4. **डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल** - संस्कृति का अर्थ है-संस्कार सम्पन्न जीवन। ये संस्कार मन, कर्म और वचन के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। विश्व के विराट् मंच पर स्वयं प्रकृति इन संस्कारों को उत्पन्न करती है।

5. **श्री प्रभुदयाल मीतल** - मानव-समाज के वे सब संस्कार जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं, उसके सर्वाङ्गीण जीवन का निर्माण करते हैं, उसकी संस्कृति कहे जाते हैं। संस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है। इसमें उक्त देश, जाति या समाज के चिन्तन-मनन, आचार-विचार, रहन-सहन, बोली-भाषा, वेशभूषा, कला-कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है।

## भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

अनेक संस्कृत मनीषियों ने भारतीय संस्कृति पर अपनी सोंच व्यक्त की है। डॉ. रामजी उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति में सार्वजनिकता, सर्वाङ्गीणता, देवपरायणता, धर्मपरता, आश्रम-व्यवस्था, आध्यात्मिकता, कर्मफल, सर्वे सुखिन: सन्तु, नि:सीमता, सनातनता, समृद्धिशालिता, श्रेष्ठों का आदर्श एवं तप: प्रधानता जैसी तेरह विशेषताएँ

बतायी हैं।[1] इन विशेषताओं में स्पष्ट तौर पर भारतीय संस्कारों एवं वर्ण व्यवस्था जैसे प्रमुख बिन्दुओं पर ध्यान न देकर धर्मपरायणता, तप:प्रधानता एवं देवपरायणता जैसी विशेषताएँ भारतीय संस्कृति के एक ही पक्ष की पुनरुक्ति हैं।

'भारतीय संस्कृति' नामक अपने ग्रन्थ में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र ने भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को इंगित करते हुए कहा है कि भारतीय संस्कृति किसी व्यक्ति या किसी एक ग्रन्थ पर आधारित न होकर चिरंतन विकास का परिणाम है। संसार परिवर्तनशील है अतएव समाज में सभी काल में एक ही प्रकार की मर्यादा नहीं चल सकती। अतएव प्रत्येक युग की भारतीय संस्कृति में परिवर्तन निश्चित ही है। अतएव संस्कृति में परिवर्तन का मूल कारण विभिन्न काल खण्डों में बौद्धिक सोंच का तौर-तरीका है। डॉ. मिश्र ने भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता को प्रमुख माना है। उनका कहना है कि ''आरम्भ से ही भारतीयों की दृष्टि प्रकृति के पार की वस्तुओं की खोज में केन्द्रित थी। आत्मा और परमात्मा, मृत्यु और अमरत्व, बंधन एवं मोक्ष के रहस्य जानने की ओर उन्होंनें अपनी अधिक रुचि दिखाई है। व्यावहारिक मानव जीवन में धर्म, अर्थ और काम के साथ आध्यात्मिकतानुमोदित मोक्ष तत्त्व को जोड़कर सर्वाङ्गीण पुरुषार्थ की कल्पना की गयी और इन चारों पुरुषार्थों के सम्यक् प्राप्ति का आग्रह किया गया।'' वस्तुत: यह भारतीय संस्कृति की कर्त्तव्य-बोध के प्रति सजगता दिखाता है जबकि पाश्चात्य संस्कृति अधिकारों के संघर्षजन्य विचारों पर आधारित है।

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता को जोड़कर डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार भी देखते हैं। उनका भी कहना है कि भारतीय संस्कृति भौतिकवादी न होकर अध्यात्म आधारित हैं। धर्म का अनुसरणकर अर्थ की उपलब्धि करने, धर्मानुसार 'काम' का सेवन करने और मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य बनाकर ही मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है। इस सर्वांगीण उन्नति का आधार वर्णाश्रम-व्यवस्था है। बाह्य एवं अन्त: तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम भारतीय संस्कृति हैं जिसमें द्रविड, ग्रीक, शक, हूण, अफगान, मुगल आदि अनेक विविध जातियों के विचार, विश्वास एवं परम्पराओं का सम्मिश्रण है जो भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण सहिष्णुता का द्योतक है। इसमें जैन, बौद्ध एवं पौराणिक विचारों की समानान्तर धारा है।[2]

विश्ववन्द्य एवं सर्वग्राह्य भारतीय संस्कृति की इन विशेषताओं के बीच हिन्दू संस्कृति पर यदि दृष्टि डालें, तो यह भी न्यूनाधिक परिवर्तन के बाद भी अपने मौलिक रूप में विद्यमान है। वे मन्त्र, उपनिषद्, गीता-दर्शन आदि हिन्दू सम्प्रदाय के

---

1. भारतीय संस्कृति का उत्थान, पृ. 8-11
2. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ. 12-17

जीवन-दर्शन का आधार हैं। इनमें वर्णित सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का उपदेश आज भी भारतवासियों को कर्णप्रिय है। हिन्दू संस्कृति राग-द्वेष, काम-क्रोध से लिप्त संसार से हटकर आध्यात्मिकता से जुड़ी है। सभी षड्-दर्शन इसी आध्यात्मिकता पर बल देते हैं। हिन्दुओं के प्रत्येक कार्य आत्मा एवं परमात्मा से सम्बद्ध दिख पड़ते हैं -

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।**
**येन जातानि जीवन्ति।**
**यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति।**
**तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म ति। तैत्तिरीय**

आत्मा को अजर, अमर, शाश्वत एवं अविनाशी कहकर हमें आशावान् बनाया गया है -

**न जायते म्रियते वा कदाचित्**
**नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो**
**न हन्यते हन्यमाने शरीरे।**

हिन्दू संस्कृति आस्तिक है। हिन्दुओं की धारणा है कि सबकुछ ईश्वर में है एवं ईश्वर सब में है। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से व्यक्ति का एकाकीपन दूर हो जाता है -

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।**
**नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम् अग्निः।**
**तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम्।**
**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।**

ईश्वर के प्रति आस्था हिन्दुओं को धर्म-परायण बनाती है। पुरुषार्थ-चतुष्टय में भी मोक्ष के अतिरिक्त धर्म को प्रमुख स्थान प्राप्त है-

**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'**

पूज्य जनों के प्रति आदरभाव, विद्याध्ययन, संस्कार, प्रजा-पालन आदि हिन्दुओं के लिए धर्म के अन्तर्गत थे। कर्त्तव्यपालन करना ही धर्म समझा जाता था। धर्म में देव-स्तुतियों का भी प्रमुख स्थान था। वैदिक युग में देवताओं का रूप अमूर्त्त था। प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति होती थी। यथा-इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, सूर्यादि। किन्तु, उत्तरोत्तर इन प्राकृतिक शक्तियों का मानवीयकरण किया गया तथा पौराणिक युग में ये दिव्य शक्तियाँ मूर्त्त रूप ले लीं। इनका मानवीयकरण ही नहीं हुआ, बल्कि धर्म की स्थापना एवं अत्याचार दूर करने के लिए अवतारों की कल्पना की गयी–

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**

**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥** गीता

भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषता पुनर्जन्म की अवधारणा है जो इन्हें सत्कर्मों के प्रति प्रेरित करती है। शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल मनुष्य को पुनर्जन्म होने पर भोगना पड़ता है। कर्म-फल को भाग्यवाद से जोड़कर देखा जाता है। पुनर्जन्म की अवधारणा ने हिन्दुओं को प्रेय की जगह श्रेय की ओर प्रेरित किया है।

प्राचीन ऋषियों के लिए यज्ञों का बहुत महत्त्व था, जिसे लौकिक जीवन से भी जोड़ दिया गया था। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ एवं अतिथि-यज्ञ जैसे पाँच यज्ञ गृहस्थों के लिए निश्चित किए गये थे, जो लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण की कामना से किए जाते थे। यज्ञों का सम्पादन इष्ट की साधना के लिए होता था।

मानव के व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए चार पुरुषार्थों की कल्पना की गयी थी। ये चार पुरुषार्थ थे - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म, अर्थ, काम ये तीन पुरुषार्थ मनुष्य को मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख करते थे। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों में सुनियोजित करने के लिए विभाजित किया गया था -

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहूः राजन्यः कृतः।**

**उरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥** ऋ॰ 10.90.12

ब्राह्मण का कार्य शिक्षा संबंधी था, क्षत्रिय को समाज की रक्षा का भार मिला हुआ था, वैश्य व्यापार में संलग्न रहकर सभी का पालन-पोषण करते थे और शूद्रों का कार्य सबों की सेवा या परिश्रमपूर्ण कार्यों को करना था।

हिन्दुओं ने **'जीवेम शरदः शतम्, पश्येम शरदः शतम्.......** की इच्छा प्रारम्भ से ही की थी। शतायु की इच्छा करने के कारण ही जीवन को चार आश्रमों में विभक्त कर दिया गया था। ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम आश्रम था, जिसमें ब्रह्मचारी रूप में व्यक्ति विद्या-ग्रहण करता था। गृहस्थाश्रम में विवाह के उपरान्त सन्तानोत्पत्ति एवं गृहस्थ जीवन का निर्वाह किया जाता था। वानप्रस्थाश्रम में आने पर लोग भौतिक एवं पारिवारिक जीवन छोड़कर वन की ओर प्रस्थान कर जाते थे तथा संन्यास आश्रम में लोग जीवन के अन्तिम चरण में जाते थे और मोक्ष की कामना करते हुए तदनुकूल आचरण करते थे। ये आश्रम प्रथम तीन वर्णों पर ही नियम पूर्वक लागू होते थे, शूद्रों को आश्रम-व्यवस्था से मुक्त रखा गया था।

आर्यों ने मानसिक एवं शारीरिक उन्नति के लिए मानव-जीवन को संस्कारों से बाँध रखा था तथा माँ के गर्भ से लेकर शरीर के छोड़ने तक सोलह संस्कारों द्वारा शरीर एवं मन को सुसंस्कृत करने की व्यवस्था की गयी थी। प्रत्येक संस्कारों को

धार्मिक कृत्य बना दिया गया था। इन संस्कारों को मन्त्रोच्चारण द्वारा पूर्ण विधि-विधान से किया जाता था।

आर्य-परिवार संयुक्त-परिवार के पक्षधर थे। यहाँ अतिथियों, अग्रजों, गुरुओं तथा अन्य प्राणियों के प्रति आदर-भावना थी। **'अतिथि देवो भव'** की उक्ति आर्यों के आतिथ्य सत्कार की भावना प्रदर्शित करता है। अतिथि यज्ञ एवं प्राणियज्ञों की कल्पना अतिथि एवं अन्य प्राणियों के प्रति सद्भावना को प्रदर्शित करता है। आर्यों ने सम्पूर्ण जगत् को परिवार के रूप में देखा था (**वसुधैव कुटुम्बकम्।**) **''संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।''** या **''सह ना ववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं कर्वावहै। तेजस्विना वधीतमस्तु विद्विषावहै।।''** जैसी पंक्तियाँ आर्यों के सहयोग भावना या मिलकर कार्य करने की भावना को प्रदर्शित करते हैं। आर्यों की सहधर्मिता का चरमोत्कर्ष इनके विश्वकल्याण की भावना में भी दिख पड़ता है -

**'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः।**

**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्।।**

हिन्दुओं ने मानव शरीर को परोपकार का साधन माना है **'परोपकाराय शतां विभूतयः'**। हिन्दुओं की दृष्टि में शरीर के साथ प्रकृति भी हमारे लिए परोपकार हेतु ही है -

**परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय वहन्ति नद्याः।**

**परोपकाराय विभाति सूर्यः, परोपकारार्थमिदं शरीरम्।।**

आर्यों की आध्यात्मिक प्रवृत्ति यह स्पष्ट करती है कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है अतएव प्राप्त के प्रति निष्काम भाव रखना चाहिए -

**ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।**

**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।। ईशावास्य**

**'आचारः परमो धर्मः'** आर्यों के सद् आचरण का द्योतक है। सदाचार भारतीयों की जीवन-शैली है। उपनिषदों के ये कथन **'सत्यं वद, धर्मं चर'** आर्यों के मर्यादित जीवन की पुष्टि करते हैं।

इस प्रकार हमें भौतिक उन्नति के बीच आध्यात्मिक उत्कर्ष का समन्वय भारतीय संस्कृति में प्राप्त होता है।

### संस्कृति और सभ्यता

भारतीय संस्कृति की चर्चा में अधिकांश संस्कृत मनीषियों ने 'संस्कृति' शब्द पर ही विचार किया है, 'सभ्यता' शब्द पर उनका विचार उपेक्षित है। डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र संस्कृति को सभ्यता का बौद्धिक अंग बताते हैं। उनकी यह धारणा बिल्कुल

सही प्रतीत होती है। उदाहरणतया हमारे घर जब कोई व्यक्ति आता है तब हम उसका अभिवादन करते हैं, उसे बैठने के लिए कटादि आसन देकर जलपान कराते हैं। हमारे द्वारा की जाने वाली ये क्रियाएँ हमारे आतिथ्य भाव की धारणा पर आधारित है क्योंकि हमारे यहाँ अतिथि को देवता समान मानते हैं (**अतिथि देवो भव**)। इस प्रकार आतिथ्य सत्कार में किया गया कार्य निश्चत ही हमारी धार्मिक मान्यताओं पर आधृत होने के कारण है। अतएव आतिथ्य सत्कार में किये गये कार्य यथा, आसन देना, जलपान कराना आदि हमारी सभ्यता है और आतिथ्य भाव की धारणा हमारी संस्कृति है। यही सभ्यता एवं संस्कृति के भेद का मूल है। अतः हम संस्कृति को आभ्यन्तर एवं सभ्यता को बाह्य प्रयास मान सकते हैं।

पाश्चात्य मनीषियों के अनुसार संस्कृति सभ्यता का बौद्धिक अंग न होकर नैतिक अंग है। साथ ही, उनका मानना है कि 'संस्कृति न केवल मांजने, संवारने अथवा शुद्धिकरण की क्रिया है वरन् वह मांजी-संवारी अथवा शुद्धिकृत स्थिति भी है। यह शुद्धिकरण विचार, रुचि और आचार का है अर्थात् पूरे मानव जीवन का शुद्धिकरण ही संस्कृति है। वस्तुतः मानव विवेकशील एवं सचेतन प्राणी है। उसमें कार्य करने की शक्ति एवं इच्छा है। अतः वह गतिशील है। विवेकशील होने के कारण मनुष्य में विशिष्ट ज्ञान तथा समन्वय है। अनुभव एवं अभ्यास द्वारा मानव में ज्यों-ज्यों विकास होता है वैसे-वैसे उसकी संस्कृति विकसित होती है। इसी प्रकार अनुभव और अभ्यास से मानव-आचरण में एवं रहन-सहन की पद्धति में जैसे-जैसे वैभव एवं सौष्ठव आता है वैसे-वैसे सभ्यता उत्कर्ष को प्राप्त करती है।

ज्ञान और कर्म का हमारे जीवन में अन्योन्याश्रय संबंध है। जिसप्रकार जीवन की रक्षा, सुविधा एवं समृद्धि के लिए विभिन्न तकनीकों का पालन संचित कर्म-राशि का बोध कराती है, उसी प्रकार समुदाय-विशेष का धर्म, दर्शन एवं सौन्दर्यबोध उस समुदाय के विचारों की गुणात्मक गुणवत्ता को द्योतित करता है। अतः एक सम्पूर्ण समाज के संदर्भ में ये ही क्रमशः सभ्यता एवं संस्कृति के मानदण्ड बन जाते हैं। डॉ. रामजी उपाध्याय का भी ऐसा ही मत है - ''प्राकृतिक जीवन को व्यवस्थित एवं शालीन बनाकर संवारना तथा जीवन में आध्यात्मिक, कलात्मक और सेवात्मक पक्ष की प्रतिष्ठा और विकास करना संस्कृति है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति मानव व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया है। संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना अथवा सुन्दर या परिपूर्ण बनाना है''।[1] सत्यकेतुविद्यालंकार का मानना है कि ''प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों, तत्त्वों एवं शक्तियों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसी को हम सभ्यता कहते हैं ..... मनुष्य अपनी

1. संस्कृति का उत्थान, पृ. 4

बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को संस्कृति कहते हैं। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस प्रकार से प्रयोग करता है, उससे उसकी सभ्यता का निर्माण होता है। पर चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम 'संस्कृति' के रूप में प्राप्त होता है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य, संगीत एवं कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं व संस्थाओं को विकसित किया - उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं।''[1]

उपर्युक्त मन्तव्यों के आधार पर सभ्यता एवं संस्कृति के अर्थों में अन्तर किया जा सकता है-सभ्यता का अर्थ होता हैं तकनीक तथा वह वस्तुपरक जानकारी जो सामाजिक रूप से संचित की जा सकती है, संस्कृति का अर्थ होता है विषयीगत धर्म, दर्शन तथा सौन्दर्य-बोध, जो जोड़े जाने योग्य नहीं है। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति दोनों का संबंध मानवजीवन के परिमार्जन अथवा परिष्कार से है। परिमार्जन अथवा अलंकरण पूर्व के विकृत अवस्था को मानकर होता है। मानव के जीवन में बुद्धि अथवा बुद्धि के द्वारा किया जानेवाला चिन्तन समस्त संस्कार का मूल साधन है। किन्तु, मनुष्य के ज्ञान के विषय एवं उनकी कर्मसरणियाँ क्रमशः असंख्य एवं अगण्य हैं जिसकारण सभ्यता एवं संस्कृति का पृथक्-पृथक् स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मानव जीवन के भी दो पहलू हैं- एक जीवन की धारणा और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न। किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा जाति की जीवन विषयक धारणा उसकी संस्कृति है और उसे चरितार्थ करने के लिए उस व्यक्ति समाज अथवा जाति के द्वारा जो उद्यम किया जाता है वह समष्टि रूप में उसकी सभ्यता है। संस्कृति एवं सभ्यता की यह धारणा हमारे पुरुषार्थ चतुष्टय द्वारा भी स्पष्ट हो जाती है। अतएव पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवधारणा आगे के अध्याय में व्यक्त की जाएगी।

### निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। भारतीय संस्कृति के विकासक्रम का इतिहास सहस्रों वर्षों का है जिसमें अनेक सामाजिक तत्त्वों का योग रहा है। वैदिक काल से भारतीय संस्कृति उन्नतिशील रही है। अनेकानेक भारतीय सामाजिक संस्थाओं का विकास वैदिक युग में हो गया था। वर्णाश्रम, विवाह, सोलह संस्कार आदि ऐसी अनेक सामाजिक संस्थाओं का उद्भव ही नहीं विकास भी

---

1. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ. 10-11

वैदिकोत्तर युग में हो गया था। अतः सामाजिक संस्थाओं में संस्कृति की प्राचीनता भी भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है।

भारतीय सामाजिक संस्थाएँ जो अत्यन्त प्राचीनकाल में थी, आज भी कमोबेश मौजूद हैं। उनके आधार तत्त्व में किसी प्रकार का मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। उनकी अक्षुण्णता पूर्ववत् बनी हुई है। हालांकि अनेकानेक विदेशियों के सामरिक अभियान ने भारतीय संस्कृति को पदाक्रान्त करने की कोशिश की, जिससे भारतीय सामाजिक संस्थाओं को टूटने का भय पैदा हुआ, किन्तु इनकी अटूट पकड़ ने इन्हें अक्षुण्ण बनाये रखा। विभिन्न शताब्दियों में होने वाले परिवर्तन और परिवर्द्धन हिन्दू संस्कृति के अंग बन गये, किन्तु भारतीय सामाजिक संस्थाओं का आधार तत्त्व वही बना रहा जो वैदिक युग में था।

भारतीय सामाजिक संस्थाओं की विशेषता रही है सहिष्णुता, सद्भावना एवं सदाशयता। वस्तुतः भारतीय सामाजिक आदर्श का आधार था धर्म, जो न दूसरे को आघात पहुँचाता था और न ही किसी का विरोध करता था। सद्भावना एवं सहिष्णुता प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श था क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर वास करते हैं ऐसी धारणा आम थी। मन, वचन एवं कर्म से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना तथा सभी के साथ यथार्थ और प्रिय सम्भाषण करना, अपना अपकार करनेवाले पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान का त्याग करना[1], अन्तःकरण की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सभी भूत प्राणियों में हेतुरहित दया प्रदर्शित करना, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी अनासक्त भाव का होना, कोमलता तथा लोक और शास्त्र के विरूद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव आदि सद्भावनायुक्त गुणात्मक व्यवहार भारतीय-मानस की प्रकृति थे।[2]

प्राचीन भारतीय संस्कृति का विस्तार जितना अधिक था इसमें आत्मसात् करने की क्षमता उतनी ही प्रबल थी। यह संस्कृति समाज में होने वाले परिवर्तनों को स्वीकार करती चली गयी। ऋग्वैदिक युगीन संस्कृति उत्तरवैदिक काल में अत्यधिक संगठित, विस्तृत एवं सुव्यवस्थित हो गयी। आर्य और अनार्य जो परवर्त्ती युग में आकर वर्णगत चार समूहों में विभाजित हुए। उसी आधार पर उनका विकास होता रहा। सामाजिक संस्था के अन्तर्गत 'विवाह' नामक संस्था में भी अनेक परिवर्तन

---

1. ईशावास्योपनिषद्, मंत्र-2; कुवन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
   एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्तिन कर्म लिप्यते नरः।।
2. गीता, 16.2; अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
   दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरच्चापलम्।।

हुए। पूर्व वैदिक युग में आठ प्रकार के विवाह नहीं थे। इसका वर्गीकरण उत्तरवैदिक काल में हुआ। विवाह संबंधी विभिन्न पद्धतियों एवं नियम में समय-समय पर परिवर्तन होते चले गये। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के संस्कारों का भी प्रचलन शुरू हो गया। आदि वैदिक काल में संस्कारों का कोई अस्तित्व नहीं था, किन्तु ब्राह्मण सम्प्रभु समाज में संस्कारों की संख्या बढ़ती गयी। कर्मकाण्ड में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। समाज के सबसे परिश्रमी जन-समूह को इन कर्मकाण्डों एवं अनेक सामाजिक संस्थाओं में भागीदारी से अत्यन्त दूर एवं उपेक्षित रखा गया। इस प्रकार शूद्रों की भूमिका जन सामाजिक संस्थाओं में सबसे निकृष्ट समझी जाने लगी।

भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता इसकी समन्वयवादी धर्मिता है। व्यक्ति में पुरुषार्थ की भावना समन्वयवादी धर्मिता को द्योतित करता है। भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का सुख समन्वय पर आधृत रहा है। मनुष्य का विकास इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही स्थितियों के समन्वय से ही सम्भव है। आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म, लौकिक और पारलौकिक, भोग और योग, कामना और साधना, ग्रहण और त्याग, गृहस्थ एवं सन्यास आदि समन्वय स्थापन के प्रतीक हैं। भारतीय संस्कृति की यह समन्वयवादी भावना उसके अलौकिक दर्शन पक्ष को विकसित करती है। हालांकि सामाजिक संस्थाओं के जो नियम एवं आचार बनाए गये उनमें भी समन्वय की भावना निहित थी, भले ही उसमें सम्प्रभु वर्ण की सुविधा को ध्यान रखा गया हो। यथा-वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र को निम्न मानकर ब्राह्मण के लिए उसका दान ग्रहण न करने का निर्देश दिया गया, किन्तु दूसरी ओर विशेष परिस्थितियों में उसका दान ग्रहण करने का विधान किया गया। यथा-एकलव्य एवं द्रोणाचार्य के दृष्टान्त को देख सकते हैं। विवाह संस्थाओं के अन्तर्गत विहित विवाहों के अतिरिक्त गन्धर्व, पैशाच, राक्षस और आसुर जैसे अविहित विवाहों को भी हिन्दू समाज में स्थान दिया गया, किन्तु वहीं विधवा के लिए दो स्थितियाँ तय की गयीं, जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य अथवा मृत पति के साथ अग्नि में आरोहण। दोनों ही अवस्थाओं में नियोग की स्थिति क्या यह भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी स्थिति थी अथवा क्रूर हठधर्मिता। आश्रम-व्यवस्था में भी जहाँ गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ दर्जा दिया गया, वहीं सन्यास आश्रम का समाज के प्रति क्या योगदान हो सकता था, स्पष्ट कर दिया गया था।

भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता इसके आधार में धार्मिक प्रवृत्ति की प्रबलता है जिससे मानव-जीवन प्रभावित होता रहा है। समस्त सामाजिक व्यवस्थाएँ धर्म के आधार पर ही निश्चित हुई हैं। मनुष्य का कर्म धर्म पर आधारित है। धर्म के बिना कर्म की कोई सार्थकता नहीं। यह संभवतः इसलिए किया गया था, ताकि मनुष्य को आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त हो सके और वह धर्म संवलित मार्ग पर चल

सके। इससे मनुष्य जीवन भर धर्मभीरु बना रहता था। समाज सेवा का भाव उदित होता रहता था। अभेद और प्रेम पूर्ण वातावरण का निर्माण होता रहा था। यह सही है कि मानव-जीवन में आध्यात्मिकता का अधिक ध्यान रखा गया था किन्तु गार्हस्थ्य का भी महत्त्व समझा गया था।

भारतीय संस्कृति में विचार दृष्टि की व्यापकता और प्रशस्तता उसकी अपनी देन है। भारतीय सामाजिक संस्थाओं में बंधन है, स्वतंत्रता नहीं। किन्तु इन तथ्यों में सत्यता नहीं है। वैदिक एवं वैदिकोत्तर काल में स्त्री और पुरुषों का भेद नहीं था। यद्यपि यहाँ पुरुष प्रभुत्व का बाहुल्य था किन्तु स्त्रियों का भी सम्मान होता था।[1] कहा गया है जिस कुल में नारियाँ शोक नहीं करतीं, वह कुल सदा उन्नति करता है। अतः उन्नति चाहने वाले का यह कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों का सदा आदर करें।[2]

सांसारिकता एवं भौतिकता के संकुचित और बंधनमुक्त क्षेत्र को आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से विस्तृत बनाने की चेष्टा की गयी थी। मानव के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति तभी संभव थी, जब वह जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण से विचार करता हुआ समस्त भौतिक उपादानों को त्याग कर आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त हो। अतः अपनी इन आधारभूत विशेषताओं के कारण सामाजिक विभाजन ने उन शाश्वत संस्थाओं को निर्मित किया, जो भारतीय सामाजिक जीवन की मूल प्रेरक तत्त्व बनीं। इनमें जीवन की उदात्त भावनाएँ, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, कर्म निष्पन्न करने के प्रति उत्साह, भौतिक के साथ-साथ आध्यात्मिक सुख की आकांक्षा, त्याग एवं उत्सर्ग की अभिलाषा, विभिन्न कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की उत्कट भावना आदि सन्निविष्ट हैं। प्रत्येक व्यक्ति एवं जीव को समान भावना से समझने एवं परखने का दर्शन भारतीय सामाजिक संस्थाओं में विकसित हुआ। इस प्रकार जीवन्त एवं स्फूरित वातावरण में ये भारतीय सामाजिक संस्थाएँ पुष्पित एवं पल्लवित हुईं।



---

1. मनु. 3.56-57, यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
2. मनु. 3.59, तस्मादेताः सदा पूज्य भूषणाच्छादनाशनैः।
   भूतिकामैर्जैरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सर्वेषु च।।

# अध्याय-2
# वर्णव्यवस्था : कर्म विभाजन से समाज विभाजन की ओर

भारतीय समाज को योजनाबद्ध व्यवस्थित और सुगंठित सामाजिक संस्थाओं के द्वारा संतुलित किया गया है। इन सामाजिक संस्थाओं का विकास उस समय भारतीय समाज को सुनियोजित कर रहा था, जब विश्व की अन्य संस्कृतियाँ अपने आदिम अवस्था में थीं। इन्हीं सामाजिक संस्थाओं में एक था भारतीय वर्ण-व्यवस्था। भारतीय वर्ण व्यवस्था के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं जिन्हें यहाँ दूर करने का प्रयास किया जाएगा। वर्ण-व्यवस्था संबंधी प्रथम भ्रांति यह है कि वर्ण-विभाजन का प्रधान आधार रंग-भेद अथवा प्रजातीय आधार रहा है, किन्तु वर्ण-विभाजन के दो आधार थे। (i) वर्ण-भेद या रंग-भेद एवं (ii) व्यवसाय-भेद। आचार्य यास्क ने वर्ण की उत्पत्ति 'वृञ्' धातु से माना है—वर्णो वृणोते:। इसका अर्थ है चुनाव करना।[1] ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द 'रंग' अर्थ में आया है[2] या 'जनसमूह' भी इसका अर्थ प्रतीत होता है। 'वर्ण' शब्द का अर्थ आप्टे ने अपने शब्द कोष में रंग, रूप, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, कबीला, जाति, श्रेणी, वंश, जनजाति बताया है।[3]

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों में 'वर्ण' शब्द के जो भिन्न-भिन्न अर्थ बताए गये हैं, वे तत्कालीन सामाजिक विभाजनों के अनुसार हैं। वस्तुत: ऋग्वैदिक काल में समाज मुख्यत: दो भागों में विभक्त था-(i) आर्य एवं (ii) अनार्य। आर्य श्रेष्ठ, गोरे एवं विजयी जाति थी, जिसने आदिम भारतीयों पर विजय प्राप्त किया था। आर्य कृषि एवं पशुपालन किया करते थे, जबकि अनार्य 'दास' या 'दस्यु' कहे गये हैं।[4] इन आर्यों एवं अनार्यों में सांस्कृतिक भेद एवं नस्ल भेद था। उदाहरण के लिए इन दास-दस्युओं के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग मिलता है-

| ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द | अर्थ |
|---|---|
| 1. कृष्णत्वच: कृष्णयोनि | काली चमड़ी वाले, श्याम रंग |
| 2. मृध्रवाच: अमानुष: | अस्पष्ट तथा विपरीत वाणी वाले मनुष्य जैसा व्यवहार न करने वाले |

1. निरुक्त, 3.2
2. ऋ. 1.16.96; 2.12.4
3. संस्कृत-हिन्दी कोष, पृ. 902
4. ऋग्वेद, 8.56.3, 7.21.5, 10.99.3

| ऋग्वेद में प्रयुक्त शब्द | अर्थ |
|---|---|
| 3. अपनासः, अनास | चपटी नाक वाले या बिना नाक वाले |
| 4. शिश्न देवाः | लिङ्ग की उपासना करनेवाले |
| 5. अव्रताः, अन्यव्रता | व्रत नहीं करने वाले, अन्य वैदिकेतर व्रत को मानने वाले |
| 6. अयज्वा | यज्ञ नहीं करने वाले |
| 7. अब्रह्मा | ब्रह्म में विश्वास नहीं करने वाले |
| 8. अक्रतु, अकर्मा, अकर्मन् | धार्मिक कृत्य नहीं करने वाले |
| 9. अदेवयुः | वैदिक देवताओं को न पूजने वाले |

सत्यकेतु विद्यालंकार का भी मानना है कि "वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था और इस काल के आर्य जनपदों में ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।[1] ऋग्वेद में वर्णित है - यो दासं वर्णं अधरं गुहाकः।[2] अर्थात् इन्द्र ने दास वर्ग को नीचे गुहा में स्थापित किया। पुनः उल्लेख है सोम देव ने 'कृष्ण वर्ण' का हनन किया था।[3] इन्हें 'असुर'[4] भी कहा गया है। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा वज्र से दास एवं दस्युओं के संहार का उल्लेख मिलता है। साथ ही, जीते गये सम्पत्ति को आपस में बाँटने का भी उल्लेख है। ऐसे वृतान्त आर्यों एवं अनार्यों के बीच व्याप्त वैमनस्य-भाव को दर्शाता है। साथ ही, आर्य जाति द्वारा अनार्यों पर विजय को भी इंगित करता है। जिन अनार्यों ने हार कर आर्यों के समक्ष समर्पण कर दिया। उसे आर्यों ने अपने समाज में 'शूद्र' के रूप में सम्मिलित कर लिया। शूद्र आर्यों की सेवा में लगे रहते थे। अतः इन्हें 'विशः' भी कहा गया है जिसका अर्थ होता है सेवा करनेवाला। इसप्रकार आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में आर्य अनार्य का रंग-भेद ही आधार था जिसके कारण इसे 'वर्ण-व्यवस्था' कहा गया।

ऋग्वैदिक काल के बाद जब समाज की आवश्यकताएँ बढ़ीं, तो समाज को मनुष्य के कर्मों के अनुसार चार भागों में विभक्त कर दिया गया। इसीकारण यास्क ने 'वर्ण' शब्द का अर्थ 'व्यवसाय को चुनना' बताया है। ऋग्वेद के प्रक्षिप्त अंश माने जानेवाले दशम-मण्डल में चार वर्णों का मात्र एक बार उल्लेख मिलता है -

---

1. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ. 72
   द्रष्टव्य -Sources of Indian Tradition, R.N.Dandeker, Pg. 219
   "The word 'Varna' (Colour complexion) itself would indicate that one of these basic factors was recial distinction.?
2. वही, 2.12.4
3. वही, 4.16.13
4. वही, 9.71.2

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत।**

**उरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।** ऋ. 10.90.12

इस उल्लेख से एक बात स्पष्ट होती है कि अब आर्य और दास (अनार्य) का विरोध या द्विवर्ण का स्वरूप समाप्त सा हो गया। इन दोनों के बीच उपस्थित प्रजातीय एवं सांस्कृतिक पार्थक्य अन्तर्जातीय विवाह के कारण समाप्त होने लगा। वर्णगत और रक्तगत संकरता के परिणाम स्वरूप **दासीपुत्र, औशिज, वत्स** और **दीर्घतमा** जैसे लोग ऋषि हुए। श्यामवर्णीय शूद्र के साथ-साथ धूसरवर्णीय क्षत्रिय भी समाज में अवस्थित हो गये। अब पार्थक्य स्थापित करने वाली शक्तियाँ क्षीण पड़ने लगीं एवं सामूहिक सहयोग की भावना प्रबल होने लगी। इसी सामञ्जस्य एवं समन्वय की प्रबल भावना से चार पृथक्-पृथक् वर्णों का सृजन हुआ। अनार्य या दास को शूद्र नामक चतुर्थ वर्ण में समाहित कर आर्यों की सामाजिक संरचना में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार चतुर्वर्ण का सृजन हो जाने पर भी प्रारम्भिक तीन वर्णों ने जो आर्यों के रक्त से सीधे जुड़े हुए थे, अपनी श्रेष्ठता एवं रक्त-शुद्धता को बनाए रखा। ये चार वर्ण व्यवसाय एवं श्रम के आधार पर निर्मित थे, जिनमें आर्य एवं अनार्य दोनों सम्मिलित हो गये।

समाजिक संगठन के इस नये स्वरूप में आर्यों की अक्षुण्णता बनी रही। दूसरी तरफ शूद्र वर्ण में सम्मिलित कर लिए गये अनार्यों की मूल प्रवृत्ति और संस्कृति अपनी कुछ निम्न स्तरीय संस्कृति एवं घृणास्पद परम्परा को नहीं बदल सकी, जिससे इन्हें पृथक् बनाये रखने में आर्यों को सहायता मिली। आर्यों (तीन वर्णों) की सामाजिक व्यवस्था नियमबद्ध, कठोर और रूढ़िबद्ध होने लगी जिससे वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक स्वरूप को लम्बे समय तक अपरिवर्तनीय बनाने में सहायता मिली। विभिन्न वर्गों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं विरोध को रोकने के लिए सामाजिक चिंतकों ने वर्ण-व्यवस्था को व्यवस्थित रखने के लिए सामाजिक दर्शन की संरचना तैयार की। सभी वर्णों के कर्म एवं कर्त्तव्य निर्धारित किए गये। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने-अपने पैतृक कार्यों का ही निर्वाह करना अपना कर्त्तव्य समझने लगा। धार्मिक दृष्टि से ऐसे दायित्वों का निर्वाह इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन की सार्थकता से जोड़कर देखा जाने लगा। धर्म एवं नैतिकता के बन्धन में यह वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे किन्तु पूर्ण रूप से बँध गयी। वर्ण-व्यवस्था को धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से संयुक्त करने के पीछे सामाजिक चिंतकों का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण-व्यवस्था के लिए मानसिक रूप से भी तैयार करना था।

## वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का सिद्धान्त

पूर्व में वर्ण-व्यवस्था के विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया था,

जिसमें वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति या इसके सृजन का आधार क्या था ? किन परिस्थितियों में वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ ? इनकी समीक्षोपरांत अब वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे :-

**ईश्वरीय सिद्धान्त**

प्रथम तो वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति को मानने वाले हैं जिनका मानना है कि जो कुछ भी इस संसार में हुआ है या होने वाला है, उसका कर्त्ता-धर्ता विराट् पुरुष ही है -

**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात।**

**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।।** ऋ. 10.90.12.1

पुनः ऋग्वेद में वर्णों की उत्पत्ति उस विराट् पुरुष के शरीर रूप में ही वर्णित है-

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**

**उरुतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।**[1] ऋ.10.90.12

इन्हीं मंत्रों के द्वारा दैवी-सिद्धांत की पुष्टि नहीं होती, परवर्त्ती ग्रन्थ भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं -

(क) **ब्राह्मणयो मुखतः सृष्टो ब्राह्मण राजसत्तम्....**

**पदभ्यां शूद्रो विनिर्मित :।**[2] - शतपथ ब्राह्मण, 4.5

(ख) **ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम्।**

**बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च।।** महाभारत, शांतिपूर्व 1.4

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि चारों वर्ण की सृष्टि उनके द्वारा हुई है -

**चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**

**तस्यकर्तारमपि मां विद्ध यकर्त्तारमव्ययम्।।** 1.31

पुराणों में भी विभिन्न वर्णों का उद्भव ईश्वरीय माना गया है। विष्णुपुराण भगवान विष्णु के शरीर से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति दर्शाता है -

**त्वन्मुखात् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाहोः क्षत्रमजायत।**

**वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः।।**[3]

---

1. इसी प्रकार का श्लोक मनुस्मृति में भी मिलता है-
   लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः।
   ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। 1.31
2. यही श्लोक महाभारत के शांति पर्व (122.4.5) में भी देखने को मिलता है।
3. इसी प्रकार का वर्णन मत्स्य पु. (4.2.8) एवं वायु पु. (9.113) में भी है।

उत्पत्ति विषयक ईश्वरीय-सिद्धान्त की सत्यता की जाँच न करते हुए इसकी सार्थकता पर ध्यान दें, तो हम पाते हैं, कि ईश्वरीय-सिद्धांत लोगों में वर्ण व्यवस्था के प्रति साथ ही उनमें बताए गये उत्तरदायित्वों के प्रति आस्था पैदा करता था।

## रंगों पर आधारित वर्ण की उत्पत्ति का सिद्धान्त

ऋग्वैदिक काल में वर्ण अर्थात् रंग ही आर्यों एवं दासों को पृथक् करने का आधार था। ऋग्वेद में दासों को **'कृष्णयोनिः'** या **'कृष्णत्वचः'** कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि दास काले-वर्ण के थे, जबकि आर्य गोरे थे। अतः वर्ण का अर्थ रंग के रूप में ही अधिक प्रचलित था। इन दासों के व्यवहार, शारीरिक गठन, रहन-सहन एवं धार्मिक अनुष्ठान आर्यों से पूर्णतया भिन्न थे। इन दोनों के बीच धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शारीरिक अन्तर था।

महाभारत भी वर्ण को रंग के अर्थ में व्याख्यायित करता है -

**ब्राह्मणानां तु सितो क्षत्रियानां तु लोहितः।**

**वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्राणामसितस्तथा।।** शांति-पर्व, 188.5

अर्थात् ब्रह्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को बनाया, जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लाल, पीत (पीला) और काला था। अर्थात् त्वचा के रंग विभिन्न वर्णों को द्योतित करते थे।

## गुणों के आधार पर वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त

पतञ्जलि महाभाष्य (5.1.115) में वर्णित है - सर्व ऐते शब्दाःगुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्याः शूद्र इति। गुणों को वर्ण की उत्पत्ति का आधार मानने वाले नीलकण्ठ ने उपर्युक्त महाभारत के श्लोक का पृथक् अर्थ करते हुए अपनी टीका प्रस्तुत की है - **''सितः स्वच्छः सत्वगुणः प्रकाशात्मा शमदमादि स्वभावः। लोहितो रजोगुणः प्रवृत्यात्मा शौर्यतेज आदि स्वभावः। पीतकः रजस्तमोव्यामिश्र कृष्यादीनि हीनकर्म प्रवर्तकः। असितः कृष्णः आवरणात्मा तमोगुणः स्वतः प्रकाश प्रवृत्तिहीनः शकटवत परप्रेयः।''** अर्थात् नीलकंठ स्वामी की यह व्याख्या गुणों की ओर इंगित करती है। श्वेत सत्व गुण, लोहित रजस् गुण, पीत रजस एवं तमस् तथा काला पूर्णतया तमस् का प्रतीक बताया गया है। अर्थात् जिसमें सत्त्व की प्रधानता थी वह ब्राह्मण, जिसमें रजोगुण की की प्रधानता थी वह क्षत्रिय, जिसमें रजस् एवं तमस् दोनों गुणों का सम्मिश्रण था वह वैश्य तथा जिसमें तमोगुण था, वह शूद्र माना गया। इस प्रकार विविध गुणों से युक्त लोग उन-उन वर्णों में सम्मिलित हो गये। सत्व, रज एवं तम को क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं निम्न माना गया है। अतः उक्त गुणों को वरण करने वाले क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की

सामाजिक स्थिति भी सर्वोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं निम्न थी। विष्णु-पुराण भी उक्त कथन की पुष्टि करता है -

**अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्वोद्रिका मुखात्प्रजा।**
**वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्राह्मणोऽभवन्।।**
**रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुत।**
**पदभ्यामन्याः प्रजा ब्रह्म ससर्ज द्विजोत्तम।।**
**तमः प्रधानास्ताः सर्वश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः।।** 1.64.5

भागवत पुराण (11.5.2) में भी ऐसा ही वर्णित है-

**मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्थाश्रमैः।**
**सह चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।।**

वस्तुतः इन गुणों के आधार पर वर्णों का निर्धारण नहीं होता था, अपितु चतुर्वर्णो में वर्णानुसार उपर्युक्त गुणों के प्राधान्य की अपेक्षा होती थी, ऐसा कहना ही उचित होगा।

## कर्म एवं धर्म पर आधारित सिद्धान्त

वर्णों का विभाजन कर्म पर आधारित है - ऐसा मानने वाले यास्क ने इसी कारण वर्ण की उत्पत्ति 'वृञ्' धातु से मानी है - वर्णो वृणोतेः अर्थात् चुनाव करना। व्यवसाय को चुनने का अधिकार प्रत्येक द्विज को था एवं जो द्विज जिस व्यवसाय का चुनाव करता था, वह उस वर्ण का समझा जाता था। यह व्यवस्था ऋग्वैदिक काल में थी, जब द्विज तप, यज्ञ, शिक्षा, विद्या ग्रहण करनेवाले होते, तो वे ब्राह्मण कहलाते थे, जो सुरक्षा प्रदान करने का अथवा प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह करते थे, वे क्षत्रिय वर्ग में आते थे, जो व्यवसाय, कृषि तथा पशुपालन द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य करते थे, वे वैश्य वर्ग में माने जाते थे तथा इन तीन वर्णों की सेवा सुश्रूषा में लगा रहने वाला वर्ग 'शूद्र' वर्ण का होता था। इसी को दर्शाता हुआ ऋग्वेद का यह मंत्र है -

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
**उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।** 10.90.12

अर्थात् मुख्य से (पठन, पाठन, यजनादि) कार्य करने वाला ब्राह्मण होता था, दोनों हाथों से रक्षा करनेवाला क्षत्रिय एवं सबों के चरणों में रहने वाला अर्थात् द्विजों की सेवा करने वाला शूद्र था। उपर्युक्त मंत्र से ऋग्वैदिक कालीन वर्ण-व्यवस्था की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। पहला, यह कि वर्ण-व्यव[illegible] कर्मों अथवा व्यवसाय के चयन पर आधारित थी। दूसरा, वर्ण-व्यवस्था वंशानुगत नहीं थी।

तीसरा, मात्र शूद्र ही वंशानुगत हुआ करते थे क्योंकि वे आर्य नहीं थे। उनसे सेवा लेने के लिए इन्हें आर्य-संस्कृति में समाहित किया गया था। कुछ सामाजिक चिंतकों का मत है कि शूद्र भी कर्म के अनुसार ही अलग-अलग वर्गों या वर्णों में प्रवेश पा सकते थे। उनके अनुसार सत्कार्य को करने वाले आर्य होते थे एवं दुष्कर्मों में समाहित लोग दास या शूद्र होते थे। ऋग्वैदिक काल कर्म को वर्ण का आधार मानने के कारण अत्यन्त व्यावहारिक एवं समीचीन था। यहाँ एक उदाहरण मिलता है जिसमें ब्राह्मण ऋषि का कथन है - "मैं कारू (मंत्र निर्माता) हूँ, मेरे पिता भिषक (वैद्य)हैं और मेरी माता उपल-प्रक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसनेवाली) हैं।[1] अर्थात् कर्म प्रधान समाज था। वशिष्ठ ब्राह्मण थे,[2] किन्तु उनकी जन्मदात्री अप्सरा थी एवं पिता मित्र वरुण।[3] ऋषि भृगु ब्राह्मण होते हुए भी रथकार थे, किन्तु उनकी प्रतिष्ठा याज्ञिक कर्म, विद्वता एवं तपस्चर्या से ही थी। ये सामाजिक चिंतक मज्झिम निकाय (93.6) को उद्धृत करते हैं, जिसमें कहा गया है - हे आश्वलायन ! क्या तुम जानते हो कि यवन, कम्बोज तथा दूसरे सीमावर्ती देशों में 'आर्य' एवं 'दास' दो ही वर्ण होते हैं। दास आर्य हो सकता है एवं आर्य दास। महाभारत भी वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म को मानता है-

**न विशेषोऽस्ति सर्व ब्रह्ममिदं जगत्।**
**ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।** शान्ति पर्व, 188.10

अर्थात् सर्वप्रथम जगत् में मात्र ब्राह्मण ही हुए। कालान्तर में कर्मों की भिन्नता से कई वर्ण हो गये। महाभारत में विस्तार से विभिन्न वर्णों के दायित्वों का भी उल्लेख है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। पुराणों में भी कर्म को वर्ण का आधार माना गया है -

**तव वक्त्राज्जगन्नाथ ब्रह्मणो लोकरक्षकः।**
**प्रादुरासीत् पुराणाष्मन् षट्कर्म निरतः सदा।।**
**राजन्यस्तु तथा बाहोरासीत् संरक्षणे रतः।**
**ऊर्वो वैश्यस्तथा तथा विष्णो पदाच्छूद्र उदाहृतः।।** हरिवंश पुराण 3.21.9.11

वर्णानुसार जो अपने विहित कर्मों का पालन करते हैं उन्हें पुण्य की प्राप्ति होती है। प्रारब्ध-कर्मों के फल को ब्रह्माण्ड-पुराण में दर्शाया गया है -

**ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा द्रोहिजनास्तथा।**
**भाविताः पूर्वजातीषु कर्मभिश्च शुभाशुभैः।।** ब्रह्माण्ड पु. 2.7.133

---

1. ऋग्वेद, 9.112.3, कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिम..।
2. वही, 7.33.11
3. वही, 7.64.2

पुराण में कर्म का आधार प्रारब्ध-कर्मों के फलों को दर्शाता हुआ दिखाया गया है। इसका अर्थ है कि अब वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित न रहकर वंशानुगत होती जा रही थी। गौतम ने भी धर्मसूत्र (5.8) में ऐसा ही माना है।[1] जो विहित कर्मों एवं चरित्रों का परित्याग कर निकृष्ट आचरण करते थे, वे निम्न वर्णों में जन्म लेते थे अर्थात् अपने से निम्न योनियों या वर्णों में उनका अगला जन्म होता था। इसप्रकार पुनर्जन्म की परिकल्पना सदाचार एवं सद्-प्रवृत्तियों की ओर हमें प्रेरित करता था। साथ ही यह वर्ण-व्यवस्था को धर्म से जोड़कर अनुप्राणित कर रहा था, ताकि इस व्यवस्था के प्रति लोगों में धार्मिक-आस्था भी बनी रहे।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था को कुछ सामाजिक चिंतकों ने कर्म एवं धर्म दोनों से जोड़कर देखा था। भिन्न-भिन्न उत्पत्ति सिद्धान्तों को मानने वाले सभी सामाजिक चिंतक वर्णों की संख्या को लेकर एक मत थे। सबों ने वर्णों की संख्या चार से अधिक नहीं मानी है -

(क) **सम्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते।** महाभारत, अनुशासन पर्व 47.18

(ख) **ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।**

**चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति पञ्चमः॥** मनु स्मृति, 10.4

**वंशानुगत वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त**

वैदिक काल के बाद वर्ण व्यवस्था कर्म प्रधान न रहकर वंशगत हो गयी। जन्म से ही वर्ण का निर्धारण होने लगा, जबकि वैदिक काल में सभी लोगों को जन्म से शूद्र समझा जाता था - जन्मना शूद्रोऽजायते। अब ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अयोग्य, निकृष्ट, भ्रष्ट, चरित्रहीन एवं अज्ञानी व्यक्ति भी वर्ण से ब्राह्मण होने के कारण श्रेष्ठ ही जाना जाता था और दूसरी तरफ शूद्र वर्ण में उत्पन्न धार्मिक, ज्ञानी, सद्चरित एवं योग्य व्यक्ति भी जन्मना शूद्र होने के कारण समाज में निकृष्ट ही समझा जाता था। आ. ध. सू. (1.1.1.5) में इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है - 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्।' इस प्रकार कर्म की प्रधानता गौण होने लगी एवं जन्म ही वर्ण निर्धारण का आधार हो गया। महाभारत में विश्वामित्र एवं वशिष्ठ का अत्यन्त रोचक वृतांत भी वंशानुगत वर्ण-व्यवस्था की रूढ़िगत प्रथा की ओर इंगित करता-है --विश्वामित्र झल्ला कर एक जगह कहते हैं कि क्षत्रिय की शक्ति को धिक्कार है। ब्राह्मण की एक मात्र गदा से मेरे समस्त शस्त्र नष्ट हो गये।[2] विश्वामित्र अपनी तपस्चर्या एवं साधना से ब्राह्मण के सभी कार्य करने में समर्थ थे, किन्तु वे ब्राह्मण नहीं कहे जा सकते थे। समाज में वे क्षत्रिय ही

---

1. आ. ध. सू., पृ. 102, 3 का भी यही आशय है।
2. रामायण, 56.23

माने गये। इस प्रकार विश्वामित्र कर्म से ब्राह्मण होकर भी जन्म से क्षत्रिय होने के कारण क्षत्रिय ही कहलाए। द्रोणाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु कर्म से क्षत्रिय थे। अतः वे ब्राह्मण ही माने गये। उनके पुत्र अश्वत्थामा में उन दोनों वर्णों (ब्राह्मण एवं क्षत्रिय) का गुण या कर्म नहीं था। वे स्वभाव से क्रूर एवं निर्मम भी थे, क्योंकि उन्होंने द्रौपदी के पुत्रों की धोखे से हत्या की थी, फिर भी वे ब्राह्मण ही कहलाए। राज्यारोहण एवं शासन करने के उपरांत भी कर्ण को क्षत्रिय की संज्ञा नहीं मिली, क्योंकि द्रौपदी ने कर्ण को 'सूत' (निम्न जाति का) बताकर विवाह करने से इन्कार कर दिया था।[1] इस प्रकार के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था का आधार कर्म न होकर जन्म ही बना रहा जो आज तक प्रचलित है। कालान्तर में वंशानुगत वर्णोत्पत्ति की मान्यता समाज में इतनी कठोर हो गयी कि विभिन्न वर्णों के संयुक्त होने की सभी सम्भावनाएँ ही समूल समाप्त कर दी गयीं। रक्त की शुद्धता पर बल देते हुए विभिन्न वर्णों के बीच अन्तर्मिलन यथा विवाह आदि निषिद्ध हो गये।

## विभिन्न कालों में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

### ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता। उस समय आर्य एवं अनार्य दो ही समुदायों का वर्णन है। ऋग्वेद में 75 स्थानों पर दास, दस्यु एवं आर्य शब्द आया है। आर्य बाहर से भारत आये थे और वे दासों पर विजय प्राप्त करने वाले थे। इन आर्यों में प्रधान इन्द्र देवता थे। दास की विशेषता इस अध्याय के प्रारंभ में ही बतायी जा चुकी है। 'आर्य' एवं 'दास' का युद्ध कई वर्षों तक चला।[2] इस काल में आर्य समुदाय में प्रारंभिक दो वर्ग ब्राह्मण एवं क्षत्रिय क्रमशः **'कवि पुरोहित'** और **'वीर नायक'** की भूमिका का निर्वाह करते थे तथा अन्तिम वर्ग साधारण जन समूह था। 'कवि पुरोहित' मंत्र-पाठ, याज्ञिक कार्यों एवं पौरोहित्य से संबंधित थे तथा 'वीर नायक' युद्ध, समाज की रक्षा एवं शौर्य के प्रतीक थे। ऋग्वेद में 'विश' शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ सम्भवतः जन-समूह था।

ऋग्वेद में ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र की चर्चा मात्र दशम-मण्डल के पुरुष-सूक्त में एक बार हुई है[3], जिसमें विराट् के मुख, उदर एवं पैर से इन चारों वर्णों की उत्पत्ति बतायी है, जो कि सम्भवतः ऋग्वेद का प्रक्षिप्त अंश है।

---

1. महाभारत, 1.187.23; नाहं वरयामि सूतम्।
2. ऋग्वेद, 9.71.2; 10.22.8
3. वही, 10.90.2

ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द का उल्लेख अनेक बार हुआ है, अनेक स्थलों पर 'ब्रह्मपुत्र' शब्द का भी व्यवहार मिलता है। इतना अवश्य है कि ब्राह्मण नामक पृथक् वर्ण का सृजन नहीं हुआ था। वसिष्ठ ब्राह्मण थे[1] किन्तु उनकी माता अप्सरा एवं पिता मित्र-वरुण।[2] यह सही है कि आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों की समाज में प्रतिष्ठा थी। इसी प्रकार 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में मिलता है यह देवताओं की उपाधि या राजा के रूप में प्रयुक्त है। कहीं-कहीं 'क्षत्र' भी प्रयुक्त है। यह शूरवीरों का समूह था। **'राजन्य'** शब्द भी क्षत्रियों का ही समानार्थी था।[3] ऋग्वेद में 'वैश्य' शब्द भी पुरुष सूक्त में एक ही बार आया है **'विश'** शब्द का ही उल्लेख समूह अर्थ में कई जगह-हुआ है यथा, **'मानुषीणां विशम्' 'दासीर्विशः'** (दासों का समूह), **दैवीनां विशम्** (दैवी शक्तियाँ का समूह)। वैश्य की स्पष्ट भूमिका ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होती। शूद्र भी पुरुष सूक्त को छोड़कर अन्य कहीं भी उल्लिखित नहीं है। स्पष्ट है कि चतुर्वर्णों की व्यवस्था ऋग्वैदिक कालीन समाज की आवश्यकता नहीं बन पायी थी। बल्बूथ नामक दास ने सौ गायें एक ब्राह्मण को दान में दी थीं।[4] जो आर्यों एवं दासों के बीच के वैमनस्य में कमी को दर्शाता है। दासों के प्रति आर्यों की उदारता का परिणाम ही था कि वे आर्यों की सामाजिक संस्था के अंग बन पाये, यद्यपि उन्हें समाज में सबसे निकृष्टतम स्थान प्राप्त हुआ। वस्तुतः शूद्रों की यह सामाजिक अवस्था आर्यों द्वारा अनार्यों पर विजय के कारण हुई।

### अन्य संहिताओं, ब्राह्मण एवं उपनिषद् काल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

ऋग्वैदिक काल के अन्त में वर्ण व्यवस्था का बीज बोया गया था, जिसका स्पष्ट स्वरूप अन्य संहिताओं में देखने को मिलता है -

(i) **रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।**
**रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।** यजुर्वेद, 18.48

(ii) **प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।**
**प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।** अथर्ववेद, 19.62.1

इन दोनों मंत्रों में चतुर्वर्णों के कर्त्तव्य पालन संबंधी सामर्थ्य को बढ़ाने की प्रार्थना की गयी है। साथ ही यजुर्वेद (31.10.1) में विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति भी पुरुष सूक्त की भांति ही विभिन्न अंगों से बतायी गयी है,[5] जो इस बात का द्योतक

---

1. ऋग्वेद, 7.33.11
2. वही, 7.64.2
3. वही, 10.90.2
4. वही, 8.46.32
5. शतपथ ब्राह्मण (4.5) में भी वर्णो की उत्पत्ति शारीरिक अंगो से दिखाई गयी है - 'ब्राह्मणयो मुखतः सृष्टो ब्राह्मण राजसत्तम्....पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः।

है कि वर्ण-व्यवस्था अन्य संहिता काल में अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। इस संस्था को समाज में स्थापित करने के लिए इसे धार्मिक आस्था से जोड़ने का प्रयास किया जा रहा था, जिससे सभी वर्ण-समुदाय के लोग अपने कर्त्तव्यों का आस्था पूर्वक निर्वाह करें। बृहदारण्यकोपनिषद् (1.4.11-13) में वर्णित है- **ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। स नेव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च।**

इस काल में वर्णों का विभाजन कर्मों के विभाजन के आधार पर ही सुनिश्चित हो चुका था, किन्तु विभिन्न वर्णों की वेश-भूषा, धार्मिक अनुष्ठानों में भिन्नता आदि भेद-परक विधान ग्रन्थों में प्रयुक्त होने लगे थे। तैतिरीय ब्राह्मण (1.1.4) में वर्णित है कि ब्राह्मण के लिए सूत का, क्षत्रिय के लिए सन का एवं वैश्य के लिए ऊन का यग्यो पवीत धारण करने का निर्देश है। साथ ही, विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है। यह भेद-परक निर्देश तत्कालीन समाज में प्रभु जातियों के वर्चस्व को दर्शाता है।

प्रारम्भिक-काल में वर्ण भेद कर्मों पर आधारित था। अतएव अन्तर्वर्ण विवाह भी हुआ करता था। महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित है- **'त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेद।'** अर्थात् प्रथम तीन वर्णों वाली पत्नी से उत्पन्न सन्तान यदि ब्राह्मण की होगी, तो ब्राह्मण ही कहलाएगी। पुनः वर्णित है- **भार्याश्चतस्रो विप्रस्य द्वयोरात्मास्य जायते। आनुपूर्व्याद् द्वयोर्हीनौ मातृजात्यो प्रसूयतः।** अर्थात् ब्राह्मण की चारों वर्णों की पत्नियाँ हो सकती हैं, जिनमें प्रथम दो वर्णों की पत्नी से उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण होगी एवं वर्णक्रम में अन्तिम दोनों वर्णों वाली पत्नियों से उत्पन्न सन्तान माता के वर्ण का होगा। इस प्रकार हम पाते हैं कि शूद्रों के साथ-साथ वैश्यों की स्थिति भी समाज में सम्मानजनक नहीं रही। इसे **'अनस्य बलिकृत'** कहा गया है। यह कथन इस बात का द्योतक है कि वैश्य वर्ग का स्थान ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ग से नीचे था। इस वर्ग का मुख्य कार्य पशुपालन एवं अन्नोत्पादन था।[1] उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा गाँव का मुखिया (ग्रामणी) बनने में थी।[2] अभी तक वैश्य याज्ञिक क्रियाओं में भी भाग ले रहे थे, किन्तु समाज में उसकी गिरती स्थिति का पता इसी से चलता है कि वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान कभी भी राजा नहीं हो सकता था। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीन वर्णों के सामञ्जस्य की कामना

1. तै. सं., 7.1.1.7
2. वही, 8.12.5

अभी भी समाज में विद्यमान थी। शतपथ ब्राह्मण (3.1.1.9-10) में उल्लिखित है- **ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वाते हि यज्ञियाः। न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वाते हि यज्ञियाः।** छान्दोग्य उपनिषद् (5.10.7) में भी एक कथन है जिससे स्पष्ट होता है कि अभी तक वैश्यों की सामाजिक स्थिति संतोषजनक थी-'**तद् इह रमणीयाचरण अभ्यासो ह यत्ते। रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण योनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्य योनिं वा**'।

शूद्रों का कार्य प्रथम तीन वर्णों की सेवा करना था। सम्पन्न शूद्र भी समाज में आदरणीय नहीं थे क्योंकि ये न तो शिक्षा के अधिकारी थे और न ही धार्मिक कृत्यों के। ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य में वर्णित है-**अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्र पुजतुभयां श्रोतप्रतिपूरणम्। पद्युह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।**[1] फिर भी उपनिषद् काल तक वर्ण-व्यवस्था में लचीलापन था। उपनिषद् काल में ऐसे अनेक ऋषियों के नाम प्रसिद्ध हैं जो शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुए थे। यथा-पराशर ऋषि श्वपाक नारी से, ऋषि मदनपाल नाविक स्त्री से, वशिष्ठ ऋषि गणिका से, व्यास ऋषि धीवर कन्या से, कपि जाबाल चाण्डाल नारी से उत्पन्न हुए थे। फिर भी समाज में उनकी स्थिति दयनीय ही थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार - **असतो वा एष मम्भूतो यच्छूद्रः**। इसी में पुनः कहा गया है - **दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्रः**। शूद्रों का कार्य केवल श्रम करना था - **तपो वै शूद्रम्**। शूद्रों का कुछ भी सुरक्षित नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण (7.35.3) में वर्णित है - **अन्यस्य प्रेष्यः, कामोत्थात्यः, यथाकामवध्यः** अर्थात् शूद्रों का धर्म सेवा करना था। उनकी स्त्रियाँ आर्यों की रखेल थीं (**शूद्र यदार्यजारा' - शत. ब्रा.** 13.2.9.4)। इनका दर्शन एवं स्पर्श अपवित्र माना जाता था। यज्ञ की दीक्षा वाले द्विज के लिए शूद्रों का दर्शन अपवित्र था (**अनृतं स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिः। तानि न प्रेक्षेत**)। यज्ञ के लिए दुही जानेवाली गायों को शूद्रों को दुहने का निषेध है, क्योंकि उनका स्पर्श अपवित्र माना जाता था (**शूद्रो न हुह्यात्...अहविरेव तदित्याहुर्यच्छूद्रोऽदोग्धिारिति**)।

ब्राह्मण धार्मिक कृत्यों एवं ज्ञान के बल पर समाज में अत्यन्त प्रारंभिक काल से ही प्रबल था। यजुर्वेद (18.48) में वर्णित है-

**रुचं नो धेहि ब्राह्मेषु रुचं राजसु नमस्कृधि।**
**रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।**

समाज में ब्राह्मणों का आदर इतना था कि ब्राह्मणों को किसी राज्य में यदि कष्ट होता था, तो यह समझा जाता था कि उस राजा का राज्य टूटी हुई नौका के समान बिखर जाएगा।[2] ब्राह्मण की अनुशंसा के बिना किसी राज्य की सत्ता राजा को प्राप्त

1. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 1.3.34-38.
2. अथर्ववेद, 5.19.8.15

नहीं होती थी।[1] अपने उत्तम आचरण, निर्मल अन्तःकरण, गम्भीर अध्ययन और तप के कारण ही ब्राह्मण सम्पूर्ण प्रजा का उपदेष्टा बनने का सामर्थ्य प्राप्त करता था- **ब्राह्मणो वै प्रजानामुपदेष्टा।**[2] समाज में सम्मानित इन ब्राह्मणों की हत्या जघन्य अपराध मानी गयी थी। मृत्युदण्ड से मुक्ति, पौरोहित्य एवं यज्ञ-सम्पादन इनका विशेषाधिकार था। अध्यापन भी इनकी वृत्ति थी। लोगों को पूर्ण विश्वास था कि ब्राह्मण कभी भी झूठ नहीं बोलता है। यही कारण था कि ब्राह्मण के माता-पिता के विषय में गुरुकुल प्रवेश के समय कोई पूछताछ नहीं होती थी। 'काठक-संहिता' (30.1) में कहा भी गया है -

**किं ब्राह्मणस्य पितरम् किं ब्राह्मणस्य मातरम्।**

**श्रुतः वेदस्मिन् वैद्यम् स पिता स पितामह।।**

पौरोहित्य ब्राह्मणों का वंशानुगत पेशा बन गया था, यद्यपि अन्य वर्ण भी पौरोहित्य की वृत्ति में संलग्न थे। विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी पौरोहित्य किया करते थे, वे सुदास के राजपुरोहित थे, किन्तु उत्तर वैदिक्र युग में पौरोहित्य ब्राह्मणों तक ही सीमित हो गया था।

प्रशासनिक, सैनिक एवं राजकीय कार्यों से क्षत्रिय सम्बद्ध थे।[3] इन वर्ण के लोग युद्ध में कुशलता का परिचय देते थे एवं प्रशासनिक योग्यता रखते थे। कुछ क्षत्रिय विद्वान् भी थे, ये अच्छे शिक्षक, दार्शनिक एवं विद्वानों को शरण देने वाले थे। उदाहरणार्थ राजा जनक, काशी नरेश आजादशत्रु जैसे अनेक विद्वान् शासक क्षत्रिय ही थे। जिन्होंने प्रशासनिक दक्षता के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक योग्यता भी प्रदर्शित की थी। प्रवहण जैबलि ने उद्दालक ऋषि को सर्वप्रथम सम्मान स्वरूप अपना आसन देकर तदनन्तर उनकी जिज्ञासाओं का समाधान बताया था। (**आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैबलेरास। तस्मा आसनमाहत्योदक माहारयांचकाराय हास्य अर्घ्य चकार।** - बृहदा. उप. 6.2.4)। राजा जनक ने भी विद्वद्गोष्ठियों में ब्राह्मणों पर विजय प्राप्त की थी। बृहदारण्यकोपनिषद् (3.1) में वर्णित है-ऊँ **जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव। कः स्विदेषां ब्राह्मणानमन् चानतम् इति स ह गवां सहस्रमवरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्ग्योराबद्धा बभूवुः।**

---

1. शत. ब्रा. 5.34.20
2. तैति. ब्रा. 2.2.1
3. अथर्ववेद, 7.103.; को अस्या वो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो इच्छन्।
   को यजकामः क उ पूर्त्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः।।

इस प्रकार अनेक विद्वान् क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को चुनौतियाँ दीं तो दूसरी तरफ इन क्षत्रियों की कन्याओं से ब्राह्मणों के विवाह करने का भी उदाहरण मिलता है। अतएव तत्कालीन समाज में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय प्रभु जातियों के रूप में उभरने लगे। दूसरी ओर, वैश्य जो जन साधारण से संबंधित था, वह उपेक्षा का शिकार होने लगा। यह वर्ण धीरे-धीरे शूद्रों के समकक्ष आने लगा। वैश्यों के सामाजिक अधिकार कम होने लगे। इनकी स्थिति निम्न होने लगी। कुछ विश् जिन्हें पहले याज्ञिक क्रियाओं में सम्मिलित किया जाता था[1], वे अब इस कार्य से वंचित होने लगे। इस प्रकार रथकार एवं तक्षन अब शूद्र के निकट पहुँच गये। धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में ब्राह्मणों ने एवं राजनैतिक दृष्टि से क्षत्रियों ने, वैश्य एवं शूद्रों को पूर्णरूपेण घेर लिया। (**अथ ब्राह्मणा चैवैतत् क्षत्रेण चैतो वर्णौ अभितः परिगृह्यते, अनपक्रामिणो कुरुते**)। वैश्य एवं शूद्र क्षत्रिय के अनुगामी बन गये (**वैश्यशूद्रवर्णौ क्षत्रियस्यानुगामिनौ कुर्वन्ति**-ऐ.ब्रा.)। जो 'विशः सम्पूर्ण आर्यों के लिए प्रयुक्त होता था, वह अब वैश्य मात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। सायण ने इसकी पुष्टि की है-**विशमित्ययं शब्द प्रजामात्रवाची वैश्यजाति विशेषवाची वा**। ये वैश्य संख्या में सबसे अधिक थे एवं किसी भी राज्य के सर्वाधिक राजस्व का स्रोत थे, किन्तु सामाजिक रूप से पिछड़े थे। ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित है - **वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात्त आद्याः। अन्नधानादध्य सृज्यन्त तस्माद् भूयां सोऽन्येभ्यः॥ तैत्ति. संहिता**। यह उद्धरण बताता है कि वैश्य अन्य वर्णों के लिए (आद्याः) आद्य थे अर्थात् इनका श्रम अन्य वर्णों के लिए था। इसप्रकार वैश्य शूद्र के नजदीक पहुँच चुके थे। अन्तर मात्र इतना था कि शूद्रों की स्त्री का जीवन एवं सम्पत्ति कुछ भी सुरक्षित नहीं थी, किन्तु वैश्यों की स्त्रियाँ एवं इनका जीवन सुरक्षित था।

क्षत्रिय सम्पूर्ण भूमि का स्वामी था। अतएव वह वैश्य एवं शूद्रों को जमीन से च्युत कर सकता था। ब्राह्मणों को भी दान स्वरूप भूमि क्षत्रियों से ही प्राप्त होती थी, फिर भी ब्राह्मण एवं क्षत्रियों में सामाजिक सम्प्रभुता के लिए संघर्ष चलता रहता था, फिर भी चारों वर्णों में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोपरि थी। तीनों वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य ) यज्ञ के अधिकारी थे, किन्तु ब्राह्मण ही आहुति का उपभोग करनेवाला था। सोमपायी केवल ब्राह्मण ही था। ज्ञान, शिक्षा, आध्यात्मिकता एवं सदाचरण के कारण ब्राह्मणों ने समाज में सर्वोच्च स्थान बना लिया था। तैति. ब्रा. में वर्णित है -दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः। वहीं 'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार (ब्राह्मण पृथ्वी के देवता थे- **द्वयो वै देवाः। अथ देवा अथ ये ब्राह्मणः शुश्रुवांसोऽनूचानस्ते मनुष्य देवताः**। ब्राह्मणों की रक्षा के लिए चार प्रकार के धर्मों का निर्वाह अन्य वर्णों

1. अथर्ववेद, 3.5.6

के लिए बताया गया है। ये धर्म हैं - अर्चा, दान, अजेयता तथा अवध्यता (**चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मण भुनक्ति अर्चया च दानेन चाजेयतया चावध्यतया**)। ब्राह्मण का वध (ब्रह्म हत्या) अत्यन्त निषिद्धकर्म बताया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का समाज में असंदिग्ध रूप से विशिष्ट स्थान था।

शक्ति का प्रतीक होने के कारण क्षत्रिय अपने को सर्वोच्च मानता था। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित है-**इमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति। क्षत्रियोऽजनि। विश्वस्य भूतस्याधिपति रजनि, विश्वमत्ताजनि, अमित्राणां हन्ताजनि, ब्राह्मणानां गोप्ताजनि।''** इसी ग्रन्थ में एक जगह उल्लिखित है- **'क्षत्रात् परं नास्ति।'** जबकि दूसरी ओर ब्राह्मणों को इस लोक का देवता बताया गया है। उत्पत्ति के क्रम में प्रथम होने के कारण एवं प्रजापति के मुख भाल से उत्पन्न होने के कारण भी ब्राह्मण अन्य वर्णों से श्रेष्ठ है (**ब्राह्मण वै क्षत्रात् पूर्वम्''-ऐ.ब्रा.**)। इस प्रकार क्षत्रियों के विरोध एवं प्रतिद्वन्द्विता के बाद भी ब्राह्मणों ने समाज में अपनी स्थिति सर्वोपरि बना ली। यद्यपि कुछ क्षत्रिय राजन्यों ने बौद्धिक विशेषाधिकार को चुनौती देते हुए ब्राह्मण विद्वानों को अपना शिष्य बना लिया था। प्रवाहण नामक राजा ने महर्षि गौतम को गूढ़ विषयों का ज्ञान प्रदान किया था।[1] इस प्रतिद्वन्द्विता को समाज के लिए तत्कालीन चिंतकों ने घातक माना। अतः शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है- **ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभे वीर्ये**। ऐतरेय ब्राह्मण भी इन दो वर्णों के बीच की समन्वयात्मक भावना को आवश्यक मानता है (**ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं, क्षत्रे ब्रह्म।**) क्षत्रियों के राजनैतिक अधिकारों एवं दायित्वों की देख-रेख ब्राह्मण प्रतिनिधियों के द्वारा किए जाने का विधान तैयार किया गया, जिससे शक्ति संतुलन इन दो वर्णों के बीच बना रहे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण अब राजाओं के राज पुरोहित होने लगे, जिनकी राज्य संबंधी नीति-निर्धारण में निर्णायक भूमिका रहने लगी। शतपथ-ब्राह्मण में उद्धृत है-**'ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद्। यदि राजानं लभते समृद्धं तदेतद् ह त्वेवानक्लृप्तं यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति यद्ध किं च कर्म्भ कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेणा न है वास्मै तत्समृद्धते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः स हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्मऽर्ध्यते।** अर्थात् ब्राह्मण बिना राजन्य के हो और उसे राजन्य का साथ प्राप्त हो जाय, तो दोनों वर्णों का उत्थान होता है। क्षत्रिय भी यदि बिना ब्राह्मण के कर्म करेगा तो उसमें उसे सफलता नहीं मिलेगी, ब्राह्मण की सहायता से ही क्षत्रियों को क्षत्र धर्म में सफलता प्राप्त होती है। ऐसा सामाजिक

---

1. छा. उप., 5.3.6, सह गौतमो राज्ञोऽधर्मेयाय तस्मैह प्राप्तायाहञ्चिकार स ह प्रतिः स भाग उदेयाय तं हो वाचंमानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति। स होवाच तदेव राजन्मानुषं वित्तयामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषधास्तामेत्र मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्री बभूव।

चिंतन ऋग्वैदिक काल में भी था (**स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे, तस्मा इलां पिन्वते विश्वदानीम्। तस्मै विशः स्वयमेव नमन्ते, यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।। ऋ. IV 50.8)**। ये ब्राह्मण पुरोहित न केवल धार्मिक कार्यों अपितु राजनैतिक कार्यों में भी राजा की सहायता करते थे (अर्धात्मो ह वा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः। ऐ. ब्रा.)। ब्राह्मण सोम को अपना राजा मानते थे (**सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।' शत. ब्रा.**) तथा अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से पूर्व मानते थे (**ब्राह्मवै क्षत्रात् पूर्वम्। -ऐ. ब्रा.**)। ब्राह्मणों की ऐसी अवधारणा उन्हें क्षत्रियों के प्रभुत्व को स्वीकार करने नहीं देती थी, किन्तु राजसूय यज्ञ में क्षत्रियों की सम्प्रभुता सभी वर्णों पर अक्षुण्ण मानी जाती थी। इस अवसर पर ब्राह्मण को नीचे खड़ा होकर क्षत्रिय राजा की स्तुति करनी होती थी (**क्षत्रात् परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। शत. ब्रा.।**

इसप्रकार उत्तरवर्त्ती संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में परिवर्तन के तीन प्रमुख रूप लक्षित होते हैं - (1) प्रत्येक वर्ण के कर्म एवं धर्म सुनिश्चित हो गये (2) वर्षों का निर्धारण कर्म से हटकर धीरे-धीरे वंशानुगत होने लगा एवं (3) वर्णों में परस्पर भेद-परक भावनाएँ उभरने लगीं।

परिवर्तन के उपर्युक्त तीन लक्षणों में अंतिम वर्णों में भेद-भावना का उत्तरोत्तर विकास एक विचारणीय विषय है। शतपथ ब्राह्मण (5.5.4) में चार वर्ण स्वीकार तो किए गये हैं (**चत्वारो वैवर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रश्च**), लेकिन सभी वर्णों के लिए देवताओं एवं छन्दों में पृथकता आयी। यथा-ब्राह्मणों के लिए गायत्री छन्द, क्षत्रियों के लिए त्रिष्टुप्, वैश्यों के लिए जगती छन्द का प्रावधान बताया जाना।[1] पुनः ब्राह्मणों के देवता अग्नि एवं बृहस्पति, क्षत्रियों के देवता यम एवं वरुण वैश्यों के देवता वसु, रुद्र, विश्वदेवा एवं शूद्रों के देवता पूषन् बने। यह भेद शब्द प्रयोग में भी दिख पड़ा। यथा- ब्राह्मण को बुलाने के लिए **'एहि'** शब्द का, क्षत्रिय को बुलाने के लिए **'आगच्छ'** शब्द का वैश्य को बुलाने के लिए **'आद्रव'** शब्द का एवं शूद्र को बुलाने के लिए **'आधाव'** शब्द का प्रयोग किया जाना वर्णागत भेद-परक भावना को द्योतित करता है (**तानि ह वा एतानि चत्वारि वाच, एहीति ब्राह्मणस्य, आगहि आद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च, आधावेति शूद्रस्य**)।[2]

वर्णों के बीच इस भेद परक भावना का कारण शूद्र थे, जिन्हें श्रमजीवी बनाकर आर्यों ने अपने समाज की सदस्यता प्रदान कर दी थी, किन्तु इनकी संस्कृति आर्यों से भिन्न थी एवं इन्हें यज्ञीय एवं शिक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं था, अतएव इन्हें

---

1. ऐत. ब्रा. 1.5
2. शतपथ ब्रा. 1.1.4-12

सर्वाधिक हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। शूद्रों की कृषि कर्म, पशुपालन तथा वाणिज्य व्यापार में प्रत्यक्ष उपयोगिता देखी गयी। अतएव वैश्य वर्ण शूद्रों से अपनी वृत्ति में सहयोग लेने के कारण उसके नजदीक आने लगे। शूद्रों के साथ वैश्यों का यह सम्पर्क वैश्यों की सामाजिक स्थिति को दयनीय बनाता गया क्योंकि अनेक वैश्यों ने या तो शूद्रों की स्त्रियों के साथ यौन-संबंध स्थापित किए या फिर उनसे विवाह भी कर लिए। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की दृष्टि में वैश्य अनार्य रक्त के मिश्रण के कारण शुद्ध आर्य नहीं रहे। कुछ क्षत्रियों ने भी बल प्रयोग द्वारा शूद्र स्त्रियों के साथ संबंध स्थापित किया। अत: वे भी सामाजिक तौर पर ब्राह्मणों से पिछड़ गये। अब ब्राह्मणों ने सवर्ण विवाह पर जोर देना शुरू किया। यद्यपि ऋग्वैदिक काल में ही ब्राह्मणों ने अपना प्रथम स्थान बना लिया था, फिर भी ब्राह्मण अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाए रखने के लिए बुद्धिमता पूर्वक क्षत्रियों द्वारा किए जाने वाले विरोध का प्रतिरोध कर रहे थे।

इस काल में सामाजिक संस्थाओं का प्रारंभ हो रहा था एवं वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित हो रहा था। इसकाल में शूद्रों की स्थिति उतनी निम्न नहीं हुई थी, जितना कालान्तर में, क्योंकि वे अभी भी आवश्यकता एवं इच्छानुसार शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। जानश्रुति पौत्रायन नामक शूद्र ने एक हजार गाये, रथ, स्त्री एवं ग्राम दान में देकर रैक्व से शिक्षा ग्रहण की थी। वस्तुतः इन सामाजिक संस्थाओं के नियमों का निर्धारण अभी हो रहा था। ये नियम अभी कठोर नहीं हुए थे।

## सूत्रकाल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

ई. पू. 600 से ई. पू. 300 तक का काल श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र का काल था। श्रौतसूत्रों में यज्ञ संबंधी विधि-विधान है, तो गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का विवेचन करता है। इन रचनाओं में वर्ण-व्यवस्था संबंधी जो भी स्वरूप है उनमें विभिन्न वर्णों के विधि-विधानों के द्वारा वर्णों में परस्पर अवरोध की प्रक्रिया वर्णित थी। उच्च एवं निम्न वर्ण के कर्मों का विवेचन एवं जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था पर बल दिया गया।

ऋग्वैदिक काल में ब्रह्मचर्य की चर्चा है किन्तु 'द्विज' शब्द प्राप्त नहीं होता है। द्विज की अवधारणा सूत्र साहित्यों से निष्पन्न है, द्विज का अर्थ है द्वितीय जन्म। आर्यों का यह द्वितीय जन्म उपनयन संस्कार से होता था। प्रथम तीन वर्णों को ही उपनयन का अधिकार प्राप्त था। आर्य माता-पिता से उत्पन्न सन्तान को भी आर्य-जाति की सदस्यता प्राप्त करने के लिए उपनयन-संस्कार की आवश्यकता होती थी। अनार्यों एवं आर्यों के बीच भेद उपनयन संस्कार के कारण ही सदियों तक बना रहा। कोई भी अनार्य इस उपनयन के निषेध के कारण आर्य जाति या द्विज में कभी भी

सम्मिलित नहीं हो सकता था। हाँ! जो आर्य उपनयन नहीं करवाते थे, वे निश्चित ही अनार्य वर्ग में सम्मिलित हो जाते थे। सूत्रकाल तक 'द्विज', 'द्विजन्मा' आदि शब्दों का अनेकशः प्रयोग मिलता है। उपनयन के अवसर पर प्रथम तीन वर्णों के लिए क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द से उत्पन्न माना जाने के कारण 'सविता' देवता की उपासना के लिए छन्द निर्धारित था - शूद्रों को बिना छन्द का उत्पन्न हुआ मानकर उपनयन नहीं करवाया जाता था (अर्थात् विभिन्न छन्दों से उत्पत्ति की यह अवधारणा शूद्रों को द्विजन्मा होने से रोकती थी।) वशिष्ट धर्म सूत्र में वर्णित है-

**गायत्र्यां ब्राह्मणमसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्यां वैश्यम्।**
**केनचिच्छन्दसा शूद्रम् इत्यसंस्कार्यो विज्ञायते।।**

धर्म सूत्रों में वर्णों के कर्मों का भी विधिवत् विभाजन देखने को मिलता है। गौतमधर्म सूत्र (10.1.2-5) में वर्णित है - **"द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्। ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। राज्ञोधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्। वैश्याधिकं कृषि वणिक्पाशुपाल्यकुसीदम्। शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जाति...परिचर्या चोत्तरेषां तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत।"** अर्थात् द्विजों के दो प्रकार के धर्म निम्नांकित प्रकार से माने गये हैं-

| 1. साधारण धर्म | 2. असाधारण धर्म |
|---|---|
| 1. ब्राह्मण-वेद पढ़ना (अध्ययन) आहुतिदेना तथा दान देना। | 1.प्रवचन (वेद पढ़ाना) याजन (यज्ञ कराना), प्रतिग्रह (दान देना) |
| 2. क्षत्रिय (द्विज) ,, | 2. सभी प्राणियों की रक्षा करना |
| 3. वैश्य ,, | 3. कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं ब्याज पर रुपया देना (कुसीदम्) |
| 4. शूद्र (चौथा वर्ण) ,, | 4. पहले तीन वर्णों की सेवा करना |

इन वर्णों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे शास्त्र-विहित धर्मों का पालन करते हुए जीविकोपार्जन करें। (**शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्। पूर्वस्मिन् वर्णो निःश्रेयसं भूयः।**) किन्तु परिस्थिति अनुकूल न होने पर आपद्धर्म का भी विधान था। जिसके अन्तर्गत अपने से निचले वर्ण के लिए निर्धारित कर्मों का सहारा लिया जा सकता था। यह व्यवस्था उत्क्रमित रूप में नहीं हो सकती थी अर्थात् अपने से ऊपर वर्णों की आजीविका के उपाय पर अवलम्बन नहीं हो सकता था। वशिष्ट धर्मसूत्र के **"अजीवन्तः स्वधर्मेणान्तरां यवीयसी वृत्तिमातिष्ठेरन्। न तु कदाचिज्ज्यायसीम्।"** इस कथन पर यदि हम ध्यानाकृष्ट करें, तो विभिन्न वर्णों में 'स्वधर्म' की धारणा की प्रबलता दिख पड़ती है। साथ ही, वर्ण-क्रम के निर्धारण हो जाने के कारण वर्णों में ईर्ष्या दिख पड़ती थी।

'ब्राह्मणों' के भावी विकास के लिए जन्म को आधार बनाया गया था।[1] इसी काल में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का पुनर्नियोजन किया गया (**अवध्यश्चा बन्ध्याश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चति।** गौ. ध. सू.-1.8. 13)। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का निर्धारण अनेक प्रकार से किया जाने लगा- (i) यह अवधारणा कि क्षत्रिय अन्य वर्णों का शासक तो है, किन्तु ब्राह्मण वर्ण का नहीं (**राजा सर्वश्रेष्ठे ब्राह्मणवर्जनम्।** -बौ. ध. सू. 9.1)। ब्राह्मणों का सत्कार राजा का कर्तव्य माना गया था। (**राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासयेत्य। समेत्य तु ब्राह्मणस्य पन्था**)[2] (ii) प्रजापति के उत्तमाङ्ग से उत्पन्न होने के कारण (**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्...**) (iii) उत्पत्ति क्रम में प्रथम होने के कारण, (iv) ब्रह्म (वेद अथवा ज्ञान) को धारण करने के कारण।

इस काल में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का नियोजन उन्हें अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्रदान करता था-

(1) ब्राह्मणों को प्रत्येक प्रकार के शारीरिक दण्डों से मुक्त माना गया था (**न शरीरी ब्राह्मणदण्डः**)।[3] ब्रह्महत्या निन्दनीय थी।[4] बौधायन धर्मसूत्र भी कहता है- **अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु।**

(2) आ. ध. सू. का 'अकरः श्रोत्रियः[5] शब्द ब्राह्मणों के कर मुक्त होने का प्रमाण है।[6] अन्यत्र इन्हें धर्म रूपी करदाता कहा गया है (**ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। ते हि राज्ञो धर्मकरदा**)।

(3) अध्यापन एवं पौरोहित्य ब्राह्मण वर्ण के लिए ही निर्दिष्ट थे। विद्वान् ब्राह्मणों की समाज में प्रतिष्ठा थी। राजा के लिए भी ब्राह्मण पुरोहित का रखना अनिवार्य था क्योंकि कहा गया है - "**न वा अपुरोहितस्य देवाः अन्नं अदन्ति तस्माद्राजा यज्ञकाणो ब्राह्मणं पुरोदधीत देवाने में अदन्निति**"। अर्थात् बिना पुरोहित के राजा का अन्न देवता भी नहीं स्वीकार करते।

(4) ब्राह्मणों द्वारा आपद्धर्म के नाम पर वेश्यवृत्ति अपनाये जाने का प्रमाण भी मिलता है (**तस्य वैश्यवृत्ते ब्राह्मणस्यापण्येन विक्रेयं वक्ष्यते।** - गौ. ध. सू. 1.7. 8)। बध्यता का भय होने से ब्राह्मणों को सैन्यवृत्ति को न अपनाने का निर्देश था (**आपदं ब्राह्मणं स्तीर्वा क्षात्रवृत्या भृतेजने।** - नारद-6)।

---

1. आप. ध. सू. 1.1.1.5; तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतश्श्रेयान्।
2. आ. ध. सू. 12.5.11.5-9
3. गौ. ध. सू. 12.43
4. वही, 21.1
5. आ. ध. सू. 2.10.24.10
6. गौ. ध. सू. 11.2, द्विजातिनामध्ययनमिज्या दानम्।

(5) ब्राह्मणों को सम्पत्ति संबंधी विशेषाधिकार भी प्राप्त था। वे यदि कोई निधि पाते थे, तो राज्य को दिए बिना ही वे उसे रख लेते थे। मनु के अनुसार- **''विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्। अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः।''**

क्षत्रियों की प्रतिष्ठा भी सूत्रकाल तक बनी हुई थी। युद्ध-कौशल, सुरक्षा एवं प्रशासन उनका प्रमुख कर्त्तव्य था। यद्यपि अपने कार्यों में वह ब्राह्मण प्रतिनिधियों की सलाह लेता था।[1] शासकीय वर्ग होने के कारण इन्हें राज्याभिषेक एवं विभिन्न राजसूय, अश्वमेध जैसे राजकीय अनुष्ठानों में ब्राह्मणों से सहयोग आवश्यक था। समाज में ब्राह्मण के सम्मान के बाद ही क्षत्रियों की प्रतिष्ठा थी क्योंकि गौतम धर्मसूत्र (21.6,10) में वर्णित है - **शतं क्षत्रियो ब्राह्मणं कोशे। ब्राह्मणश्च क्षत्रिये पंचाशत**। यहाँ स्पष्ट है कि एक ही प्रकार के अपराध के लिए क्षत्रियों को ब्राह्मण से दोहरा दण्ड था।

ब्राह्मणों की भांति क्षत्रियों को भी कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। आपद्काल में ये ब्राह्मणों को वेदाध्ययन भी करा सकते थे (**आपदि ब्राह्मणेन राजन्ये वाऽऽध्ययनम्**)। आपद्काल में ये वैश्य एवं शूद्र के कर्मों को अपना सकते थे, किन्तु ऋण प्रदान करना इसके लिए वर्जित था, क्योंकि ये शासक वर्ग थे[2] जिससे प्रजा पर अत्याचार की सम्भावना थी।[3] वैसे क्षत्रिय वेदाध्ययन, वैदिक-अनुष्ठान एवं दानकार्यों में रुचि रखते थे (**त्रय्यामन्वीक्षिक्यां वाऽभिविनीतः।**)[4] इस प्रकार क्षत्रियों ने अभी तक अपने दोनों धर्मों (साधारण एवं असाधारण) को पकड़ कर रख था।

सूत्रकाल में वैश्यों का प्रमुख कर्त्तव्य कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालन रह गया था, क्योंकि उपनयन संस्कार में वैश्यों के लिए विहित उम्र-सीमा उन्हें वेदाध्ययन जैसे शैक्षणिक कार्यों से प्रारंभिक उम्र में रोकते थे, जिनसे उनमें शिक्षा के प्रति अरुचि पैदा की जाती थी, जो संभवतः उन्हें उनके साधारण-धर्म (**कृषि व्यापार, पशुपालन**) में निरत रखने के लिए हो। बोधायन ने भी कृषि एवं वेदाध्ययन को परस्पर विरोधी माना है (**वेदकृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी**)। गृह्यसूत्र निर्माता अपने इस उद्देश्य में पूर्ण सफल हुए। शनैः - शनैः वैश्य वेदाध्ययन (जो प्राचीन विद्या का प्रधान विषय था) से वंचित अथवा विरत होते गये और कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं ऋण-प्रदान करना जैसे अपने असाधारण-धर्म को ही अपना साधारण-धर्म समझ बैठे।

---

1. गौ. ध. सू. 8.1 द्वौ लोके धृतवतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः।
   9.14 ब्रह्म प्रसूतं हि क्षत्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते।
2. गौ. ध. सू. 7.26, प्राणसंशये राजन्यो वैश्यकर्माऽऽददीत।
3. बौ. ध. सू. 2.2-77
4. गौ. ध. सू. 2.23

सूत्रकाल तक ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वैश्यों से जन्मतः श्रेष्ठ हो गये थे।[1] अतः वैश्यों के लिए दण्ड-विधान भी इन दोनों उच्च वर्णों से पृथक् था। आपद्-काल में ये उच्च वर्णों की आजीविका ग्रहण नहीं कर सकते थे। हाँ! सैनिक कार्य जोखिम भरा होने के कारण इन्हें सेना में भर्त्ती होने से वंचित नहीं किया गया था:-

**गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वापि संकरे।**
**गृहणीयतां विप्रविशौ शस्त्रधर्मव्यपेक्षया।।[2]**

तथापि कुछ विधि निर्माताओं का मानना था कि वैश्यों को सेना में रखने से शक्ति का विकेन्द्रीकरण एवं वैश्यों का सशक्तिकरण होगा, अतएव उन्होंने उनकी मूल वृत्ति कृषि, पशुपालन आदि पर ही बल दिया। इस दृष्टिकोण के समर्थन में हम आ. ध. सू. - 5.5.8 में देख सकते हैं - **''क्षत्रियवद् वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषि गौरक्ष्यवाणिज्याधिकम्''**।

इस काल तक शूद्र वर्णों की स्थिति निम्न एवं हेय हो चुकी थी। उच्छिष्ट ही उनके जीवन-निर्वाह का आधार था।[3] अपने से ऊपर वर्ण की सेवा करना ही इनका धर्म था। इस वर्ण व्यवस्था में उनका जीवन एवं सम्पत्ति बिल्कुल असुरक्षित थी, क्योंकि गौ. ध. सू. (10.64-65) में कहा गया है कि शूद्रों द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर उसके स्वामी का अधिकार माना जाता था **(तेन च शूद्रेणोत्तरे वृत्तिक्षीणो भर्तव्यः शिल्पादिभिः।...अस्य शूद्रस्य निचयोऽर्थसंचयस्तदर्थः स्यात्तस्योतरस्य पोषणार्थः स्यात्)**। उपनयन का अधिकार न देकर इन्हें शिक्षा से वंचित कर दिया गया था तथा इन्हें समाज के कठोर एवं हीन कर्मों में संलग्न कर दिया था। उपनयन न होने के कारण यह वर्ण सामाजिक रूप से अपवित्र[4] एवं असंस्कृत था। न तो इसके सामने वेद-पाठ या वैदिक विधि-विधान होता था और न ही इन्हें वैदिक अनुष्ठानों को करने या वेद-पाठ करने का अधिकार था[5] **(अथ वेदमु शृण्वतस्त्रपुंजतुभ्यां श्रोत्रपतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। - गौ. ध.सू., 12.4)**।

## महाकाव्य कालीन वर्ण-व्यवस्था

सूत्रकालीन वर्णव्यवस्था में वर्णों के बीच श्रेणीगत-भावना का जो स्वरूप हमलोगों ने देखा है वही क्रम इस काल में भी था—

---

1. गौ. ध. सू., 1.6.12 उपनयनं ब्राह्मणास्याष्टमे। एकादश द्वादशयोः क्षत्रिय वैश्ययोः।।
2. बौ. ध. सू., 2.2.80
3. गौ. ध. सू. 10.60....जीर्णान्युपभुक्तान्युपानदादीनि परिचर ते शूद्राय देयानि भोजनपात्रे यद् भुक्तावशिष्टं तदस्याशनम्।
4. व. ध. सू. 4.3
5. आ.ध. सू. 1.3.9.9, शूद्रापतितसकाशेऽपि शम्याप्रासान्नाऽध्येयम्।

**स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पञ्चमो नाधिगम्यते।** महा., अनु. पर्व, 47.18 मुनस्मृति भी यही कहता है–

**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।**

**चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति पञ्चमः।।** 10.4

इसकाल में वर्ण-व्यवस्था की दैवी-उत्पत्ति पर बल दिया गया है,[1] जिससे इस व्यवस्था में अवरोध न हो-

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।**

**तस्य कर्त्तारमपि मा विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्।।** श्रीमद्. 4.13

गीता (18.41) में वर्णव्यवस्था को गुण एवं कर्मों पर अवलम्बित बताया गया है:-

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतपः।**

**कर्माणिप्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।**[2]

रामायण काल तक सभी वर्णों के कर्म निर्धारित हो चुके थे -

**क्षत्रं ब्रह्ममुख चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।**

**शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः।**[3]

इस काल में उच्चवर्णों की सेवा विभिन्न वर्णों का धर्म हो गया था। विभिन्न उत्सवों में वर्णानुरूप जगह निर्धारित थे।[4] कर्त्तव्यों एवं अधिकारों की सीमाएँ निर्धारित हो चुकी थीं।

महाभारत के अश्वमेधिक पर्व (39.11) में विभिन्न वर्णों में पाये जानेवाले गुणों की भी चर्चा है -

---

1. रामायण, 3.14. 29-30; मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
   उरुभ्यां जज्ञिरे वैश्या पद्भ्यां शूद्रा....।।

2. आचार्य शुक्र ने भी गुण एवं कर्म को ही वर्ण-विभाग का आधार माना है-
   न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न।
   न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः।।
   ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किन्न ब्राह्मणाः।
   न वर्णितो न जनकाद् ब्रह्म तेज प्रपद्यते।।
   एवं महाभारत में विभिन्न वर्णों के कर्म भी स्पष्ट रूप से बताए गए हैं-
   कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः।
   ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा। महाभारत, शां. पर्व., 2.7.25
3. वा. रामा. 1.6.19
4. वही, 1.13.14, सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः।

**तमः शूद्रे रजः क्षेत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्।**
**इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः।।**[1]

विभिन्न वर्णों के वस्त्रों के वर्ण (रंग) भी निर्धारित कर दिए गए थे -

**ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।**
**वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा।।** अश्व. पर्व. 188.5

इस प्रकार के उद्धारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज स्पष्ट रूप से चार वर्णों में विभाजित था। समाज में उनका स्थान, उनकी प्रतिष्ठा, वर्ण एवं कर्म भी वर्णानुसार निर्धारित थे। इस काल के वर्ण-व्यवस्था को निम्नांकित तालिका द्वारा समझा जा सकता है -

**दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत**

| चार वर्ण | ब्राह्मण | क्षत्रिय | वैश्य | शूद्र |
|---|---|---|---|---|
| उत्पति-स्थल | मुख | बाहू | जंङ्घा | पाद |
| कर्म | ब्रह्मचर्य | संग्राम | वाणिज्य, कृषि एवं पशुपालन | परिश्रमपूर्ण कार्य |
| कर्तव्य | अध्ययन, अध्यापन पौरोहित्य | रक्षा, सुरक्षा आचार्य | भरण-पोषण | सेवापरायणता |
| अधिकार | सम्मान | प्रशासन | सम्पत्ति | कर्त्तव्य परायणता, सम्पत्ति का अनाधिकार |
| गुण | सत्व | रजस् | रजस्+तमस् | तमस् |
| सामाजिक स्थिति | सर्वाधिक सम्मानित | सम्मानित किन्तु ब्राह्मण वर्ण से अवर | सामान्य | हेय |

उपर्युक्त तालिका से महाकाव्य कालीन वर्ण-व्यवस्था की सामाजिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि पढ़े-लिखे ब्राह्मण सर्वाधिक सम्मानित थे, किन्तु सामान्य ब्राह्मण भी कम सम्मानित नहीं थे, क्योंकि विश्वामित्र जैसे प्रकाण्ड् विद्वान् भी अपने को ब्राह्मण के समक्ष स्वयं को श्रेष्ठ नहीं समझ पाते थे। महाकाव्यकालीन वर्ण-व्यवस्था जन्म पर ही आधारित मानी जानी चाहिए, क्योंकि कर्म को राजत्व प्रदान करना और इस सम्मान के लिए कर्ण का दुर्योधन को संग्राम में साथ देना यह स्पष्ट करता है कि शूद्र यद्यपि शक्ति सम्पन्न थे, किन्तु उनकी सामाजिक स्थिति हीन अथवा निन्दनीय थी। एकलव्य एवं द्रोणाचार्य का दृष्टान्त भी सामाजिक

1. वही, 1.13.10-11 भी द्रष्टव्य है।

वैमनस्यता एवं विभिन्न वर्णों के बीच के सामाजिक भेद-भाव को दर्शाता है। यदि उच्च वर्ण के लोग सारथि जैसे निम्न वर्णों के कार्य को करते थे, फिर भी वे अपने वर्ण में ही गिने जाते थे। द्रोणाचार्य एवं अश्वथामा ब्राह्मणों के कार्य करने पर भी ब्राह्मण नहीं बन सके। एकलव्य ने क्षत्रिय धर्म को अपनाना चाहा तो उसका हाथ काट दिया गया। इस प्रकार निम्न वर्णों द्वारा यदि उच्च वर्णों के लिए विहित कार्यों का निर्वाह किया जाता था तो वह उच्च वर्णों के अस्तित्व के लिए खतरा पैदा करता था, जिसके लिए उसे दण्ड भी मिलता था। क्षत्रिय के गुणों से युक्त एकलव्य से द्रोणाचार्य ने अंगूठा दान में माँग लिया था। शूद्रों द्वारा वैदिक कार्यों में भाग लेने पर उन्हें कठोर दण्ड या मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। ऐसी वैमनस्यता की स्थिति समाज में व्याप्त वर्णभेद को दर्शाता है।

मनुस्मृति भी वर्ण-भेदों एवं सामाजिक वैमनस्यता को दर्शाने वाला कोष है। समाज में ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये थे (**द्विजा...रामस्य पुरतो ययुः।**)[1]। ब्राह्मणों से सुन्दर आचरण की अपेक्षा की जाती थी। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (18.42) में वर्णित है- **'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म-स्वभावजम्।।'** महाभारत में ब्राह्मणों के लिए जितेन्द्रिय, धर्मपरायणता, स्वाध्यायनिरत होना, यज्ञ करना एवं यज्ञ करवाना आदि आवश्यक माना है -

**यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।**
**यो वैदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च।।**
**हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः।**
**जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचि।।**

—महाभारत, वनपर्व, 206.33.34

ब्राह्मण पुरोहित का ही सम्मान होता था। पौरोहित्य वंशानुगत था। ब्राह्मण-भिन्न व्यक्ति यदि यज्ञ करता था, तो वह यज्ञ समाज में बहिष्कार योग्य था। वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र द्वारा त्रिशंकु के यज्ञ में पौरोहित्य स्वीकार करना एवं देवताओं का यज्ञ-बलि स्वीकार न किया जाना इसका प्रमाण है।[2] ब्राह्मणों की श्रेष्ठता या सामंतवादी प्रवृत्ति की झलक इसी से मिलती है कि ब्राह्मणों को किसी भी प्रकार के कुकृत्यों के लिए दण्डित नहीं किया जा सकता था।[3] उसके तेज, ब्रह्मत्व एवं गुरुत्व में कोई भी कमी त्रुटियों के होने पर भी नहीं आती थी। महाभारत के आदि पर्व (28.3-5) में वर्णित है -

---

1. रामायण, 6.128.38, 4.17.36
2. वा. रामायण, 1.59.13
3. महाभारत, 1.28.3, अबध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणोह्यनलोपमः।

**न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्यो बुद्धिः कथञ्चन।**
**अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपनः।**
**अग्निर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः।।**
**गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्त्तितः।।**
**एवमादिस्वरूपस्तु सतां वै ब्राह्मणोमतः।**
**स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा।।**

ब्राह्मणों के सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक वर्चस्व को निम्नलिखित श्लोकों द्वारा समझा जा सकता है -

**ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।**
**ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते।।**

अर्थात् ब्राह्मणों को नमस्कार करने से सूर्य आकाश में सुशोभित है। ब्राह्मण जहाँ एक ओर दैवी-आपदाओं और विपदाओं से रक्षा हेतु धार्मिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों का सम्पादन कर मंगलकामना किया करता था। इसीकारण वह भूमि पर विचरण करने वाला देवता कहलाता था (भूमिचराः देवाः)।[1] उसे सामाजिक श्रेष्ठता के कारण अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे - **अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामि राजेति वैदिकम्।**' यह अब्राह्मणों के वित्त अर्थात् धन का स्वामी बताया गया है। यह किसी भी प्रकार के कर से वंचित था।

अपने सामाजिक वर्चस्व की रक्षा हेतु यह वर्ण सतत प्रयत्नशील था। उनका यह प्रयास था कि ब्राह्मण अपनी वृत्ति का त्याग न करें अथवा वे किसी अन्य वर्ण की वृत्तियों को न अपनाएँ, क्योंकि ऐसा होने पर सामाजिक विखण्डन की स्थिति पैदा होगी, जिससे समाज में उनकी श्रेष्ठता पर प्रश्न-चिह्न लग जाएगा। यही कारण था कि उन्होंने स्वधर्म का त्याग करनेवाले ब्राह्मणों को निन्दनीय माना-

**निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते।**
**भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा।**
**ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः।**
**यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ।।**

अर्थात् वेद ज्ञान रहित एवं शास्त्र-ज्ञान शून्य ब्राह्मण काष्ठहस्ती या अचर्ममृग या पुरुषत्वहीन या पंखहीन पक्षी या अग्निहीन ग्राम अथवा जलहीन कुँए के समान है।[2] इन्हीं वर्चस्व को बनाए रखने के लिए गायत्री मंत्र से अनवगत एवं सत्कर्मों से रहित

1. महाभारत, 12.29.1
2. वही, 12.36.41-48

ब्राह्मण को शूद्र कहा गया। दूसरे वर्णों की वृत्ति अपनाने वालों को उत्कृष्ट ब्राह्मण की कोटि में न देखा जाना[1] वर्चस्व खोये जाने के भय के फलस्वरूप ही था, तभी ऐसे ब्राह्मणों को ब्रह्मसम, देवसम, शूद्रसम, वैश्यसम, क्षत्रियसम एवं चाण्डाल सम माना गया। ब्राह्मणों को धन संग्रह करने से मना किया गया था[2] तथा स्वाध्याय एवं तपस्चर्या से रहित ब्राह्मण के लिए दान प्राप्त करना वर्जित कर दिया गया था[3] क्योंकि प्रबुद्ध-ब्राह्मणों को यह भय था कि उनकी धन-लोलुप्ता उन्हें ब्राह्मण वृत्ति से विमुक्त कर देगी, जो उनके सामाजिक श्रेष्ठता के विनाश का कारण होगा, जबकि दूसरी ओर उन्हें वृत्ति अपनाए रखने पर कर-विमुक्ति एवं ग्राम-दान भी प्राप्त हुआ करते थे। जिससे ब्राह्मण अपनी वृत्ति से न हटें। आपद्-धर्म की छूट ब्राह्मणों को मिली हुई थी। समाज भी समस्त लोगों के मार्गदर्शक एवं आध्यात्मिक गुरु से नैतिक आचरण की अपेक्षा रखता था।

समाज में क्षत्रिय भी सम्मानित थे। दान देना, यज्ञ करना एवं युद्ध से देह त्याग क्षत्रियों का धर्म माना जाता था (**दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि। वा. रामा.** 2.47.7)। शरणागत की रक्षा, गो रक्षा एवं ब्राह्मण-रक्षा क्षत्रियों का कर्त्तव्य बताया गया। ब्राह्मण-रक्षा इसलिए कहा गया क्योंकि ब्राह्मण हमारी सांस्कृतिक निधियों को धरोहर के रूप में संजोए हुए थे। साथ ही, ये सामाजिक, एवं राजनैतिक सन्तुलन को बनाए रखने में सहायक थे। क्षत्रिय शासक वर्ग था। प्रशासन, देश एवं सम्पूर्ण वर्गों अथवा वर्णों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व क्षत्रिय वर्ग पर था।[4] सैन्य कार्यों में इनका निपुण होना आवश्यक माना जाता था, किन्तु इनकी राजनैतिक सम्प्रभुता पर ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक अंकुश लगाकर इन्हें निरंकुश होने से बचाया जाता था। साथ ही ब्राह्मण नैतिक उपायों द्वारा भी सर्वशक्ति सम्पन्न क्षत्रियों को सत्चरित्र बनाए रखने का प्रयास करते थे। यही कारण था कि प्रशासन में भी ब्राह्मणों की सहभागिता परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से हुआ करती थी।

**ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्राह्मणा सह।**
**संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवागिनमारूतौ।।** महा. शां पर्व, 3.185.25-27

अर्थात् ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्णों की सहभागिता शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक थी। दोनों की प्रतिद्वन्द्विता सामाजिक क्षय का कारण बन सकती थी। (**प्रजास्ततः क्षयसंस्था भवन्ति...**)[5] इन दोनों वर्णों का द्वेष तीनों वर्णों के लिए

---

1. महाभा. उद्योग पर्व, 12.62.4, शूद्रो राजन् भवति ब्राह्मबन्धुर्दुश्चरित्रो यश्य धर्मादपेतः।
2 वही, अनु. पर्व, 61.19
3. वही, 12.36.41; काष्ठैरार्द्रै यथा बह्निरूपस्तीर्णो न दीप्यते।
   तपः स्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रहीः।।
4. रामायण, 2.106.18, धर्मेण चतुरो वर्णान् पलायने क्लेशमाप्नुहि।
5. महा. 12.73.2-14

समस्या उत्पन्न कर सकता था। महाभारत (12.56.25) में वर्णित भी है –**''ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः।''**

महाकाव्य-कालीन क्षत्रिय समाज की एक विशेषता यह थी कि महाभारत क्षत्रियों को अध्यापन का अधिकार देता है[1] जबकि रामायण क्षत्रियों को ब्राह्मण वृत्ति से अलग रहने का परामर्श देता है (**क्षत्रियो याजको यस्य चाण्डालस्य विशेषतः। कथं सीदसि भोक्तारी हविस्तरयसुरर्षयः॥**)[2] क्षत्रियों का कर्त्तव्य महाभारत के अनुसार–

**क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामिभारत।**

**दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत॥**

**परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्।**

**कुर्यादनयन वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते॥** – 12.60.13,14

अर्थात् प्रजा-पालन, चोर-डकैतों से रक्षा एवं योद्धा होना क्षत्रिय धर्म है। अन्यत्र कहा गया है असाधुओं पर अंकुश रखना, कर्मचारियों की रक्षा करना, गुण, शौर्य, तेज, धृति, योद्धा होना, दान एवं ईश्वर भाव क्षात्र-कर्म के स्वाभाविक लक्षण हैं

**नियन्तरमसाधुनां गोप्तारं धर्मचारिणम्।**

**इदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपरा मम॥** महाभा. 5.139.29

**शौर्यतेजो धृतिर्दाभ्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।**

**दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम्॥** महाभा. 6.42.43

वस्तुतः धर्म के लिए युद्ध करना क्षत्रियों के लिए श्रेयस्कर माना गया है– **धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् न विद्यते।**[3]

समाज को सुव्यवस्थित एवं आर्थिक सम्बल प्रदान करने वाला वर्ण वैश्य वर्ण था, जो अपने अथक् परिश्रम एवं बुद्धि से सम्पूर्ण वर्णों का पालन-पोषण करता था। कृषि एवं व्यापार[4] जैसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्य वैश्यों पर निर्भर थे। यह सर्वाधिक कर देने वाला (**वैश्य इव कर प्रदा**)[5] था। कुछ वस्तुओं का व्यापार उनके लिए वर्जित था। यथा मद्य, मांस, लौह एवं चर्म का व्यापार। महाभारत में विर्णत है –

---

1. महाभारत, 5.40.26; 12.60.13-20
2. रामायण, बालकाण्ड 56.13.14
3. महाभारत, 6.122.37
4. वही, 6.42.44; कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं वैशकर्मस्वभावजम्।
   वही, शांति पर्व, 296.21 का पूर्वार्द्ध; कृषिश्च पशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि।
5. वही, 2.47.28

**मद्यमांसोपजीव्यञ्च विक्रयं लोहचर्मणः।**

**अपूर्विणा न कर्तव्यं कृतपूर्वं त्यजतो महान्॥** 2.295.5

महाभारत काल में वैश्य अपनी वृत्तियों के अलावा वेदों की शिक्षा भी ग्रहण किया करते थे - **वाणिज्य-पशुरक्षा च कृष्यादानरति : शुचिः।**

**वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥** शांति पर्व,189.6

भारत का मेरूदण्ड कृषि एवं पशुपालन रहा है। नगर श्रेष्ठियों के रूप में वैश्य धनाढ्य व्यापारी वर्ग थे। ये अपनी वृत्ति के साथ ही अन्य की आजीविका के भी आधार स्तम्भ थे। यज्ञ करवाना, दान, अध्ययन, अतिथि सेवा, ब्राह्मणों का सत्कार, समाज के लिए त्याग वैश्यों का धर्म माना गया था-

**वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।**

**अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥**

**वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।**

**विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥** महा. अनु. पर्व, 141.54, 55

महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि यदि वैश्य समाज के अन्य वर्णों की उदरपूर्त्ति नहीं करें, तो अन्य वर्णों वाले कर्त्तव्यपरायणता से विमुख हो जाएंगे।[1]

**'यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवयुस्तथा परे।'** महाभारत, अनु. पर्व, 141.54

तत्कालीन समाज में वैश्यों को सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त था। राष्ट्र के आर्थिक आधार के रूप में इनकी पहचान बन चुकी थी, तभी युधिष्ठिर ने वैश्यों को मंत्री-परिषद् में सम्मिलित करने की योजना बनाई थी -

**वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेक विंशति संख्यया।** महा. शां. प. 85.8 पूर्वार्द्ध

**अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्र राजोपधारयेत्॥** वही, 85.11, उत्तरार्द्ध

वैश्यों के धन-धान्य एवं सम्पत्ति को राष्ट्रहित में लगाने के लिए वैश्यों को सदाचरण, ब्राह्मणों के आदर-सत्कार, या, दानादि के प्रति प्रेरित करना तथा उनमें धार्मिक-प्रवृत्ति उत्पन्न करना आवश्यक था। ऐसा न होने पर, यह भय था कि ये अपनी अर्जित सम्पत्ति ब्राह्मणों के दान अथवा राष्ट्र हित में न लगायें। इसीलिए वैश्यों को आध्यात्मिक एवं धार्मिक कार्यों में अत्यन्त सीमित अधिकार दिए गये एवं शक्ति से विपन्न कर दिया गया। यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया कि ब्राह्मण आध्यात्मिक

---

1. महा. शन्तिपर्व, 60.22,23, पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशुनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत्॥
रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात्।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून्॥

**समृद्धि बढ़ाते हैं, क्षत्रिय राष्ट्र की शक्ति-समृद्ध करते हैं, शूद्र शिल्प को समृद्ध कर सभी वर्णों की सेवा में व्यस्त रहते हैं, अतएव वैश्यों का यह कर्तव्य हो जाता है कि ब्राह्मणों को दान दें, क्षत्रियों को कर दें तथा शूद्रों को उनकी सेवा हेतु पारिश्रमिक प्रदान करें। अतएव महाकाव्यकालीन वर्ण-व्यवस्था में वैश्यों को आर्थिक दोहन हेतु महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था एवं सामाजिक रूप से यह वर्ण सम्मानित था।**

शूद्रों की सामाजिक-स्थिति महाभारत के अनुशासन एवं शान्ति पर्व में वर्णित है। शूद्रों के कर्त्तव्यों को बताते हुए कहा गया है -

**शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते परिचारकाः।**

**शूद्रधर्मः परोनित्यं शुश्रूषा[1] च द्विजातिषु॥**

**स शूद्रः संचिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।**

**शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्॥** अनु. पर्व. 41.29,57

इसकाल में भी शूद्र शेष तीन वर्णों की सेवा करनेवाले बने रहे। शूद्र श्रमिक वर्ण थे। द्विजों की सेवा के साथ ही स्वभाव में विनम्रता, पवित्रता, मन्त्ररहित पूजा, अर्चना, चौर्य कार्य में प्रवृत्त न रहना अपेक्षित था। भिक्षा, यज्ञ, व्रतादि शूद्र के लिए निषिद्ध हैं -

**भैक्ष्यहोम व्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासित।** वन पर्व, 150.36

द्विजों की आज्ञा का पालन शूद्रों का कर्त्तव्य था। अन्य वर्णों का शूद्रों के प्रति यह कर्त्तव्य था कि वे शूद्रों को भोजन, वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं का दान करें।[2] गुण की दृष्टि से शूद्रों को तमो-गुण प्रधान माना गया है, इसीलिए यज्ञ, वेदाध्ययन एवं संस्कार आदि इनके लिए निषिद्ध थे- **'उपदेशो न कर्त्तव्यो जातिहीनस्य कस्यचित्'**। (महा. अनु. पर्व, 10.4) धन-अर्जन करना शूद्रों के लिए निषिद्ध कर दिया गया था, क्योंकि उनके धन-सम्पन्न होने पर वह किसी की सेवा करने में निष्ठा नहीं रखेगा एवं सभी सेवाओं के लिए अत्यधिक पारिश्रमिक की माँग करेगा :

**संचयाश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन।**

**पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसी॥** महा. शां. पर्व. 60.30

---

1. महा. वन पर्व, 150.36; शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते।
   भैक्ष्यहोम व्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः॥
2. महाभारत, शां. पर्व, 0.32-34; अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्रा उच्यते।
   छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च॥
   यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे।
   अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः॥
   शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्म धनं हि तत्।
   यं च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत्॥

बिना राजा की अनुमति लिये शूद्रों के लिए धार्मिक कार्यों का विधान नहीं था। वह वैदिक व्रतों के स्थान पर पाक-यज्ञ कर सकता था -

**उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत।**

**स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते।।**

**तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।**

**पूर्णपात्रमयीयाहुः पाक यज्ञस्य दक्षिणाम्।।** महा., शां. पर्व, 37, 38

महाभारत के इसी पर्व में शूद्रों के दस शुभ लक्षण बताए गये है, जिनको करता हुआ यदि कोई शूद्र द्विजों की सेवा करता है तो वह प्रथम तीन आश्रमों में प्रवेश पा सकता है-

**शुश्रूषाकृतकार्यस्य कृत सन्तानकर्मणः।**

**अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते।।**

**अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।**

**आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्।।** 63.12.13

संन्यास आश्रम में प्रवेश के लिए शूद्रों को अनुमति नहीं थी, क्योंकि संन्यास आश्रम में शूद्रों को प्रवेश की अनुमति देने से सुविधा-प्राप्त वर्णों को शूद्रों की सेवा से वंचित रहने का भय था। अतः तपस्वी शूद्र के लिए वध-दण्ड का भी प्रावधान था। शूद्रों को निर्धन एवं वृद्ध स्वामी की भी निष्ठापूर्वक सेवा अपेक्षित थी। आपत्ति की स्थिति में भी धनहीन स्वामी को छोड़ना निन्दनीय था। उनका भरण-पोषण शूद्रों को किसी भी प्रकार से करना अनिवार्य था-

**देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ।**

**शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याञ्चिदादपि।**

**अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्य परिक्षये।।**

**न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।**

—महा., शां. पर्व, 60.34,36,37 उत्तरार्द्ध

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों का विशिष्ट योगदान रहा है। इस वर्ण ने शिल्प एवं कला के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट क्षमता द्वारा भारतीय संस्कृति को समुन्नत एवं उत्कृष्ट बनाया है। यह वर्ण सदाचरणपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करता रहा, किन्तु सच यह है कि इस वर्ण की समाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय बनी रही। राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकार से तो पूर्व से ही इन्हें वंचित रखा गया था। शैक्षणिक अधिकार न देना समाज के सबसे परिश्रमी वर्ण के लिए उनके विकास के मार्ग को अवरूद्ध करना था। जो वर्ण सदाचारी एवं

संयमी था, वह किस प्रकार तमोगुण प्रधान वर्ण हो सकता है, यह आज का विचारणीय बिन्दु बन चुका है।

### स्मृतियों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था

स्मृतिकालीन वर्ण-व्यवस्था को आधुनिक काल में 'मनुवादी वर्ण-व्यवस्था' की संज्ञा दी गयी है क्योंकि इसकाल तक वर्ण व्यवस्था पूर्णरूपेण जन्म पर आधारित एवं वंशानुगत हो गयी थी। मनु ने इस व्यवस्था को लोक वृद्धि का आधार बताते हुए कहा है-

**लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहुरुपादतः।**
**ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥**

सभी वर्णों में ब्राह्मणों का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की आयु में ही हो जाने का प्रावधान पूर्व से विहित था, जबकि अन्य वर्णों के लिए उपनयन अधिक उम्र में किए जाने का विधान था, अतएव ब्राह्मण वर्ण के बच्चों का शैक्षणिक-जीवन अन्य वर्णों की तुलना में पूर्व ही प्रारंभ हो जाता था। इस कारण ब्राह्मणों का सर्वाङ्गीण विकास अत्यन्त तीव्र गति से हुआ।[1] धर्म एवं ज्ञान के क्षेत्र में इनकी तीव्र प्रगति ने इन्हें सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी बना दिया -

**उत्तमांगोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैव धारणात्।**
**सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥** मनु. 1.93

स्मृतिकाल तक दो वर्णों की स्थिति विशिष्ट रूप से परिवर्त्तित हुई। ये दो वर्ण थे - ब्राह्मण एवं शूद्र। इसकाल तक राजनैतिक सामाजिक एवं शैक्षणिक सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर ब्राह्मण नियुक्त थे। अध्यापक पुरोहित, न्यायाधीश, मंत्री, धर्मपरिषद् का सदस्य जैसे पद ब्राह्मणों से भरे-पड़े थे। जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे विशेष सुविधाएँ मिलती रहीं। अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह जैसे प्रमुख कार्यों तथा राज्य और समाज के सभी कार्यक्रमों में उसे सर्वोच्च पद प्राप्त था -

**अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।**
**दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥** मनु. 1.88

**ब्राह्मणों के विशेषाधिकार**–विवेच्य काल में ब्राह्मणों को विभिन्न प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिससे अन्य वर्ण वंचित थे। मनु ने राजा के मंत्रियों में एक ब्राह्मण मंत्री को रखने का परामर्श दिया है, जिसपर राजा पूर्ण विश्वास कर अपने दायित्वों का महत्त्वपूर्ण अधिकार सौंप सकता था।[2] राजा के न्याय प्रदान करने में भी

1. मनु. 2.15.5; विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्।
2. मनु. 7.58-59; सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
   मन्त्रयेत्परमं मंत्रं राजा षड्गुण्यसंयुक्तम्॥
   नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत्।
   तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत्॥

ब्राह्मणों की अहम् भूमिका होती थी।[1] ब्राह्मण के लिए मृत्यु-दण्ड निषिद्ध था।[2] ब्रह्म हत्या को निन्दनीय माना गया था।[3] एक ही अपराध में क्षत्रिय को 100 कार्षापण दण्ड की व्यवस्था थी, तो ब्राह्मण को 50 कर्षापण की। ब्राह्मण से कटु वचन बोलने पर विभिन्न वर्णों को अलग-अलग आर्थिक दण्ड था, वहीं अन्य वर्णों से ब्राह्मणों द्वारा कटु वचन बोलने पर अत्यल्प आर्थिक दण्ड का प्रावधान था-

**शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।**
**वैश्येऽप्यधेशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥**
**पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्यभिशंसने।**
**वैश्ये स्यादाधर्मपंचाशच्छूद्रे द्वादशको दमः॥**

मनु के पूर्व विद्वान् एवं चारित्रिक गुणों से युक्त ब्राह्मण ही समाज में सम्मानित थे, किन्तु मनु के समय मूर्ख एवं चरित्रहीन ब्राह्मण भी विद्वान् ब्राह्मणों की श्रेणी में गिने जाने लगे (**अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।** - मनु. 9.317)। अब तक ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का अधिकार कर्म न होकर जन्म हो गया था। निन्दित कार्यों में अनुरक्त ब्राह्मण भी दैव-तुल्य हो चुका था -

**एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।**
**सर्वथा ब्रह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥** मनु .9.319

मनु ने धर्म की रक्षा में मात्र ब्राह्मणों को ही समर्थ माना था। अतएव समस्त धार्मिक अधिकार ब्राह्मणों में ही निहित थे। मनुस्मृति (1.99) में वर्णित है-

**ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।**
**ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥**

उपनयन संस्कार, अध्ययन-अध्यापन आदि में प्राथमिकता ने सामाजिक रूप से भी सभी वर्णों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बनाये रखी थी। मनु स्मृति में एक उक्ति है-

**न ब्राह्मणस्य त्वतिथिगृहे राजन्य उच्यते।**
**वैश्य शूद्रो सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च॥**

अर्थात् ब्राह्मण के घर कोई भी अतिथि नहीं होते (क्योंकि अतिथि अपने से ऊँची या समान जाति का होना चाहिए)। यह उक्ति ब्राह्मणों की उत्कृष्ट सामाजिक स्थिति का द्योतक है।

---

1. मनु. 8.9; यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
   तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्य दर्शने॥
2. वही, 8.380
3. वही, 11.54; ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागभः।
   महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥

सम्प्रभुता सम्पन्न ब्राह्मण वर्ण के लिए यह स्वाभाविक था कि आर्थिक रूप से भी राजकीय संरक्षण मिले। यह आर्थिक संरक्षण इस हद तक था कि ब्राह्मण यदि कोई गुप्त निधि प्राप्त करता था, तो वह सम्पूर्ण धन रख लेने का अधिकारी होता था-

**विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।**

**अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्य अधिपतिर्हि सः।।** मनु. 8.37

इतना ही नहीं यदि राजा को भी कोई पुरानी निधि प्राप्त होती थी, तो उसका आधा ब्राह्मणों में वितरित करने का विधान मनुस्मृति के अनुसार है -

**यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।**

**तस्माद्द्विजेभ्यो दत्वाधर्ममर्धं कोशे प्रवेशयेत्।।** 8.38

अतिनिर्धन राजा द्वारा भी ब्राह्मण पर कराधान निषिद्ध था, क्योंकि मनु का मानना था कि ब्राह्मण यदि पीड़ित है, तो वह राज्य भी पीड़ित होगा -

**म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्कम्।**

**न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषयेवसन्।।** 7.133

स्मृतिकाल में क्षत्रियों की स्थिति भी सामान्य वर्णों की भांति हो गयी थी। क्षत्रियों का कार्य ब्राह्य एवं आभ्यंतर शत्रुओं से अन्य वर्णों की रक्षा करना था (**क्षत्रात् किल त्रायते'** अर्थात् जो आक्रमण या दुःख से त्राण दिलाए)। मनु ने क्षत्रियों को सांसारिक भोगों से दूर रहने का परामर्श दिया था, जिससे वह राजकीय कार्यों को ठीक से चलाए तथा प्रजा-पालक हो।[1] प्रजा की रक्षा करें[2] दान दे, यज्ञ करे एवं वेदपाठी हो (**प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।** 1.89)। किन्तु, ब्राह्मण की भांति यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना ये तीनों क्षत्रियों के लिए वर्जित हैं -

**त्रयोधर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।**

**अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः।।** 10.77

इस प्रकार चतुर्वर्णों की रक्षा एवं पालन का दायित्व अभी भी क्षत्रियों को ही प्राप्त था, किन्तु सामाजिक रूप से ब्राह्मणों को समाज में उच्च सम्मान दिया गया, जबकि क्षत्रियों की स्थिति धीरे-धीरे सामान्य होती गयी।

प्रारम्भ से इस काल तक वैश्यों का स्थान क्रमानुगत तीसरा बना रहा। व्यापारिक एवं कृषक वर्ग के रूप में इस वर्ण की पहचान बनी रही।[3] राजकीय स्तर को

---

1. मनुस्मृति, 7.144; क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम्।
2. विष्णु स्मृति, अध्याय-2; क्षत्रियस्य क्षितित्राणम्।
3. गौ. ध. सू. 2.1.50; वैश्यस्याधिकं कृषिवाणिक्यपाशुपाल्यकुसीदम्।
   मनु. 10.79; वणिक्पशुर्कृषिर्विशः। आजीवनार्थ.....।

छोड़कर समस्त आर्थिक-जगत् इनकी वृत्तियों के अनुसार ही था। मनुस्मृति में अध्ययन, यजन एवं दान वैश्यों के परम कर्त्तव्य थे -

**पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।**
**वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।** मनु. 1.90

वैश्यों का मुख्य ध्येय धनार्जन था। दूसरों के पशुओं एवं खेतों की देखरेख के लिए भी इन्हें अतिरिक्त लाभ मिलता था। ये वैश्य गुप्तयुग में श्रेष्ठि, वणिक्, धान्यमाय, गहपति, नैगम आदि विभिन्न नामों से संबोधित होते थे। हेमचन्द्र ने इन वैश्यों को अर्या, भूमिस्पर्शः, वैश्यः, ऊरव्या, उरुजाः और विशः कहा है।[1]

यह वर्ण राज्य को सर्वाधिक कर प्रदान करता था। पशुपालन, व्यापार एवं कृषि से होने वाले लाभ का कुछ लाभांश कर के रूप में प्रदान करता था। अतएव यह वर्ग राज्य के लिए मेरुदण्ड था, जिसपर किसी भी राज्य की शक्ति आधृत थी। इसके विपरीत यह वर्ण सामाजिक रूप से अपनी श्रेष्ठता गँवाता जा रहा था। खेती एवं पशुपालन जैसे परिश्रम- युक्त कार्यों के लिए मजदूरों की व्यवस्था शूद्र वर्ण में ही हो पाती थी। इसकारण शूद्रों से वैश्यों की निकटता परस्पर बढ़ती जा रही थी। इस सन्निकटता का ही परिणाम था कि वैश्य शूद्रों के समतुल्य हो गये थे। सामाजिक रूप से इनकी प्रतिष्ठा घटती जा रही थी। यह वर्ण ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्णों से दूर होता जा रहा था। वैश्यों की सामाजिक स्थिति शूद्रों के समकक्ष होने का एक अन्य कारण भी था, वह था उनका अध्ययन एवं यज्ञ से विरत होना। अबतक शूद्र एवं वैश्य की सन्निकटता उन दोनों के समस्थानीय होने से जानी जा सकती है।

स्मृति काल तक वैश्यों को उनकी वृत्ति के आधार पर पहचाना जाने लगा था। एक जगह रहकर व्यापार करने वाले **स्थानीय वणिक्** कहलाते थे, जो खेती भी करते या करवाते थे। स्थानीय वणिक् '**श्रेणी**' भी कहलाते थे। कुछ यायावरी जाति के वैश्य थे जो कारवां द्वारा व्यापार करते थे। विदेश व्यापार में संलग्न वैश्य '**नैगम**' उद्बोधित किए जाते थे। वणिकों द्वारा ताम्रलिप्ति से समीप के द्वीपों पर जाकर व्यापार करने का वृतान्त कथामञ्जरी में प्राप्त होता है। कुछ साधारण वैश्य शिल्पकार भी थे। यथा-कुम्हार,ताम्बुलिक, शिताकुट।[2] 'मनुस्मृति वैश्यों के लिए कुछ वस्तुओं के व्यापार को निषिद्ध बताता हुआ कहता है:-

**आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।**
**गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।।** 7.131

---

1. अभिधानचिन्तामणि, 3.864; अर्यः भूमिस्पर्शो वैश्या ऊरव्या उरुजाः विशः।
2. इपि, इंडि. 1 पृ. 177; रथयात्रायां आगतेन आत्म पाइलामध्यात् विशोपकः दत्तः।
आत्मीय घाणकं तेलं व मध्यात् पलिकाः द्वयं प्रदत्तः।।

**पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।**

**मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च॥** 7.132

मिलावटी समान बेचनेवाले वैश्यों के लिए दण्ड का भी विधान था-

**नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।**

**न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥** मनु. 8.203

समाज का यह वर्ग धन की दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध था। यह वर्ग आपद्काल में अपनी वृत्ति का त्याग कर मात्र शूद्र वृत्ति ही अपना सकता था।

स्मृतिकाल में भी शूद्र बिना विद्रोह किए हुए अन्य तीन वर्णों की सेवा-सुश्रूषा में निरत रहे।[1] मनुस्मृति (8.413) में तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्रह्मा ने शूद्रों को दास्य-कर्म के लिए ही उत्पन्न किया है (**दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ...**)। शूद्रों के लिए वेदाध्ययन करना या वेदाध्ययन करने वालों के समीप जाना दण्डनीय था।[2] शूद्र के दो विभाग किए गए थे। अनिरवसित शूद्र वे थे जो नगरों या गाँवों में रहकर अन्य तीन वर्णों की सेवा किया करते थे। नाई, धोबी, बढ़ई, लोहार आदि अनिरवसित शूद्र थे। निरवसित शूद्र शहर या गाँव के बाहर निवास करते थे। यथा- चाण्डाल आदि।[3] शूद्रों के लिए धनसंचय का निषेध किया गया था।[4] सुविधा-भोगी वर्णों में यह भय बना हुआ था कि यदि शूद्र धन संचय कर लेंगे, तो वे सेवा-भाव से विमुख हो जाएंगे।

शूद्रों में कुछ शूद्र सभ्य, सन्मार्गी, सदाचरणयुक्त थे, जिनकी सामाजिक स्थिति उन्नत थी। वैश्यों की सामाजिक स्थिति और सदनुयायी शूद्रों में अन्तर बहुत ही कम था।[5]

शूद्रों के लिए आपद् धर्म कारुकर्म (सूप निर्माण) आदि था। मेधातिथि ने भोजन बनाने तक की छूट शूद्रों को दे दी थी। हेमचन्द्र ने शूद्रों के विभिन्न पेशे का वर्णन किया है जो उन्होंने बाद में अपना लिया। कुम्हार, नापित, बढ़ई, लोहार, तंतुवाय, रजक, रजब, तक्ष, अयस्कर आदि ऐसी ही पेशे थे।[6]

स्मृतिकाल में भी शूद्रों को उपनयन का अधिकार न होने के कारण उन्हें द्विजों

---

1. मनु स्मृति 9.334; विप्राणां वेद विदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
   शुश्रुषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रयसः पर॥
2. याज्ञ. स्मृति, 1.148.
3. पतञ्जलि महाभाष्य, 2.4.10
4. मनु., 10.129; शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
   शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥
5. याज्ञ. 1.122.
6. शब्दानुशासन, 6.12

को प्राप्त विशेषाधिकार नहीं मिल पाये थे। वेदाध्ययन एवं यज्ञ का अधिकार अभी भी उन्हें नहीं था। अनार्य होने के कारण ये अभी तक आर्य कन्या से विवाह करने के अधिकारी नहीं थे। शूद्रों का आर्यों के साथ रक्त का संबंध या सांस्कृतिक संबंध नहीं हो पाया था, अब तक बिना वैदिक मंत्र के शूद्रों को विविध संस्कारों को करने की अनुमति प्राप्त हो चुकी थी। साथ, इन्हें पूर्त कर्मों को करने की भी अनुमति बिना वैदिक मंत्र पढ़े प्राप्त हो गयी थी:-

**धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः वृत्तिमनुष्ठिताः।**
**मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥**

स्मृतिकालीन वर्णव्यवस्था परवर्त्ती काल में भी उसी प्रकार वर्षों बनी रही। किन्तु कालान्तर में अनेक जातियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका वर्गीकरण इन चार वर्णों में किया जाता रहा। हर जाति को किसी विशेष के अन्तर्गत देखा जाता रहा, किन्तु उनके कार्य उस वर्ण के अनुकूल नहीं रह गये। अनेक विदेशी भारत आये और यहीं रह कर यहाँ की संस्कृति को आत्मसात् कर लिया। इन विदेशियों के रीति-रिवाज हमारी संस्कृति में भी सम्मिलित किए गये। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के कठोर-नियम शिथिल होने लगे। भविष्य में जातियाँ प्रधान हो गयीं एवं वर्ण-व्यवस्था कमजोर पड़ने लगा। जातियों की संख्यागत वृद्धि भी वर्ण-व्यवस्था को शिथिल करने का एक प्रमुख कारण बन गयीं।

उपर्युक्त प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था शिक्षा के प्रसार, विभिन्न सामाजिक व्यवस्था के सम्मिलन, दूरसंचार व्यवस्था की तीव्रगति, आवागमन की तीव्र व्यवस्था, विचारों के आदान-प्रदान, बोलने की स्वतंत्रता से ध्वस्त होने लगी है। तर्क, बौद्धिक स्तर के विकास एवं शिक्षा के सभी वर्णों में प्रसार से वृत्ति पर आधारित समाज की चतुर्वर्ण-व्यवस्था विखण्डित हो रही है। अब सभी व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के आधार पर सुविधा प्राप्त करने का अधिकार मिल गया है।

विश्व की किसी भी सभ्यता अथवा संस्कृति के इतिहास को आद्योपान्त देखें, तो भी अन्य किसी समाज में ऐसी सर्वांगीण तथा समन्वयात्मक व्यवस्था प्राप्त नहीं होती है, जिसका मूल प्रत्येक युग में शाश्वत बना रहा हो। अपने इसी गुण के कारण यह वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की प्रधान अंग बन गई। इस वर्ण व्यवस्था में अनेक गुण एवं दोष थे, जिनपर विचार किए बिना विषय अधूरा रह जाता है। सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था के गुणों पर विचार करें तो हम वर्ण-व्यवस्था में निम्नलिखित गुण पाते हैं -

1. वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति समाज के लिए अनुपयोगी या भारयुक्त नहीं है। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य न रहने पर भी कोई भी व्यक्ति शारीरिक

परिश्रम द्वारा समाज में स्वयं को भार मुक्त सिद्ध कर सकता है। अर्थात् यह प्रत्येक व्यक्ति को जीविका की सुरक्षा प्रदान करता है।

2. वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज को प्रतिस्पर्धात्मक जीवन की हानिकारक बुराइयों से रक्षा करता रहा है। प्रत्येक वर्ण सामाजिक वृद्धि के मार्ग पर निर्द्वन्द्व होकर अग्रसर होता रहा।

3. वर्ण-व्यवस्था में वैश्य वर्णों ने व्यावसायिक या वाणिज्यिक गतिविधियों में पूर्ण विशेषज्ञता प्राप्त की, वहीं क्षत्रिय राज्य-प्रबन्धन एवं राजकीय सुरक्षा के प्रति समर्पित रहे। ब्राह्मण समाज ने प्राचीन बहुमूल्य सांस्कृतिक धरोहरों को स्वयं में सीमित रखकर वेद एवं वेदाङ्गों को संरक्षित रखा। शूद्र भी शिल्पकार के रूप में सिद्धहस्त हो गये एवं उन्होंने समाज को सुदृढ़ रखने में पूर्ण सहयोग किया।

4. वर्ण-व्यवस्था के सुदृढ़ होने के कारण प्राचीन न्याय व्यवस्था में कोई बाधा नहीं आई।

5. इस व्यवस्था ने समाज को अद्‌भुत स्थिरता प्रदान की। विभिन्न वर्ण द्वारा धर्म के आधार पर परिवार, समुदाय, समाज एवं देश के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सशक्त निर्वाह हुआ।

6. इस व्यवस्था ने रंग-भेद एवं व्यवसाय-भेद के बाद भी हिन्दू समाज में तादात्म्य स्थापित रखा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत हमने अनार्यों के धार्मिक, कृत्यों को थोड़ा बहुत अपनाया। यथा-शिव पूजा अथवा शैव दर्शन का प्रचार-प्रसार। साथ ही, अनार्यों ने जो अधिकांश शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखे गये, मन्त्र-रहित संस्करों एवं धार्मिक आडम्बरों में अपनी आस्था जतायी।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था ने निश्चय ही भारतीय समाज को स्थिरता एवं सुदृढ़ता प्रदान की। वर्णगत सामाजिक कर्त्तव्यों के निर्धारण ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था और संगठन को सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। व्यवसाय एवं कर्म की प्रधानता ने गुणवालों के विकास में पूर्ण योगदान दिया।

वर्ण-व्यवस्था की आधुनिक समाज में तीखी निन्दा की गयी है। इसे अत्यन्त विध्वंसकारी एवं सामाजिक अवमूल्यों वाली व्यवस्था कहा गया है। इस व्यवस्था ने समाज में विद्वेष एवं भेद-भाव को बढ़ावा दिया है। वर्ण-व्यवस्था के दोषों को हम निम्नलिखित रूप में दिखा सकते हैं-

1. वर्ण-व्यवस्था एक ऐसी भेदकारी एवं विद्वेष उत्पन्न करने वाली व्यवस्था थी जिसने प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में राष्ट्रीय भावनाओं को समाप्त कर दिया, जिसका लाभ विदेशी आक्रमणकारियों को मिला और उन विदेशियों ने भारत को बार-बार रौंदा।

2. वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित व्यवस्था के रूप में उत्पन्न हुई थी। महाभारत में वर्णित है -

**सत्यं दानमथाद्रोहः आनुशंस्यं त्रपा घृणा।**
**तपस्य दृश्यते यत्र स ब्रह्मण इति स्मृतः।।**
**शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।**
**न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।।**

गीता में भी गुण एवं कर्म को ही वर्ण का आधार बनाया गया है -

**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।'** 4/13 पूर्वार्द्ध
**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतपः।**
**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।।** 18/41

शुक्राचार्य ने भी वर्ण-व्यवस्था को गुण-कर्मगत माना है -

**न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न।**
**न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः।।**
**ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नः सर्वे ते किन्न ब्राह्मणाः।**
**न वर्णितो न जनकाद् ब्रह्मतेज प्रपद्यते।।**

शुक्राचार्य एवं महाभारत के कथनों से यह स्पष्ट होता है कि वर्ण-यवस्था गुण एवं कर्म पर आधारित व्यवस्था थी, किन्तु इसकाल तक यह व्यवहारतः जन्मगत हो गयी थी, जिसकारण योग्यताएँ वर्ण-व्यवस्था का आधार नहीं रह गयीं। $\sqrt{}$वृ धातु से वरण करना या चयन करना अर्थ ग्रहण न होने लगा। अब वर्ण अर्थात् रंग वर्ण का आधार हो गया। आर्य और अनार्यों के भेद के बाद वर्ण-भेद बढ़ने लगा। समाज में कलुषता आ गयी। विद्या एवं चारित्रिक विशेषताओं का वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कोई महत्त्व न रहा। परवर्त्ती-काल में जब शिक्षा का प्रसार हुआ तो बुद्धिजीवी वर्गों ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध कर दिया और इस व्यवस्था को मनुवादी व्यवस्था करार दिया। निश्चय ही इस व्यवस्था ने समाज में योग्य एवं बुद्धिजीवी दलितों में असन्तोष उत्पन्न किया।



# अध्याय-3

# आश्रम-व्यवस्था : मानव जीवन का सुव्यवस्थित विभाजन

**'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदः शतम्प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्'** इसी लोकेषणा पर आधारित है हमारे जीवन की कल्पना। इस दीर्घकालिक जीवन में आधिभौतिक संग्रह मात्र से सुखप्राप्त करना हमारे जीवन का उद्देश्य नहीं रहा, अपितु ज्ञान, दर्शन एवं धार्मिकभाव से आनन्द प्राप्त करना भी हमारे लक्ष्यों में शामिल था। **'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषाषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवशंकल्पमस्तु'।** जैसे मंत्रों से युक्त 'शिवसंकल्प सूक्त' का उच्चारण करता हुआ शुभ्र मन की कामना वैदिक जीवन पद्धति में शामिल था। इस जीवन पद्धति को सुदृढ़ सुनियोजित एवं सुसंस्कृत करने के लिए ही आश्रमव्यवस्था बनाई गयी थी। कपिल मुनि ने वैदिक संस्कृति की विशिष्टता बताई है -

**''वैदिकी संस्कृतिः पुण्या, पुरुषार्थचतुष्टयम्।**
**शिष्ट्वा लोकान् पुनात्येषां सत्याचारगुणप्रदा।।''**

पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति, जीवन की समग्रता, जीवन का व्यवस्थित रूप एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की स्थापना आश्रम-व्यवस्था के बिना कठिन थी। अतएव वैदिक संस्था के रूप में आश्रम व्यवस्था की नियोजना जीवन-चिंतन, जीवनोत्कर्षधायक तत्त्वों की गवेषणा, कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेचन के आधार को तैयार करने के लिए हुई। वैदिक जीवन दर्शन के अनुसार कर्त्तव्यपरायणता, एवं परिश्रम को भोग एवं लिप्सा पूर्ण जीवन से प्राथमिकता दी गयी थी। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत तपोमय जीवन का मुख्य उद्देश्य त्याग, धर्म अध्यात्म, ज्ञान आदि के साथ जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करना था। विभिन्न पुरुषार्थों धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष की प्राप्ति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों में विभाजित जीवन-शैली के द्वारा संभव मानी गई।

हमारे विविधतापूर्ण जीवन को सुनियोजित ढंग से परम उद्देश्य (मोक्ष) तक पहुँचा देना आश्रम व्यवस्था का प्रमुख कार्य था। आश्रम व्यवस्था से जीवन में क्रमबद्ध कार्य करने की शैली एवं धार्मिक-भावना प्राप्त होती थी। लौकिक कार्यों से निबटकर पारलौकिक तथ्यों पर विचार करना भी आश्रम-व्यवस्था का दार्शनिक

आधार था। सात्त्विकतापूर्ण जीवन के साथ कर्म में निष्ठा आती थी। चारों आश्रम का बँटवारा हमारे दीर्घायु होने का द्योतक है क्योंकि प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्षों के कार्यकाल का निर्धारण हुआ था। ब्रह्मचर्य आश्रम ज्ञानप्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम सांसारिक जीवन के उपभोग के लिए, वानप्रस्थाश्रम ईश्वराधान के लिए एवं सन्यास आश्रम मोक्ष प्राप्ति हेतु तपस्चर्या के लिए था। अतः त्याग, संयम एवं निस्पृहता युक्त जीवन-यापन करते हुए निवृत्ति मार्ग द्वारा पुरुषार्थों को प्राप्त करना आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ही संभव था। सांसारिक या व्यावहारिक जीवन पर्यन्त आध्यात्मिक मार्ग की ओर अग्रसर होने के लिए आश्रम व्यवस्था हमें सुनियोजित करता था। हालांकि कुछ ही लोग मुनि-धर्म का अनुसरण करते हुए सभी गृहस्थ कार्यों को त्यागकर ऋषियों सी जिंदगी व्यतीत करना चाहते थे।

पशु प्रायः बिना प्रयत्न के ही जीवन-यापन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं जबकि मानव का स्वभाव विपरीत है। वह सतत परिश्रम के द्वारा ही सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त करता है। ये परिश्रम पाँच प्रकार के हैं - अध्ययनात्मक, सर्जनात्मक, तपस्यात्मक, सेवात्मक और योगात्मक। इन परिश्रम की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर भी जीवन के चार भागों की कल्पना की गयी। अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, सर्जनात्मक श्रम के लिए गृहस्थाश्रम, तपस्या एवं सेवा रूपी श्रम हेतु वानप्रस्थ एवं योग द्वारा पुरुषार्थ की कामना करने के लिए सन्यास आश्रम के रूप में जीवन को चार भागों में विभक्त कर जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने की चेष्टा की गयी।

### आश्रम का अर्थ

ऊपर बताया जा चुका है कि मनुष्य अपने जीवन में विभिन्न कार्यों को श्रमपूर्वक सम्पन्न करता था। पूर्व आश्रम के कार्यों को सम्पन्न कर अगले आश्रम में जाने की तैयारी करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन के निर्वाह में व्यक्ति श्रम करता ही रहता है। अतः आश्रम का अर्थ श्रम, प्रयास या उद्यम करना है। परम पुरुषार्थ तक पहुँचने के लिए ये चार सोपान जीवन में आवश्यक थे। प्रत्येक आश्रम का महत्त्व था, क्योंकि किसी भी एक के बिना परम-पद की प्राप्ति संभव नहीं थी। प्राचीन काल में यह अवधारणा प्रबल थी कि इहलोक के साथ-साथ परलोक भी बेहतर हो। विभिन्न आश्रमों के लिए बनाये गये विधानों का निष्ठापूर्वक पालन किया जाता था। बताया गया था कि ब्रह्मचर्याश्रम में अर्थाभिव्यक्ति ज्ञानप्राप्ति से होती है। आश्रम में नियम एवं संयम पूर्वक रहकर व्यक्ति शिक्षा एवं ज्ञान ग्रहण करता है। गृहस्थाश्रम सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए है। वानप्रस्थ ईश्वराधान के लिए है जिसमें सांसारिक माया मोह को त्याग कर समाज सेवा करनी चाहिए एवं परम-लक्ष्य की

प्राप्ति हेतु सन्यास आश्रम में तप करना चाहिए। इसप्रकार प्रज्ञा एवं प्रतिभा का पूर्ण उत्कर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम में पूरा कर समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कार्य गृहस्थ आश्रम में होते हैं। यही कारण है कि धर्म, अर्थ एवं काम इन त्रिवर्ग की प्राप्ति गृहस्थाश्रम में ही मानी गयी। गृहस्थ आश्रम ही सम्पूर्ण आश्रमों में मूल था क्योंकि यही शेष तीन आश्रमों का जनक था। वैसे विष्णु पुराण (1.6.33) में कहा गया है-

**'वर्णानामाश्रमाणां च धर्मान्धर्मभूतां वरम्।**
**लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यग्धर्मानुपालिमनाम्'।।**

अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था सभी धर्मों में श्रेष्ठ है जिससे इस लोक के सभी लोग धर्मानुसार कार्य करते हैं।

## आश्रम व्यवस्था का उद्भव एवं विकास

ऋग्वेद में आश्रम-व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके संकेत मात्र मिलते हैं। 'ब्रह्मचारी', 'गृहपति' (गृहस्थ) और 'मुनि' या 'यति' का उल्लेख ऋग्वेद में है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में उल्लिखित है-**ब्रह्मचारी चरति वे विषद् विषः सः देवानः भवत्येकमंगम्।** (109.5)। यही ऋग्वेद के आठवें मण्डल में वर्णित है **'येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविय'**। पुनः दूसरे मण्डल में कहा गया है **ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे**। इस प्रकार के ऋग्वैदिक उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जीवन का चार भागों में पूर्ण विभाजन इस काल में नहीं हुआ था। उत्तरवैदिक काल में ही इस प्रकार के विभाजन के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं। जाबालोपनिषद् में वर्णित है **'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।**[1] याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयी को बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि अब मैं गृहस्थी से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ (**मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।** 4.5.2)। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मचारी को धर्म का तीसरा भाग बताया गया है (**ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽव- सादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति** 12.31.1)। इन सभी को पुण्यलोक प्राप्त करने वाला कहा गया है। उपर्युक्त उद्धरण में गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं ब्रह्मचर्य का उल्लेख तो है, किन्तु क्रमबद्ध नहीं है। संन्यासाश्रम की चर्चा नहीं है किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस आश्रम-व्यवस्था से बाहर 'अत्याश्रमी' माना गया है (**तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याग्रमीभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्।।** 6.21)। अतएव उपनिषद् काल में ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम

1. ऐ.ब्रा. 35.2

की स्थिति स्पष्ट थी, किन्तु उसके बाद एक ओर स्थिति ही स्वीकार की गयी थी। इस प्रकार जीवन को तीन भागों में ही विभाजित कर देखा जाता था, परन्तु उपनिषद् काल में निवृत्ति-मार्ग पर आध्यात्मिक बल दिया गया। इससे जीवन के अन्तिम-चरण को दो भागों में बाँट कर देखा जाने लगा, जो स्मृति एवं धर्मसूत्र काल में अत्यन्त स्पष्ट हो गया। यह अवधारणा इस कारण भी उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि प्रारम्भ में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की ही प्रतिष्ठा हुई थी, जिसे उपनिषद् काल में मोक्ष जैसे आध्यात्मिक उद्देश्य को जोड़कर देखा जाने लगा और चतुर्वर्ग की स्थापना हुई। जिस प्रकार प्रारंभ में मोक्ष को स्वतंत्र रूप से देखा जाता था, वैसे ही संन्यास की भी स्थिति थी। कालान्तर में चार-आश्रमों की चर्चा प्रायः सभी धर्मगृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों में प्राप्त होती है। यह स्मृति काल में आश्रम व्यवस्था की पूर्ण स्थापना का परिचायक है। इन आश्रमों को धर्म-सूत्रों में अन्य नामों से भी कहा गया है। 'गौतम धर्म-सूत्र' इन्हें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखनस कहता है। धर्मसूत्र में सन्यास के लिए 'यति' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। गौ. ध. सू. (3.2) में पुनः कहा गया है - **तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते।** इससे पता चलता है कि क्रम एवं नामों में अन्तर है किन्तु इनका मूल आधार एक ही है। स्मृति युग में इन आश्रमों की विशद व्याख्या प्रारम्भ हो गई थी।

महाभारत का 191 वॉ अध्याय ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम की एवं 192 वॉ अघ्याय वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम की विस्तृत व्याख्या करता है। महाभारत एवं धर्मसूत्रों में आश्रम--व्यवस्था के उद्भव से संबंधित अनेक किंवदन्तियाँ मिलती हैं। महाभारत एवं वायुपुराण के अनुसार आश्रम व्यवस्था का उद्भव ब्रह्मा से हुआ है।

**कुतः कर्माक्षितिं प्राहुराश्रमस्थानवासिनः।**
**ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान्नामनामतः॥**

जबकि 'बौधायन-गृह्यसूत्र' कहता है कि प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवताओं की स्पर्धा में आश्रम व्यवस्था को बनाया था।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था को समाज में मानव द्वारा कार्य को निष्ठापूर्वक पालन करने के लिए बनाया गया था। ब्रह्माण्ड पुराण (3.50.7) में उल्लिखित है कि राजा सगर के साम्राज्य में आश्रम-व्यवस्था का अक्षरशः पालन होता था (**अनाश्रमी द्विजः कश्चित् न बभूव**)। जो आश्रम-व्यवस्था का पालन नहीं करते थे, वे यातना के भागी होते थे। 'वायु-पुराण' (80.60) के अनुसार वे नरक के भागी थे (**वेदाश्रमान्मुक्त चितः कुम्भीकानधिगच्छति**)। प्रतीत होता है कि द्विज में आश्रम-व्यवस्था का पालन अधिक होता था।

जीवन को सुनियोजित करने एवं समाज को व्यवस्थित करने के लिए इन चार

आश्रमों का उतना ही महत्त्व था, जितना चार पुरुषार्थों का। दोनों के बीच अन्योन्याश्रय संबंध था। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम में ही क्रियान्वित होते थे। जिन पुरुषार्थों से व्यक्ति में निखार आता था। उसका कार्य-स्थल ये आश्रम ही थे। आश्रम पुरुषार्थों का आधार था। धर्म की प्राप्ति ब्रह्मचर्याश्रम में करनी होती थी, तो अर्थ एवं काम ग्रहस्थाश्रम मे पूर्ण होते थे। वानप्रस्थ आश्रम चतुर्थ पुरुषार्थ का प्रारम्भिक सोपान था एवं मोक्ष की प्राप्ति सन्यास आश्रम में होती थी। मनु ने कहा है -

**अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुपाद्य तथा सुतान्।**
**अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥" IV. 3711**

अर्थात् जो द्विज वेदों को (ब्रह्मचर्याश्रम में) पढ़े बिना, संतानों को (गृहस्थाश्रम में) उत्पन्न किए बिना, यज्ञों द्वारा ऐहिक-आमुष्मिक सुखों की (वानप्रस्थाश्रम में) प्राप्ति बिना (सन्यासाश्रम में) मोक्ष की कामना करता है, वह नरक को जाता है। अतएव सभी आश्रमों के कर्त्तव्यों को पूरा करने के बाद ही अगले आश्रम में प्रवेश करना चाहिए-

**आश्रमादाश्रसं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।**
**भिक्षाबलि परिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते॥ VI. 341**

मनु की उपर्युक्त उक्ति व्यावहारिक प्रतीत होती है क्योंकि भौतिक पदार्थ के उपभोग किए बिना निवृत्ति का मार्ग कुठा पैदा कर सकता है। जीवन के सन्तुलन हेतु प्रवृत्ति पर्यन्त निवृत्ति ही श्रेयस्कर मार्ग है।

आश्रमों की संख्या के संबंध में अनेक धर्मसूत्र चार-आश्रमों का वर्णन करते हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास (**ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः।**)[1] किन्तु, यह व्यवस्था मात्र ब्राह्मणों के लिए ही आवश्यक प्रतीत होती है। शेष तीन वर्णों के लिए तीन ही आश्रम अनिवार्य था। सन्यास आश्रम की अनिवार्यता नहीं थी, यह ऐच्छिक ही था। यदि कोई ब्रह्मचारी गृहस्थ एवं वानप्रस्थ का पालन किए बिना ही सीधा सन्यास आश्रम में जाना चाहता था, तो उसकी छूट थी, क्योंकि मन में विषयों के प्रति विरक्ति-भाव आ जाने पर वैराग्य हो जाया करता था और ब्रह्मचारी संन्यास ग्रहण कर लेते थे। ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ के बाद बिना वानप्रस्थ में गए सन्यास आश्रम में भी जाने का दृष्टान्त प्राप्त होता है। किन्तु, महाभारत में कहा गया है कि आश्रम-व्यवस्था चार पदों वाली सीढ़ी है जो ब्रह्म की ओर ले जाती है। जो क्रमवार इस सीढ़ी पर चढ़ने में समर्थ है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है:

---

1. गौ. ध. सू. 1.3.2, व. ध. सू. 7.1.2

**चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।**
**एतामारुह्य निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते।।**
**ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुक।**
**यथोक्त चारिणः सर्वे, गच्छन्ति परमां गतिम्।।** (शां. प., 242.15.16)।

धर्मशास्त्रों में सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को सर्वाधिक महत्ता दी गयी है। मनु ने कहा है-**यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः। तथा गृहस्थआश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।।**3.77। इन्होंने गृहस्थ-आश्रम को 'ज्येष्ठाश्रम' (3.77) माना है क्योंकि यह तीन अन्य आमवासियों का भरण-पोषण करता है। वसिष्ठ धर्मसूत्र में बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। कहते हैं जिस प्रकार सभी छोटी -बडी नदियाँ समुद्र में संस्थित होती हैं वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रम में संस्थित अथवा पोषित हैं -

**यथानदी नदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितम्।**
**एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्।।** 7.15।

इसी आश्रम में देवऋण, पितृऋण एवं ब्रह्मऋण से उऋण होते हैं। साथ ही यही आश्रम है जिसमें समस्त मानव-जाति के कल्याण या परोपकार का समय मिलता है।

संस्कार एवं आश्रम एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं क्योंकि उपनयन संस्कारोपरांत ही ब्रह्मचर्यजीवन में प्रवेश मिलता था। पुनः वेदारम्भ संस्कार ब्रह्मचर्याश्रम में रहते सम्पन्न होता था। समावर्त्तन ब्रह्मचर्यजीवन के पूर्ण होने का प्रतीक था। विवाह संस्कारोपरांत गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था और इसी आश्रम में बाल्याकाल में किए जानेवाले संस्कार माता-पिता सम्पन्न करवाते थे। इसप्रकार संस्कार एवं आश्रम का संबंध अन्योन्याश्रय था। इन संस्कारों से आश्रम के साथ इस प्रकार के संबंध यह भी इंगित करते हैं कि आश्रम-व्यवस्था द्विज मात्र के लिए निर्दिष्ट थी क्योंकि जिन संस्कारों के सम्पन्न होने के उपरांत विभिन्न आश्रमों में प्रवेश होता था, वे संस्कार वैदिकमंत्रों से सम्पन्न होते थे, जिनको पढ़ने का अधिकार द्विज मात्र को था, शूद्रों के लिए वैदिक मंत्रों के प्रयोग की वर्जना उन्हें आश्रम व्यवस्था के साथ जोडने में व्यवधान थीं। यहाँ यदि स्त्रियों के विषय में बात करें, तो स्त्रियाँ भी उपनयन-संस्कार करवाकर आजन्म ब्रह्मचारी या उपाध्यायी हुआ करतीं थीं, किन्तु ऐसे दृष्टान्त अत्यल्प हैं एवं ये दृष्टान्त ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जाति की स्त्रियों में ही देखने को प्राप्त होते हैं। शास्त्रों में प्राप्त दृष्टान्त इस बात की भी पुष्टि करते हैं कि ब्राह्मणों के लिए चार आश्रम, क्षत्रियों के लिए सन्यास को छोड़ तीन आश्रम, वैश्य ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रम एवं शूद्रों के लिए मात्र गृहस्थाश्रम विहित थे।

एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश के लिए आयु-सीमा का निर्धारण नहीं था, बल्कि एक आश्रम की योग्यता प्राप्त कर दूसरे आश्रम में प्रवेश किया जा सकता था।

**ब्रह्मचर्य आश्रम**

आर्यों की श्रेष्ठता उनके ज्ञान एवं शिक्षा के कारण थी। इन दोनों का उत्कर्ष ब्रह्मचर्य द्वारा ही संभव था। इससे हमारा मानसिक एवं बौद्धिक विकास होता था। ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है वेद का अनुसरण करना। 'ब्रह्म' अर्थात् वेद या महान् एवं 'चर्य' अर्थात विचरण या अनुसरण करना। इस प्रकार वेद के अनुसरण से तात्पर्य है जिसने ज्ञान का मार्ग अपनाया है। वैदिक युग में वेद ही ज्ञान का स्रोत था। अतएव वेदाध्ययन द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना ही ब्रह्मचारियों का प्रमुख कर्त्तव्य था। प्राचीन आर्यों में वेद तदनन्तर ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रंथों को ज्ञान का आधार माना जाता था। अतएव ब्रह्मचर्य की स्थिति में आचार्य द्वारा इन ग्रन्थों के गूढ रहस्यों से ब्रह्मचारी अवगत होते थे। कहा गया है -**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**। ब्रह्मविद्या ही ब्रह्मचारियों के लिए मुख्य विद्या थी। यही कारण है कि ये वेदाध्ययन करने वाले बालक ब्रह्मचारी कहलाए। उपनिषद् काल अध्यात्म का काल माना जाता है। ब्रह्मचारी का जीवन तप-त्याग एवं संयम से युक्त हुआ करता था क्योंकि कठोर जीवन द्वारा वह ज्ञान अर्जन करता था।

वैदिककाल में ब्रह्मचारी गुरुकुल में गुरु के सानिध्य में रहकर वेद एवं वेदाङ्गों का अध्ययन करता था।[1] गुरुकुल के शांत वातावरण में ही इनका ब्रह्मचर्य जीवन बीतता था। अर्थात् ब्रह्मव्रत का पालन करता था (**ब्रह्मवेदस्तदध्ययनार्थ व्रतं तदपि ब्रह्म) तच्चरतीति ब्रह्मचारी।** काशिका 8.3.861)। ब्रह्मचारी प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रातःकाल केवल पाँच घरों में भिक्षा-याचना करता था और जो कुछ भी उसे मिलता था, वह गुरु को अर्पित कर देता था। सूर्योदय उपरांत ब्रह्मचारी भिक्षाटन हेतु निकलते थे (**प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्। प्रदक्षिणं परित्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि।।**) ब्रह्मचारी को भिक्षा देना अनिवार्य था। भिक्षा न देने की स्थिति में ब्रह्मचारियों द्वारा अनहोनी की भी संभावना रहती थी। 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में दृष्टान्त है-

**स्त्रीणां प्रत्याचक्षाणानां समाहितौ ब्रह्मचातिष्टं दत्तं हुतं प्रजां प्रशून् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यावृंके। तस्मादु ह वै ब्रह्मचारि संधं चरन्तं न प्रत्याचक्षीतापि हैष्वेवषिध एवव्रतः स्यादिति हि ब्रह्मणम्।।** 1.1.26।। अर्थात् कुछ ब्रह्मचारी संयमहीन भी थे जिन्हें स्त्रियों द्वारा भिक्षा न मिलने पर उनके पशुओं, अन्न, प्रजा अथवा कुल-विद्या को छिन लेते थे। अतः 'विष्णु-पुराण' में स्पष्ट कहा गया है कि भिक्षा देना अनिवार्य कर्त्तव्य समझना चाहिए (**भिक्षान्नमश्नीयात्** 13.95)।

ब्रह्मचारियों की दिनचर्या निश्चित हुआ करती थी। उनसे संयमित, नियमबद्ध और

1. विष्णु पुराण, 3.9.1; बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः। गुरुगृहे वसेद्भूय ब्रह्मचारी समाहितः।।

व्यवस्थित रहने की अपेक्षा की जाती थी।[1] वे भिक्षाटन, भोजन, गुरु-सेवा, शयन, समिधा-संग्रह आदि कार्यों को आपस में बाँटकर दैनिक कार्यों का निपटारा करते थे। आश्रम के सम्पूर्ण कार्यों के सम्पादन एवं सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व इन ब्रह्मचारियों का ही था। प्रातः एवं सायं यज्ञों की सामग्री इकट्ठा कर यज्ञ में सम्मिलित होना, भूमि पर सोना एवं आचार्य की निष्ठापूर्वक सेवा-सुश्रूसा करना उनका कर्त्तव्य था।[2] जो ब्रह्मचारी आचार्य के कार्यों को अपना समझकर निष्ठा पूर्वक पूरा करते थे, उन्हें ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति होती थी। (**आचार्याधीनत्वमान्तम्।। गुरोः कर्मशेषेण ज्ञपेत्।। एवं कृतो ब्रह्मलोकवाप्नोति जितेन्द्रियः।।**) गौ. गृ. सू. 1.3. 4-5)। महाभारत के शांति-पर्व में ब्रह्मचारियों का जीवन श्रेष्ठ, आदरयुक्त एवं ब्रह्मरूप माना गया (**यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिदं स्मृतम्।** 214.71) उनके लिए छाता लगाना, चन्दन इत्र आदि का प्रयोग करना, जूता पहनना आदि वर्जित था क्योंकि लोगों की ऐसी धारणा थी-**सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।**' उनके लिए नृत्य, गायन, वादन, मालाएँ, नग्न स्त्री का दर्शन, उनका अकारण स्पर्श, अंजन, हंसना आदि भी निषिद्ध था।[3] अर्थशास्त्र (1.3) के अनुसार ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य था-'**ब्रह्मचारिणस्स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणन्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सब्रह्मचारिणी वा।**' अर्थात् स्वाध्याय, अग्नि, अभिषेक, भिक्षावृत्ति के अलावा गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र या ज्येष्ठ ब्रह्मचारी को भी सहयोग देना। ब्रह्मचारी यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य), नियम, आसन में मन को केन्द्रित करते हुए मन, वचन एवं कर्म से कर्त्तव्यों का पालन करे। अर्थशास्त्र के द्वितीय अध्याय में वर्णित है -

**इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।**
**संयमे यत्नमतिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्।।**
**इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।**
**संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।**

महाभारत के शांति पर्व में तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों का उल्लेख मिलता है- '**सम्यग्वृत्तिब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान्। द्विजाग्रयो जायते विद्वान् कन्यसीं**

---

1. मनु. 2/178-179; अभ्यङ्गमञ्जनचक्षणोरुपानच्छत्र धारम्।
   काम क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।
   द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम्।
   स्त्रीणां च प्रेक्षणां लम्भमुपघातं परस्य च।।
2. मनु II. 108; अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
3. बौ. गृ. सू. 1.2.25 नृत्यगीतवादित्रगन्धमाल्योपानच्छत्रधारणाञ्जनाभ्यवर्जी।।

**वृत्तिमास्थितः॥** 214.10॥ विद्या ग्रहण करने वाले ब्रह्मचारी भी दो प्रकार के होते थे - **उपकुर्वाण** एवं **नैष्ठिक**। उपकुर्वाण विद्यार्थी दस-पन्द्रह वर्ष तक गुरुकुल में शिक्षा-ग्रहण कर यथाशक्ति गुरु--दक्षिणा देकर गुरु के आज्ञा पर्यन्त अपने घर लौट जाते थे एवं गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी भी तीन प्रकार के थे **वेद स्नातक, व्रत स्नातक एवं वेद व्रत स्नातक। नैष्ठिक** ब्रह्मचारी आठ वर्ष की आयु से लम्बी अवधि तक गुरु के समीप ही रहते थे या कुछ जीवन-पर्यन्त गुरु के आश्रम में ही रहकर अध्ययन करते थे। उन्हें ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति होती थी और ये मुक्त हो जाते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति (49.50) में भी वर्णित है-"**नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसनिद्धौ। अनेन विधया देहं सादयन्विजितेन्द्रियः। ब्रह्मलोकं अवाप्नोति न चेहाजायते पुनः॥**" 'आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र' (11.33) में इन ब्रह्मचारियों को '**अन्तेवासी**' कहा गया है। (**नाम्ना तदन्तेवासिनं गुरुमप्यात्मन् इत्येके**) कुछ ब्रह्मचारी निम्न कक्षा के एवं अल्पायु तक आश्रम में रहते थे। इन्हें '**दण्डमाणव**' कहते थे। अन्तेवासी '**चरण**' या वैदिक शाखा के आश्रम में रहकर अध्यन करते थे। चरण वैदिक अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान के केन्द्र थे। उच्च कक्षाओं के ब्रह्मचारी ही, जो व्याकरणादि का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, चरणों में प्रविष्ट होते थे। ब्रह्म वेद को कहते हैं। उसके लिए लिया जानेवाला व्रत ही ब्रह्म कहलाता था। इस ब्रह्म व्रत वाले की संज्ञा ब्रह्मचारी थी। **ब्रह्मवेदस्तदध्ययनार्थ व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी**।-काशिका 8.3.36 इसी तरह अवधि के अनुसार भी ब्रह्मचारियों के नाम **मासिक, अर्द्धमासिक, द्वादशवार्षिक** रखे गये थे। जो विद्यार्थी मात्र ऋचाओं का अध्ययन करते थे उन्हें '**महानाम्नि**' कहा जाता था। ये '**आदित्यव्रतिक**' भी थे।[1] एवं इनके व्रत क्रमशः '**महानाम्नि**' एवं '**आदित्यव्रती**' कहलाते थे।

ब्रह्मचारियों का भोजन क्षार, नमक, मधु और मांस नहीं होता था।[2] भोजन करते समय ये निर्लोभी होकर मौन धारण किए रहते थे। भोजन पर्यन्त वे अपने बर्तन का मार्जन करते थे। खाते समय ये कुछ भी उच्छिष्ट नहीं छोड़ते थे। विद्यार्थी दो ही परिधान धारण करते थे। प्रारंभिक काल (स्मृति-युग) में विभिन्न वर्णों के उत्तरीय भिन्न-भिन्न पशुओं के चर्म के होते थे। ये उत्तरीय की भांति ही वर्णानुसार विहित यज्ञोपवीत धारण करते थे। राजकुमार भी इन आश्रमों में धनुर्विद्या आदि युद्ध-कला प्राप्त करते थे। हारीत के अनुसार विद्यार्थी जटाधारी एवं दीर्घनखों वाले हुआ करते थे। ब्रह्मचारियों के तप का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं-**तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैच**

---

1. महाभाष्य 5.1.54 तदस्य ब्रह्मचर्यमिति महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानंकर्तव्यम्।
   महानाम्नीनाम ब्रह्मचर्य महानाम्नीकम् आदित्यव्रतिकम्॥
2. मनु. 2.177 वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धमाल्य रसान् स्त्रियः।
   शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम्॥

**विधिचोदितैः। वेदः कृतस्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना** ।।2.164।। **दण्डमाणव** और **अन्तेवासी** कमण्डलु धारण करते थे। **माणव** और **ब्रह्मचारी** मुण्डित भी होते थे। मुण्डित करने की क्रिया '**भद्रकरण**' या '**परिवापण**' कहलाती थी। बौद्ध एवं जैन ब्रह्मचारी '**श्रमण**' कहलाते थे। श्रमणों का आश्रम बिहार कहलाता था।

जो विद्यार्थी उद्दण्ड होते थे उनहें दण्ड दिया जाता था किन्तु दण्डविधान कठोर नहीं था। गौतम भी कठोर दण्ड देने को उचित नहीं मानते। महाभारत के आदि पर्व (85.23) में कहा गया है-

**अधीयानः पण्डितं मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।**
**तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका न चास्य तदब्रह्मफलं ददाति।।**

ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पर जब हम विचार करते हैं तो यह देखते हैं कि उपनयन-संस्कार से बालक का ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश होता था। उपनयन का अर्थ ही है - **(उप) समीपे आचार्यादीनां (नयन) नीयते बटुर्येन तदुपनयनमिति वा। अथवा उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नर्येनं प्रापणमुपनयनम्।**[1] अर्थात् बालक का आचार्यादि के समीप (विद्यार्जन हेतु) ले जाया जाना। बालक की प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही माता-पिता के द्वारा होती थी, किन्तु उपनयन के द्वारा विधिवत् वेद की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता था। उपनयन पवित्रता का प्रतीक था **(ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।)**। वेद मंत्रों के बिना यज्ञ या अन्य धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो सकता था, अतः वेद-मंत्रोच्चारण का अधिकार बिना उपनयन के सम्भव नहीं था। उपनयन से बालक आर्य जाति में भी विधिवत् प्रवेश पा जाता था, क्योंकि बिना उपनयन के आर्य जाति में समावेश एवं वेदमंत्रों के उच्चारण या यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता था।

उपनयन के लिए या आचार्य द्वारा विधिवत् ज्ञानार्जन के लिए समय सीमा निर्धारित थी। आश्व. गृ. सू. कहता है-

**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनेयत्। गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वाद्वशे वैश्यम्।** इस प्रकार विभिन्न वर्णों के यज्ञोपवीत का सामान्य-काल निर्धारित था अथवा ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश के लिए निम्नतम आयु-सीमा निर्धारित थी, उसी प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश की अधिकतम उम्र सीमा भी निर्दिष्ट थी-**आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आद्वाविंशत् क्षत्रियस्य, आचतुर्विशाद् वैश्यस्य, अत उर्ध्वं पतितसावित्री का भवन्ति।** अर्थात् ब्राह्मण 16 वर्ष से पूर्व, क्षत्रिय 22 वर्ष से पूर्व एवं वैश्य 24 वर्ष से पूर्व यज्ञोपवीत कर ले। अर्थात् इस उम्र के बाद

1. संस्कार-प्रकाश (पृ. 334)

ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवेश निषिद्ध था और उन्हें **'पतित'** या **'सावित्री'**[1] कहा जाता था। जो बालक बचपन से मेधावी होता था या पढ़ने का इच्छुक होता था, उसका उपनयन माता-पिता की इच्छा से निर्धारित निम्नतम आयु-सीमा से पूर्व भी कराया जा सकता था। अथवा जो सावित्री या पतित थे वे भी विशेष प्रायश्चित् के बाद उपनयन करा सकते थे। ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक होते थे। इसीलिए इन्हें वर्णी कहते थे। **'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि** (अष्टाध्यायी 5.2.134) सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार का कहना है कि ब्रह्मचारी को त्रैवर्णिक ही समझना चाहिए। वही विद्या-ग्रहण के लिए उपनयन के बाद व्रतचर्या करता है। ब्रह्मणादिक तीन वर्णों को ही वर्णी कहते हैं। वर्णी लोग किसी न किसी आम्नाय का अध्ययन करते थे। प्रत्येक आम्नाय का नाम उसके आचार के नाम पर प्रचलित था। जैसे - काठक (कठ), मौदक (मौद) का लापक (कलाप), पैप्लादक (पिप्पलाद), छान्दोग्य (छन्दोग) आदि[2] एक विषय या वेद का अध्ययन करने वाले सभी वर्णी ब्रह्मचारी कहलाते थे और एक ही चरण में रहकर पढ़नेवाले सतीर्थ्य।

मानव, माणव और माणवक में अन्तर था। मनु की सन्तान को मानव कहते थे जबकि छोटा माणव **'माणवक'** कहलाता था। आठ वर्ष से कम आयु के बालक या बालिका को क्रमशः **माणवक** या **माणविका** कहते थे। माणवक घर पर रहते और खेलते-कूदते थे। इनके नाम पिता के नाम पर पड़ जाते है। जैसे, फाण्टाहृति का पुत्र माणवक फाण्टाहृत या उपगु की पुत्री औपगवी माणविका।[3] ये चंचल एवं अधीर होते थे (**आगमयस्व माणवकः**)[4] माणवक जब बड़े होते थे, तब उनका उपनयन कर उन्हें आचार्य के पास भेज दिया जाता था। ये लोग वेदाध्ययन की तैयारी करते थे। भिक्षा भी माँगते थे। उन्हें पतञ्जलि ने 'अनृच' कहा है। माणवक बाल रखते थे, किन्तु माणव (ब्रह्मचारी) बाल मुड़ा लेते थे।

उपनयन द्वारा आचार्य अपने ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञा द्वारा अपने से युक्त करता था। इस अथ को द्योतित करता हुआ एक मंत्र आया है -

**ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तं मम्चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।**
**मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।।**

पा.गृ.सू.2.3.2।। अर्थात् हे शिष्य बालक ! तेरे हृदय को मैं अपने अधीन करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन ही

1. उपनयन संस्कार
2. अष्टा. 43.126, 4.3.120
3. वही, 5.4.154
4. वही 1.3.21

प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति देवता तुझको मुझसे युक्त करें। उसीप्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा कराता था कि हे आचार्य ! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होकर सुनें। परमात्मा मेरे लिए आपको सदा नियुक्त रखें। आचार्य ब्रह्मचारी को उत्तरीय, अधोवस्त्र, मेखला एवं दण्ड देकर अपनी स्वीकृति प्रदान करता था। ब्राह्मण एवं स्मृति काल में जब वर्ण-भेद की भावना बढ़ने लगी, तब उन वर्णों के पोशाक में भी भिन्नता आने लगी। मनु ने पोशाकों का निर्देश देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को कृष्ण मृगचर्म का उत्तरीय, शण का अधोवस्त्र, मूंज की मेखला, कपास का यज्ञोपवीत और बिल्व अथवा कपास का दण्ड धारण करना चाहिए। क्षत्रिय को शण का उत्तरीय, क्षौम का अधोवस्त्र, मौर्वीज्या की मेखला, शण का यज्ञोपवीत एवं वट और खदिर का दण्ड धारण करना चाहिए। वैश्य को क्षौम का उत्तरीय वस्त्र, भेड़ की ऊन का अधोवस्त्र, शण की मेखला, भेड़ की ऊन का यज्ञोपवीत एवं पीलू एवं उदुम्बर का दण्ड धारण करना चाहिए।

वेद में 'सविता' ही ज्ञान के देवता प्रतीत होते हैं। वाग्देवी सरस्वती का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है। अतः ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम सविता के मंत्रों का ही उच्चारण करना सिखाया जाता था। वर्णानुसार छन्दों का प्रयोग होता था। सूत्रकाल में ब्राह्मणों को गायत्री छंद में, क्षत्रिय को 'त्रिष्टुप्' छन्द में एवं वैश्य को जगती छन्द में सावित्री का पाठ सिखाया जाता था।

विद्यार्थी के ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि प्रायः 12 वर्ष की होती थी, तब-तक उसकी आयु 25 वर्ष की हो जाती थी। वैसे ब्रह्मचारी 12, 24, 36 और 48 वर्ष तक अध्ययनकर्त्ता का जीवन व्यतीत करता था। तदनन्तर गुरु की आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। मनु का पृथक् मन्तव्य है-

**षट्त्रिंशदाब्दिक चर्य गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।**
**तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।।** 3.1.11

अर्थात् ब्रह्मचारी गुरु के समीप 36 वर्ष तक तीन वेदों के अध्ययन के लिए या 18 वर्ष तक या चतुर्थांश अर्थात् 9 वर्ष तक वेदों के ग्रहण करने की अवधि तक रहे।

समावर्त्तन संस्कार द्वारा ब्रह्मचर्य का अवसान हो जाता था। ब्रह्मचारी वेदादि विभिन्न विद्याओं को ग्रहण कर गुरुकुल से अपने घर लौट आते थे। यह समावर्त्तन गुरु की इच्छा से ही होता था। समावर्तन शिक्षा समाप्त कर घर लौटने का प्रतीक था। समावर्तन में स्नान प्रमुख क्रिया थी। अतः स्नान किए हुए ब्रह्मचारी को 'स्नातक' कहते थे। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार ये स्नातक तीन प्रकार के थे-

**विद्यास्नातक, व्रतस्नातक** और **विद्याव्रत स्नातक**। जो केवल विद्या को समाप्त कर तथा ब्रह्मचर्य को न समाप्त कर स्नान करता वह **विद्यास्नातक** कहलाता था। जो ब्रह्मचर्यव्रत को समाप्त कर तथा विद्या को समाप्त किए बिना स्नान करता था, वह व्रत-स्नातक कहलाता था एवं जो विद्या एवं ब्रह्मचर्य दोनों को समाप्त कर स्नान करता था, वह **विद्याव्रतस्नातक** कहलाता था (**वेदं समाप्य स्नायाद्। ब्रह्मचर्यं वाष्टाचत्वारिंशकम्। त्रय एव स्नातका भवन्ति- विद्यास्नातको, व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति**)। ये स्नातक अगले आश्रम में प्रवेश के अधिकारी बन जाते थे। स्नातक के विषय अथर्ववेद में वर्णित हैं-**तानि कलपाद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठेतपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते**।। 11.24.16.26 अर्थात् जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत, ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर समावर्त्तन स्नान करके पूर्ण विद्याओं को ग्रहण कर, सुन्दर वर्णयुक्त होकर पृथिवी में अनेक शुभ गुण-कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है।

कालान्तर में ब्रह्मचर्य का पतन हो गया। ब्रह्मचारियों में चरित्रहीनता देखी जाने लगी। ब्रह्मचर्य की साधना योग मानी जाती थी। एक गुरुकुल में जाकर व्रत समाप्ति तक अध्ययन करने वाला या उच्च कक्षा का विद्यार्थी **प्रान्तवासी** कहलाता था। जो विद्यार्थी बार-बार गुरुकुल बदलते थे, वे निन्दित माने जाते थे और उन्हें **तीर्थकाक** या **तीर्थध्वंस**[1] कहते थे। कुछ-कुछ ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्ति के पूर्व ही बिना स्नातक बने और बिना गुरु की आज्ञा लिए अध्ययन छोड़कर घर लौट जाते थे एवं गृहस्थ बन जाते थे। जो परम्परा के विरुद्ध बात थी। नियमानुसार समावर्त्तन के स्नान पर्यन्त ही स्नातक पितृ-गृह लौटता था। ऐसा अधीती ब्रह्मचारी **स्नातक** और **स्रग्वी** कहलाता था। जो ऐसा न कर व्रत को खण्डित कर देता था, उसे **खट्वारूढ़** कहते थे-**"अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वा रोदव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मः।।" -महाभाष्य** 2.1.26

पतञ्जलि-काल में कुछ ब्रह्मचारी कुमारी, घृत, ओदन आदि के लोभ से विशिष्ट चरणों में प्रवेश कर जाते थे। कोई कुमारी प्राप्ति के लोभ से दाक्ष आम्नाय पढ़ता था, तो कोई घृत के लालच से रौढ़ि का शिष्य बन जाता था। दाल-भात के लोभ से ही कुछ ब्रह्मचारी पाणिनीय व्याकरण पढ़ने लगते थे। छोटे लड़के भिक्षा के लोभ से माणव बन जाते थे।[2]

---

1. महाभाष्य 2.1.42; यथा तीर्थे काका न चिरं स्थातारो भवन्त्येवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरंस्तिष्ठति स उच्यते तीर्थ काक इति।
2. काशिका 6.2.69

पुरुषों के लिए जो ब्रह्मचर्याश्रम आधिभौतिक, आध्यात्मिक, और चारित्रिक उत्कर्ष का साधन था, वही स्त्री के लिए अपेक्षाकृत कम था। वैदिक युग के बाद उसके ब्रह्मचर्य का जीवन पुरुषों की भांति नहीं था। वह पूर्ण रूपेण गृहस्थ हुआ करती थी। बाल-विवाह के कारण 8 से 12 वर्ष के बीच या अधिक से अधिक 16 वर्ष तक की आयु में लड़कियों का विवाह हो जाता था। उसपर गृहस्थी का पूर्ण उत्तरदायित्व आ जाता था। यद्यपि वैदिक युग में स्त्रियों के लिए भी ब्रह्मचर्य का प्रावधान था, किन्तु इनकी संख्या अत्यल्प थी, कालान्तर में आकर ब्रह्मचर्याश्रम स्त्रियों के लिए निषिद्ध हो गया। स्त्रियों को उपनयन संस्कार का अधिकार नहीं दिया गया, जबकि वैदिक युग में यह व्यवस्था थी। ऐसी स्थिति में स्त्रियों के वेदाध्ययन का अधिकार धार्मिक एवं सामाजिक रूप से समाप्त हो गया।

वैदिक युग में स्त्रियाँ विभिन्न विषयों को पढ़ती थीं। ये शिक्षार्थी कन्याएँ जो 16 से 17 वर्ष की आयु तक विद्या ग्रहण करती थी **'सद्योवधू'** कही जाती थीं। उसके बाद ही उनका विवाह किया जाता था। कुछ ऐसी भी कन्याएँ थी जो गृहस्थ जीवन न अपना क़र सदा शिक्षा ग्रहण में लगी रहती थी, वे **'ब्रह्मवादिनी'** कही जाती थी। वैदिक युगीन अनेक ब्रह्मवादिनी विद्वता के क्षेत्र में अद्वितीय थीं। गार्गी, अपाला, घोषा, मैत्रेयी आदि स्त्रियाँ अत्यन्त दार्शनिक एवं विदुषी थीं, किन्तु ये उदाहरण गिनती मात्र के प्राप्त होते हैं। वस्तुतः बहुत कम स्त्रियाँ ही ब्रह्मचर्य जीवन गुजारती थीं। स्त्रियों के ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन न मिलने का कारण ब्रह्मचारियों में व्यसन, अनुशासनहीनता आदि के बढ़ने का भय था तथा द्वितीय कारण यह भी हो सकता है कि स्त्रियों पर जीविकोपार्जन का उत्तरदायित्व नहीं था। अतएव उनके लिए उच्च शिक्षा का महत्त्व उस काल में कम था।

ब्रह्मचर्याश्रम की उपयोगिता पर यदि ध्यान दें तो यह मानव जीवन में बौद्धिक, मानसिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष प्रदान करता था। अनुशासन, नैतिकता एवं संयमपूर्ण जीवन की कला सिखाता था। इससे जीवन निर्मल होता था एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए योग्यता प्राप्त हो जाती थी।

### गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। गृहस्थ आश्रम में रहने वाले गृहस्थ या गृहपति कहलाते थे। इस अवसर पर यज्ञादि धार्मिक संस्कार किए जाते थे। इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों को **गेहानुप्रवेशनीय** कहा जाता था।[1] इस

---

1. महाभारत, शां. पर्व. 243.13,14 ऋत्विक् पुरोहितार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।। वृद्धबालातुरैर्वेद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः। मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।। दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।

आश्रम की महत्ता अन्य आश्रमों से ज्यादा बतायी गयी है। समावर्त्तन संस्कार के उपरांत वैवाहिक जीवन का प्रारंभ होता था। अतएव विवाह गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत विहित प्रथम संस्कार था। ऋग्वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था नहीं थी। विवाहोपरांत लोग गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। धीरे-धीरे अन्य आश्रमों का विकास हुआ। पुराणों की मानें तो गृहस्थाश्रम ही अन्य आश्रमों का जनक है। (**तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्**। विष्णु पु. 3.9.11)। विष्णु पुराण (8.172) में भी ऐसा ही वर्णित है-**पूर्व गृहस्थाश्रमः स्मृतः त्रयाणामाश्रमाणां प्रतिष्ठायोनिरेव च**। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि गृहस्थाश्रम ही प्राचीनतम है शेष आश्रम इससे निःसृत हैं।

इस आश्रम में पति-पत्नी एक साथ रहकर धर्मानुसार व्यवहार करते थे। गौतम धर्मसूत्र (9.1) में भी ऐसा ही उल्लिखित है-**साविधिपूर्वक स्नात्वा भार्यामधिगम्य यथोक्तान्गृहस्थधर्मान्प्रयुञ्जान् इमानि व्रतान्यनुर्षेत्**। महाभारत के शांति-पर्व में गृहस्थ के कर्त्तव्य की विस्तृत व्याख्या है। कहा गया है गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रेम करे (**स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः**)। साथ ही अपने साथ बन्धु-बन्धव के साथ प्रेमपूर्वक रहे।[1] पुनः कहा गया है कि बड़ा भाई पिता के समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं। सेवक गण अपनी छाया के समान हैं तथा बेटी तो अत्यन्त कृपण है (**भ्रात ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्र स्वका तनुः। छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्॥ 243.20**)॥ महाभारत के शांति पर्व में गृहस्थ आश्रम के मौलिक स्वरूप को इसप्रकार प्रकट किया गया है-

**'गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति।**

**तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वनुव्याख्यास्यामः।'**

**समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिनां गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्ग साधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्ध प्रकर्षेण वा अद्रिसारगतेन वा। हव्यकव्य नियमाभ्यासदैवत प्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद् हि सर्वाश्रमाणां मूलमदाहरन्ति। गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियम धर्मानुष्ठायिनस्तेषामाप्यत एव भिक्षाबलि संविभागाः प्रवर्तन्ते**॥191.10॥ यहाँ भी गार्हस्थ्य को दूसरा आश्रम बताते हुए स्नातक को सहधर्मिणी के साथ धर्माचरण करने और उसका फल पाने की इच्छा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश का परामर्श दिया गया है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की इच्छा रखकर गृहस्थ को उत्तम कर्म द्वारा धर्म-संग्रह करना श्रेयस्कर बताया गया है। कहते हैं कि स्वाध्याय की योग्यता द्वारा अथवा पर्वतादि से संग्रहित रत्न, मणि आदि से धन संचय करें या यज्ञ, श्राद्ध, नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओं की प्रसन्नता से प्राप्त धन के द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी

गृहस्थी का निर्वाह करें, क्योंकि गार्हस्थ्याश्रम को सभी आश्रमों का मूल कहा गया है। इसी पर ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं सन्यासी सभी निर्भर हैं।

गृहस्थाश्रम का त्याग कर सन्यास आश्रम में अनुगमन निन्दित था। ऐसे सन्यास को 'पापिष्ठा' कहा गया है क्योंकि ऐसा कर्त्तव्यहीनता माना जाता था। गृहस्थाश्रम वस्तुतः कर्तव्य परायणता वाला चरण था। गृहस्थों के लिए मनु ने दस धर्मों को बताया है - धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध-त्याग।[1] गृहस्थ के लिए ज्ञान से अधिक कर्म पर बल दिया गया। (**क्रिया योगः कथं सिध्येद् गृहस्थादिषु सर्वदा। ज्ञानयोगसहस्राद्धि कर्मयोगो विशिष्यते।** मत्स्य पु. 258.1)।।

गृहस्थों के दैनन्दिनी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गृहस्थ को रात्रि के अन्तिम प्रहर अथवा ब्रह्म-मुहूर्त में जाग जाना चाहिए क्योंकि यह समय उनके मानस् में पवित्र विचार लाएगा। तदन्तर शौचादि पर्यन्त सन्ध्यातर्पण, पंचमहायज्ञ एवं अग्निहोत्रादि करना चाहिए। मध्याह्न भोजनकर जीवकोपार्जन हेतु अध्ययन करना चाहिए। संध्या समय संध्या वंदन पर्यन्त सो जाना चाहिए।

गृहस्थों को भोजन प्रसन्नतापूर्वक रमणीय वातावरण में बन्धु-बान्धवों के साथ मौन होकर करना चाहिए (**पात्रेष्वर्थानुरूपेषु पुत्रभृत्यात्मजैः सह। भूमौ पात्रं प्रतिष्ठाप्य मौनेनान्नं तु भोजयेत्।। दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्चाप्यभिनन्देच्च सर्वशः।।** मनु 2.5.4)। मनु ने गृहस्थों के भोजनविधि की अत्यन्त विस्तृत-चर्चा की है। **लशुनं गुञ्जनंम चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च।** मनु 4.5 लहसुन, प्याज आदि का निषेध किया गया है। 'नैषधचरित' में भी शरीर एवं रूप के हिसाब से भोजन ग्रहण करने को कहा गया है-**अन्नारूपां तनुरूपसिद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते।** 3.17।

उपनिषदों में गृहस्थों को कर्मयोगी एवं संयमी होने का मंत्र दिया गया है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।** मनु ने चार प्रकार के गृहस्थ बताए हैं-ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ, स्वाध्यायनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ। ज्ञाननिष्ठ को मनु ने सर्वोच्च बताया है तथा ब्राह्मणों के जीविकोपार्जन के लिए श्रम एवं व्यवसाय को, समीचीन नहीं माना है। कृषि पशुपालनादि स्वीकरणीय नहीं बताया है। ब्राह्मण गृहस्थों के लिए दान लेना ग्राह्य बताया है। पौरोहित्य की अनुमति दी है। मनु ने गृहस्थ ब्राह्मणों के वृत्ति के लिए कहा है-

1. मनु 6.91-92; चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः।।
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

**अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।**
**या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥**
**यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।**
**अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥**
**ऋतुमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।**
**मृतं तु याचितं भैक्षंप्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥**
**ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।**
**सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ मनु. 3-2-5**

मनु ने तपोमय गृहस्थ जीवन की कल्पना की है और कहा है कि गृहस्थ को किसी भी प्रकार का लोभ नहीं करना चाहिए क्योंकि सन्तोष ही परम धन है। मनु का उपर्युक्त निर्देश वैदिक संस्कृति से भिन्न है क्योंकि वैदिक संस्कृति विधिवत् संग्रहित धन को त्यागने की बात नहीं करता है। पौराणिक-मत के अनुसार भारत में गृहस्थों का तपस्वी जीवन और समृद्ध जीवन दोनों ही मान्य था। क्योंकि कहीं धन-समृद्धि की निन्दा की गयी है तो कहीं प्रशंसा। भागवतपुराण (7.17.51) के अनुसार - **'यदृच्छयोपन्नेन शुक्लेनापार्जितेन वा। धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् ऋतून्॥** कहते हैं कि शिलोच्छवृत्ति के द्वारा जीविका संभव न हो तो यज्ञादि करवा कर धनार्जन करना चाहिए।

प्रत्येक गृहपति के लिए पञ्चमहायज्ञ अनिवार्य था। महाभाष्यकार कहते हैं-**अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वारोदव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढ़ोऽयं जाल्मः** 1-2.1.26। प्रत्येक घर में आठों पहर अग्नि प्रज्वलित रहती थी। यह अग्नि **गार्हपत्य** कहलाती थी। गृह का एक भाग इसके लिए निश्चित रहता था, जिसे **आवसथ** कहते थे। आवसथ की शुद्धता का ध्यान रखा जाता था। आवसथ में रहने के कारण ही गृहस्थ का नाम **आवसथिक** भी था। आवसथ की यज्ञाग्नि का नाम **आवसथ्य** था। गृहस्थ का प्रमुख यज्ञ पत्नी-संयाज था, जिसका सम्पादन वह पत्नी के साथ करता था और इस यज्ञ में भाग लेने के कारण ही भार्या को पत्नी भी कहते थे। पत्नी संयाज में बोले जानेवाले मंत्र भी गृहपति कहलाते थे। त्रैसे गृहस्थ का संध दक्षिणाग्नि से भी था, किन्तु उसका मुख्य यज्ञ पत्नी संयाज ही था।[1] अस्तु।

पञ्चमहायज्ञ प्रायश्चित स्वरूप किया जाता था। अग्नि के जलाने, गृहसज्जा में कूटने आदि में अनायास होनेवाले पापों के प्रायश्चित् स्वरूप इन महायज्ञों को

---

1. महाभाष्य 4.4.90

सम्पादित किया जाता था। मत्स्यपुराण (53.16) में उल्लिखित है- **पंचैते विहिता यज्ञाः पंचसूनापनुत्तये। कण्डनी पेषणी चुल्ली जलकुम्भी प्रमार्जनी। पंचसूना गृहस्थस्य तेन स्वर्गे गच्छति॥** छोटे-छोटे जीवों के प्रति भारतीय चिंतकों की यह अहिंसात्मक दृष्टि अनुठी है। पञ्चमहायज्ञ ये पाँच बताए गये हैं - ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ।[1] पाँच प्रकार के पापों का उल्लेख मिलता है, जिसके निवारणार्थ मनु ने पाँच यज्ञों का विधान किया है-**पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्। तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥** ये पाँच पाप हैं-चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कण्डनी और नलकुम्भ। वैदिक मान्यता के अनुसार मनुष्य पर ऋषियों, देवों एवं पितरों का ऋण होता था, जिसे अपने जीवन में ही चुकाना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य था। तैतिरीय संहिता (6.3.10.5) में उल्लेख है- **'जायमानो ह वै ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणवाँ जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।'** ये तीन यज्ञ या वस्तुतः उऋण होने के लिए थे। कालान्तर में नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ को भी सम्मिलित कर लिया गया।

विद्वान् या ज्ञानी पुरुष, जिन्होंने अपने ज्ञान द्वारा मानव उत्कर्ष की कामना की। उनके ज्ञान-चिंतन का प्रतिदिन अभ्यास अथवा मनन करना ही ब्रह्म यज्ञ था। यह उन ज्ञानी ऋषियों के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति करता है। इस यज्ञ की पूर्त्ति वेदाभ्यास, स्वाध्याय एवं मौखिक स्मरण द्वारा होती थी। याज्ञिक समारोह में भी मौखिक उच्चारण द्वारा इस यज्ञ को पूर्ण करने का प्रयास किया जाता था। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ द्वारा ज्ञान की धारा प्रवाहित की जाती थी।

पितरों अथवा पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना ही पितृ यज्ञ था। श्राद्ध के अवसर पर पितरों का पिण्ड तर्पण किया जाना इस यज्ञ के अन्तर्गत आता है। वंश की अविच्छिन्न परम्परा जिसे हमारे पूर्वजों ने बनाये रखा, उन पूर्वजों के प्रति इसप्रकार का कृत्य (पितृयज्ञ) कृतज्ञता मात्र था। अतः उन पूर्वजों के प्रति उन्हीं के कार्य (वंश-परम्परा) को आगे बढ़ाना उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना है।

'देवयज्ञ' में देवताओं का पूजन, उनके प्रति बलि और अग्नि की आहुति दी जाती थी। हमारी ऐसी धारणा थी कि हमारा समृद्ध जीवन ईश्वर प्रदत्त है। अतएव देवताओं के प्रति इस प्रकार की कृतज्ञता ज्ञापित करना हमारा कर्त्तव्य था। देवताओं

---

1. तै. आ., 2.10; पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्यज्ञो महायज्ञ इति।

   श.ब्रा. 11.5.6.1; पञ्चैव महायज्ञः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञइति।

को दी जाने वाली बलि या आहुति हमारे समर्पण या उनके प्रति कृतज्ञता का प्रतीक था। ऐसे यज्ञ मानव के लिए मंगलकारी थे। अग्नि को दी जानेवाली आहुति भगवान् सूर्य के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की भावना था, क्योंकि यह वृष्टि देने वाला था।[1] जो कृषि के लिए आवश्यक था।

'भूतयज्ञ' अनिष्टकारी एवं विघ्न पैदा करने वाले भूत, प्रेत एवं बुरी आत्माओं की तुष्टि के लिए किया जानेवाला यज्ञ था। भूत-यज्ञ में बलि विभिन्न दिशाओं में रख दी जाती थीं। सामूहिक भोजन एवं बलि को श्रेयस्कर माना जाता था।

'नृयज्ञ' पारस्परिक-सहयोग की भावना से किया जाने वाला यज्ञ था अतिथियों का सत्कार करना गृहस्थ का कर्त्तव्य था। अतिथि को देवता के समान समझा जाता था। वस्तुतः अतिथि सत्कार ही 'नृयज्ञ' था। अथर्ववेद (9.6.25,26) में वर्णित है कि अतिथि गृहस्थ का भोजन नहीं करता, अपितु पापों का भक्षण करता है। बौधायन गृह्यसूत्र (2.9.21) तो चाण्डाल अतिथि तक की सेवा करने का निर्देश देता है। 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में वर्णित है-**प्रिया अप्रियाश्चाऽतिथियः स्वर्ग लोक गमयन्तीति विज्ञायते। एकरात्रं चेदतिथीन्वासायेत्यार्थिवॉल्लोकानभिजद्वितीययाऽन्त-रिक्ष्यांस्तृतीयया दिव्यांश्चतुर्थ्या परावतो लोकानपरिमिताभिरपरिमि-ताँल्लोकानभिजयतीति विज्ञायते॥** अर्थात् अतिथि प्रिय हो या अप्रिय उसका सत्कार मनुष्य को स्वर्ग पहुँचाने वाला होता है। जो अतिथि को एक रात अपने घर में ठहराता था, वह पृथ्वी के सुखों को प्राप्त कर लेता था, अगर रात ठहरता था, तो अन्तरिक्ष लोकों पर विजय प्राप्त करता था, अगर तीन रात ठहरता था, तो वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता था और यदि चार रात ठहरता था तो असीम आनन्द प्राप्त करता था और अगर अनेक रात्रियों तक अतिथि ठहरता था, तो वह अनेक सुखों को प्राप्त करता था। कठोपनिषद् के उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण अतिथि का विशेष महत्त्व था[2] -**'वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिब्राह्मणो गृहान्। तस्यै ताँ शांति कुर्वन्ति वैवस्वतोदकम्॥** 11.7 अर्थात् ब्राह्मण अतिथि के रूप में अग्नि ही घर में प्रवेश करता है, उसकी शांति हेतु (पादप्रक्षालनार्थ) जल ले आओ।[3] हालांकि मनु ने सभी वर्णों के अतिथियों के सत्कार पर बल देते हुए कहा है - **उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः। पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः।**

इसप्रकार गृहस्थों के लिए अतिथि सत्कार उनका कर्त्तव्य था, किन्तु पाखण्डी,

---

1. मनु. 3.75-76 दैवकर्मणि युक्तो हि विभर्तीदं चराचरम्।।
   अग्नौ प्राप्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
   आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न ततः प्रजा।।
2. महा., शां. पर्व. 243.8,9
3. आप. धर्मसूत्र भी ब्राह्मण अतिथि को अग्निरूप मानता है- 'अग्निरिवज्वलन्नतिथिरभ्यागच्छति।

विरुद्ध कर्मी, शठ, हेतुवादी, बकवृत्ति जैसे अतिथियों की सेवा न करने का भी निर्देश दिया गया है:

**पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान्।**
**हैतुकान्वकवृर्त्तिश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।।** (114.30)

इस पञ्चमहायज्ञ के सम्पादन में बृहद् आयोजन की आवश्यकता नहीं थी।[1] नैतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि वाली भारतीय संस्कृति गृहस्थों के लिए इन पञ्च यज्ञों का सम्पादन समाजिक, सांस्कृतिक एवं चारित्रिक विशेषताओं को दर्शाता था। गृहस्थों का धर्म के प्रति सचेष्ट रहना उनका कर्त्तव्य था। ये यज्ञ गृहस्थों के लिए ही विशेष रूप में इसलिए विहित थे क्योंकि किसी भी धार्मिक कृत्यों का सम्पादन पत्नी की सहभागिता से ही पूर्ण होता था।

प्राचीनकाल में संयुक्त-परिवार की अवधारणा ही थी। अतएव गृहस्थ होने पर भी परिवार के वृद्ध पुरुष या पिता के जीवन काल में पुत्र-पौत्र उनके अधीन रहते थे। यदि पिता के रहते कोई स्वतंत्र आचरण करता तो ऐसा कृत्य निन्दनीय था। पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं यदि वह पुरुष वत्स या गर्ग गोत्र का हुआ, तो लोग उसे वात्स्य या गार्ग्य पुकारते थे। अर्थात् गर्ग या वत्स की संतान होना शोभा नहीं देता था (**पितृतो लोके व्यपदेशवताऽस्वतन्त्रेण भवितव्यम्। य इदानीं पितृमान् स्वतंत्रो भवति स उच्यते गार्ग्य त्वमसि जाल्म। न त्वं पितृतो व्यपदेशमर्हसि।** 14.1.162)। यद्यपि ऐसे अपवाद अत्यन्त कम थे। परिवार बन्धु-बान्धव से भरे-पूरे थे। संप्रजस् एवं बहुप्रजस् परिवारों का बाहुल्य था, यद्यपि अप्रजस् (सन्तानहीन) एवं कुप्रजस् परिवार भी थे। जिस व्यक्ति के पुत्र-पौत्र जीवित होते थे, वह पुत्रपौत्रीण कहा जाता था।[2] पुत्र माता के नाम पर भी पुकारे जाते थे- यथा गार्गी पुत्र।[3] गार्गीपुत्र की संतान गार्गीपुत्रकायणि, गार्गीपुत्रायणि या गार्गीपुत्ति कही जाती है। परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति वृद्ध या **वंश्य** कहा जाता था।[4] पुत्र एवं पौत्र के बाद की संतान **गोत्र**[5] कही जाती थी, किन्तु यदि घर में प्रपितामह, पितामह, पिता, ज्येष्ठ भ्राता या अन्य ज्येष्ठ पुरुष जीवित रहता, तो पौत्रादि की सन्तान युवा कहलाती थी।[6] एक गोत्र के लोगों में सपरिवारता का भाव था। इसीलिए यदि स्थविरतर सपिण्ड भी जीवित

1. मनु. 3.70; अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृ यज्ञस्तु तर्पणम्।
   होमो दैवी बलीर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्।।
2. महाभाष्य, 5.2.10
3. वही, 4.2.159
4. वही, 4.1.163
5. वही, 4.1.162
6. वही, 4.1.163, 164, 165

होता, तो भी सन्तान युवा कहलाती थी। घर में बड़ा व्यक्ति स्थविर कहलाता था। युवा कहलाना गौरव की बात मानी जाती थी। इसीलिए वृद्ध को भी सम्मान प्रदर्शित करने के लिए कभी-कभी युवा कहा जाता था। ये सारी बातें संयुक्त परिवार के गृहस्थों के बीच रक्त संबंधों को प्रतिपादित करती हैं।

ब्राह्मण गृहस्थ की जीविका-वृत्ति भी महाभारत के शांतिपर्व में चार प्रकार की बतायी गयी है-**'गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः। कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम्॥ अश्वस्तनोऽथ कपोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत्। तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो धर्मजित्तमः॥'** -243.2,3 अर्थात् गृहस्थ ब्राह्मण के लिए विद्वानों ने चार प्रकार की आजीविका बतायी है - **कुसूलधान्य** (कोठे भर अनाज का संग्रह करके रखना) पहली जीविका वृत्ति है। **कुम्भधान्य** (कुण्डे भर अन्न का संग्रह करना यह दूसरी वृत्ति है। **अश्वस्तन** (उतने ही अन्न का संग्रह करना जो दूसरे दिन शेष न रहे) तृतीय जीविका वृत्ति है। **'कपोती'** (उच्छवृत्ति का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह) चतुर्थ जीविका वृत्ति है। मनु ने भी इसी प्रकार ब्राह्मण गृहस्थ का वर्णन किया है-

> **कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।**
> **त्र्यहैहिकोवाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥** 4.7

अर्थात् ब्राह्मण-गृहस्थ कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्याहिक अथवा अश्वस्तनिक हो।[1]

डॉ. जयशङ्कर मिश्र का मानना है कि "पुरुषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन, पारिवारिक सौमनस्य, भौतिक-सुखों की तुलना में आध्यात्मिक सुखों की श्रेष्ठता, व्यक्तिगत उत्थान, सर्वाङ्गीण व्यक्ति का निर्माण, मानवीय महत्ता, मानववादी जीवन दर्शन की उपलब्धि आदि गृहस्थाश्रम में ही संभव थी।" आदर्श गृहस्थ जीवन के विषय में गौतम बुद्ध ने कहा है-**पतिरूपकारी धुरवा उठ्ठाता विन्दते धनं। सच्चेन कित्तिं पप्पोति ददं मित्तानि गन्थति॥ सुत्तनिपात, आडवकसुत्ते** 7॥ मनु ने भी गृहस्थ को अन्य आश्रमों का भरण-पोषण करनेवाला बताया है (**यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थैनैव धार्यन्ते तस्माद् ज्येष्ठाश्रमो गृही॥**)। वसिष्ठ ने भी कहा कहा है- **यथा मातरमाश्रित्य सर्वेजीवन्ति जन्तवः। एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः॥** रघुवंश में कालिदास ने भी कहा है **'सर्वोपकारक्षम आश्रमोऽयम्'**। भागवत् पुराण के अनुसार गृहस्थ धर्म

---

1. याज्ञवल्क्य ने मिताक्षरा के गृहस्थ-प्रकरण में इन्हीं चार गृहस्थ-आजीविक में सहमति जतायी है- 'तत्र स्वकुटुम्ब पोषणे द्वादशाहमात्रपर्याप्तं धान्यं यस्यास्ति स कुसूलधान्यः। कुम्भीधान्यस्तु स्वकुटुम्ब पोषणे षडहमात्रपर्याप्तधान्यः। त्र्यहः पर्याप्तं धान्यमस्यास्तीति त्र्याहिलकः। श्वोभवं धान्यादिकं श्वस्तनम् न विद्यते श्वस्तनं यस्य सोऽश्वस्तनः।' 127

सन्यास से भी कठिनतर होने के कारण श्रेयस्कर है ( **यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डुयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्। तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥** )। इसीकरण अधिकांश जन ने ब्रह्मचर्य को त्यागकर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को स्वीकार कर लिया।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता अथवा गृहस्थों के उत्तरदायितव की बहुलता इस बात में भी देखी जा सकती है कि हिन्दू संस्कार में विहित अधिकांश संस्कारों को सम्पन्न करने का दायित्व गृहस्थों को ही था। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक संस्कारों की निष्पन्नता गृहस्थों पर निर्भर थी, मात्र वर्तन संस्कार ही ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत आता था। वेदारम्भ एवं उपनयन में भी बच्चों के साथ गृहस्थ उपस्थित रहते थे।

गृहस्थ के अन्य कर्तव्यों के प्रति भी भारतीय मनीषी सजग थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र (1.3) में गृहस्थों के प्रति उनके उत्तरदायित्वों का उल्लेख करते हुए कहा है-**'गृहस्थ स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षिवैवाह्यमृतुगामित्वे देवपितृअतिथिभृत्येषु-त्याग शशेवभोजनं च।'** अर्थात् स्वधर्म के प्रति जीविका चलाना, विधान के अनुकूल विवाह करना, अपनी भार्या से ही सम्पर्क रखना, देवताओं, पितरों और नौकरों को सन्तुष्ट करने के उपरांत अवशिष्ट भोजन स्वयं ग्रहण करना गृहस्थ का प्रधान-धर्म था।

मत्स्यपुराण (80.3) के अनुसार धर्मागतं प्राप्त धनं यजेत्....। अर्थात् धर्मानुसार धन अर्जन की इच्छा करनी चाहिए। यथा संभव सामर्थ्यानुसार दान भी देना चाहिए।[1] धर्म का उत्तरोत्तर संचयन जन्म-जन्मान्तर के लिए करना चाहिए।[2] गृहस्थों द्वारा अतिथि सत्कार को धर्म से जोड़कर देखा जाता था, क्योंकि यदि कोई गृहस्थ किसी अतिथि को असंतुष्ट कर लौटा देता था, तो उसके पुण्य खत्म हो जाते थे।[3] मनु ने (3.118) में कहा है कि जो मात्र अपने लिए ही भोजन बनाते थे, वे निंदनीय थे, क्योंकि अतिथियों को भोजन कराकर संतुष्ट करना गृहस्थों का कर्त्तव्य था। ( **अर्ध स केवलं भुक्तेयः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञ शिष्टाशनं ह्येतत्सत्तामन्नं विधीयते॥** ) मनु ने अतिथियों को भी परामर्श दिया है कि जहाँ आसन, भोजन, फल, फूलादि से अतिथि का सत्कार न हो, वहाँ निवास नहीं करना चाहिए।[4] अतिथि सत्कार वस्तुतः नृयज्ञ था, जिसकी विस्तृत-चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

---

1. ब.ध.सू., 8.13 यथासक्तेनचान्नेन सर्वाणि भूतानि।
2. मनु. 4.239.42 धर्मेण हि सहाय्येन तपस्तरति दुस्तरम्॥
3. विष्णु पुराण 3.9.15; अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
   स तत्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥
4. मनु. 4.29; आसनासनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
   नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥

**वानप्रस्थ आश्रम**

वानप्रस्थ का अर्थ है- वन में प्रस्थान (वनमेव प्रस्थो, वनस्य वा प्रस्थ प्रदेशः। वन प्रदेश भवः)[1] अर्थात् पूर्व की स्थितियों को त्याग कर वन की ओर जाना वानप्रस्थ था। जब मनुष्य अपने समस्त गार्हस्थ्य कर्त्तव्यों को पूरा कर लेता था, तब वृद्धावस्था के प्रारम्भ होने पर अपने पुत्र को गृह के समस्त दायित्वों को सौंप कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करता था। मनु ने कहा है- **''गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषुभार्यां निक्षिप्य वनं गछेत्सहैवं वा।।** (VI .2,3)[2] अर्थात् गृहस्थ जब अपने शरीर में झुर्रियाँ तथा केशों में सफेदी देखें और जब उसकी सन्तान के भी सन्तान हो जाये, तब वह वन को जाये। गाँव के भोजन तथा घर के सम्पूर्ण सामानों को त्यागकर अपनी पत्नी को पुत्रों का दायित्व सौंपकर या पत्नी के साथ (यदि पुत्र युवा हो और जिम्मेदारियाँ सम्भालने लायक हो) वन को जावे।[3] इस प्रकार वानप्रस्थ के लिए तीन बातें अनिवार्य थी - (1) वृद्धावस्था के आगमनोपरांत (2) सांसारिक भोगों के प्रति वितृष्णा और धन सम्पत्ति के प्रति उदासीनता आ जाने पर तथा (3) गृहस्थी का दायित्व पुत्र का पौत्र द्वारा सम्भाल लिए जाने पर ही वन को प्रस्थान करे।

महाभारत के शांतिपर्व (243.29) में उल्लिखित है-**अतः परं परममुदारमाश्रमं तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरं। वनौकसं गृहपतिनामनुत्तमं शृणुष्व संश्लिष्टशरीर-कारिणाम्।।** अर्थात् इस गृहस्थाश्रम के पश्चात् तीसरा उससे श्रेष्ठ आश्रम वानप्रस्थ है, जो शरीर को सुखाकर अस्थिचर्मावशिष्ट कर देनेवाले तथा वन में रहकर तपस्यापूर्वक शरीर को त्यागने वाले वानप्रस्थियों का आश्रय है। यह गृहस्थों से श्रेष्ठतम माना गया है।

वानप्रस्थ की जीवन-शैली का वर्णन करते हुए व्यास मुनि महाभारत के शांतिपर्व में कहते हैं कि वानप्रस्थीपुरुष नियमानुकूल रहकर भोजन भी नियमानुकूल करे। दिन के छठे भाग अर्थात् तीसरे पहर में एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमाद से बचा रहे। गृहस्थाश्रम की ही भांति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञ के सम्पूर्ण अङ्गों का सम्पादन करना वानप्रस्थ का धर्म है।[4] पुनः कहते हैं कि वनवासी

1. अमरकोष - पृ. 251.3
2. महाभारत, शां. पर्व. 244.4 में भी इसी प्रकार का कथन है -
   गृहस्थस्तु यदा पश्येत् बलीपलितमात्मनः।
   अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव सदा श्रयेत्।।
3. वही, शां पर्व. 60.4; सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।
   वानप्रस्थाश्रम गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात्।।
4. वही, शां. पर्व. 244.6; नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान्।
   तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि स सर्वशः।।

मुनि बिना जोती हुई पृथ्वी से पैदा हुए धन, जौ, नीवार तथा अतिथियों को देने के बाद बचे हुए भोजन से अपना निर्वाह करे तथा पञ्चयज्ञों का भी सम्पादन करता रहे (**अफालकृष्टं व्रीहियवनीवारं विधसानि च। हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु॥244.7॥**)। महाभारत के उपर्युक्त कथन से एक बात स्पष्ट होती है 'ऋण' की भारतीय संस्कृति में बड़ी बद्धमूल भावना है क्योंकि परिवार एवं समाज को देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण को अवश्य चुकाना पड़ता था। परिवार का सम्पूर्ण ऋण चुकाये बिना व्यक्ति को गृहस्थाश्रम छोड़कर वानप्रस्थ में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। अतः पञ्चमहायज्ञ इस आश्रम में भी अनिवार्य थे। उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं सन्यासी को भिक्षा तथा दान देकर व्यक्ति सामाजिक ऋण को भी चुकाता था, तथापि गृहस्थाश्रम में ही यह ऋण समाप्त नहीं हो पाता था। वानप्रस्थ आश्रम में समाविष्ट होने पर सामाजिक ऋण को चुकाने के लिए व्यक्ति को समाज की आनेवाली पीढ़ी अर्थात् ब्रह्मचारी को शिक्षा देना जरूरी था। ब्रह्मचारी वानप्रस्थ के पास रहकर निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे।

वानप्रस्थ का जीवन शीत-ऊष्ण को सहन करनेवाला तपस्वी सा था। विष्णु पुराण (3.9.22) में उल्लिखित है **तपश्च तस्य राजेन्द्र शीतोष्णादिसहिष्णुता। कौटिल्य अर्थशास्त्र** (1.3) में बताया गया है कि वानप्रस्थी ब्रह्मचारी की भांति भूमि पर सोते थे। जटाएँ रखते थे। अग्निहोत्र करते थे। ये पितृ-पूजा या पितृ-यज्ञ एवं नृयज्ञ करते थे। इनका आहार भी वन्य पदार्थ ही था। (**वानप्रस्थस्व ब्रह्मचर्य भूमौ शय्या जटाऽजिनधारणाग्निहोत्राभिषेकौ देवतातिथिपितृपूजा वन्यश्चाहारः॥**)[1] वानप्रस्थ तपस्या के उत्तरोत्तर वृद्धि, शरीर की शुद्धि एवं विद्या के लिए वानप्रस्थाश्रम का महत्त्व था।[2] गौतम[3] के अनुसार वानप्रस्थी को मूलफल खाकर अपने शरीर को तपस्वी बनाना चाहिए। पञ्चयज्ञों को करते हुए उसे प्रतिषिद्ध वर्ण वाले अतिथि को छोड़कर अन्य अतिथियों का सत्कार करना चाहिए। वानप्रस्थियों को चर्म, काश या कुश से अपनी पोशाक बनानी चाहिए। (**चर्मकाशकुशैः कुर्यात्परिधानोत्तरीयके**)[4]। वायुपुराण (8.175) के अनुसार मृगचर्म अथवा पत्तों से वस्त्र बनाना चाहिए (**चीरपत्राजिनानि...**)। वानप्रस्थ का जीवन संयम, साधना एवं त्याग पूर्ण तपस्वी का जीवन था। वे गाँव में प्रवेश नहीं कर सकते थे।[5] इस परिच्छेद की उपर्युक्त

---

1. महाभारत, शां. पर्व 244.11,13; भूमौ विपरिवर्तन्ते....॥ मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढ़व्रताः॥
2. मनु., 6.30; विद्या तपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥
3. गौ. ध. सू. 3.25, 26, 28-30, 33; वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः। श्रावण केनाग्निमाधाय। देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः। सर्वातिथिः प्रतिसिद्धवर्णम्। जटिलश्चीराजिनवासाः।
4. विष्णु पुराण, 3.9.20
5. व.ध.सू. 8.2 ग्रामं च न प्रविशेत्।

उक्तियाँ यह सिद्ध करते हैं कि वानप्रस्थ अगले आश्रम की तैयारी थी, जिसके लिए वानप्रस्थी तन एवं मन से अपने को तैयार करता था। वह भौतिकता से दूर हटता जाता जिससे शरीर प्रकृति के अनुकूल कार्य कर सके। भीषण गर्मी, वर्षा या ठंढ में भी तपस्या करने के अनुकूल हो सके। शरीर के साथ ही साथ सन्यास के लिए मन को भी तैयार किया जाता था, इसे संयमी एवं त्यागी बनाया जाता था।

नैतिक गुणों को अपने दैनन्दिन व्यवहार में प्रतिष्ठापित करना ही वानप्रस्थ की मुख्य धर्म साधना थी। इसप्रकार पुरुषार्थ की दृष्टि से वानप्रस्थाश्रम का मुख्य उद्देश्य धर्म की साधना थी जो नाना-प्रकार के तप एवं यज्ञ के रूप में पूर्ण होती थी। वानप्रस्थियों के लिए पंचमहायज्ञ आदि धर्म साधना का आधार थी। इसी धर्मसाधना के लिए महाभारत के शांतिपर्व में वानप्रस्थ के लिए चार प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है-**वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः। सद्यः प्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिक संचयाः॥ 244.8॥** कोई इतने ही धन का संचय करता है कि तुरन्त खाकर खत्म हो जाय, तो कोई एक माह के लिए अनाज का संग्रह करते हैं। पुनः वर्णित है: **वार्षिकं संचयं केचित् द्वादशवार्षिकम्। कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतंत्रार्थमेव वा॥144.9॥** अर्थात् कोई वर्ष भर के लिए तो कोई बारह वर्षों के लिए अन्न का संग्रह करते हैं। उनका यह संग्रह अतिथिसेवा एवं यज्ञ कर्म के लिए है।[1]

वानप्रस्थी **'वैखानस'** या **'परिव्राजक'** भी कहलाते थे। ये अपने साथ त्रिविष्टब्धक रखते थे। त्रिविष्टब्धक परिव्राजक का परिचायक था। जिसप्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार त्रिविष्टब्धक से परिव्राजक की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता था।[2] त्रिविष्टब्धक तीन काष्ठ खण्डों को एक साथ रस्सी से बाँधकर त्रिदण्ड के समान बनाया जाता था।[3]

वस्तुतः वानप्रस्थ सन्यास-आश्रम में प्रवेश की ले जाने वाली साधना एवं तपस्या की ओर उत्प्रेरित करने की तैयारी थी। गृहस्थ जीवन एवं निर्जनता के बीच की कड़ी सन्यास थी मोह एवं मोक्ष के बीच की कड़ी वानप्रस्थ थी। बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष का तृतीय सोपान था वानप्रस्थ।

## संन्यास आश्रम

वानप्रस्थ के बाद[4] चौथा[5] एवं अन्तिम आश्रम संन्यास था। जीवन के अन्तिम

---

1. द्रष्टव्य - मनु. 6.18; सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्मास संचयिकोऽपि वा।
   षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा।।
2. महाभाष्य 2-1.1, पृ. 243
3. वही, 1.1.1, पृ. 102 यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकं। तत्राप्यन्ततः सूत्रं भवति।
4. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.32.26 गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
5. महाभारत, शां.पर्व, 244.23 चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत्।

चतुर्थांश में संन्यास आश्रम में समाविष्ट हुआ जाता था। मनुस्मृति (6.33) के अनुसार- **वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।**

**चतुर्थमायुषो भाग व्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्।।**

अर्थात् अपनी आयु के तीसरे भाग को वन में अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में व्यतीत करने के बाद संन्यासी बनाना चाहिए। मनु के उपर्युक्त उक्ति से यह बात स्पष्ट होती है कि इन्होंने मनुष्य की आयु सौ वर्ष माना है और इसे चार बराबर-भागों में बाँट कर विभिन्न आश्रमों के रूप में कल्पना की है। बौ. ध. सू. (2.10.6) में भी आयु के सत्तरवें वर्ष में संन्यास ग्रहण करने का परामर्श है **(सप्तत्या उर्ध्व सन्यासमुपदिशन्ति।)**।

पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति सन्यास आश्रम से ही मानी गयी है। सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक उत्तरदायित्वों एवं ऋणों से मुक्त होकर संन्यासी की कर्मकाण्ड की अन्यसाधिका धार्मिक अग्नियाँ भी छूट जाती थीं, क्योंकि सभी कामनाओं के प्रति निर्लिप्तता का भाव इनकी उपयोगिता के प्रति उदासीनता उत्पन्न करता था। मनुस्मृति (VI. 38) में वर्णित है-**प्राजापत्यं निरूप्योष्टिं सर्ववेद सदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।।** अर्थात् समस्त धन जिस वानप्रस्थाश्रम में दक्षिणा में दे दिया जाता था, ऐसे प्राजापत्य यज्ञ (इष्टि) को सम्पन्न कर तथा यज्ञाग्नियों को मन में स्थापित करके ब्राह्मण चौथे आश्रम (संन्यास) के लिए निकल पड़े।

महाभारत के शांतिपर्व में सन्यास आश्रम का अत्यन्त रोचक वृतान्त है। उक्ति है कि तीनों आश्रमों से गुजरते हुए वानप्रस्थ में राग-द्वेष आदि दोषों को पकाकर उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थाश्रम को ग्रहण करना चाहिए **( कषायं पाचयित्वा ऽऽ शुश्रेणि स्थानेषु च त्रिषु प्रवजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्। ( 245.3 )**। सिद्धि प्राप्त करने के लिए अकेला ही संन्यास-धर्म का पालन करना चाहिए **( एक एव चरेद् धर्मं सिद्धयर्थमसहायवान्। 245.4 )**। सन्यासी को न तो अग्नि की स्थापना करनी चाहिए और न ही घर या मठ बनाकर रखना चाहिए **( अनग्निरनिकेतश्च ग्रामरमन्नार्थमाश्रयेत्।।245. )**। इसप्रकार अपने परमोद्देश्य मोक्ष रूप लक्ष्य के अनुरूप संन्यासी देश, काल,वर्ण,धर्म आदि से ऊपर उठकर न तो यज्ञोपवीत, न अग्नियाँ और न ही शिखा धारण करता था। सन्यासी के तीन प्रमुख लक्षण अपरिग्रही,अनिकेत एवं एकचर अर्थात् निरभिमान, निःसंग एवं निराश्रय थे। वह किसी की निन्दा या स्तुति का उत्तर नहीं देते थे **( न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् )** यहाँ तक कि निन्दा सुनना एवं निन्दक को देखना भी उनके लिए वर्जित था **( नैव पश्येन्न, श्रृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित्। )** ब्रह्मज्ञानी संन्यासी

वही थे जो सम्मान प्राप्त होने पर हर्षित, अपमानित होने पर कुपित नहीं होते थे तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान दे दिया था (**न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः। सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः। 245.14**)। संन्यासी जीवन एवं मृत्यु हर स्थिति में स्थितप्रज्ञ होता है (**नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितम् 245.15**)। संन्यासी जिस किसी भी वस्तु से पेट भर लेते थे एवं शरीर ढ़क लेते थे, ये ब्रह्मज्ञानी संन्यासी कहीं भी सो जाते थे (**येन केनाचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः। यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः। 245.12**)। ये ब्रह्मज्ञानी संन्यासी सत्यज्ञान का दान करते हुए विश्वगुरु का पद ग्रहण करते हैं इन्हीं संन्यासियों को ही 'अग्रजन्मा' कहा जाता है। मनुस्मृति (2.1) में उल्लिखित है-

**एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।**

सन्यासी के जीवन का उल्लेख महाभारत के शांति पर्व में बहुत सुन्दर श्लोक में वर्णित है- **आवर्तमानमजरं विवर्तनं षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्व।**
**यस्येदमास्ये परियाति विश्वं तत्कालचक्रं निहितं गुहायाम्।।245.32।।**

अर्थात् जो निरंतर घुमता रहता है, कभी जीर्ण या क्षीण नहीं होता, जो लोगों की आयु को क्षीण करता है, छह ऋतुएँ जिसकी नाभि हैं, बारह महिने जिसके अर हैं, दशपौर्णमास आदि जिसके सुन्दर पर्व हैं, यह सम्पूर्ण विश्व जिसके मुख में भक्ष्य पदार्थ के समान जाता है, वह कालचक्रम बुद्धिरूपी गुहा में स्थित है। विष्णु पुराण (3.9.23.30) के अनुसार संन्यासी समभाव रखे, जरायुज, अण्डजादि सभी जीवों से कभी द्रोह न करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समस्त दुर्गुणों को त्याग दे (**मित्रादिषु समो मैत्रस्समस्तेष्वेव जन्तुषु। जरायुजाण्डजादीनं...कुर्वीत न द्रोहे...। ... काम क्रोधस्तथा दर्पलोभादयश्च ये। तास्तु सर्वान् परित्यज्य...**)।

संन्यासी को '**भक्षु**'[1] भी कहा गया है एवं '**यति**'[2] भी कहा गया है। व.ध.सू. (10.1) में संन्यासी को '**परिव्राजक**' भी कहा गया है। (**परिव्राजक सर्वभूताभयदक्षिणां दत्वा प्रतिष्ठेत्**)। संन्यासी की वृत्ति भिक्षा थी इसलिए इन्हें '**भिक्षु**' एवं तपस्या करने के कारण '**यति**' नाम से पुकारा जाता था। संन्यासी सर्वत्र घुमते रहते थे, इसीलिए इन्हें 'परिव्राजक' कहा जाने लगा। महाभारत के शांतिपर्व में उल्लिखित है–

---

1. वायु पुराण, 59.25; गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
2. वही, 104.12; रागिणां च विरागाणां च यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
   ऋग्वेद, 8.3.9; येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्दमाविथ।
   अथर्ववेद; 2.5.5

**परिव्राजकानां पुनराचारः। तद्यथा-विमुच्यानि - धन-कलत्र परिवहेण सङ्गेष्वात्मनः स्नेह वा शानवधूय परिव्रजन्ति। समलोकाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्ग प्रवृत्तेष्यसक्तबुद्धयोऽअरिमित्रोदासीनां तुल्यदर्शना।।92.3।।**

अर्थात् परिव्राजक धन, अग्नि, संतान, पत्नी के प्रति अनासक्त एवं कांचन और पाषाण, शत्रु अथवा मित्र के प्रति उदासीन थे। उसकी दृष्टि में सभी समान थे। विष्णु-पुराण (3.9.25) में भी इसी प्रकार की उक्ति है - **'पुत्रद्रव्यकालत्रेषु व्यक्त स्नेही**। इसीलिए अर्थशास्त्र संन्यासी को कौटिल्य ने इन्द्रिय-निग्रही एवं जितेन्द्रिय कहा है (**परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो...।1.3।।**)। मनुस्मृति (6.60) के अनुसार भी रागद्वेष से रहित एवं इन्द्रिय-निग्रही संन्यासी अहिंसा के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है (**इन्द्रियाणां निरोधेन रामद्वेषक्षयेण च। अहिंसाया च भूतानाममृतत्वाथ कल्पते**)। इस प्रकार संन्यासी घर-द्वार से अत्यन्त दूर एवं पृथक् रहकर विभिन्न स्थानों का भ्रमण करता था (**अनीकशायी विगृहश्च...देशानेकचरः स भिक्षु। मत्स्य पु. 40.5**)। सम्पूर्ण जीव के कल्याण के लिए पृथ्वी का भ्रमण करता रहता था (**संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा। शरीरस्यात्ययें चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत्।। मनुस्मृति 6.68**)।

संन्यास-आश्रम में प्रवेश कभी-कभी ब्रह्मचारी भी (बिना किसी अन्य आश्रम में गये) ले लेते थे। (**यतिः कुमार भावेऽपि योगी वैखानसोऽभवत्। मत्स्य पु. 24. 51**)। शूद्र संन्यास आश्रम में प्रवेश नहीं ले सकते थे क्योंकि उनके लिए मात्र गृहस्थ आश्रम ही विहित था। विदुर अपवाद मात्र हैं। महाभारत की कथाओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यास का प्रचलन ब्राह्मणों में ही ज्यादा था। वैश्य एवं क्षत्रिय संन्यासियों की चर्चा महाकाव्यों में प्राप्त नहीं होती है, किन्तु पुराण काल में ब्राह्मणेत्तर जातियाँ भी संन्यास आश्रम में समाविष्ट थीं, किन्तु इनकी संख्या अत्यल्प थी।

महाभाष्यकालं में निरभिमानी संन्यासियों की जीविका का मुख्य-आधार भिक्षा था। यही कारण है कि महाभाष्य में परिव्राजक की जगह भिक्षुओं का उल्लेख अधिक हुआ है। इस काल में भिक्षुओं के लिए नियामक सूत्र हुआ करते थे। एक सूत्र-ग्रन्थ के प्रणेता **पराशर्य**[1] थे। एक अन्य भिक्षुसूत्र भी था, जिसके प्रणेता **कर्मन्दक** थे।[2] इन दोनों की ख्याति इतनी थी कि एक के अनुयायी **पराशरी**[3] एवं दूसरे के **कर्मन्दी** कहलाते थे। इन सन्यासियों को सम्प्रदाय-परम्परा के कारण

---

1. महाभाष्य, 4.3.110
2. वही, 4.3.111
3. वही, 4.2.66

**स्थाण्डिलशायी** कहते हैं। इन संन्यासियों के लिए दृष्टि-साधना भी एक अंग स्वीकार की गयी थी। अविक्षिप्तदृष्टि वाले भिक्षुओं को "**कौक्कुटिक**"[1] कहते थे। ये चलते समय इधर-उधर न देखकर पैरों पर दृष्टि गड़ाये केवल कुक्कुटी पादभर भूमि को देखते चलते थे। इन संन्यासियों के लिए अरण्य में रहने का विधान था। कुछ भिक्षुक बस्ती से अलग किन्तु बस्ती के पास रहते थे। भिक्षुओं को भिक्षा में सभी प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे। इस कारण ये '**सर्वान्नीय**'[2] कहलाते थे। इनको समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त थी। भाष्यकार ने इन्हें '**क्रौशशतिक**' कहा है क्योंकि उस समय की सामाजिक मर्यादा यह थी कि भिक्षुओं का अभिनन्दन सौ कोस पूर्व से ही करने की अपेक्षा की जाती थी। (**क्रोशशतादभिगम- नमर्हति इति क्रौशशतिको भिक्षुः। यौजनशतिको गुरुः। 5.1.74**)।

ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यास आश्रम का विधान अत्यन्त परवर्त्ती युग में हुआ था, क्योंकि वानप्रस्थ एवं संन्यास का स्पष्ट उल्लेख न तो वैदिक काल में मिलता है और न ही महाभाष्यकार पतञ्जलि के काल में ही, क्योंकि महाभाष्य में चातुराश्रम्य का उल्लेख होने पर भी विवरण तीन आश्रमों का ही है। कालिदास के काल तक यही स्थिति बनी रही। रघुवंश के प्रारम्भ में तीन आश्रमों का उल्लेख है और तृतीय आश्रम को '**मनुवृत्ति**' आश्रम कहा गया है (**शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्धके मुनिवृत्तानां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।**) अभिज्ञान शाकुन्तल में भी गृहस्थ के बाद वैखानस आश्रम का ही उल्लेख है। दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में जिज्ञासा से पूछता है-**वैखानसं किमनया व्रतमाददानात् व्यापाररोधि मनदस्य निषेवितव्यम्।** वस्तुतः वैदिक-परम्परा में संन्यास का निरंतर विरोध होता रहा, जबकि बौद्ध एवं जैन-परम्परा में प्रचलित भिक्षुओं की मान्यताएँ हिन्दुओं ने आत्मसात् कर लीं। यह हिन्दुओं के बौद्ध-धर्म के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का परिणाम था। वस्तुतः प्रारम्भिक हिन्दु मान्यताओं के अनुसार संन्यास असुर प्रवृत्ति थी।[3]



1. महाभाष्य, 4.4.46; काशिका, देशस्याल्पतया हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिक इति।
2. वही, 5.2.9
3. बौधा.धर्म.सू.; प्रश्न 2, खं. 11।

# अध्याय–4
# मानवजीवन का आधारः पुरुषार्थ

## पुरुषार्थः एक विचार

मनुष्य के जीवन में पुरुषार्थ नामक भारतीय चिंतकों की दार्शनिक-विचारों की नियोजना का मूल आधार था, जीवन को भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करना। इन चिंतकों ने जीवन के सुख का दो आधार पाया। पहला क्षणिक, अस्थिर एवं असत्य है। यह भौतिक-सुख, शारीरिक आवश्यकताओं एवं कामना परक वृत्तियों की पूर्त्ति के लिए इहलौकिक सुख है किन्तु इस प्रकार का सुख संकीर्णता और बद्धता, स्वार्थ और 'लिप्सा तथा कामना और वासना से जीवन को आबद्ध करनेवाला है जो हमारा आदर्श जीवन नहीं हो सकता। मनुष्य का संयमित और नियमित आचार तथा आध्यात्मिक विचार ही यथोचित निर्णय प्रदान कर सकने में समर्थ होता है। अतः मनुष्य के जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख न होकर आध्यात्मिक सुख होना चाहिए तथा उसकी कार्य पद्धतियाँ विलासपरक न होकर घर्मपरक होनी चाहिए। मनुष्य के जीवन में शारीरिक आवश्यकताओं और भोग के आकर्षण का ही सुख प्रधान होता है, किन्तु ऐसी भोग परक वृत्तियों का अस्तित्व अस्थायी एवं क्षणिक होता है। दूसरी तरफ आध्यात्मिक वृत्तियाँ मनुष्य को सात्विक और निःस्वार्थ जीवन जीने के लिए प्रेरित करती हैं और उसे ऐसे जीवन-दर्शन का वास्तविक और अविच्छिन्न अर्थ समझाती हैं जिसमें सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी है।

अतएव भारतीय जीवन दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का संतुलित, सम्मिलित एवं समन्वित स्वरूप है, जिसे 'पुरुषार्थ' करते हैं। भौतिक एवं लौकिक सुख के अन्तर्गत अर्थ एवं काम हैं तथा आध्यात्मिक एवं पारलौकिक सुख के अन्तर्गत धर्म एवं मोक्ष। पुरुषार्थ में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों तत्त्व निहित हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करता है क्योंकि हिन्दु-विचारधारा के अनुसार जीवन एवं मृत्यु से छुटकारा पाना, संसार में आवागमन से मुक्ति पाना और ईश्वर के समीप पहुँचना ही मोक्ष है। इस प्रकार हम पाते हैं कि हिन्दु विचारधारा लौकिक एवं पारलौकिक दोनों को महत्त्व देते हैं परन्तु जीवन का परम उद्देश्य आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति ही है। दूसरी बात, पुरुषार्थ के अन्तर्गत मनुष्य के दीर्घायु होने की भी आकांक्षा है। यदि इस दीर्घायु होने की आकांक्षा में आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत निष्ठापूर्वक इन चारों पुरुषार्थ को प्राप्त करने की चेष्टा करें। पुरुषार्थ के पालन में की गयी चेष्टा ही

मानव के जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में सहायक है। मनुष्य लौकिक जीवन के प्रति जागरूक हुए पारलौकिक जीवन के प्रति भी उत्कंठित रहा है। वह अपने क्रियात्मक जीवन की अभिव्यक्ति धर्मगत भावना और आचारगत नैतिकता से करता रहा है। इस प्रकार इहलोक एवं परलोक दोनों के लिए किए जानेवाले कर्म में आस्था पुरुषार्थ के अन्तर्गत आता है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का उत्कर्ष और उसकी भौतिक जीवन के प्रति क्रमागत अनास्था इसके बिना असम्भव है। भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि के मध्य का संतुलित दृष्टिकोण ही पुरुषार्थ का सही स्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से समन्वित पुरुषार्थ व्यक्ति के जीवन को गरिमामण्डित बनाता है और उसके निवृत्तिमूलक व्यक्तित्व का निर्माण करता है। फलतः व्यक्ति धर्म का अनुसरण करता हुआ सांसारिक सुख और उपभोग को अनुपालित करता है। भक्ति का अनुगमन करके मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। पुरुषार्थ के चार मेरुदण्ड हैं :- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष, जिसमें भौतिक (सांसारिक) धार्मिक (नैतिक) तथा आध्यात्मिक (ईश्वरीय) तत्त्वों का निवेशन है।

## पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है- पुरुष + अर्थ। पूः = पुरं, शरीरं च। पुरि शेते इति पुरुषः। अर्थात् जो इस पुर में (शरीर में) सोया हो, प्रवेश किया हो, शरीर में स्थापित हो, उस चैतन्यांश को 'पुरुष' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष शब्द का यौगिक अर्थ तो जीव मात्र है किन्तु **'पुरुषत्वे च मां धीराः।'' बह्वः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया।**[1] **'पुरुषत्वे चाविस्तारामात्मा।'**[2] **पुरं पुरुषमात्मवान्।**[3] इत्यादि प्रसङ्गों में योगरूढ़ि के अनुसार 'पुरुष' शब्द मुख्यतया मनुष्यवाची है। अतः यहाँ पुरुष शब्द का अर्थ 'मनुष्य' अर्थात् नर-नारी है। 'अर्थ्यते प्रार्थ्यते सर्वेः इति अर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभिलषित अर्थ (विषयों) को अर्थ कहते है। इस प्रकार **'पुरुषाणाम् अर्थः पुरुषार्थः'** अथवा- **'पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः'** के अनुसार संसार के सारे अभीष्ट इसमें समाहित हो जाएंगे किन्तु शास्त्रों में मनुष्य जीवन के सभी अभीष्टों में मुख्य अभीष्ट केवल चार ही बताए गये हैं। अतएव मानव के ये प्रमुख चार अभिलषित धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ही पुरुषार्थ चतुष्टय कहलाते हैं। केवल पुरुष ही इनका सम्पादन कर सकते हैं। अतएव इन्हें 'पुरुषार्थ' कहा जाता है। जो मनुष्य जिस पुरुषार्थ की कामना करता है उसे उसी अनुसार फल की प्राप्ति होती थी- **'पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।**

---

1. श्रीमद्भागवत; 7.11.22
2. वही, 11.7.21
3. वही, 3.20.50

**श्रेयो दिशत्यभिमतं यद् धर्मादिषु देहिनाम्[1]॥**

पुनः यहाँ पुरुष[2] ही इस कारण कहा गया क्योंकि पुरुष में आत्मा का आविर्भाव इतर सब प्राणियों से अधिक है। इसमें ज्ञान भी है और प्रज्ञान भी है। जीव के आत्मज्ञान का प्रारम्भ मनुष्य योनि में पहुँचने पर ही होता है। मनुष्य जानता है, देखता है, बोलता है और साथ ही वह यह भी समझता है कि मैं जान रहा हूँ, देख रहा हूँ, बोल रहा हूँ। पशु जानते हैं, देखते हैं, बोलते हैं। परन्तु वे ये नहीं समझते कि हम जान रहे हैं, देख रहे है और बोल रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य में ज्ञान का अत्यन्त विकास है।[3] इसलिए महर्षि शुक-मुनि ने, श्रीमद्भागवत में कहा है कि 'यह मनुष्य योनि ज्ञान एवं विज्ञान का मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी अपने आत्म-स्वरूप परमात्मा को नहीं जान लेता है, उसे फिर कहीं, किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिल सकती-

**'लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञान-विज्ञानसम्भवाम्।**

**आत्मानं यो न बुध्यते न क्वचिच्छममाप्नुयात्।' ( 3.16.58 )**

सारांश, संसार के अन्तर्गत जीव की जितनी भी उन्नतियाँ हैं, वे सभी द्वैत एवं दुःख रूप होने के कारण उनसे जीव को अनन्त सुख और चिर शांति प्राप्त नहीं हो सकती। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति तो केवल एक आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार से ही संभव है। इसीलिए विवेकी पुरुष सांसारिक नश्वर पदार्थों की आसक्ति को त्यागकर मुख्यतया अखण्ड आत्म-तत्त्व के अन्वेषण में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए श्रुति में वर्णित है -

**'श्रेयश्य प्रेयश्च मनुष्यप्रेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।**

**श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥'**

पुरुषार्थ के प्रति प्रवृत्ति मुनष्य में सुख के लिए होती है। यह सुख दो प्रकार का है - (1) विषय-सुख और (2) आत्म-सुख। मनुष्य के मुख्य अभिलषित अर्थ दो ही हैं - धर्म एवं मोक्ष। अन्य दो पुरुषार्थ अर्थ और काम इसके प्राप्ति के साधन हैं। यही चार पुरुषार्थ मनुष्य-जीवन के प्रमुख उद्देश्य हैं।

धर्म, अर्थ एवं काम ये त्रिवर्ग सबों के लिए अभिलषित हैं जो वस्तुतः निर्मल, निर्दोष हैं अतएव इनके सम्यक् अनुष्ठान से चतुर्थ पुरुषार्थ - मोक्ष की अनायास ही प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इनका उपार्जन करनेवाले मनुष्यों की विषयों में प्रायः

---

1. श्रीमद्भाग॰, 4.8.60
2. यहाँ पुरुष शब्द 'मानव' के लिए है।
3. ऐतरेय ब्राह्मण; 'पुरुषे चाविस्तरामात्मा। स हि प्रज्ञानेन सम्पन्न तमः। विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति पशवः न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यति।'

रागात्मिका प्रवृत्ति होने से मनुष्यों की कामात्मता के कारण, संसर्ग के दोष से उनके द्वारा अनुष्ठीयमान त्रिवर्ग में एक-एक मल, एक-एक दोष आ जाता है।[1] इसी से सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्म का अनुष्ठान सकामभाव से न करके निष्काम भाव से ही करते हैं। अर्थ काम का सेवन शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' के अनुसार शरीर के रक्षार्थ करते हैं। इस रीति से निर्मल, निर्दोष त्रिवर्ग के अनुष्ठान से चतुर्थ पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति रूप में मोक्ष अनायास प्राप्त हो जाता है।

त्रिवर्ग के सम्पादन में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इसमें से किसी एक का ही अधिक अनुष्ठान होने से, वह स्वयं अपने तथा इतर दोनों पुरुषार्थों को भी बाधा पहुँचाने लगता है। इसीलिए कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है-

**'एको हि अत्यासेवितो ह्येषाम् आत्मानमितरौ च पीडयति।'**

अतः त्रिवर्ग में से किसी एक का अनुष्ठान इतनी अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए कि इन तीनों में परस्पर बाधा पहुँचे। काम का सेवन ऐसे करना चाहिए जिससे धर्म और अर्थ में बाधा न आए और विषय सुख का नितान्त परित्याग करके बिल्कुल सुखरहित रहना भी उचित नहीं -

**धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत न निःसुखः स्यात्।' (अर्थशास्त्र)**

इस प्रकार चार पुरुषार्थों का सम्पादन करना ही मनुष्य जीवन का प्रधान लक्ष्य है - **'धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छेय आत्मनः।' (श्रीमद्भाग. 4.8.30)**

एक प्रश्न यह भी है कि पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम पुरुषार्थ प्राप्ति के साधन हैं अतः इनकी गणना न्यूनाधिक त्रिवर्ग में पहले होनी चाहिए अर्थात् धर्म के पूर्व ही इसकी गणना होनी चाहिए थी, किन्तु यह मध्य में है। मोक्ष की गणना अंत में करना तो उचित ही है क्योंकि यह मानव-जीवन का परम प्रयोजन है एवं त्रिवर्ग की प्राप्ति के तदनन्तर ही प्राप्त होता है। इसका उत्तर है कि अर्थ और काम का नियामक धर्म है। यह सत्य है कि अर्थ और काम भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा पाये हुए हैं लेकिन इन दोनों पर धर्म की मर्यादा लगी हुई है। अर्थ और काम वहीं तक पुरुषार्थ हैं जहाँ तक वे धर्म से मर्यादित, धर्म के अविरोधी हैं; धर्म विहीन अथवा धर्म-विरोधी अर्थ एवं काम भारतीय-संस्कृति में नितांत अग्राह्य हैं।

यहाँ एक जिज्ञासा यह भी होती है कि जब स्वभावतः सभी मनुष्यों का सभी उद्यम इस चतुर्वर्ग के अन्तर्गत आता है तो इस पुरुषार्थ कल्पना को केवल भारतीय संस्कृति का ही वैशिष्ट्य क्यों कहा जाता है ? इस जिज्ञासा को प्रथम यह कह कर शांत किया जा सकता है कि इस तथ्य का उद्घाटन सर्वप्रथम भारतीयों ने ही किया,

1. महाभारत, शां. पर्व 923-90; अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोहमलः कामो भूयस्तद् गुणवर्द्धितः।।

इसीलिए इसका श्रेय उन्हें दिया जाना स्वाभाविक ही है। द्वितीय यह कि केवल भारतीय संस्कृति ही इस तर्क को स्वीकार करती है कि मानव व्यक्ति के संतुलित विकास के लिए एवं मानवजीवन के चरम साफल्य के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समवाय ही ग्राह्य है। इनमें से किसी एक के प्रति उदासीनता अथवा अत्याशक्ति जीवन में असंतुलन पैदा कर सकती है। मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समय तथा साधनों का इस प्रकार विभाजन करें कि जिससे अन्ततः इन चारों क्षेत्रों में उसके मन में तृप्ति हो सके।

पुरुषार्थों की चर्चा में जब मोक्ष के महत्त्व को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं और जीवन का परम उद्देश्य बताते हैं तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कहीं भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण निराशावादी तो नहीं है, क्योंकि यह भावी जीवन के बदले परलोक की चिंता पर ही बल देती है। यहाँ यह दृष्टिकोण तब स्वतः ध्वस्त हो जाता है जब हम पाते हैं कि अर्थ और काम तो निःसंकोच पुरुषार्थ कल्पना में स्वीकृत हैं। इनकी स्वीकृति निःसंदिग्ध रूप से भारतीय दृष्टिकोण की व्यावहारिकता को प्रकट करती है। भारतीयों ने जीवन में संतुलन एवं समन्वय को महत्त्व दिया है। इसलिए अर्थ और काम की बात ही क्या, उन्होंने धर्म और मोक्ष की भी एकांत-साधना को प्रोत्साहित नहीं किया है। उद्यम द्वारा कामना की पूर्त्ति समस्त पुरुषार्थ कल्पना की आधारशिला है। ऐसी स्थिति में निराशावादिता के लिए तो अवकाश ही नहीं है। परमपुरुषार्थ (मोक्ष) में अवश्य ही कामना की निवृत्ति की चर्चा होती है लेकिन इसका मूल नैराश्य नहीं अपितु पूर्णकामता है।

## पुरुषार्थ की अवधारणा के विकास का इतिहास

चेतन सृष्टि का प्रमुख लक्षण है **क्रिया** अथवा **गति**। **'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत् कामस्य चेष्टितम्'**[1]। अर्थात् कामना मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का बीज है, यही उसकी प्रेरणा का स्रोत है। यद्यपि इन कामनाओं की कोई सीमा नहीं। फिर भी, भारतीय मनीषियों ने इन कामनाओं को श्रेणीबद्ध किया और इस श्रेणी विभाजन के आधार पर पुरुषार्थों की कल्पना की।

जगत् के पदार्थों के पाँच गुण बताए गये हैं – रूप, रस, गंध, शब्द एवं स्पर्श। ये ही हमारी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। हमारी ज्ञानेन्दियाँ प्रथम इनका उपार्जन करती हैं, तदनन्तर उपभोग करती हैं। आवश्यकता के साधनों का उपार्जन एवं उपभोग जीवन की पहली मांग है और प्रकृति का प्रत्येक प्राणी इन्हीं प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है। भारतीय मनीषा इन्हीं व्यावहारिक दृष्टिकोणों को देख कर पुरुषार्थ कल्पना में 'अर्थ' और 'काम' को स्वीकार करती है।

1. मनुस्मृति, II - 4

'अर्थ' नामक पुरुषार्थ के अन्तर्गत भारतीय चिन्तक एक ओर लक्ष्य रूप में उन समस्त वस्तुजात को स्वीकार करते हैं जो किसी भी रूप में जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक तथा उपयोगी हैं और दूसरी ओर उन सभी क्रियाओं का समावेश करते हैं जो किसी भी प्रकार से अर्थ के उपार्जन, संवर्धन और संरक्षण से संबंध रखती हैं।

अर्थ ही की तरह काम भी व्यापक अर्थवाला है। संसार के पदार्थों के साथ मनुष्य का संबंध ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है और सामान्य रूप से इनके अनुकूल एवं प्रतिकूल होने से मनुष्य को क्रमशः सुख एवं दुःख की अनुभूति होती है।[1] स्वभावतः मनुष्य की प्रवृत्ति इनसे सुख प्राप्त करने ही की होगी, न कि दुःख प्राप्त करने की। इसलिए काम नामक पुरुषार्थ का अर्थ है चक्षुरिन्द्रिय से अनुकूल रूप रसनेन्द्रिय से अनुकूल रस, घ्राणेन्द्रिय से अनुकूल गंध, श्रोत्रेन्द्रिय से अनुकूल शब्द और त्वगिन्द्रिय से अनुकूल स्पर्श के उपभोग की कामना।[2] इस कामना की पूर्त्ति के लिए मनुष्य द्वारा किया जानेवाला उद्यम अथवा व्यापार भी काम-पुरुषार्थ के अन्तर्गत है।

इस प्रकार पुरुषार्थ कल्पना में अर्थ और काम की स्वीकृति इस बात की स्वीकृति है कि मनुष्य भी एक प्राणी है और उसकी मौलिक आवश्यकताएँ अन्य प्राणियों के समान हैं। किन्तु प्राणियों में मनुष्य एक विशिष्ट प्राणी है।[3] निश्चय ही, मनुष्य ने भी अपनी जीवन-यात्रा एक सामान्य जंगली प्राणी की ही तरह प्रारम्भ की थी लेकिन अपने वैशिष्ट्य के कारण उसने संस्कृति एवं सभ्यता का विकास किया और अपने आप को अन्य प्राणियों से अलग कर लिया। वैशिष्ट्य मुख्यतः उसकी बुद्धि अथवा वैचारिक शक्ति के कारण है। बुद्धि की शक्ति ने मनुष्य को अत्यन्त व्यापक बना दिया, इसके प्रताप से मनुष्य ने अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, शब्द आदि प्रमाणों का विकास कर अपनी गति उन तत्त्वों और रहस्यों तक भी कर ली, जो केवल इन्द्रियगम्य नहीं है। भारत में इन्द्रियातीत एवं अतीन्द्रिय के दर्शन की यह

1. अनुकूल वेदनीयत्वं सुखं तथा प्रतिकूल वेदनीयत्वं दुःखम्।
2. वाल्मीकि रामायण - V 87/ 4-5 Lahore Edition; (i) इन्द्रियार्थोपभोगो हि कामः। कामसूत्र 1.2.999; (ii) श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्म संयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु अनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः।
   ध्यातव्य है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य की अभिलाषाओं को तीन श्रेणियों में बांटा गया है - परमावश्यक, सुविधाजनक एवं विलासितापूर्ण। इनमें से पहले वर्ग की अभिलाषाएँ और उनकी पूर्त्ति के साधन सामान्यतः अर्थ नामक पुरुषार्थ के अन्तर्गत और शेष दो काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आवेंगे।
3. हितोपदेश; आहार निद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
   धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीना पशुभिः समाना।।

प्रवृत्ति ऋग्वेद के समय से लक्षित होती है। ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग में पृथिवी, आकाश, सूर्य, पवन, पर्जन्य आदि स्थूल प्राकृतिक शक्तियों के पीछे अलौकिक शक्तियों की पहचान की गयी एवं मानवीकरण की प्रक्रिया के द्वारा इनमें देवत्व की प्रतिष्ठा की गयी। कहीं-कहीं इन देवताओं के अपने-अपने लोकों की भी कल्पना की गई और यह विश्वास प्रकट किया गया कि मनुष्य इसी जीवन अथवा मरणोपरान्त इन लोकों में पहुँचकर बहुत आनन्द का उपभोग कर सकता है।[1] धीरे-धीरे ऋग्वेद में ही बाह्य प्रकृति में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित अटल विधानों के सादृश्य पर मनुष्य के आभ्यन्तर प्रकृति के नियामक के रूप में नैतिक मूल्यों की उद्भावना की गई और वरुण को इनका स्वामी अथवा नियामक माना गया। विचार शक्ति के विकास के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियों को स्वतंत्र देवता मानने की प्रवृत्ति शिथिल होती गयी, इसके स्थान पर विश्वदेवा, प्रजापति अथवा विराट् पुरुष के रूप में एक सर्वशक्तिमान सत्ता की स्वीकृति ऋषियों के मानस पटल पर बड़े ही स्पष्ट रूप से उभरने लगी। देवता की कल्पना जो भी हो, दो बातें बड़ी स्पष्ट हैं- प्रथम तो यह कि ऋग्वेदकालीन ऋषि दृढ़ता से यह विश्वास करते थे कि देवता मनुष्य के जीवन को बड़े व्यापक रूप से प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते हैं, मानव-जीवन में सुख-दुःख बहुत कुछ देवताओं की अनुकूलता पर ही निर्भर हैं। दूसरी बात, ऋषियों का दृढ़ यह भी था कि स्तुति एवं यज्ञ के द्वारा देवता को प्रसन्न किया जा सकता है और उसे अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

ऋग्वेद में, विशेष रूप से दशम मण्डल में, कतिपय ऐसे भी सूक्त हैं जिनमें ऋषि विशुद्ध रूप से तत्त्व चिंतन में डुबा हुआ दिखाई पड़ता है। वह सृष्टि के रहस्य को समझना चाहता है। वह यह जानना चाहता है कि सृष्टि का मूल तत्व क्या है? मूल सत्ता एक है अथवा अनेक ? ये और इन जैसे अनेक प्रश्न सर्वप्रथम ऋग्वेद में उठाये गये और आगे चलकर उपनिषदों के प्रधान विषय बने।[2] उपनिषदों में इनपर बड़े विस्तार के साथ एवं बड़ी गहराई के साथ विचार किया गया। विशुद्ध दार्शनिक प्रश्नों पर विचार के साथ-साथ उपनिषद् एक स्वर से ऐहिक और आमुष्मिक-इस लोक में प्राप्य और परलोक में संभाव्य-भोगों की निःसारता और उनको प्राप्त करने के यज्ञादि साधनों की निरर्थकता भी उद्घोषित करते हैं।[3] उपनिषदों की उदात्त दृष्टि

1. आ यद्रहाव वरुणश्च नावं, प्रत्यसमुद्रमीरयाव मध्यम्।
   अधि यदपां स्नुभिश्चराव, प्र प्रेङ्ख ईङ्ख यावहैकम्।। ऋ. VII 88/3 इस मंत्र में जीते जी वरुण लोक में जाने की और तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां, नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
   उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था, विष्णोः पदेपरमे मध्व उत्सः।। ऋ. I. 154/5 इस मंत्र में मरणोपरान्त विष्णुलोक में जाने की बात वर्णित है।
2. ऋग्वेद; नासदीय सूक्त, 10.129
3. द्रष्टव्य-इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ा।
   नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।। मुण्डकोपनिषद् I 2/10

मनुष्य के लिए जिस सुख का दर्शन करती है उसका संबंध न इस जगत् के धन-वैभव और स्त्री-पुत्रादिक से है और न ही स्वार्गादि में कहे जाने वाले दिव्य भोगों से। वस्तुतः वे मनुष्य को सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप में ही देखते हैं और तत्व-ज्ञान के द्वारा उस अज्ञानान्धकार के निराकरण का उपदेश देते हैं जो मनुष्य को अपने यथार्थ रूप को पहचानने नहीं देता।

ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् पर्यन्त बुद्धि के सहारे भारतीय चिंतन धारा ने जो प्रगति की उसके आधार पर मनीषियों ने अर्थ और काम से आगे बढ़कर मानव जीवन के लिए दो और लक्ष्यों, दो और पुरुषार्थों, का निर्धारण किया। ये थे धर्म और मोक्ष। जहाँ अर्थ और काम का संबंध सीधे ही इन्द्रियों से है वहाँ धर्म और मोक्ष अतीन्द्रिय है। भारतीयों के द्वारा धर्म और मोक्ष का मानव जीवन के लक्ष्यों में समावेश इस बात की घोषणा है कि इतर प्राणियों के साथ नानाविध समानता होने पर भी मानव का अपना मौलिक वैशिष्ट्य है। जगत् में जीवन की स्थिति बनाये रखने के लिये, निश्चय ही अर्थ और काम का निषेध नहीं किया जा सकता, लेकिन साथ ही मनुष्य के जीवन को इस संकीर्ण घेरे में बांध कर भी नहीं रखा जा सकता। प्रकृति ने इतर प्राणियों की अपेक्षा जो विशिष्ट शक्तियाँ मनुष्य को प्रदान की हैं वे उन्हें उत्तरोत्तर ऊँचे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये प्रेरित करती हैं। अपने उद्यम से इहलौकिक धन-वैभव, और देवता को प्रसन्न करके उसके प्रसाद से पारलौकिक सुख भोग ही मनुष्य की कामनाओं की चरम सीमा नहीं है, वस्तुतः वह अपने में दान, दया, दम, शम, सत्य आदि नैतिक गुणों का समावेश कर देवत्व की प्रतिष्ठा करना चाहता है और जिस किसी भी उपाय से संभव हो, शाश्वत सुख अथवा अमृतत्व की प्राप्ति की कामना करता है।

प्रस्तुत संदर्भ में संस्कृत का 'धर्म' शब्द सामान्य रूप से अंग्रेजी के दो शब्दों-रिलिजिन (religion) और इथिक्स (ethics) का संयुक्त पर्याय हैं इसके अन्तर्गत वे सब विधि-निषेध रूप कर्म शामिल है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, ऐहिक अथवा आमुष्मिक, इष्ट फल की प्राप्ति के लिये तथा अनिष्ट के निवारण के लिये शास्त्रों में निर्दिष्ट है।[1] मोटे रूप से इन कर्मों की दो श्रेणियाँ हैं- एक वह जिसमें देश, काल और अधिकारी का भेद है (जैसे ब्राह्मण के धर्म या गृहस्थ के धर्म) और दूसरी वह जिसमें ऐसा भेद नहीं है अर्थात् ऐसे कर्मों की श्रेणी जो सब स्थानों पर,

---

(इष्ट और पूर्त कर्मों को ही सर्वोत्तम मानने वाले वे महामूढ किसी अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्गलोक के उच्च स्थान में अपने कर्मफलों का अनुभव कर (पुनः) इस मनुष्य लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोक में प्रवेश करते है।)

1. तुलना कीजिये- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः। (वैशेषिक-सूत्र)
   (धर्म वही है जिससे आनन्द एवं निः श्रेयस की प्राप्ति हो।)

सब कालों में सब व्यक्तियों पर लागू होती है। (जैसे सत्य, अहिंसा आदि का पालन) धर्म शास्त्रों में इन्हें कम से विशिष्ट धर्म और साधारण धर्म कहा जाता है।

पुरुषार्थ कल्पना में मोक्ष की उद्भावना और स्वीकृति बड़ी अद्भुत है। प्रारंभ में धर्म, अर्थ और काम ही त्रिवर्ग के रूप में मानव के लक्ष्य स्वीकार किये जाते थे। जैसा हम प्रारंभ में ही देख चुके है, क्रिया का मूल है कामना। अर्थ और काम के पीछे कामना की स्थिति बड़ी प्रत्यक्ष है। मनीषियों ने यह पहचाना कि मानव मन में अभाव की अनुभूति कामना को जन्म देती है। इस ज्ञान ने एक ओर धर्म की कल्पना को जन्म दिया और दूसरी ओर मोक्ष की कल्पना को।

मानव की बहुत सी कामनाएं ऐसी हैं जो उसके उद्यम से पूरी हो जाती हैं, अथवा सामान्यतया हो सकती है। किन्तु जीवन में बहुधा ऐसे अवसर भी आते हैं जब मानव मन में ऐसी कामना का उदय हो जाता है जिसकी पूर्ति उसे किसी प्रकार अपने उद्यम से संभव नहीं लगती। कदाचित् अनजाने में ही ऐसे अवसर पर उसे अपनी शक्ति की सीमा, अपनी दुर्बलता, अपनी कमी की अनुभूति होती है और वह ऐसी शक्ति के सहारे की ओर झुकता है जो उसकी कल्पना में सर्वशक्तिमान, पूर्ण और दयालु है। यही मूलतः देवता अथवा ईश्वर की कल्पना का बीज है और इसी में धर्म के उदय का इतिहास निहित है। स्तुति, यज्ञ, व्रत, उपवास, तप, जप आदि नानाविध कर्मकाण्ड मूलतः इष्ट-प्राप्ति (अथवा अनिष्ट परिहार) के निमित्त किसी न किसी अलौकिक शक्ति-देवता अथवा ईश्वर को अपने अनुकूल बनाने का उपाय मात्र है। अर्थ और काम की तरह धर्म भी कामना मूलक है, केवल भेद इतना ही है कि अर्थ और काम की प्रेरक कामनाएँ मानव उद्यम से साक्षात् पूरी की जा सकती हैं जबकि धर्म की निमित्त भूत कामनाएँ परोक्ष रूप से उसके उद्यम पर निर्भर करती हैं, धार्मिक कर्म-काण्ड-रूप उद्यम के द्वारा मनुष्य ईश्वर अथवा दिव्यशक्ति को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है और उसकी अनुकूलता अथवा कृपा से अपनी कामना की पूर्त्ति की आशा करता है।

त्रिवर्ग (अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम) पूरा ही कामनामूलक है। कामना अभाव मूलक है, और अभाव अपूर्णता, शक्ति की सीमा का बोध कराता है। इस बोध ने एक नई कामना को जन्म दिया-पूर्ण होने की कामना को, अभाव विहीन बन जाने की कामना को, सर्वशक्तिमान् बन जाने की कामना को। इसी का नाम है 'मोक्ष' प्राप्ति की कामना। इस दृष्टि से तो मोक्ष भी कामनामूलक है लेकिन तत्वतः यह त्रिवर्ग से नितान्त भिन्न है। भारतीय मनीषियों ने (विशेष रूप से उपनिषद्कालीन ऋषियों ने) इस बात को पहिचाना कि एक कामना की पूर्ति दूसरी कामना को, और दूसरी कामना की पूर्ति तीसरी कामना को, इस प्रकार सागर की लहरियों की तरह कामना परम्परा को जन्म देती हैं अतएव कामना की पूर्ति में सुख-शान्ति की चीज

चीज करने वाला व्यक्ति मरुभूमि में बल की खोज के लिए दौड़ते हुए मृग की तरह अन्त में निराश ही होता है। संस्कृत साहित्य में ययाति वचन के नाम से प्रसिद्ध ''न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति हविषा कृष्णावर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'' यह वचन कामनाओं की प्रकृति को बहुत यथार्थता से स्पष्ट करता है।[1] शान्ति की उपलब्धि का उपाय, हमारे मनीषियों ने, कामना की प्राप्ति में नहीं अपितु कामना के परित्याग में खोजा। गीता इस विषय में कहती है, ''जैसे सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र के प्रति (नाना नदियों के आते हुए) जल (उसको चलायमान न करते हुए ही उसमें) समा जाते हैं वैसे ही जिस (पूर्ण काम) व्यक्ति के प्रति संपूर्ण (विषय भोग की) कामनाएं (किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही) समा जाती हैं वह परम शक्ति को प्राप्त होता है, कामनाओं की चाह करने वाला नहीं।''[2] मोक्ष की कामना, इसलिये, वस्तुतः सकल कामनाओं का परित्याग है, और इसी में त्रिवर्ग से मोक्ष का भेद है। बहुधा धर्म और मोक्ष के बीच भ्रम पैदा हो जाता है। इस विषय में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि धर्म और मोक्ष के विभाजक तत्व हैं प्रकृति और निवृत्ति। यूं तो मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षण में किसी न किसी क्रिया में लगा ही रहता है- व्यावहारिक दृष्टि से बिना मृत्यु के जगत् में कर्म-निवृत्ति असंभव है-तथापि प्रस्तुत प्रसंग में प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐहिक और आमुष्मिक फलभोगों के प्रति आसक्ति और अनासक्ति को दृष्टि में रखकर कही गई हैं। भारतीय दर्शन जन्म-मरण के चक्र को संसार-चक्र, आत्मा का बन्धन, मानता है और आसक्ति अथवा प्रवृत्ति को इसका बीज बतलाता है। स्वभावतः इस बन्धन से छुटकारे का एकमात्र उपाय है अनासक्ति या निवृत्ति।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय मनीषियों ने समस्त मानव व्यवहार की परीक्षा करके तथा यथार्थ और आदर्श दोनों को दृष्टि में रखते हुए मानव जीवन के लिए धर्म,

1. महाभारत में (I 73-74) ययाति की कथा आती है। नहुष के पुत्र राजा ययाति जीवन भर भोग भोगते रहे किन्तु उनकी तृप्ति नहीं हुई। कालक्रमानुसार बुढ़ापे ने उनके शरीर को आक्रांत कर भोगने में असमर्थ बना दिया। राजा ने अपने पुत्रों से बारी-बारी से निवेदन किया, 'बुढ़ापे ने मुझे घेर लिया है किन्तु मैं अभी जवानी के भोगों से तृप्त नहीं हुआ हूँ। तुम मेरे बुढ़ापे को ले लो ताकि मैं तुम्हारी जवानी के द्वारा विषयों का उपभोग कर सकूं। ययाति के देवयानी से उत्पन्न सभी पुत्रों ने पिता के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया लेकिन शमिष्ठा से उत्पन्न पुत्र, पूरु ने इसे स्वीकार कर लिया। पूरु की युवावस्था को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए ययाति ने दूने उत्साह से अभीष्ट विपयभोगों का सेवन किया। हजार वर्ष बीत जाने पर भी उनकी विषयभोग की लालसा तृप्त नहीं हुई तब उन्हें यह ज्ञान हुआ, 'विषयों की कामना उन विपयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती अपितु आहुति पड़ने से अग्नि की भांति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है।
2. गीता II 70; आपूर्वमाणमचक्रप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्धत्।
तद्धत्कामा यं प्रणिशान्ति सर्वे स शान्तिमाप्रेति न कामकामी।।

अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्विध लक्ष्यों का निर्धारण किया यह एक रोचक एवं ध्यान देने योग्य तथ्य है कि आज भी, न केवल भारत में अपितु विश्व में कहीं भी, मनुष्य जो उद्यम करता है उसके पीछे जो उद्देश्य विद्यमान रहता है वह इस चतुर्वर्ग से बाहर नहीं होता। इस दृष्टि से इस चतुर्वर्ग को जो पुरुषार्थ-अर्थात् पुरुषकृत उद्यम का प्रयोजन-संज्ञा दी गई वह सर्वथा युक्तियुक्त है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब स्वभावतः सभी मनुष्यों का समस्त उद्यम इस चतुर्वर्ग के अन्तर्गत आता है तब इस पुरुषार्थ कल्पना को केवल भारतीय संस्कृति का ही वैशिष्ट्य क्यों कहा जाता है ? इसके दो उत्तर हैं। पहला उत्तर तो यही है कि इस तथ्य का उद्घाटन सर्वप्रथम भारतीयों ने ही किया इसीलिए इसका श्रेय उन्हें दिया जाना स्वाभाविक ही है। दूसरा उत्तर जो वस्तुतः अधिक महत्त्वपूर्ण है यह है कि केवल भारतीय संस्कृति ही इस बात को स्वीकार करती है कि मानव व्यक्ति के सन्तुलित विकास के लिए एवं मानव जीवन के चरम साफल्य के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समवाय ही उपास्य है, इसमें से किसी भी एक के प्रति अत्यासक्ति अथवा किसी भी एक के प्रति उदासीनता जीवन में असन्तुलन पैदा कर देता है। मनुष्य के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह अपने समय तथा साधनों का इस प्रकार विभाजन करे कि जिससे अन्ततः इन चारों ही क्षेत्रों में उसके मन में तृप्ति की अनुभूति हो सके।[1]

इस प्रसंग में यह भी निर्देष्टव्य है कि पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का क्रम निर्धारण भी साभिप्राय एवं महत्त्वपूर्ण है। साहित्य में अथवा विद्वानों की बातचीत में जहाँ भी आप इनका उल्लेख पायेंगे वहाँ 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' केवल इसी क्रम से। हमारे द्वारा ऊपर की गई चर्चा में अर्थ और काम सर्वप्रथम आये और

---

1. "न पूर्वह्नमध्यान्दिनापराह्नन् अफलान् कुर्याद् धर्मार्थकामेभ्यः।" गौतम धर्मसूत्र के इस वचन में दिन के पूर्वाह्न में धर्म की, मध्यन्दिन में अर्थ की ओर अपराह्न में काम की सेवा करने की बात कही गई है। मोक्ष को परमपुरुषार्थ माना जाता था और इसकी साधना का अवसर परिवार तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व पूरे कर लेने पर संन्यास आश्रम में आता था।
मनुस्मृति VI-35; ऋणानि त्रण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः।।
अर्थात् ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण-इन तीन ऋणों को चुका देने के बाद मोक्ष में मन लगाये। इन तीन ऋणों को चुकाये बिना जो मोक्ष की इच्छा करता है वह नीचे (नरक में) गिरता है।

और भी,
कामसूत्र I 2/1-5; शतायुर्वे पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपधातकं त्रिवर्ग सेवेत। बालये विद्याग्रहणादीनर्थान्। कामं च यौवने। स्थाविरे धर्म मोक्षं च। अनित्यत्वादायुषो यथोपपादं वा सेवेत।

मनुष्य के जीवन में भी अर्थ और काम का ही नैसर्गिक रूप से सर्वप्रथम प्रादुर्भाव होता है, फिर भी पुरुषार्थों की गणना में उन्हें पहला स्थान नहीं दिया जाता। ऐसा क्यों ? जैसा हम देख चुके हैं, पुरुषार्थों में पहले तीन त्रिवर्ग के नाम से उल्लिखित होते है, चौथा पुरुषार्थ मोक्ष औरों की तुलना में विशिष्ट है अतएव बहुधा इसका निर्देश परम पुरुषार्थ के रूप में किया जाता है। मोक्ष को इस गणना में अन्त में रखने का एक कारण तो यह है कि इसे मानव जीवन का परम (सर्वोत्कृष्ट) और चरम (अन्तिम) प्रयोजन स्वीकार किया गया है और दूसरा कारण यह है कि इसकी साधना अथवा इसके लिए कोशिश त्रिवर्ग की प्राप्ति के बाद जीवन के अन्तिम चरण में ही निर्धारित की गई है। त्रिवर्ग में अर्थ और काम की उपासना अनिवार्य है, क्योंकि इनके बिना जीवन की स्थिति ही संभव नहीं। लेकिन त्रिवर्ग की गणना में धर्म सबसे पहले आता है क्योंकि भारतीय दृष्टि से धर्म अर्थ और काम का नियामक है।[1] निश्चय ही, अर्थ और काम भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ (अर्थात् मानव जीवन के लक्ष्य) की प्रतिष्ठा पाये हुए हैं लेकिन इन दोनों पर ही धर्म की मर्यादा लगी हुई है। अर्थ और काम वहीं तक पुरुषार्थ हैं जहाँ तक वे धर्म से मर्यादित, धर्म के अविरोधी है, धर्म विहीन अथवा धर्म विरोधी अर्थ और काम भारतीय संस्कृति में नितांत अग्राह्य हैं। अर्थ या काम की धर्म निरपेक्ष या धर्म विरोधी साधना भारतीय आदर्श के अनुसार न केवल अभिनन्दनीय नहीं है अपितु निर्विवाद रूप से निन्दनीय है। अन्यान्य जातियों अथवा संस्कृतियों में, अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी को काम ही जीवन का सार प्रतीत होता है तो किसी को अर्थ और किसी को धर्म, कोई-कोई अपनी-अपनी समझ के अनुसार इनके युगल (= जोड़े) बनाकर उन्हीं पर बल देते हैं। किन्तु सुलझे हुए भारतीय आचार्य मानव जीवन में तीनों उपादेयता को स्वीकार करते है।[2]

पुरुषार्थों की इस चर्चा से भारतीय संस्कृति पर, विशेष रूप से पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा, किये जाने वाले दो आक्षेप - 1. यह संस्कृति इस जीवन अथवा इस लोक की उपेक्षा करके भावी जीवन अथवा परलोक की चिन्ता पर ही बल देती है।

1. याज्ञवल्क्यस्मृति (II-21) धर्मशास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि ''अर्थशास्त्रान्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः'' अर्थात् अर्थविषयक अर्थशास्त्र की व्यवस्थाएं धर्मशास्त्र से अविरोधी होने पर ही मान्य हैं। काम के विषय में तो गीता का स्पष्ट वचन है, ''धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'' (VII-11) अर्थात् है भरतश्रेष्ठ ! मैं सब भूतों में धर्म का अविरोधी काम हूँ।कामसूत्रों के रचयिता मुनि वात्स्यायन अपने शास्त्र का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं, ''अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः'' (II 2/58) अर्थात् इस शास्त्र के तत्त्व को जानने वाला जितेन्द्रिय ही बनता है।
2. मनुस्मृति II/224); धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
   अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।

2. यह संस्कृति अपने दृष्टिकोण में निराशावादी है- स्वतः ध्वस्त हो जाते है। हम देख चुके हैं कि पुरुषार्थ कल्पना में अर्थ और काम को निःसंकोच रूप से स्वीकार किया गया है। इनकी स्वीकृति निःसन्दिग्ध रूप से भारतीय दृष्टिकोण की व्यावहारिकता को प्रकट करती है। भारतीयों ने जीवन में सन्तुलन और समन्वय को महत्त्व दिया है इसीलिये अर्थ और काम की बात ही क्या, उन्होंने धर्म और मोक्ष की भी एकांत साधना को प्रोत्साहित नहीं किया है। उद्यम द्वारा कामना की पूर्ति समस्त पुरुषार्थ कल्पना की आधारशिला है। ऐसी स्थिति में निराशावादिता के लिए तो कहीं अवकाश ही नहीं है। परमपुरुषार्थ मोक्ष में अवश्य ही कामना की निवृत्ति की चर्चा होती है लेकिन इसका मूल नैराश्य या पराजय (frustration) नहीं है अपितु पूर्णकामता है।

## पुरुषार्थों की पृथक्-पृथक् चर्चा

ऊपर के पृष्ठों में हमने पुरुषार्थ-कल्पना पर समष्टिभाव से विचार किया। चारों पुरुषार्थों को समझने के लिए इनमें से प्रत्येक के विषय में अलग-अलग चर्चा भी आवश्यक है।

## धर्म

धर्म पहला पुरुषार्थ है। प्रत्येक मनुष्य अपने अभ्युदय की लालसा से धर्म को साधन बनाता है। कहा गया है - धर्मेव गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण। (सांख्य-सूत्र)। यह उन्नति दो प्रकार की है - अभ्युदय (अमितः उदयम्) और निःश्रेयसः 'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्' (निश्चितफल)। धर्म द्वारा इन दोनों प्रकार की उन्नतियों से मानवता का विकास होता है। अतः धर्म सभी पुरुषार्थों की कुञ्जी है। यह व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कर्मों को किसी भी देश काल एक परिस्थिति के अनुसार नियंत्रित करता है तथा मानव को स्वरूप एवं उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। भारतीय साहित्य में आचार अथवा सदाचार को धर्म का लक्षण माना गया है। मनु ने भी ऐसा ही माना है।[1] 'धर्म' शब्द 'धृ' से बना है जिसका अर्थ धारण करने से है।[2] प्रारम्भिक वैदिक 'ऋत' की अवधारणा नैतिक विधि एवं यज्ञ की अवस्था से सम्बद्ध था जो कालान्तर में धर्म से संबद्ध हो गया। इस प्रकार धर्म सात्विक एवं नैतिक जीवन-पद्धति का प्रतीक बन गया जिसका उद्देश्य परम उद्देश्य की प्राप्ति थी। अतः आचरणगत नियमों

---

1. मनु. 1.108; आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
2. महाभारत, कर्ण पर्व, 109.58; धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।
   यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।

का संग्रह ही धर्म है, जिसके तीन मूल कार्य हैं (1) नियंत्रण (2) व्यक्तित्व का उत्थान और (3) जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रयास। राधाकृष्णन के अनुसार 'धर्म वही है जो किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता है जो समस्त नैतिक कार्यों का दर्पण अथवा नियम है। गोखले का भी मानना है कि 'धर्म कर्त्तव्यों का वैसा संग्रह है जो समाज के संयत संगठन के लिए अपेक्षित है। ऐसे कर्त्तव्यों और नैतिक नियमों के पालन से व्यक्ति का व्यवहार नियंत्रित होता है जिससे उसे लौकिक एवं पारलौकिक सुख मिलता है। अतः लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक सुख ही धर्म है।

## धर्म की परिभाषा

**महर्षि कणाद के अनुसार** - यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक सूत्र) अर्थात् जिससे मनुष्य का इहलौकिक अभ्युदय एवं मोक्ष की सिद्धि होती है, उसको 'धर्म' कहते हैं। जैमिनि ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा कि 'मनुष्यों के सम्पूर्ण अभीष्ट को सिद्ध करने वाला जो वेद प्रतिपादक अचूक साधन है, उसको धर्म कहते हैं - चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (मीमांसा-सूत्र 1.2)। महर्षि व्यास ने धर्म शब्द की व्युत्पत्ति की है -ध्रियतेऽनेन इति धर्म' अर्थात् जो प्राणियों का धारण-पोषण करता है, जो सबका आधार है, वह धर्म है।

इस प्रकार इन लक्षणों से निम्न बातें सिद्ध होती है : 1. सम्पूर्ण जगत् के धारण और पालन-पोषण का आधार धर्म है अथवा प्राणियों के सर्वविध अभ्युदय एवं मोक्ष का साधन धर्म है। अतः निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है कि धर्म नैतिक आचरणों को अधिक महत्त्व देता है, किन्तु परम्परा से चली आ रही धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को भी स्वीकार करता है।[1] वेदों एवं स्मृतियों में मनुष्यों के लिए जो कर्म निर्दिष्ट हैं, उनका निष्ठापूर्वक पालन ही धर्म है।

ऋग्वेद में प्रकृति की विविध शक्तियों के नियमन करनेवाले अटल विधान मिलते हैं। द्यौ, पृथिवी, सूर्य मरुत आदि बाह्य प्रकृति ऋत से बंधी हुई है ऐसे ही मनुष्य की आभ्यन्तर प्रकृति का संचालन भी ऋत से ही होता है। एक तो इसके कारण नैतिकता धर्म का अंग बनी, जिसकी साधारण धर्म के रूप में प्रतिष्ठा हुई। दूसरा एकेश्वरवाद की ओर झुकाव बढ़ने लगा जिसका अद्‌भुत विकास उपनिषद् काल में हुआ जिसकी छाप हमारे धर्म पर भी स्पष्ट झलकने लगी। ऐसे में दिव्य शक्ति पर मानव कल्याण की निर्भरता की भावना बढ़ने लगी। जिससे संस्कृत भाषा का 'धर्म' शब्द 'रिलिजन' (Religion) शब्द का पर्याय नहीं रहा।

---

1. महाभारत, शांति पर्व 104.20; देशजाति कुलानां धर्मज्ञोऽमि जनार्दन।

## धर्म के प्रकार

हिन्दू विचारकों ने धर्म के कई प्रकार से भेद किये हैं। एक मत के अनुसार धर्म के दो प्रकार है - 1. सिद्ध एवं 2. साध्य। जिसके सिद्ध होने में किसी भी क्रिया की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् जो स्वयं सिद्ध है, सिद्ध-धर्म कहलाते हैं। सिद्ध धर्मरूप परमात्मा ही इस जगत् का मुख्य-आधार है (जन्माद्यस्य यतः- ब्रह्मसूत्र)। यह सिद्ध धर्म उपाय भी है और उपेय भी। सिद्ध धर्म का साक्षात्कार मनुष्य का परम धर्म बताया गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है : 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।' (याज्ञ. स्मृ. 1.8)

परमात्मा के साक्षात्कार के लिए मनुष्यों के प्रयत्न-साध्य, शास्त्रोक्त प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप जो साधन हैं, उन सत्कार्मों तथा उसके अनुष्ठान से सम्पन्न होने वाले अपूर्व को 'साध्य-धर्म' कहते हैं। देश, काल, वर्ण, आश्रम, अधिकारी एवं उनकी शक्ति और विभिन्न-विभिन्न भावनाओं के अनुसार साध्य धर्म के अनेक भेद होते हैं।

सामान्य धर्म एवं विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत भी धर्म के अनेक भेद किये गए हैं। विशिष्ट धर्म से संबंधित देश धर्म, जाति-धर्म और कुल-धर्म[1] के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने कई प्रकार के स्मार्त धर्मों का उल्लेख किया है।[2] वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुण-धर्म और नैमित्तिक धर्म। साधारण धर्म मनुष्य के मानवता युक्त नैतिक धर्म से संबंधित है। मानव मूल्यों का नियोजन साधारण धर्म के अन्तर्गत होता है, जो प्रायः सभी के लिए अनुकरणीय है। सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही था, मुक्ति प्राप्त करना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के सद्गुणों का विकास करना भी आवश्यक था। सामान्य-धर्म के 30 लक्षण निर्देशित किए गए है - सत्य, तप, शुचिता, दया, कष्ट-सहिष्णुता, नीर-क्षीर-विवेक, मन पर नियंत्रण, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, त्याग, अहिंसा, स्वाध्याय, संतोष, सरलता, सम्यक् दृष्टि, सेवा, सांसारिक त्याग, मौन, आत्म-चिंतन, सत्संग, ईश्वर का गुण-गान एवं चिंतन, पूजा एवं यज्ञ का अनुसरण, ईश्वर के प्रति दास भाव या सखा भाव, ईश्वर के प्रति समर्पण, दम, क्षमा, शील, मधुरवचन, शुश्रुषा, अतिथि सेवा आदि मनुष्य के साधारण-धर्म कहे गये हैं।[3]

---

1. गौ. ध. सू. 1.1.2; वेदो धर्ममूलम्। तद्विवां च स्मृतिशीलेः।
   आ. ध. सू. 1.1.12, धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाच्च।
   अथवा, श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।
2. मिताक्षरा, याज्ञ. 1.1; धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः। तद्यवा वर्णधर्मः आश्रम धर्मः, वर्णाश्रम धर्मः गुणधर्मः निमित्तधर्मश्चेति।
3. श्रीमद्भागवत 7.11.8.12

**धर्म में प्रमाण**

मनु ने कहा है -

**'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
**एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।' ( मनु. 2/12 )**

याज्ञवल्क्य ने भी मनु का समर्थन किया है-

**'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
**सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।( या.स्मृ. )**

सत्कर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाला यह धर्म पूर्व में विद्यमान न होने के कारण प्रत्यक्ष योग्य नहीं है और बाद में अमूर्त्त होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। इसी कारण यह 'अष्ट' है। लिङ्ग-रहित होने के कारण यह अनुमान का विषय भी नहीं है। अतः एकमात्र वेद ही इसमें प्रमाण है। पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने कहा है - **प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्। पूर्व मीमांसा 1.1.4**

**धर्म की महिमा**

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है : **''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।''** अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का आधार धर्म ही है। समस्त प्रजा धार्मिक के पास अपने-अपने संशयों की निवृत्ति के लिए जाती है। धर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् धर्म पर ही सुस्थिर है। चाणक्य ने भी प्रथम अध्याय में कहा है - **'धर्मेण धार्यते लोकः।' चाणक्य सूत्र**

पुनः संसार के सभी सुखों का स्रोत धर्म को बताया गया है: **'सुखस्य मूलं धर्मः।' ( चाणक्य सूत्र अ.-1 )**। इसे दुःख का निवारक भी कहा गया है-

**देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।**
**संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे पदे।।**

(रत्न-खण्ड, श्रावकाचार-12)

चाणक्य ने भी कहा है - **'सुखस्यमूलं धर्मः। ( चा० सू० 1 अ० 1 )**

इस प्रकार हम पाते हैं कि मनुष्य जीवन की सफलता सार्थकता और शोभा धर्म के आचरण से ही होती है। धर्म ही सारी सफलताओं की कुञ्जी है। यह प्राणियों के सुख दुःख की आधार-शिला है। मानव जीवन को कृतार्थ करनेवाला प्रथम पुरुषार्थ धर्म है। अतः धर्म ही सभी पुरुषार्थों का द्वार भी है।

**अर्थ**

द्वितीय पुरुषार्थ का नाम अर्थ है जिसके द्वारा मनुष्य के इस लोक एवं परलोक

के समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं - **'यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः स अर्थः''। ( नी. वा. अर्थसमुद्देश )** अर्थ मनुष्यों के भोग, आरोग्य और धर्म का मुख्य साधन है इसीकारण अर्थ की ओर सबों की प्रवृत्ति देखी जाती है। महर्षि चाणक्य के अनुसार - **'अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः।'' ( चा. सू. 73.28 )**

'अर्थ' का अर्थ है - अभिलषित वस्तु। अतः अर्थ को सभी प्राप्त करना चाहते हैं। इसीलिए उसका 'अर्थ' नाम भी सार्थक है - **'अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः।** अर्थात् जिसको प्राप्त करने की अभिलाषा सब करते हैं, उसे अर्थ कहते हैं।

महर्षि चाणक्य ने अर्थ को धर्म का मूल कारण बताया है- **'सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलमर्थः' ( चा. सू. 1.1.2 )** अर्थात् प्राणियों की सुख-समृद्धि का मूल है - धर्म। धर्म का मूल है - अर्थ। इसीलिए कौटिल्य ने पुनः त्रिवर्ग में 'अर्थ' को ही प्रधान मानकर उसे धर्म और काम का मूल बताया है - **'अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ धर्मकामौ। ( कौ. अर्थ. )** व्यावहारिक रूप में 'अर्थ' का तात्पर्य उन सभी भौतिक वस्तुओं और साधनों से है जो व्यक्ति की सुख-सुविधा में प्रयुक्त होते हैं। साधारणतः मानव सुख-सुविधा एवं यश-ऐश्वर्य का आकांक्षी होता है जो अर्थ से ही संभव है। अतः इसका अभिप्राय विस्तृत है। यह सुख-सुविधा का साधन है जो व्यक्ति को भौतिक सुख प्रदान करने में सहायक है। जीवन की समस्त सुविधाएँ और आर्थिक कामनाएँ अर्थ से संबंधित हैं। अर्थ सामाजिक लक्ष्य-प्राप्ति का साधन है। महाभारत में अर्थ को उच्चतम धर्म बताया गया है- **धनमाहुः परं धर्म धने सर्वप्रतिष्ठितम्।**

**जीवन्ति धनिनो लोके मृता येत्वधना नराः॥**

**ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलं स्थिताः।**

**ते धर्मार्थ कामं च प्रमथ्नन्ति नरं च तम्॥** - उद्योग पर्व, 72.234

अर्थात् अर्थसम्पन्न लोग सुख से रह सकते हैं। अर्थहीन लोग मृत सदृश हैं। किसी एक के धन का क्षय करते हुए उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है। धन को काम और अर्थ का आधार माना गया है। इससे स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। धर्म स्थापना के लिए अर्थ आवश्यक है। पुनः वर्णित है कि अर्थ के बिना जीवन-यापन असंभव है।[1] अर्थ की महत्ता बृहस्पति ने भी बतायी है - 'अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण क्या नहीं होता। इसके विपरीत, अर्थहीन व्यक्ति मृतक एवं चाण्डाल के सामान है। इस प्रकार धन है। जगत् का मूल है।[2] धनी

1. महा., शां. पर्व-8.17; प्राणयात्राऽपि लोकस्य बिना ह्य अर्थ न सिध्यति।
2. बृहस्पतिसूत्र 6.7.12; अर्थमर्जयेत्। यस्यार्थ राशिरस्ति तस्य मित्राणि धर्मश्च विद्या च गुणकर्मणो च बुद्धिश्च। अधनेनार्थर्जिचिन्तुं न शक्यते गजो गजेनेव। धनमूलं जगत्। सर्वाणि तत्र सन्ति। निर्धनो मृतचाण्डालश्च।

व्यक्ति अच्छे कुल एवं उच्च स्थिति का माना जाता है। वह पंडित, वेदज्ञ, वक्ता, गुणज्ञ, दर्शनीय माना जाता है। अतः धन में सभी गुण समाहित हो जाते है, नीति-शतक में वर्णित है-

**यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः। स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।।**

**स एव वक्ता स च दर्शनीयः। सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।। 42।।**

मनु का मानना है कि धर्म और काम को हानि पहुँचाने वाले अर्थ का त्याग करना चाहिए -

**परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।**

**धर्मं चाप्य सुखोदर्कं लोक विक्रुष्टमेव च।। मनु. 4.176**

अतः अर्थ के निमित्त किए जानेवाले प्रयास में धर्म की संस्तुति अवश्य होनी चाहिए।

## अर्थ की परिभाषा

अर्थ की शास्त्रीय परिभाषा दी गयी है - **'वृत्तिमूलमर्थः।'** (चा. सू. 1.89) अर्थात् अर्थ आजीविका का आधार है। प्राचीनकाल में कृषि ही आजीविका का मुख्य साधन था। अतः भूमि के लिए देवता से लेकर दैत्य तक युद्ध करते थे। शास्त्र में धान्य को भी अर्थ कहा गया है - **'न हि धान्यसमोह्यर्थः।'** (चा.सू.4.83) पराशर मुनि का कहना है कि मनुष्य यदि धर्मानुसार कृषि-कार्य करता है, तो फिर कृषि से बढ़कर न कोई धर्म है और न कोई लाभ।[1]

अर्थशास्त्र की दृष्टि से अर्थ-शब्द का अर्थ और उसकी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है, तथापि धन से ये सभी सुख-साधन की वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं। अतः 'धन' शब्द लोक में प्रायः अर्थ में ही आरूढ़ हो गया है। देवी भागवत में कहा गया है- **'सुखानां साधनं द्रव्यं, धनात् सुख समुच्चयः।'** (1.15.42) धन शब्द की व्युत्पत्ति है: **'धिनोति इति धनम्'** अर्थात् जो लोगों को सुख देता है, तृप्त करता है। यास्क ने भी इसी तरह का अर्थ बताया है **'धिनोतीति धनम्'** अर्थ को वित्त भी कहा गया है - **'वित्तते त्यज्यते इति वित्तम्'** अर्थात् दान एवं उपभोग में जिसका उपभोग किया जाता है, वित्त कहलाता है।

## अर्थ की उपयोगिता

अर्थ की उपयोगिता बताते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है : **''नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभस्य हि स्मृतः।'** (1.2.9) अर्थोपार्जन का प्रयोजन एकमात्र

1. परा. स्मृ. 5, अ. 154-185; कृषेरन्यत्र नो धर्मो न लाभः कृषितो अन्यतः।
   सुखं न कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण वर्तते।।

धर्म है, भोग-विलास उसका (मुख्य) फल नहीं माना जा सकता है। महर्षि शुक्राचार्य ने उदाहरण देते हुए अर्थ की उपयोगिता बताई है कि शस्त्रास्त्र के बिना शूरता नहीं सफल हो सकती, जैसे स्त्री के बिना गार्हस्थ्य नहीं हो सकता। वैसे ही अर्थ के बिना धर्म एवं मोक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकते -

**''अर्थाद् धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम्।**

**शस्त्रास्त्राभ्यां बिना शौर्यं गार्हस्थ्यं तु स्त्रियं बिना॥'' (शु. नी. 1.84)**

शुक्राचार्य ने संसार में अर्थ के आदर का एक सुन्दर उदाहरण दिया है -

**''विद्यावृद्धास्तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तथैव च।**

**सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारि तिष्ठन्ति किङ्कराः''॥**

अर्थात् बड़े-बड़े विद्यावृद्ध तपोवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुष भी धनवृद्ध के दरवाजे पर किङ्करों के समान हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

**अर्थ-प्राप्ति**

श्रीमद्भागवत में कहा है कि अर्थ की उत्पत्ति सद्बुद्धि से होती है - **''अर्थबुद्धिरसूयत्''** (4.14.51) योगवासिष्ठ में भी वर्णित है कि जो शास्त्रोक्त विधि से प्रयत्न करता है और मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, उसके पास सभी अर्थ इस प्रकार स्वयं चले आते हैं जैसे रत्नाकर में रत्न-

**''यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः।**

**उपातिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव॥''** (मु. प्र. 7.31)

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थ की महत्ता अत्यधिक है किन्तु अर्थोपार्जन की विधि शास्त्रविहित होनी चाहिए अर्थात् उपार्जन का साधन धर्म युक्त होना चाहिए, क्योंकि अशुद्ध अर्थ दुःख का मूल कारण होता है- **''परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।'** (मनु. 4.176) शुक्राचार्य ने अर्थ की सार्थकता बताते हुए कहा है कि अर्थ का उपार्जन और उसका संरक्षण तो महान् कृपण की तरह बड़ी सावधानी से करना चाहिए, परन्तु जब उसके उपयोग का समय आवे, तब हृदय को खोलकर विरक्त की तरह अत्यन्त उदारता से उसका व्यय करना चाहिए-

'संरक्षयेत् कृपणवत् काले दद्याद् विरक्तवत्।' (शु. नी.)

अतएव जो लोग उचित मार्ग से अर्थ का उपार्जन करके, उचित रीति से उसका सदुपयोग करना जानते हैं 'उन्हें अर्थ से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है' यह धर्मानुकूल अर्थ भी मनुष्य के धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करता हुआ मानव जीवन को कृतकृत्य कर देता है।

---

**काम**

तीसरे पुरुषार्थ का नाम काम है। काम के बिना प्राणियों की उत्पत्ति, जीवन निर्वाह एवं सुख की प्राप्ति ही असंभव है। काम की व्युत्पत्ति है: - **''काम्यते इति कामः''** अर्थात् विषय एवं इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया काम कहलाता है। व्यक्ति की समस्त कामनाएँ, वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ तथा आसक्तिमूलक वृत्तियाँ काम के अन्तर्गत आती हैं। काम मनुष्य जीवन की सहज-प्रवृत्ति है, जो उसके इन्द्रिय सुख से संबंधित है। शास्त्र में काम के दो भाव बताए गये हैं - **''कामस्य द्वे भावे- रतिश्च प्रीतिश्च।''** संकुचित अर्थ में काम शब्द स्त्री-पुरुष के बीच सम्भोग जनित सुख (रतिः) है। वहीं इसका अन्य भाव पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के उपभोग से उत्पन्न सुख (प्रीतिः) काम कहलाते हैं। भारतीय-परम्परा में गार्हस्थ्य जीवन व्यक्ति और समाज दोनों ही दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। साथ ही, व्यक्तिगत दृष्टि से, भोगों को भोगने के बाद ही उसकी निः सारता का मान होता है एवं उससे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य मोक्ष साधना के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार 'काम' में कामना एवं वासना दोनों का निवेशन है। दोनों ही मनुष्य की प्रवृत्तियों में प्रमुख हैं, जो उसके मन को उद्वेलित करती हैं, जिनमें क्रमशः स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, अनुराग, सौन्दर्य-प्रियता एवं आकर्षण हैं। संतान-प्राप्ति, परिवार वंश की निरंतरता और पितृ-ऋण से मुक्ति काम के ही कारण हैं किन्तु काम के वशीभूत होकर धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।[1] कौटिल्य ने काम को अन्तिम श्रेणी में रखा है तथा बिना धर्म एवं अर्थ को बाधा पहुँचाए इसका पालन करने के लिए कहा है - **''धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्।''** (अर्थ., 17)

काम का पुरुषार्थ की विचार-सरणि में अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। व्यक्ति की समस्त अन्तर्वृत्तियाँ 'काम' से संचालित होती रहती हैं। इस प्रकार यदि देखा जाय तो काम के तीन आधार दृष्टिगत होते हैं - जैविकीय, सामाजिक और धार्मिक। मनुष्य विभिन्न इच्छाओं की सन्तुष्टि जैविकीय आधार पर करता है। इच्छाओं की तृप्ति न होने पर मनुष्य में ग्रन्थियाँ, तनाव, आक्रोश और क्रोध का बीजारोपण करती हैं। इच्छाओं की सन्तुष्टि से व्यक्ति का तनाव और क्रोध कम हो जाता है। विवाह के माध्यम से पति-पत्नी के संबंध तथा प्रजनन के माध्यम से पारिवारिक तथा सामाजिक निरंतरता काम के सामाजिक आधार हैं। काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को उसकी इन्द्रिय-सन्तुष्टि और अदम्य इच्छाओं से विरत करता है जिससे व्यक्ति आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होकर धार्मिक होता है। विषय-भोग के प्रति उसकी वितृष्णा ईश्वर में अनुरक्त करती है।

---

1. महाभारत, स्वर्गारोहण, 5.63; न जातु कामान्न भयान्न लोभादधर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। नित्यो धर्मः सुखदुःखेत्वनित्ये जीवे नित्यो हेतुरस्यत्वनित्यः।।

मनुष्य अपनी काम जनित इच्छाओं के अनुसार सर्जनात्मक कार्य भी प्रारम्भ करता है जिसके अन्तर्गत सौंदर्य-बोध, आकर्षण और अभिव्यक्तिकरण है। इससे कला का सृजन होता है। अन्तस् में चित्रित सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। चित्रों की कलात्मकता सजीवता, विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति आदि ऐसी कला की विशेषता है। संस्कृत साहित्य ऐसे श्रृंगारप्रधान एवं रीति प्रधान तत्त्वों से आप्लावित हैं।

**काम की उपादेयता**

मानव ज़ीवन का मुख्यफल तत्त्व ज्ञान है। तत्त्व ज्ञान के लिए उपयोगी मानव-जीवन को स्वस्थ, सुखी एवं सुरक्षित रखकर मानव जीवन को तत्त्वज्ञान के अनुकूल बनाये रखना काम का मुख्य फल है और इन्द्रिय प्रीति उसका गौण फल है-

**'कामस्य नेन्द्रियप्रीतिलोभो, जीवेत् यावता।**

**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेहकर्मभिः॥** (श्रीमद्भाग. 1.2.10)

अर्थात् काम (विषयों के उपभोग) का फल इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं, उसका प्रयोजन केवल जीवन निर्वाह है। विषयों के सेवन से इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हो सकतीं। अतः जितना सेवन करने से अपना स्वास्थ्य ठीक बना रहे, उतना ही काम का सेवन करना चाहिए। काम का अनुचित सेवन करने से अत्यधिक हानि होती है - बुद्धि का पूर्णतया ही परिलोप हो जाता है। बस यही दशा काम एवं क्रोध से भी होती है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्य ने कहा है कि **''कामक्रोधौ मद्यतमौ प्रयोक्तव्यौ यथोचितम्''** (शुक्रनी.) अर्थात् काम और क्रोध बड़े प्रबल मद्य हैं इनका सेवन सतर्क होकर यथोचित मात्रा में ही करना चाहिए।' इसीलिए कामासक्ति को बढ़ाने की अपेक्षा, जहाँ तक हो, उसे सीमित करना चाहिए क्योंकि केवल अपने ही उद्देश्य से होनेवाला कामोपभोग उसकी तृष्णा को और भी अधिक उद्दीप्त कर देता है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह शान्त न होकर और भी तेज हो जाती है। मनु ने कहा भी है -

**'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।**

**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥** (मनु. स्मृ.2)

अतः गीता में कहा गया है कि जो हृदय में आश्रित होकर रहती है, हट जाती हैं, उस समय मनुष्य अमर हो जाता है और वही उसी शरीर से ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है-

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।**

**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥** गीता

अतएव जहाँ तक संभव हो विवेकी पुरुषों को काम को सीमित करते हुए

शनैःशनैः उसे निवृत्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए भी काम की ही आवश्यकता है। उदाहरण देते हैं : – **'शान्त्यै विषे हि विषमेव पथ्यम्।'** अर्थात् जैसे काम की निवृत्ति काम से होती है उसी प्रकार विषय की शांति के लिए विषय ही गुणकारी है। इसलिए ठीक ही कहा गया है –

**कामेन पुरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम्।**
**कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यान्न संशयः॥**

### मोक्ष

मनुष्य के पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति अर्थात् चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष है। इसे परमपुरुषार्थ भी कहा जाता है क्योंकि यह निरतिशय आनन्द की स्थिति है तथा इसके ऊपर जीवन के किसी लक्ष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। भारतीय चिंतन धारा में कर्म-सिद्धान्त और तज्जन्य पुनर्जन्म का सिद्धान्त धर्म के कालान्तर फलदायी दृष्टिकोण पर आधारित है लेकिन इसी विचारधारा ने पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त को धूमिल कर दिया क्योंकि संसार चक्र की अन्तहीन आवृत्ति तथा भोग के क्षय को प्राप्त हो जानेवाले ऐहिक तथा आमुष्मिक शुभ कर्मफल की प्राप्ति पारमार्थिक सत्य के अन्वेषी तथा अविनाशी परमानन्द के कामी को सन्तुष्ट नहीं कर सकी क्योंकि जन्म जन्मान्तर का चक्र दुःखों से भिन्न नहीं थे। अतएव नित्यानित्यवस्तुविवेक द्वारा इस लोक एवं परलोक के प्रति उदासीन होकर नैतिक गुणों को अपनाते हुए मोक्ष की कामना की, जो आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति की स्थिति थी, परमानन्द की अनुभूति थी।

साधारणतः मोक्ष का अर्थ जीवन से मुक्ति प्राप्त करने से लिया जाता है। मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति 'मुक्त' धातु से हुई है जिसका अभिप्राय है मुक्त करना अथवा स्वतंत्र करना। अतः मोक्ष का अर्थ है आत्मा की मुक्ति। कहा गया है – **मुच्यते सर्वैदुःखबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः ?** अर्थात् जिसपद को पाकर मनुष्य सम्पूर्ण दुःख एवं बन्धनों से मुक्त हो जाय, उसे मोक्ष कहते हैं। इसी का नाम मुक्ति भी है। मुक्ति शब्द भी **'मुच्लृ मोचने'** इस धातु से **'क्तिन्'** प्रत्यय होकर बना है। इसका अर्थ है (बँधे हुए प्राणियों का) बन्धनों से छूट जाना। जन्म एवं पुनर्जन्म से छुटकारा तथा इस संसार के आवामन से मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष आध्यात्मिक जीवन का उच्चतम एवं अन्तिम आदर्श है। मनुष्य का धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन मोक्ष के मार्ग पर तभी अग्रसर होकर प्रकाशमान होता है जब उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। मनुष्य में जब सहजता, स्वाभाविकता, आत्मचिन्तन, आध्यात्मिकता, बौद्धिकता का उदय होने लगता है तब वह निवृत्ति-मार्ग की ओर उत्कंठित होने लगता है एवं वह आध्यात्मिक सुख की ओर उत्प्रेरित होता है उसका अन्तस्-चेतन भौतिकता एवं लौकिक

आकांक्षाओं का सहजता पूर्वक प्रतिरोध करता है। ऐसे में ज्ञान, बौद्धिकता एवं विवेकशीलता का उदय होता है तथा वह गुण-दोष को तौल सकने में समर्थ होता है। वह ऐहिक अथवा सांसारिक सुख ऐश्वर्य को त्यागकर पारलौकिक सुख की ओर अग्रसर होता है। धार्मिक और आध्यात्मिक आधार पर आत्मनिष्ठ एवं एक-निष्ठ होकर परमात्मा अथा परम-ब्रह्म की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। मोक्ष प्राप्ति का उसका उद्देश्य जीवन और मृत्यु के बन्धन तथा संसार के आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाना होता है। वह सीमित से असीमित की ओर बन्धन से मुक्ति की ओर बढ़ना चाहता है। अतः मोक्ष परमज्ञान और आनन्द की वह अवस्था है जिसमें जीव अपने परम ब्रह्म अर्थात् आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष के अनेक नाम है - कैवल्य, मुक्ति, निर्वाण आदि। मनुष्य की बुद्धि और मन प्रकृति से संचालित होते हैं। यह प्रकृति माया है जो मनुष्य को आवृत्त करती है। जब मनुष्य को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसपर से माया का आवरण समाप्त हो जाता है और पुरुष कैवल्य की स्थिति में आ जाता है। पुरुष पहले भी अकर्त्ता था, बाद में भी मुक्त है। प्रकृति ही उसे आवृत्त करती है और पुनः बन्धन मुक्त करती है। पुरुष जब प्रकृति की शोभा और सुन्दरता से आकृष्ट हो जाता है तो वह प्रकृति की स्वाभाविकता को न पहचान कर उसमें बंध जाता है किन्तु ज्यों ही उसका अज्ञान उससे दूर होता है वह प्रकृति से युक्त हो जाता है। यह उसकी पूर्ण सात्विक स्थिति है। यही सांख्य मत के अनुसार मोक्ष है। सभी दार्शनिक मतावलम्बियों के अनुसार मोक्ष की स्थिति परमानन्द की स्थिति ही है, भले ही मोक्ष प्राप्ति के साधन अलग-अलग हैं। कोई मोक्ष प्राप्ति का साधन भगवद्कृपा, कोई ज्ञान की प्राप्ति, कोई आत्मनिष्ठ की स्थिति तो कोई परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष मानता है। मोक्ष प्राप्ति के तीन प्रधान आधार माने गये हैं - कर्म, ज्ञान और भक्ति। कर्म एवं ज्ञान निर्गुण उपासना का मार्ग है तो भक्ति सगुण मार्ग।

मुक्ति भी दो प्रकार की बताई गयी हैं- 1. सद्योमुक्ति और 2. क्रममुक्ति। वर्तमान देह के छूटते ही प्राप्त हो जानेवाली मुक्ति को 'सद्योमुक्ति' कहते हैं। यही 'विदेह मुक्ति' भी है। केवल वर्तमान शरीर तक ही उसके प्रारब्ध का भोग रहता है। प्रारब्धानुसार वर्तमान शरीर के विनष्ट होते ही वह मुक्त हो जाता है, **'विमुक्तश्च विमुच्यते'**। क्रम मुक्ति में अर्चिरादि मार्ग के द्वारा क्रमशः तत्-तत् लोकों में होते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचकर चिरकाल तक वहाँ के भोगों का अनुभव करके अन्त में सब भोगों के अवसान होने पर, पूर्णज्ञान उत्पन्न होकर ब्रह्मलोक के अन्त होने पर ब्रह्मदेव के साथ-साथ मुक्ति होती है। इसका नाम ही क्रम मुक्ति है।[1]

1. आत्यन्तिक - पुरुषार्थ सिद्धिश्च द्विविधा - सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्चेति। वर्तमानदेह पातानन्तरमेव, सिद्धयति सद्योमुक्तिः। उत्तरमार्गेण गत्वा ब्रह्मलोके चिरं भोगाननुभूय तत्रोत्पन्नज्ञानस्य ब्रह्मलोकावसाने सिद्धयति क्रममुक्तिः। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सायणाचार्य)।

संसार अत्यन्त दुखमय है। दुखों का मूलोच्छेदन उनके मूल निदान अविद्या का उच्छेद हुए बिना नहीं हो सकता। अतएव अविद्या का विनाश ही एकमात्र पुरुषार्थ है और परस्पर विद्ध होने के कारण अविद्या-विनाश विद्या से ही हो सकता है। अतएव मुक्ति प्राप्त करने का मुख्य साधन अध्यात्म विद्या (आत्म विद्या) है। आत्मज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति कहती है: **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'** यह आत्मज्ञान बिना अन्तःकरण के शुद्ध हुए नहीं होता, क्योंकि प्राणियों का अन्तःकरण वासनाओं में लिप्त रहता है। अतः अन्तःकरण की स्वच्छता ईश्वरार्पण की इच्छा से निज-निज धर्म एवं स्वं कर्मों का अनुष्ठान करने से ही होती है। इसीलिए कहा है कि -

**ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।**
**कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥**

अतः मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन धर्म है। वह भी निष्काम भाव से आचरित धर्म परन्तु निष्काम होने के लिए अन्तःकरण की शुद्धता में त्याग की बहुत बड़ी अपेक्षा है। इसी से श्रुति में कहा गया है -

**'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'**

अर्थात् मुक्ति पद न तो कर्म से प्राप्त हो सकता है और न सन्तान होने से प्राप्त हो सकता है, और न ही वह धन से ही प्राप्त हो सकता है। वह तो केवल एकमात्र त्याग, विषय-वासनाओं के परित्याग से ही प्राप्त हो सकता है। अस्तु।

अतः जब जीव अपनी बुद्धि रूपी सारथि और मन रूपी बागडोर के द्वारा अपने इन्द्रिय रूपी अश्वों की लगाम को अच्छी तरह काबू में रखता है, तब घड़े में रखे हुए प्रज्ज्वलित दीपक के समान, अपने भीतर ही उसकी आत्मा उसे प्रकाशित होने लगती है -

**रश्मीस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ् नियच्छति।**
**तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव॥** (शां. पर्व. 194-45)

यही मोक्ष है। यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है, मानव-जीवन की सफलता है।

**उपसंहार**

मानव जीवन के सभी विषय इन्हीं पुरुषार्थ-चतुष्टय के अन्तर्गत हैं। मानव समाज का सम्पूर्ण हित इसी में समाहित है। मानव-जीवन के विभिन्न भागों में पुरुषार्थ की प्राप्ति से व्यक्ति का आदर्श बनता रहा। सांसारिक एवं आध्यात्मिक आधार का अनुसरण करके मनुष्य अपने जीवन को ऊँचा और आदर्श बनाता है। हिन्दू विचारकों का यह जीवन-दर्शन विश्व का अकेला और अनुपम जीवन-दर्शन

है, जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है, कामना है तो साधन भी है, आसक्ति हैं तो त्याग भी है। इस प्रकार हिन्दू जीवन दर्शन में भौतिकता एवं सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता का भी संगम है। नियम एवं संयम पूर्वक पुरुषार्थ की नियोजना व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित एवं संतुलित आधार प्रदान करने के लिए की गयी थी।

पुरुषार्थ की एक विशेषता इसकी 'आशावादिता' है। भारतीय संस्कृति पर निराशावादिता का आरोप ऊपरी है क्योंकि हमारे जंगलीपन से अपने पूर्वानुभव और बुद्धि के सहारे निरंतर संस्कार करते हुए 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति तक पहुँचने का आह्वान और अवसर प्रदान करना विश्व की नई-पुरानी अनगिनत संस्कृतियों में केवल भारतीय संस्कृति की ही असाधारण विशेषता है।



अध्याय–5

# मानव जीवन के विकास का आधार : संस्कार

मानव जीवन के दैहिक एवं भौतिक विकास के साथ ही सुव्यवस्थित जीवन जीने हेतु संस्कार का विधान किया गया था। गौणरूप से मनुष्य के जीवन पर अपना कुप्रभाव डालनेवाले विघ्नों से निरापद होने के लिए संस्कारों का निर्धारण समाज में किया गया। शुद्धता, आस्तिकता, धार्मिकता, और पवित्रता संस्कार की प्रधान विशेषताएँ मानी गयीं। धर्म, यज्ञ एवं कर्मकाण्ड इसका मूल आधार रहा। मनुष्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन संस्कारों की निष्पन्नता से प्रभावित होता रहा है। अतः संस्कार का आधार धर्म है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाता है। प्राचीन काल से आज तक अनेक परिर्वतनों के बाद भी हिंदू समाज में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। संस्कारों के माध्यम से मानव व्यक्तित्व में यह शुद्धता आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार से देखी जा सकती है। संस्कारों का यह क्रमिक रूप मनुष्य के जीवन के पहले ही आरम्भ होकर उसकी मृत्यु के पश्चात् तक बना रहा। हिन्दू समाज में मानव अपने विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों को इन्हीं संस्कारों के माध्यम से कर सकने में समर्थ है। इस प्रकार संस्कारों की उपयोगिता समाज में अनेक प्रकार से थी। प्रथम तो यह समाजीकरण में सहायक है द्वितीय यह हमें अपने दायित्वों के प्रति सजग करता है। तृतीय, नैतिकता से बाँधकर रखता है। चतुर्थ, हमें धार्मिक रूप से बाँधकर रखता है।

संस्कारों का विधान अलौकिक पृष्ठ–भूमि में किया गया है तथा इनकी उत्पत्ति में मानवीय प्रवृत्तियों का विशेष हाथ माना गया है संस्कारों का आधार सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक है। ये हमारे धार्मिक, सामाजिक व्यक्तिगत व्यवस्था एवं कार्य–प्रणाली को सुव्यवस्थित करते हैं।

## संस्कार शब्द का अर्थ

'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति 'सम्' उपसर्गक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने से होती है। इसका अर्थ है, परिष्कार, परिमार्जन, शुद्धता। अंग्रेजी का 'सैक्रामेंट' शब्द संस्कार के लिए प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है, 'धार्मिक–विधान'। 'वीर–मित्रोदय' के अनुसार शारीरिक एवं आध्यात्मिक प्रकृति के आधायक सविधि अनुष्ठानों का नाम संस्कार है **(आत्म शरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशय विशेषः संस्कारः)**। मीमांसक संस्कार शब्द का आगम यज्ञांगभूत पूरोडाशादि की विधिवत्

शुद्धि से मानते हैं–**'प्रोक्षणादिजन्य संस्कारों यज्ञांग पुरोडाशेष्विति द्रव्यधर्मः।'** अर्थात् चावल के आंटे से तैयार की गयी हव्यादि द्रव्यों में जल के छींटे देने से उत्पन्न होनेवाली शुद्धि को संस्कार कहते हैं। अद्वैतवादी जीव पर शारीरिक क्रियाओं में मिथ्या आरोप को संस्कार कहते हैं:-(**'स्नानाचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्पयन्ते**)।

नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्म-व्यञ्जक शक्ति को संस्कार कहते हैं। वैदिक-परम्परा में कर्म विशेष संस्कार नाम से जाना जाता है। धर्मशास्त्र में शास्त्रविहित क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट गुण के प्रकर्ष को संस्कार कहते हैं जो हमारे शरीर अथवा आत्मा में अवस्थित हो जाते हैं (**आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः**- संस्कार-प्रकाश, पृ-132)।

इसप्रकार संस्कार सिर्फ धार्मिक क्रियाएँ अथवा औपचारिक आचार नहीं हैं, अपितु ये विशिष्ट कृत्य एवं धार्मिक विधि-विधान हैं जिन्हें आन्तरिक एवं आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है। संस्कार संबंधी अनुष्ठान के दो लाभ हैं - 1. शारीरिक शुद्धि एवं 2. अदृष्ट फल देनेवाले कर्मों के लिए विशिष्ट योग्यता पैदा करना (**ऐते गर्भाधानादयः संस्काराः शरीरं संस्कुर्वन्तः सर्वेषु अष्टार्थेषु कर्मसु योग्यतातिशयं कुर्वन्ति। फलातिशयो योग्यतातिशये च**)। उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कार का साधारणतः अर्थ शुद्धि, परिष्कार एवं स्वच्छता है। मनुष्य का जीवन संस्कार से ही परिशुद्ध होता है। जन्म से मनुष्य पूर्णतः असंस्कृत होता है किन्तु संस्कारों की सम्पन्नता से वह मणि की तरह देदीप्यमान एवं धवल हो जाता है। उसका भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन निखर उठता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि संस्कार व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक परिष्कार के निमित्त वह धार्मिक क्रिया है जो विशुद्ध-पवित्र अनुष्ठापन में आस्था रखती है। शुद्धिकरण, धर्मार्थ समाचरण, सुचिता सन्निवेश, मनः परिष्कार संस्कार द्वारा ही संभव है जो धार्मिक विधि-विधान के अंग हैं।

### संस्कार की उपयोगिता

संस्कार की उपयोगिता सामाजिक एवं धार्मिक पक्षों को देखते हुए समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। संस्कारों की प्रथम उपयोगिता व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता का विकास करना है, जीवन के मूल्यों एवं प्रतिमानों का संवर्द्धन करना है जिनसे नैतिक उत्थान होता है। यह हमें नैतिक रूप से जागरूक करता है। संस्कारों का द्वितीय पक्ष हमारे व्यक्तित्व को विकसित करता है। चारित्रिक दृढ़ता एवं आचरण में शुद्धता आती है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों एवं आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसमें होनेवाले धार्मिक विधि-विधान

द्वारा मानव का सामाजिकीकरण होता है। संस्कारों का एक उद्देश्य भौतिक एवं लौकिक समृद्धि की प्राप्ति करना है। दीर्घ जीवन, सुख-समृद्धि, सम्पत्ति, शक्ति, बुद्धि, वैभव, सन्तानादि की इच्छा व्यक्ति देवताओं से करता है। संस्कारों का उद्देश्य निवारणार्थक भी है। संस्कारों के माध्यम से अदृश्य बाधाओं एवं अशुभ शक्तियों के विनाश की कामना की जाती है। संस्कार प्रतीकात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भी किए जाते हैं। प्रेम, शोक, स्नेह, अनुराग, दुःख, घृणा आदि मानवीय अभिव्यक्तियाँ हर्ष एवं विषाद रूप में अभिव्यक्त होती हैं। नामकरण संस्कार जहाँ पुत्र जन्म की खुशियों की अभिव्यक्ति है, वहीं अन्त्येष्टि संस्कार किसी के निधन पर शोक अथवा विषाद की भावना को अभिव्यक्त करता है। इन समस्त संस्कारों का प्रधान आधार धर्म है एवं धर्म अध्यात्म का जीवन है। अतः ये संस्कार व्यक्ति के क्रमिक आध्यात्मिक विकास हैं।

धार्मिक आवश्यकता अथवा आकांक्षा हेतु अन्य संस्थाओं की तरह संस्कार नामक संस्था का निर्माण हुआ था। इसके दो पक्ष थे - बाह्य एवं आभ्यंतर। बाह्य-पक्ष में विभिन्न संस्कारों में किए जानेवाले कर्म-काण्ड आते हैं। इसके भी दो प्रयोजन हैं। प्रथम इनमें होनेवाले धार्मिक-कर्मकाण्ड धर्म के आन्तरिक-पक्ष को अभिव्यक्ति करते हैं, जबकि द्वितीय-पक्ष धर्म में एकरूपता तथा व्यवस्था के सम्पादन के रूप में हमारे प्रयोजन को पूरा करता है।

हिन्दू संस्कार में होनेवाले कर्मकाण्ड हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इन संस्कारों के करने से व्यक्ति विशेष में अदृष्ट एवं अलौकिक रूप से दोषापनयन के द्वारा अथवा गुणान्तर की उत्पत्ति द्वारा उत्कर्ष-विशेष उत्पन्न हो जाता है। संस्कारों में होनेवाले यज्ञ से संस्कृत व्यक्ति देवों की समानता, सलोकता एवं सायुज्यता को प्राप्त करता है। गर्भाधान से लेकर अत्येष्टि पर्यन्त कहे जानेवाले स्मार्त-संस्कार व्यक्ति के समस्त जीवन को अपनी परिधि में स्पष्ट रूप से घेरे हुए हैं। पराशर स्मृति में वर्णित है-**'चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः, ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः''** अर्थात् जैसे एक चित्र अनेक रंगों से उभरता है वैसे ही विधि पूर्वक किए गये संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व भी निखरता है। मनुस्मृति में संस्कारों का प्रयोग जीवात्मा तथा शरीर की शुद्धि माना गया है। इनका मानना है कि जन्म के उपरांत माता-पिता की कुछ अशुद्धियाँ भी संतान में आ जाती हैं जिन्हें संस्कारों के द्वारा दूर किया जाता है। वैदिक विधि से किए गये इन पुण्य गर्भाधानादि संस्कारों के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है तथा जीवात्मा की शुद्धि इस लोक एवं परलोक में (पापों से छूटकर) होती है (**वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिद्विजन्मनाम्, कार्य शरीरसंस्कारः पावनः प्रत्य चेह च॥ गाभैहोत्रैजातिकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः**

**वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।। मनु-II 26-27)**[1]। यह संस्कारों का सामान्य प्रयोजन है। पृथक्-पृथक् संस्कारों के पृथक्-पृथक् विशेष प्रयोजन भी बहुधा निर्दिष्ट हैं। हालांकि पी.वी.काणे का पृथक् मत है। उनका कहना है, ''हमारे शास्त्रों में उत्कृष्ट मानव व्यक्तित्व के विकास में संस्कारों के यथार्थ महत्त्व को कुछ अस्पष्ट छोड़ दिया गया है तथा इनमें संस्कारों का विवेचन न तो अधिक विस्तृत है और न ही सर्वाङ्गीण।''[2] संस्कार के रूप में व्यक्ति में छिपे हुए नाना रूप सामर्थ्य को उद्घाटित करने का आवश्यक उपाय प्राचीन काल से ही स्वीकार किया गया है। साथ ही, सामाजिक जीवन में अपनी विभिन्न भूमिकाओं को पूरा करने के लिए आन्तरिक योग्यता के बाहरी चिह्न स्वीकार किए गये हैं। विभिन्न संस्कारों के स्वरूप पर दृष्टि देने पर हमें मुख्य रूप से संस्कारों के पाँच प्रयोजन लक्षित होते हैं–

1. **रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक प्रयोजन** – गर्भाधान, पुंसवन जैसे संस्कारों के द्वारा अदृष्ट रूप में योग्य पुत्र-संतान की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाना।

2. **सामाजिक प्रयोजन** – सामाजिकीकरण हेतु नामकरणादि संस्कारों का आयोजन करना तथा सामाजिक मूल्यों, प्रतिमानों एवं आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करना।

3. **मनोवैज्ञानिक प्रयोजन** – समाज एवं परिवार के आमंत्रित लोगों के मध्य संस्कृत व्यक्ति पर नई भूमिका को समझकर उसके अनुरूप आचरण हेतु मनो वैज्ञानिक दबाव बनाना।

5. **आध्यात्मिक प्रयोजन**-संस्कारों का मुख्य प्रयोजन व्यक्तित्व में अध्यात्म का चरण-बद्ध विकास करना।

इन प्रयोजनों के अलावा अतिमानुष अमङ्गलकारी प्रभावों के निराकरण और हितकर प्रभावों की प्राप्ति के लिए भी इन संस्कारों का प्रावधान किया गया था। बिना किसी बाह्य विघ्न के अपना विकास और अभिवृद्धि करना और देवों तथा दिव्य शक्तियों से सामयिक निर्देश और सहायता प्राप्त करना भी संस्कारों की सम्पन्नता का प्रयोजन था।[3] जातकर्म, अन्त्येष्टि, मुण्डन आदि अनेक संस्कारों में बहुत सी रहस्यात्मक क्रियाएँ की जाती हैं जिनका उद्देश्य स्पष्टतः अशुभ प्रभावों का प्रतिकार है। इसीप्रकार सीमान्तोन्नयन में उदुम्बर वृक्ष की शाखा के स्पर्श से, उपनयन तथा विवाह में क्रमशः ब्रह्मचारी तथा वधू के हृदय के स्पर्श से अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण किया जाता है। शङ्ख के अनुसार **''संस्कारैः संस्कृतः**

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति, I.13 - ''एवमेनः शमं याति बीज गर्भसमुद्भवम्''।
2. History of Dharmshastra. Vol. II, Part II, Pg. 192.
3. हिन्दू संस्करण, पृ. 28

**पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः, नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः।''** अर्थात् संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्म-लोक में पहुँचकर ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता।''[1]

इस प्रकार विविध संस्कारों एवं उनमें की जानेवाली क्रियाओं का उद्देश्य हिन्दू धर्म में एकरूपता बनाये रखना, आध्यात्मिक विकास, सामाजिकीकरण, लौकिक समृद्धि की कामना, वांछित वस्तुओं की प्राप्ति, विघ्नों का निराकरण एवं नैतिकता का संवर्द्धन था।

## संस्कारों की संख्या

संस्कारों का प्रचलन वैदिक काल से ही रहा है किन्तु इनका विवरण प्रत्यक्षतः संहिताओं में प्राप्त नहीं होता यद्यपि ब्रह्मचर्य, विवाह, अन्त्येष्टि जैसे कर्म इन संहिताओं में अनेक जगह उल्लिखित हैं। सूत्रों और स्मृतियों में भी यह अत्यल्प ही मिलता है। श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों में भी इसका प्रयोग नगण्य है।

ये संस्कार गृह्यसूत्र में यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन तथा अन्त्येष्टि का पारस्कर-गृह्यसूत्र में गृह्याग्नि में किए जानेवाले कर्मों के प्रसङ्ग में वर्णन है।[2] हिन्दु समाज में जितने संस्कार स्वीकार किए गये तथा समयानुसार उनका पालन किया गया, वैसे-वैसे उनका वर्णन मिलता है। पारस्करगृह्यसूत्र में ही प्रवासागमन, पञ्चमहायज्ञ, उत्सर्जन, श्रीवणी, आग्रहायणी, दर्शपौर्णमास्य तथा अष्टका का भी उल्लेख मिलता है। वैखानसगृह्यसूत्र में अठारह कर्म कहे गये हैं जिसमें गर्भाधान को छोड़कर ऋतुसंगमन, विष्णुबलि, उत्थान, पिण्डवर्धन, पारायण, व्रतबन्ध, विसर्ग जैसे अनेक नये नाम हैं जिससे इन कर्मों की अनिश्चित संख्या एवं इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रवृत्ति देखी जाने लगी। 'गौतम धर्म-सूत्रों' में इन कर्मों को 'संस्कार' कहा गया एवं इनकी संख्या चालीस तक बतायी गयी।[3] गौतम ने संस्कार को अत्यधिक व्यापक अर्थ में लिखा है उनके अनुसार संस्कार चालीस हैं जिनको इन्होंने चार वर्गों में रखा है –

---

1. हिन्दू संस्कार, पृ. 35
2. यही तेरह नाम बौधायन गृह्यसूत्र में भी वर्णित है। इसमें केवल केशान्त के स्थान पर कर्णवेध का उल्लेख है। जबकि निष्क्रमण तथा केशान्त को छोड़कर केवल ग्यारह संस्कारों का वर्णन आश्वलायन गृह्यसूत्र में है।
3. गौतम-गृह्यसूत्र में चालीस के अलावा आठ नैतिक गुण को जोड़ दिया गया (चत्वारिंशत-संस्काराः अष्टो आत्मगुणाः)।

(क) गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेदव्रत, स्थान, सहधर्मचारिणीसंयोग, पञ्चमहायज्ञ- कुल उन्नीस स्मार्त संस्था।

(ख) अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी-सप्त 'पाक यज्ञ संस्था:'।

(ग) अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मासस्य, निरूढ़पशुबन्ध सौत्रायणी - सप्तहविर्यज्ञ संस्था।

(घ) अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम- सप्तसोमसंस्था गर्भाधान आदि संस्कारों के साथ यज्ञों को भी संस्कार में शामिल करने की प्रवृत्ति को पृथक् करने के उद्देश्य से हरीत ने संस्कारों की दो श्रेणियाँ बना दीं। उन्होंने गर्भाधानादि स्मार्त कर्मों को ब्राह्म संस्कार बताया एवं विधि यज्ञों को दैवसंस्कार तथा इनके अनुष्ठान से प्राप्त होनेवाले फलों को भी पृथक्-पृथक् कर दिया - द्विविध: संस्कारो भवति - ब्राह्मौदैवश्च। गर्भाधानादि: स्मार्तो ब्राह्म: पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैव:। ब्रह्म संस्कारसंस्कृत ऋषीणां समानतां सलोकतां सायुज्यं गच्छति। दैवेनोत्तरेण संस्कृतो देवानां समानतां सलोकतां सायुज्यं गच्छतीति। वस्तुत: हारीत द्वारा किया गया यह वर्गीकरण स्मार्त एवं श्रौतधर्म के आधार पर किया गया है। श्रौत धर्म की प्रक्रियाएँ देवताओं को प्रसन्न करने की मुद्राओं, यज्ञों एवं अनुष्ठानों से संबंधित हैं। ये प्राय: आजकल व्यक्तिगत आधार पर किए जाते हैं।

जहाँ तक स्मृतियों की बात है तो स्मृतियों में संस्कार शब्द का प्रयोग मात्र गर्भाधानादि स्मार्त कर्मों के लिए हुआ है। स्वभावत: स्मृतियों में कहे गये संस्कारों की संख्या धर्मसूत्रों की तुलना में थोड़ी है। मनुस्मृति में संस्कार निषेक अर्थात् गर्भाधान से प्रारम्भ होकर श्मशान अर्थात् अन्त्येष्टि तक कुल तेरह हैं - गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामधेय निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन केशान्त, समावर्तन विवाह, श्मशान। याज्ञवल्क्य में भी केशान्त को छोड़कर इन संस्कारों का वर्णन है, किन्तु अनेक सूत्रों में श्मशान अथवा अन्त्येष्टि का उल्लेख नहीं किया जाता है। गौतम भी चालीस अथवा अड़तालीस नाम लेने के बाद भी अन्त्येष्टि का उल्लेख नहीं करते। मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि इसका कारण सम्भवत: यह है कि सूत्रकार शुभ संस्कारों के साथ अशुभ संस्कारों की गणना नहीं करना चाहते।[1] राजबलि पाण्डेय का मानना है कि यह तथ्य भी इसका कारण था कि मृत्यु के साथ ही व्यक्ति की जीवन-लीला का अन्त हो जाता है और मरणोपरान्त संस्कारों का व्यक्तित्व के परिष्कार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत नहीं होता।[2] फिर

1. Hinduism, Pg. 65
2. हिन्दू-संस्कार, पृ. 26

भी सूत्रों एवं स्मृतियों में इन संस्कारों का विधि मन्त्रपूर्वक वर्णन है। संस्कार की संख्या में मतमतान्तर होने के बाद भी सामान्यतया थोड़े बहुत अन्तर के साथ सभी ने सोलह संस्कारों को स्वीकार किया है। पी.वी.काणे के अनुसार प्रायः सूत्र एवं स्मृति में निम्नलिखित संस्कार माने जाते हैं – ऋतुसमागम, गर्भाधान, निषेक – चतुर्थीकर्महोम, पुंसवन, गार्भिक स्नान, सीमान्तोन्नयन, विष्णुबलि, वर्स्यान्त, कर्म या होम, जातकर्म, उत्थान, नामकरण, निष्क्रमण, आदित्य दर्शन, कर्मभेद, अन्नप्राशन, आपदापूर्त्ति, कौला चूणा कर्ण, विद्यारम्भ, उपनयन व्रत, केशान्त या गोदान, समावर्तन या स्नान, विवाह, महायज्ञ, उत्सर्ग, उपाकर्म, अन्त्येष्टि। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निम्नलिखित सोलह संस्कारों का वर्णन किया है जिन्हें निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है –

1. **प्राक् जन्म संस्कार** – 1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमान्तोन्नयन।

2. **बाल्यकाल के संस्कार** – 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. चूड़ाकरण 9. कर्णवेध।

3. **शैक्षणिक संस्कार** – 10. विद्यारम्भ, 11. उपनयन, 12. वेदारम्भ, 13. केशान्त (गोदान) 14. समार्वतन।

4. **विवाह संस्कार** – 15. विवाह संस्कार।

5. **मृत्युपर्यन्त संस्कार** – 16. अन्त्येष्टि।

संस्कारों की परम्परा जैसा कि स्मृति ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों एवं गृह्यसूत्रों में बतायी गयी हैं, आधुनिक काल में नहीं मिलती है। गर्भाधान, उपनयन, विवाह एवं अन्त्येष्टि संस्कार अपने संस्कार रूप में ब्राह्मणों आदि वर्ण में पाए जाते हैं। इसमें भी गर्भाधानादि की संस्कारात्मक प्रक्रिया प्रायः बिना वेदमंत्रों तथा पंडित के ही कर लिए जाते हैं। ज्योतिषी द्वारा नाम का चयन कर नामकरण संस्कार पूरा कर लिया जाता है। पुंसवन एवं सीमान्तोन्नयन संस्कार प्रायः नहीं होते हैं। विवाह संस्कार ही एक ऐसा संस्कार है जिसका प्रचलन संस्कारात्मक रीति से आज भी प्रचलित है। अन्त्येष्टि को छोड़कर शेष सभी संस्कारों में अब धार्मिक आस्था कम एवं उत्सव की महत्ता अधिक देखी जा रही है।

### संस्कार-योग्यता

उपनिषद् काल आध्यात्मिक-काल था, जिसमें समाज के प्रति वैराग्य का व्यापक प्रसार हो रहा था। अतएव ब्रह्मचर्य के बाद ही संन्यास आश्रम में प्रवेश की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी।[1] ऐसी स्थिति में सभी संस्कारों का किया जाना संभव नहीं।

---

1. जाबालोपनिषद्; वदि वे तरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रवजेद् एहाद्वा बनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रवजेत।

वैराग्य की यह प्रवृत्ति द्विजों में ही देखी जा रही थी, क्योंकि वेद एवं उपनिषद् के मंत्रों के उच्चारण का अधिकार इन्हीं को था, अतएव द्विजातियों के लिये गर्भाधान से उपनयन पर्यन्त ही संस्कार अनिवार्य थे जिसका 'स्मृति-चन्द्रिका' ने भी समर्थन किया है। स्नान (समावर्तन) एवं विवाह अनिवार्य नहीं थे क्योंकि ब्रह्मचर्य से सन्यास में प्रवेश की वैकल्पिक व्यवस्था की गयी थी (**अत्र गर्भाधानद्युपनयनपर्यन्ता एव संस्काराः सर्वेषां नियताः न पुनः स्नानादयः। तथात्वे यमिच्छेत्कर्तुं तमावसे यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विरोधः स्यात्।**)। शूद्रों के संबंध में अनेकों धर्मसूत्रों का मत है कि संस्कार बिना वेदमंत्रों के होना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार जातकर्म से लेकर चूडाकरण पर्यन्त संस्कार द्विजातियों के द्वारा तभी वैदिक-मंत्रों से किए जाने चाहिए जब पुत्र सन्तान हो, पुत्री के लिए इनका विधान बिना मंत्रों के है,[1] किन्तु विवाह संस्कार सभी द्विजातियों के लिए मंत्रपूर्वक ही विहित है। स्मृतियों के समय में शूद्रों की स्थिति में भी कुछ सुधार हो रहा था। अत्रि ने पूर्तकर्म में शूद्र का भी अधिकार स्वीकार कर लिया था (**इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्म साधनौ अधिकारि भवच्छूद्रः पूर्त धर्मे न वैदिके**) और मनुस्मृति में भी वैदिक-मंत्रों के प्रयोग के बिना द्विजातियों की धार्मिक क्रियाओं में शूद्र का अधिकार स्वीकार किया गया है।[2]

वेदव्यास दस संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध तथा विवाह) का विधान बिना वैदिक मंत्रों के प्रयोग के शूद्रों के लिए भी करते हैं। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख है कि श्राद्धादि क्रियाओं में ब्राह्मण पुरोहित के द्वारा शूद्र (यजमान) की ओर से वैदिक मंत्रों का भी उच्चारण किया जा सकता है और कहीं-कहीं कहा गया है कि ऐसे अवसरों पर शूद्र के लिए पुराणों से मंत्र चुने जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृतियों के टीकाकार बिना वैदिक मंत्रों के प्रयोग के अनेक संस्कारों का अधिकार शूद्रों को भी देने के पक्ष में हैं।[3]

स्त्रियों के संबंध में भी सूत्रकार एवं स्मृतिकार की नीति शूद्रों के समान ही है। उन्हें भी इन संस्कारों का अधिकार बिना मंत्रोच्चारण के ही विहित था। मनुस्मृति में कहा गया है कि "स्त्रियों का विवाह शास्त्रानुसार मंत्रों द्वारा होना ही उनका एकमात्र संस्कार है।"

## संस्कारों का विधि-विधान

प्राचीनकाल में धार्मिक क्रियाएँ दो वर्गों में बँटी हुई थीं - आवश्यक एवं

---

1. मनुस्मृति II 66; अमन्त्रिका तु कार्येषु स्त्रीणामावृदशाषत्।
2. मनुस्मृति, X 127; धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतं वृत्तमनुष्ठिताः। मंत्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च।
3. P.V.Kane, History of Dharmshastra Vol. II part I pg. 198.

ऐच्छिक। ऐच्छिक क्रियाएँ कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर करती थीं। इनके अन्तर्गत 'काम्यकर्म' आते थे। जो स्वर्ग, राज्य, धन, सन्तान आदि विशेष फलों के प्रदान करने के लिए होते थे। जिन्हें जैसा फल अभीष्ट होता था, वह शास्त्र में उसके उपपादक के रूप में निर्दिष्ट काम्यकर्म को करता था। सामान्यतः सभी काम्यकर्म बृहद् आयोजन के साथ होते थे और इनके सम्पादन के लिए ऋित्विकों की सहायता ली जाती थी। उदाहरणार्थ-पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ होता था। ये यज्ञ श्रौताग्नियों (जिन्हें वैतान अग्नि/त्रेताग्नि भी कहते थे) द्वारा पूर्ण होते थे। अवश्यकरणीय कर्म विशिष्टफल प्रदायी नहीं होते थे किन्तु इनके न किए जाने पर 'प्रत्यवाय' के रूप में तुरन्त प्रायश्चित की प्राप्ति होती थी। ये कर्म गृह्य-अग्नि अथवा स्मार्ताग्नि में किए जाते हैं और गृहपति को पूरी छूट थी कि वे बिना ऋत्विक की सहायता के स्वयं ही इन्हें कर लें। इन अवश्यकरणीय कर्मों में प्रमुख नित्य एवं नैमित्तिक कर्म हैं। 'अग्निहोत्र' जैसे सुबह शाम किए जाने वाले कर्म नित्य एवं किसी निमित्त अर्थात् कारण-विशेष हेतु किए जाने वाले कर्म (जैसे जातकर्मादि) नैमित्तिक कर्म हैं, जिन्हें तबतक नहीं किया जाता है जबतक निमित्त उपस्थित नहीं हो, किन्तु एक बार निमित्त के उपस्थित हो जाने पर ये कर्म अवश्यकरणीय हो जाते हैं। वैदिक काल में न केवल ये घरेलू कर्म थे अपितु, भिन्न सूत्र चरणों में इनका उदय होने के कारण एक ही संस्कार का विधि-विधान भिन्न-भिन्न था। स्वभावतः प्रत्येक सूत्रचरण अपनी-अपनी शाखा की संहिता से यथाशक्ति मंत्र चयन का प्रयास करता था। सूत्रकाल में प्रत्येक संस्कार के साथ 'होम' एवं 'ब्राह्मण भोजन' जुड़ा हुआ था। हर संस्कार की विशिष्ट क्रियाएँ गृह्यसूत्रों में प्राप्त होती हैं।

एकबात और, प्रत्येक संस्कार का कार्यस्थल 'गृह' ही था एवं इसका मुख्य कर्त्ता गृहपति ही होता था जो 'अग्निदेव' को साक्ष्य बनाकर संस्कार को सम्पन्न करता था। अन्त्येष्टि ही एक ऐसा संस्कार था जिसके अधिकांश विधि-विधान घर के बाहर ही हुआ करते थे। अतएव अधिकांश धर्मसूत्र एवं स्मृतिकारों ने इसकी संस्कार में गणना नहीं की है। इन संस्कारों को सम्पन्न कराने का दायित्व भी अलग-अलग लोगों पर था। वेदभूषण के अनुसार संस्कारों की सम्पन्नता में दायित्व वहन के आधार पर इन स्मार्त संस्कारों को तीन वर्गों में बाँटा गया है। पहले वर्ग में गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन संस्कार हैं जिनको करने का उत्तरदायित्व माता-पिता पर है। दूसरे वर्ग में जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन (केशान्त) तथा कर्णवेध संस्कार हैं जो सामान्यतः बच्चे के प्रारम्भिक पाँच वर्षों में किए जाते हैं। इन संस्कारों में माता-पिता के साथ परिवार के लोग भी उपस्थित होते हैं। शेष संस्कार तीसरे वर्ग में आते हैं। इनमें परिवार के साथ-साथ समाज भी उपस्थित होते हैं।

यहाँ सोलह प्रमुख संस्कारों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है जिन्हें अधिकांश धर्मशास्त्रकार एवं सूत्रकारों द्वारा माना गया है -

**गर्भाधान अथवा निषेक**-यह विवाहोपरांत प्रथम संस्कार है जिसके माध्यम से पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित कर संतान की कामना करता है।[1] पुरुष-स्त्री का सहवास गर्भाधान से संबंधित है। दूसरे अर्थों में स्त्री का गर्भवती होना ही गर्भाधान है। संस्कार प्रकाश में कहा गया है - जिस कर्म के द्वारा पति अपनी पत्नी में गर्भ स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते हैं **(गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्।)**। इस संस्कार का प्रचलन वैदिक काल में हुआ था।[2] इसे सम्पन्न करते समय उपयुक्त समय एवं वातावरण का ध्यान रखना अपेक्षित रहा है। स्त्री के ऋतुस्नान के बाद चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक गर्भधारण के लिए उपयुक्त समयावधि मानी गयी है[3] और यह भी मध्य-रात्रि के बाद। दिन का समय निषिद्ध था।[4] रात्रि में भी पिछला प्रहर श्रेयस्कर था। याज्ञ स्मृति में वर्णित है-8वीं, 15वीं एवं 30वीं रात्रियाँ गर्भाधान के लिए पूर्ण वर्जित थीं। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार गर्भाधान के लिए पति उपवास करे तथा पुष्प नक्षत्र में श्वेतपुष्प वाली सिंही की जड़ उखाड़कर उसे जल में पीसकर ऋतुस्नाता पत्नी की दांयी नाक में **''इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सहस्वती। अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम्''** यह मंत्र बोलकर सींच दे।[5] याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है 'गर्भाधानमृतौ''[6] अलबरूनी लिखता है कि अगर व्यक्ति संतान के निमित्त पत्नी के साथ सहवास करता है तो यह उसका कर्त्तव्य है कि वह गर्भाधान नामक यज्ञ करें किन्तु यह संस्कार परवर्त्ती काल में अनिवार्य नहीं रहा।

वस्तुतः गर्भाधान संस्कार का मुख्य उद्देश्य पितृ-ऋण से उऋण होना था अर्थात् सन्तान प्राप्ति और वह भी विशेष रूप से पुत्र प्राप्ति के द्वारा पितृ ऋण से छुटकारा पाना।

इस संस्कार के संबंध में आचार्यों के बीच एक मतभेद है। एक का मत है कि यह संस्कार गर्भ का है एवं दूसरे मत के अनुसार यह संस्कार स्त्री की शुद्धि के लिए है। स्त्री की शुद्धि का संस्कार माननेवालों का कहना है कि गर्भाधान संस्कार मात्र एक बार पहले-पहले विवाहिता स्त्री के साथ होता था[7] क्योंकि स्त्री को सर्वदा

---

1. बौ. गृ. सूत्र; 14.6.1, का. गृ. सू. 30.8, याज्ञ. 1.11
2. अथर्ववेद 5.25.3,5; बृ. उप. 6.4.21
3. याज्ञ, स्मृ. 1.79- षोडशर्त्तुनिशाः स्त्रीणाम् तासु युग्मालु संविशेत्। ....पर्वाण्याद्यश्च वर्जयेत्।।
3. वही
4. बौ. गृ. सू. 1.7.47
5. पार, गृ. सू. (I. 13)
6. या. स्मृ. (1.11)
7. मिताक्षरा, याज्ञ. 1.11, स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ. 17

के लिए शुद्ध करने के लिए ही यह संस्कार था। वहीं गर्भ शुद्धि के लिए इस संस्कार को मानने वालों का कहना है कि जब कभी भी संतान-प्राप्ति की इच्छा से सहवास किया जाय, तो यह संस्कार अनिवार्य हो जाता है। साथ ही, पराशर ने यह मत भी व्यक्त किया है कि जो ऋतुकाल में पत्नी के साथ समागम नहीं करता था, वह भ्रूण-हत्या का भागी होता था।[1] गर्भाधान को कुछ शास्त्रकारों ने 'चतुर्थी कर्म' अथवा 'चतुर्थी होम' एवं निषेक (ऋतुसंगम) भी कहा है। परवर्त्ती-काल में इस संस्कार की महत्ता कम होती गयी।

**पुंसवन**

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार- गर्भ धारणोपरान्त पुत्र प्राप्ति हेतु यह संस्कार किया जाता था (**पुंसवनमिति कर्मनामधेयं येन कर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमासमेव सूते सत्पुंसवम्।** 14.9)। गर्भ के तीसरे माह में 'पुंसवन संस्कार' मनाया जाता था।[2] इस अवसर पर पुत्र-प्राप्ति हेतु ऋचाएँ गायी जाती थीं तथा पुत्र प्रदान करनेवाले देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में ये ऋचाएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं। गृह्यसूत्र में इस संस्कार के लिए द्वितीय एवं तृतीय मास को उपयुक्त बताया गया है (**पुरास्यन्दतइतिमासे द्वितीय तृतीय वा**) इस संस्कार के लिए उपयुक्त समय भी निश्चित किया गया है। पुत्र प्राप्ति के लिए चन्द्रमा का पुष्य नक्षत्र में रहना शुभ माना गया है।[3] अतः स्पष्ट है कि यह रात्रि पहर में होता था। गर्भपात से बचाने के लिए गर्भवती स्त्री को रात्रि में बरगद की छाल का रस नाक के दाहिने छिद्र में डाला जाता था। वह स्त्री देवताओं की पूजा करती थी एवं व्रत रखती थी।[4] 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में वर्णित है कि यह संस्कार तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए होता था (**तस्यामाधत्त गर्भे स तेजस्विनुमुदारधीः। 3.17.12**)। पितृप्रधान समाज के कारण पुत्र-प्राप्ति की कामना स्वाभाविक ही थी क्योंकि पुत्र से ही वंश-परम्परा का निर्वाह संभव था। पुत्र भी वीर्यवान् हो, अतएव कछुए के पिता को पत्नी की गोद में डालकर 'सपर्णोऽसि .....'इस मंत्र से गर्भ का स्पर्श करे।

गर्भाधान की भाँति इस संस्कार के विषय में मतभेद यह है कि यह संस्कार स्त्री का है या उसके गर्भ का। यदि यह स्त्री का संस्कार है तो एक बार ही इसका विधान होगा और यदि गर्भ का है तो प्रत्येक गर्भाधान पर इसका विधान होगा।

**सीमान्तोन्नयन**

यह गर्भ धारण करने के उपरान्त तृतीय संस्कार है बौद्धायन गृह्यसूत्र में में

1. पराशर स्मृति 4.15
2. आप. गृ. सू. 1.13 एवं 2.7
3. पारस्कर-गृह्यसूत्र; 1.14
4. सुश्रुत, 38

उल्लेख है कि यह संस्कार गर्भिणी स्त्री को सम्मान एवं सत्कार देने के लिए सम्पन्न होता है क्योंकि गर्भ काल में माता के स्वस्थ एवं सुखी रहने पर गर्भस्थ बच्चा भी स्वस्थ होता है। अतः इसी उद्देश्य से सीमान्तोन्नयन (सीमान्त अर्थात् 'मांग' का उन्नयन अर्थात ऊपर निकालना) अर्थात् केशों को उठाकर मांग निकालकर यह संस्कार सम्पन्न कराया जाता था (**'सीमान्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत्सीमन्तोन्नयन।'**) यह वर्णन 'मंत्र-ब्राह्मण' में मिलता है। यह भी धारणा थी कि गर्भवतीस्त्री को अमंगलकारी शक्तियाँ दुःखी कर देती हैं ; अतएव इसके निवारणार्थ विशेष संस्कार का विधान किया जाना चाहिए। आश्वालयन गृह्यसूत्र में राक्षसियों द्वारा गर्भ को नष्ट करने की चर्चा है। इसका दूसरा प्रयोजन माता के लिए ऐश्वर्य एवं गर्भस्थ शिशु के लिए दीर्घायुष्य की कामना है।

इस संस्कार के समय निर्धारण पर विभिन्न गृह्यसूत्रों का पृथक्-पृथक् मत है। 'आश्व. गृह्यसूत्र' में इस संस्कार का समय गर्भाधान के चौथे मास में बताया गया है (**चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्।** 1.14) 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में कहा गया है -**'षष्ठेऽष्टमे वा सीमान्तोमसि'**- (1.11)। इसी का समर्थन 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' भी करता है- **'पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठे अष्टमेववा'** (1.15) यह संस्कार भी पुंसवन संस्कार की भाँति ही पुरुष नक्षत्र में स्त्री को उपवास कराकर स्नानोपरांत कोरे वस्त्र पहनाकर किया जाता था। 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' (1.15)में वर्णित है कि इसमें तिल एवं मूंग से स्थालीपाक पकाकर प्रजापति को आहुति दी जाती थी तथा अग्नि के पश्चिम में कोमल आसन पर बैठी पत्नी का पति 'भू भुंवः स्वः' बोलते हुए फलों से युक्त उदुम्बर वृक्ष की युग्म डंडी से तीन दर्भ के पवित्रों से तीन श्वेत निशान बनाने वाले कांटे से तथा पूर्ण सूत्रवाले तकले से सीमान्त (मांग) निकालता था। बाद में मंत्र बोलते हुए उदुम्बर की डंडी को स्त्री की चोटी में बाँध दिया जाता था। वेद मंत्र के साथ संस्कार सम्पन्न कराया जाता था। गर्भिणी स्त्री खिचड़ी की आहुति प्रजापत्य को देती थी। उपस्थित वृद्धाएँ और श्रेष्ठ स्त्रियाँ उसे वीर पुत्र जन्म देनेवाली कहकर आर्शीवचन देती थीं-**'ऊँ वीरसूस्तपं भव, जीवसुतस्वं भव जीवपत्नी त्वं भव'** (गौ. गृ. सू . 27 .13)। 'विष्णु-पुराण' 3.13.6 में कहा गया है-**सीमान्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने। नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्पत्यतो गृही।।** अर्थात् नान्दीमुख नामक पितरों (पूर्ववर्त्ती तीन पितरों) की पूजा करनी चाहिए। इसके बाद गाना बजाना तथा ब्राह्मण भोज होता था। सीमान्तोन्नयन संस्कार का उपर्युक्त विधि-विधान स्त्री को सम्मान, ऐश्वर्य, सुख एवं गर्भस्थ शिशु को स्वस्थ एवं दीर्घायु बनाता था। साथ ही शांति एवं सुविधा का वातावरण तैयार कर शारीरिक एवं मानसिक लाभ प्रदान करता था।

सीमान्तोन्नयन संस्कार के विषय में भी गर्भाधान एवं पुंसवन संस्कार की ही भाँति यह मतभेद है कि यह संस्कार स्त्री के लिए था अथवा गर्भ के लिए।

## जातकर्म संस्कार

प्रसवोपरांत जातकर्म संस्कार किया जाता था। शिशु जन्म जैसी मर्मस्पर्शी एवं विस्मयकारी घटना के अवसर पर संकट की आशंका को समाप्त करने के लिए जातकर्म नामक यह संस्कार संहिता-काल से ही प्रचालित था। मनु के अनुसार नाभि छेदन के पहले जातकर्म संस्कार सम्पन्न कराया जाता था (**प्राङ्. नाभिर्वधनात् पुसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसार्पिषाम्**।।2.29)। सोना, घी एवं मधु का गृह्योक्त मंत्रों से नवोत्पन्न बच्चे का प्राशन कराया जाता था। पिता सविधि स्नानादि करके नान्दीमुख पूजन करता था[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित है कि जब पुत्र जन्म लेता था, तब पिता स्वर्ण की शलाखा से शहद एवं घृत चटाता था या जिह्वा पर ऊँ लिखता था।[2] 'पारस्कर गृह्यसूत्र' (1.16) में भी बताया गया है कि पति **'एजतु दशमासस्य'**......मंत्र बोलता हुआ प्रसवकाल में पीड़ा वाली पत्नी पर जल छिड़कता है। जर के नीचे गिरने पर वह **'अवैतु पृश्निशेवलं'** ..... मंत्र पढ़ता है उत्पन्न हुए बच्चे का नाभिनाल कटने से पहले मेधाजनन एव' आयुष्य कर्म किये जाते हैं। मेधाजनन में सुवर्ण से ढ़की हुई अनामिका के द्वारा मंत्र बोलते हुए पिता के द्वारा नवजात को शहद एवं घी चटाया जाता है तथा आयुष्य कर्म में बच्चे की नाभि अथवा दाहिने कान में मंत्र बोला जाता है। जिस स्थान पर बच्चे का जन्म हुआ है उस स्थान को स्पर्श करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए एवं आयुष्य भावना से मंत्र पढ़ा जाता है। तदनन्तर पिता बच्चे को स्पर्श कर **'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव।आत्मा वै पुत्रनामासि स जीवेमशरदः शतम्'** यह मंत्र बोलता है। तदनन्तर बच्चे को मंत्र द्वारा स्तन पान कराया जाता है। गृह के द्वार पर सूतिकाग्नि स्थापित कर उसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके विधि-विधान एवं काल के विषय में अत्यन्त मतभेद के बाद भी इसका उद्देश्य पुत्र के आयुष्य हेतु ही प्रतीत होता है।

## नामकरण/नामधेय

हिन्दु परिवार में नाम का अत्यधिक महत्त्व रहा है। नाम प्रदान करने के लिए भी एक संस्कार का विधान था। बृहस्पति कहते हैं -**नामाखिलस्य व्यवहार हेतुः शुभावहं कर्म सुभाग्य हेतु नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्य ततः प्रशस्तं खलु नाम कर्म**। अर्थात् नाम लोक-व्यवहार के लिए आवश्यक है। जो शुभ कर्मों एवं भाग्य

---

1. विष्णु पुराण 3.10.4, 5; जातस्य जातकर्मादिक्रियाकाण्डभशेषतः। पुत्रस्य कुर्वीत् पिता श्राद्ध चाभ्युदयात्मकम्।।
2. आश्व. गृ. सू. 1.15.14

का आधार माना गया है। व्यक्तिगत नाम से ही मनुष्य की ख्याति होती है। इसी नाम को धारण करवाने के लिए नामकण संस्कार का निर्माण हुआ है। ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के उल्लेख से एक व्यक्ति के अनेक नाम रखने के चलन का बोध होता है। सायण 'तुरीय' शब्द की व्याख्या में कहते हैं कि नक्षत्रनाम, गुप्तनाम, व्यावहारिक नाम तथा यज्ञ करने के लिए रखा जानेवाला नाम (यथा-सोमयाजी) ऐसे चार नामों का प्रचलन था। नामकरण संस्कार के विधि-विधान की विस्तृत चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों में है। मनु के अनुसार दसवें या बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मूहूर्त्त में नामकरण संस्कार का आयोजन करना चाहिए। **नामधेयं दशभ्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मूहूर्त्ते या नक्षत्रे वा गुणान्विते**।। 2.30)। नामकरण संस्कार के लिए निश्चित की गयी तिथियों पर मतभेद है। विश्वरूप और कुल्लूक के अनुसार ग्यारहवें दिन[1] मेधातिथि के अनुसार दसवें दिन तथा बृहस्पति के अनुसार दसवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें एवं बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए। बाण ने कादम्बरी में लिखा है कि तारापीड ने अपने पुत्र चन्द्रपीड का नामकरण पुष्प मूहूर्त्त में किया था (**प्राप्ते दशमेहनि पुष्ये मूहूर्त्ते चन्द्रापीड इति नाम चकार**)। संस्कार के समय माता अपने बच्चे को वस्त्र में ढ़क कर तथा उसके सिर को जल से पवित्र करके उसके पिता की गोद में रख देती थी और तत्पश्चात् विभिन्न देवताओं का पूजन करके उन्हें आहुतियाँ दी जाती थी। तदनन्तर नामकरण होता था। सूत्र-साहित्य में दो अक्षरों, चार अक्षरों वाला, आदि में घोष वर्णवाला, बीच में अन्तस्थ वर्णवाला और अन्त में दीर्घ स्वर या विसर्ग वाला तथा कृत् प्रत्ययान्त वाले नाम शुभ बताए गये हैं। कन्या का नाम विषय अक्षरों वाला एवं तद्धित प्रत्ययान्त श्रेयस्कर बताया गया है। मनु का कहना है कि स्त्री का नाम सुखकर, उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मंगलसूचक, अन्त में दीर्घ अक्षरवाला एवं आशीर्वाद से युक्त होना चाहिए (**स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विष्पष्टार्थ मनोहरम्। माङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्**।। -(2.33) आपस्तम्ब गृ. सू. में नदी एवं वृक्ष के नाम पर भी पुत्रियों के नाम रखने का परामर्श है क्योंकि मनु के अनुसार ब्राह्मणों को मंगलसूचक, क्षत्रियों को बलसूचक, वैश्यों को धनसूचक एवं शूद्रों को निन्दासूचक नाम से युक्त होना चाहिए।[2] बौधायन गृह्यसूत्र (1.1.10) में उल्लिखित है - **शर्मान्तं ब्राह्मणस्य, वर्मान्तं क्षत्रियस्य, गुप्तान्तं वैश्यस्य...शूद्रस्य दासन्तमेव वा**। अन्यत्र द्विजों के नाम देवबोधक रखने का परामर्श

---

1. कुल्लूक मनु. 2.30
2. मनु. 2.31 मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलन्वितयतत्।
   वैश्यश्च धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।

है।[1] इस प्रकार उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि यह संस्कार अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलन में था।

### निष्क्रमण

निष्क्रमण की व्युत्पत्ति दी गयी है - **'क्रमु पादविक्षेपे'** तथा घञ् प्रत्यय अर्थात् पैर का विक्षेप अर्थात् बाहर निकालना। जन्म से निश्चित अवधि के बाद जब संन्तान को पहली बार घर के बाहर निकाला जाता था तो वह निष्क्रमण कहलाता था। नवजात शिशु में रोगों से प्रतिरोध की क्षमता क्षीण होती है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, उसमें प्रतिरोधक क्षमता का विकास होता है। तब उसे पारिवारिक वातावरण अथवा प्रसूति कक्ष से बाहर लाया जाता है। इसी अवसर पर निष्क्रमण संस्कार होता है। इस संस्कार में हर्ष के साथ बाहरी संकटों से शिशु की रक्षा की चिंता भी थी। विष्णु धर्मोतर में वर्णित है **'अप्रमत्तं वा दिवा रात्रावथापि वा। रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रप्रोगमाः।** अतः संस्कार की मूल भावना शिशु-रक्षा की थी।

यह संस्कार प्रायः जन्म के बारहबें दिन से चौथे मास तक सम्पन्न हो जाता था। पारस्कर-गृह्यसूत्र (1.17)में उल्लेख है- **''चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।''** मनु-स्मृति (2.34) के अनुसार भी बालक का निष्क्रमण जन्म के चौथे महिने में होना चाहिए **( चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोनिष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेन्नप्राशनं मासिं यद्वेष्टं मंगलं कुले।। )** इस प्रकार एक निश्चित मंगलमय तिथि को पूजा पाठ के बाद संतान को घर के बाहर प्राकृतिक वातावरण में लाया जाता था घर के किसी ऐसे हिस्से को गोबर से लिप कर पवित्र किया जाता था, जहाँ से सूर्य का दर्शन संभव था। स्वस्तिक का चिन्ह बनाकर उसपर धान डाले जाते थे। शिशु को स्नान कराकर नवीन वस्त्र धारण कराकर यज्ञ में शामिल किया जाता था। तत्पश्चात् माँ की गोद में शिशु को देकर सूर्य का दर्शन कराया जाता था। सूर्य का दर्शन तीसरे माह एवं चन्द्रमा का दर्शन चौथे माह कराने का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः इस संस्कार का मूल उद्देश्य बच्चे को प्राकृतिक जीवन में लाकर तथा सूर्य एवं चन्द्र जैसे नक्षत्रों के प्रकाश में उसके स्वच्छन्द विकास पर बल देना था।

### अन्नप्राशन

बच्चे को अन्न देना ही अन्नप्राशन है। जब बच्चे को प्रथम बार अन्न ग्रहण कराया जाता था, तो उसके लिए भी संस्कार का विधान था। यह संस्कार अन्नप्राशन कहलाता था। बच्चे का शरीर जैसे-जैसे विकसित होता है, उसे अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जो माँ के दूध से पूरा नहीं होता है, अतएव पाँच-छह महीने

---

1. खारि गृ.सू. 2.4.12, को नामासीत्यक्तो देवताश्रयम्।

का होने पर बच्चे को अन्न देना जरूरी हो जाता है।[1] अतः अन्नप्राशन द्वारा बच्चे को अन्न ग्रहण कराया जाता है। शिशु के दांत निकलने पर प्रथम बार अन्न खिलाने को **'प्राशित्र'** कहा जाता था।[2] इस संस्कार में दूध, दही, घी एवं पका हुआ चावल बच्चे के मुख से स्पर्श कराया जाता था। शिशु की वाणी में प्रवाह लाने के लिए भारद्वाज पक्षी का मांस एवं उसकी कोमलता के लिए मछली खिलाने का प्रावधान था। किन्तु हिन्दू परिवारों में मांस भक्षण का चलन कम था। इस संस्कार के अन्त में ब्राह्मण भोज का भी उल्लेख है जो उनके मांस भक्षी होने का संकेत देते हैं।

पारस्कर गृ. सू. का उपर्युक्त कथन बच्चे के लिए लाभकारी प्रतीत नहीं होता है। अतः सुश्रुत ने ठीक ही कहा है कि शिशु को छठे महीने में थोड़ा और हितकारी अन्न खिलाया जाना चाहिए **(षण्मासञ्चैनमन्नं प्राशयेल्लघुहितञ्च)** इसीलिए अन्नप्राशन में दूध में पकाया हुआ खीर खिलाया जाता है।

शिशु को प्रथम भोजन कराने की प्रथा पारसियों में मिलती है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि यह 'अन्नप्राशन' संस्कार भारत-ईरानी संबंधों के कारण भारतीय संस्कृति का अंग बन गया होगा। संहिताओं एवं उपनिषदों में भोजन की स्तुतियाँ मिलती हैं, किन्तु इनका अवसर प्रथम भोजन है, यह संदिग्ध है। संस्कार के रूप में सर्वप्रथम सूत्रों में ही इसका वर्णन मिलता है।

## चूड़ाकर्म/केशान्त

चूड़ा का अर्थ 'चूड़ी' अथवा 'शिखा' होता है। इस संस्कार में शिखा को छोड़कर गर्भकाल के सिर के सभी बाल और नख कटवा दिये जाते थे। ऐसी मान्यता थी कि चूड़ाकरण से दीर्घायु एवं कल्याण प्राप्त होता है।[3] और इसे सम्पन्न न करने से व्यक्ति की आयु क्षीण हो जाती है। चरक के अनुसार केश, मूंछ तथा नखों के काटने से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता एवं सौन्दर्य की प्राप्ति होती है **(पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्। केशश्मश्नुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्)**। डॉ. राजबली पाण्डेय का विचार है- "चूड़ाकरण संस्कार के मूल में स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की भावना ही मुख्य थी" (हिन्दू संस्कार, पृ. 120)।

इस संस्कार को सम्पन्न कराने का समय विभिन्न शास्त्रों में उल्लिखित है। मनु स्मृति (2.35) में उल्लेख है कि बालकों का चूड़ाकरण (मुंडन) संस्कार वेद एवं धर्म-सम्मत रूप से पहले या तीसरे वर्ष में कराया जाना चाहिए। **(चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥)**

---

1. शङ्ख; अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ. 28, संवत्सरेऽन्नप्राशनमर्धसंवत्सर इत्येके।
2. शब्दानुशासन, 6.4.25; बालस्य यत्प्रथम भोजनं तदुच्यते प्राशित्रम्।
3. पा. गृ. सू. 2.1, 1.2

पारस्कर गृ. सू. (1.19) के अनुसार यह संस्कार जन्म के प्रथम, तीसरे, पाँचवे या सातवें वर्ष की समाप्ति से पहले करना चाहिए। किन्तु अधिकांश गृ. सू. में इसे तीसरे साल सम्पन्न करने की सलाह देते हैं[1] जबकि आश्वलायन गृह्यसूत्र पारिवारिक-परम्परा एवं रीति-रिवाजों के अनुसार इस संस्कार को करने की सलाह देता है। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार माता ब्राह्मणों को भोजन कराकर, बच्चे को नहला कर, कोरे दो वस्त्र पहनाकर, गोद में लेकर अग्नि के पश्चिम बैठती थी, तदनन्तर पिता माता के कन्धे को छूकर आज्याहुतियाँ देता एवं मंत्र पढ़ता था। लम्बे कर्मकण्डोपरांत बालों का मुण्डन (चोटी को छोड़कर) होता था।

'आश्वलायन-गृह्यसूत्र' के अनुसार लड़कियों का भी मुण्डन किया जा सकता था, किन्तु बिना वैदिक मंत्रों के। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य भी इस कथन का समर्थन करते हैं।[2] मुण्डन संस्कार का उल्लेख यजुर्वेद में भी है जिसमें पिता द्वारा पुत्र के केशच्छेदन का उल्लेख है एवं अथर्ववेद में नाई को सविता का प्रतीक बताकर सम्मान दिया गया है। शिखा रखने की परम्परा के विषय में सुश्रुत का मत है कि मस्तिष्क के भीतर ऊपर भाग में शिखा एवं सन्धि का सन्निपात है। इस अंग पर आघात मृत्यु का कारण बन सकता है। इसीकारण शिखा रखने का प्रचलन प्राचीन काल से ही है। कालक्रम में यह शिखा जाति-बोधक हो गया।

### कर्णवेध

हिन्दू संस्कार में यह व्यवस्था वैदिक कालीन है।[3] यह संस्कार सौन्दर्य एवं अलंकरण हेतु सम्पन्न होता था किन्तु सुश्रुत का मत है कि रोग से निराकरण एवं अलंकरण के निमित्त कानों का छेदन करना चाहिए **(रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्थ कर्णौ विध्येत्।)** सुश्रुत का ही मानना है कि अण्डकोष की वृद्धि तथा आंत वृद्धि निरोध के लिए भी कर्णवेध संस्कार आवश्यक है।

इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त समय को लेकर विभिन्न शास्त्रकारों में मत वैभिन्य है। बृहस्पति के अनुसार यह संस्कार जन्म के दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन किया जाता है। गर्ग ऋषि के अनुसार यह संस्कार छठे, सातवें, आठवें, अथवा बारहवें मास में सम्पन्न करने का प्रावधान है **(प्रथमे, सप्तये वापि अष्टमे दशमेथवा। द्वादशे वा प्रकुर्वीत कर्णवेधं शुभंवहम्।)**[4] कात्यायन तीसरे या पाँचवें वर्ष के निर्देश के साथ शुभ दिन में पूर्वाभिमुखासीन बालक के

---

1. आश्व. गृ. सू. 1.17.18, आप. गृ. सू. 16.3.10, गो. गृ. सू. 2.91.-29
2. मनु II. 66, याज्ञ, I. 13
3. अथर्व. 6
4. गर्ग, उद्धृत हिन्दू संस्कार, पृ. 130

क्रमशः दायें, बांयें कान को छेदन का निर्देश करते हैं। श्रीपति बालक के दांत निकलने से पूर्व इसका विधान करते हैं जबकि सुश्रुत ने छठा या सातवाँ वर्ष इसके लिए श्रेयस्कर माना है।[1]

इस संस्कार का सम्पादन विभिन्न धार्मिक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होता था। यद्यपि इस संस्कार का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकरण हेतु ही इसे बाद में धार्मिक रूप से संस्कार में सम्मिलित किया गया होगा। क्षत्रियों का कान स्वर्ण की सूई से, ब्राह्मण एवं वैश्य बालक का कान चाँदी की सूई से तथा शूद्र बालक का कान लौह सूई से छेदा जाता था। प्रायः स्वर्ण एवं ताम्र सूई से ही कर्णच्छेदन होता था। प्रथम दाहिना कान तदनन्तर बांया कान छेदा जाता था। तदनन्तर सुवर्ण बाली कानों में डाल दी जाती थी। आधुनिक काल में यह संस्कार धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है।

**विद्यारम्भ**

जब बालक शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता, तब विद्यारम्भ संस्कार कराया जाता था। यह संस्कार वस्तुतः अक्षरारम्भ संस्कार था। संतान के जन्म के पाँचवे वर्ष एवं उपनयन से पूर्व यह संस्कार सम्पादित होता था। शुभ मुहूर्त्त में शिक्षक द्वारा पट्टी पर 'ओइम्' और स्वस्तिक के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को अक्षरारम्भ कराया जाता था। इसमें गणपति पूजन, सरस्वती पूजन अथवा गृह देवता को पूजा जाता था। इसके साथ यज्ञ भी होता था जिसमें पूर्वाभिमुख बच्चे को रखकर अक्षर का आरम्भ करवाया जाता था। तदनन्तर गुरु को वस्त्र, धन, आभूषण आदि भेंट में प्रदान किया जाता था। वस्तुतः यह संस्कार बुद्धि एवं ज्ञान का संस्कार था। बालक को मानसिक तौर पर सबल एवं सशक्त बनाने के लिए ही यह संस्कार सम्पन्न कराया जाता था। अपरार्क 30-31 एवं स्मृति चन्द्रिका-1 में मारकन्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि सन्तान के विद्यारम्भ की अवधि 5 वर्ष थी। इस संस्कार के बाद बच्चे लिपि ज्ञान एवं संख्या ज्ञान पाते थे।

**उपनयन**

उपनयन शब्द 'उप' उपसर्गक 'नी' धातु एवं 'ल्युट् प्रत्यय' से मिलकर बना है जिसका अर्थ है निकट ले जाना, उपहार, भेंट, जनेऊ संस्कार। उपनयन का अभिप्राय स्वाध्याय अथवा वेद के अध्ययन से है, जब बालक अध्ययनार्थ आचार्य के समीप जाता था। **गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः, बालो वेदाय तद्योगात् बालस्योपनयनं विदुः।** पुनः यज्ञ के उपवीत के रूप में अर्थात् यज्ञोपवीत के रूप

---

1. सुश्रुत 16.1

में उपनयन संस्कार होने लगा, जो यज्ञ करने का अधिकार प्रदान करता था। मनु कहते हैं-**'आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयद्विज'**।[1] स्पष्ट है कि उपनयन का अधिकार मात्र द्विजों को था अर्थात् इस संस्कार को सम्पन्न कराकर बालक द्विज जाति में सम्मिलित हो जाता था। यह संस्कार शूद्रों को छोड़कर शेष तीनों वर्ण के लिए विहित था। यह संस्कार इस बात का द्योतक था कि अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित गंभीर एवं अनुशासित जीवन प्रारम्भ हुआ। शैक्षणिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से इस संस्कार की अत्यन्त महत्ता थी, इस संस्कार का संबंध बौद्धिक-उत्कर्ष से होने के कारण हिन्दू समाज में इसका अत्यन्त महत्त्व था। इसके माध्यम से व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम और देव सानिध्य प्राप्त करता था ताकि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीनों वर्ण के लिए यह विधान था, क्योंकि जन्म से वे समाज के अंग नहीं माने जाते थे, बल्कि जब उनका उपनयन संस्कार हो जाता था, तब वे समाज के सदस्य माने जाते थे। उपनयन संस्कार के बिना सभी शूद्र की श्रेणी में आते थे। इसे सम्पन्न कराकर ही कोई 'द्विज' नाम से जाना जा सकता था। इसका अस्तित्व यद्यपि संहिताओं के समय से था, फिर भी पारसियों में होनेवाले 'नौजात' संस्कार इसको और भी पूर्ववर्त्ती बना देते हैं।

गौतम एवं मनु के अनुसार उपनयन संस्कार का समय वर्णानुसार भिन्न-भिन्न था। ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत करना चाहिए **( उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे। एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः॥ )**[2] पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (3) में उल्लेख किया है-**'गर्भाष्टमे ब्राह्मण उपनेय इति सकृदुपनीय कृतः शास्त्रार्थः॥'** अर्थात् ब्राह्मण परिवार में यह संस्कार प्रायः बालक के आठवें वर्ष में किया जाता रहा। बालकों के उपनयन की आयु के लिए पारस्कर का मत भी मनु के समान ही है- **''अष्टमवर्ष ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे वैकादश वर्ष राजन्यं द्वादशवर्ष वैश्यं यथा मगलं वा सर्वेषाम्।''** पा. गृ. सू. 2.2 इस संस्कार को सम्पन्न करते समय बालक को तीन सूत्रों वाला धागा (यज्ञोपवीत) दिया जाता था। नव तन्तुओं से निर्मित तीन सूत्रों वाला यज्ञोपवीत ब्राह्मणों के लिए था। यज्ञोपवीत भी वर्णानुसार भिन्न-भिन्न था। मनु के अनुसार ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का ऊन का बना हुआ तीन सूत्रों वाला यज्ञोपवीत

---

1. मनु. 2.108, 178
2. गौ. ध. सू. 1.6.12

   मनुस्मृति 2.36 में भी उल्लिखित है-गर्भाष्टमेशब्द कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्।

   गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

होना चाहिए (**कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥**)।[1]

पारस्कर-गृह्यसूत्र के द्वितीय-काण्ड की दो से पाँच कंडिकाओं में उपनयन संस्कार के विधि-विधान, योग्यताओं एवं वर्जनाओं का उल्लेख है। इसमें भी कहा गया है कि विभिन्न वर्णों का उपनयन शास्त्रनिर्धारित उम्र को कर देना चाहिए। किन्तु, यदि निर्धारित उम्र सीमा में यदि उपनयन नहीं होता है तो ब्राह्मण का उपनयन अधिक से अधिक सोलह साल के भीतर, क्षत्रिय का बाईस वर्ष और वैश्य का चौबीस वर्ष के भीतर हो जाना चाहिए। इसके बाद ये पतित सावित्रीक कहे जाते हैं। तब न कोई इन्हें उपनयन कराये, न वेद पढ़ाये, न यज्ञ का अधिकारी हो और न ही कोई अपनी कन्या उसे दान दे। यदि तीन पीढ़ी तक (लगातार) यदि पतित सावित्रीक हो, तो उनकी सन्तति में न कोई संस्कार हो और न कोई उन्हें वेद पढ़ाये। व्रात्यस्तोम से यजन करके अर्थात् प्रायश्चित् पूर्वक इन्हें वेद पढ़ने की अनुमति है। पुनः उपनयन के उपरांत प्रत्येक वेद के अध्ययन हेतु बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का विधान है अथवा जितने समय में वेद पढ़ लिया जाय, तब तक ब्रह्मचर्य अनिवार्य था। वेदाध्ययन पर्यन्त तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख मिलता है- विद्या स्नातक, व्रत स्नातक एवं विद्याव्रत स्नातक। विद्या स्नातक वह है जिन्होंने वेद का अध्ययन तो कर लिया है किन्तु व्रत समाप्त किए बिना समावर्तन कर लिया है। व्रत स्नातक वह है जिसने व्रत तो समाप्त कर लिया किन्तु वेदाध्ययन अधूरा ही किया है। विद्याव्रतस्नातक वह है जिसने दोनों को समाप्त कर समावर्तन किया है।

उपनयन के अवसर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारियों के अधोवस्त्र क्रम से सन, क्षौम एवं ऊन के, उत्तरीय क्रमशः मृगचर्म, रुरुचर्म, बकरी अथवा गाय की खाल का हो -इनके अभाव में सभी का गाय के खाल का हो। इन ब्रह्मचारियों की मेखला भी क्रमशः मूंज, धनुष की प्रत्यञ्चा तथा मूर्वा की हो इनके अभाव में क्रम से कुश, अश्मन्तक और बल्ब की मेखला का भी प्रावधान है। ब्रह्मचारियों का दण्ड भी वर्णानुसार निर्धारित था -ब्राह्मणों के लिए ढ़ाक का, क्षत्रियों के लिए बिल्ब का तथा वैश्य के लिए गुलर का हो।

उपनयन संयोजना के अवसर पर सवितृ देवता की उपासना ऋचाओं को बोलकर की जाती थी। पा. गृह्यसूत्र में उल्लेख है कि ब्राह्मणों को त्वरित गायत्री छंद में सावित्री का उपदेश किया जाए क्योंकि श्रुति कहती है **अग्नेयो वै ब्राह्मणः**। क्षत्रिय को त्रिष्टुप् छंद में सावित्री का उपदेश करे और वैश्य को जगती छंद में अथवा सभी को गायत्री ही छंद में सावित्री का उपदेश करे, क्योंकि सावित्री-मंत्र बुद्धि एवं ज्ञान के उत्कर्ष का प्रमुख प्रेरक-तत्व था।

1. मनु. 2.44

उपनयन के अवसर पर भिक्षा मांगने का भी विधान था वह भी वैसी स्त्रियों से जो भिक्षा देने से इन्कार न करे। कुछ आचार्यों का कहना है कि भिक्षा सर्वप्रथम माता से मांगनी चाहिए। भिक्षाटन नम्रता एवं सदाचारिता का प्रतीक था। जो ब्रह्मचर्य जीवन के लिए आवश्यक था। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि ब्रह्मचारी सम्पूर्ण समाज पर आश्रित था। वह समाज के प्रति उत्तरदायी था। उपनयन संस्कार के विधि-विधान कि यदि हम चर्चा करें तो उपनयन से एक दिन पूर्व लक्ष्मी, गणेश एवं सरस्वती आदि विभिन्न देवी देवताओं की पूजा होती थी। रात भर ब्रह्मचारी बालक मौन रहता था। माँ बाप उपनयन के दिन, ब्रह्मचारी बालक के साथ भोजन करते थे। बालक स्नानादि करके कौपीन पहनता था तथा कमर में शास्त्रोक्त मेखला पहनता था। उसके जनेउ के तीन सूत्र सत्, रज एवं तम तीन गुणों के प्रतीक थे। साथ ही, ये धागे पितृऋण, ऋषि-ऋण एवं देव-ऋण का भी स्मरण कराते रहते थे। दण्ड आत्म-रक्षार्थ था और दायें हाथ की अंगूठी (पवित्री) पहनने का उद्देश्य उस हाथ से प्राप्त होने वाले दान को मंगलकारी बनाना था।

इस अवसर पर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था आचार्य अग्नि से पश्चिम में ब्रह्मचारी को बैठाकर उससे प्रतिज्ञा करवाता था कि वह ब्रह्मचारी बन रहा है। तदनन्तर उसे ब्रह्मचारी योग्य वस्त्र, दण्ड, जनेउ, मेखला आदि देता है। मंत्रों को कहवाता हुआ तीन वार अ़ञ्जलि में जल भरता है तथा मंत्रों के साथ सूर्य दिखाता है। कर्म करने, दिन में आलस्य न दिखाने एवं वाणी को वश में रखने का वचन आचार्य ब्रह्मचारी से लेता था। ब्रह्मचारी का जीवन कठिन होता था। इसकी विस्तृत चर्चा आश्रम व्यवस्था में की गयी है।

पुराणों में उपनयन संस्कार के अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं-राजा सगर का उपनयन संस्कार पर्यन्त और्व द्वारा विद्याध्ययन करवाया जाना[1], उपनयन संस्कार सम्पन्न होने के पर्यन्न कृष्ण और बलराम का संदीपनि मुनि द्वारा शिक्षा ग्रहण करना। ये उद्धरण उपनयन संस्कार की महत्ता के द्योतक है। हिन्दू समाज में जीवन को संतुलित, अनुशासित, संवर्द्धित करने में उपनयन संस्कार की अहम भूमिका थी। इससे निर्लिप्त एवं निस्पृह जीवन के साथ शैक्षणिक दिशा निर्धारित होती थी।

### वेदारम्भ

वैदिक युग में वेद एवं वेदाङ्ग का अध्ययन शिक्षा का प्रधान अंग था। उपनयन संस्कार के साथ ही वैदिक अध्ययनाध्यापन का प्रारभ्भ हो जाता था। किन्तु परवर्त्ती काल में संस्कृत बोल-चाल की भाषा नहीं रही, ऐसी स्थिति में उपनयन शारीरिक संस्कार का प्रतीक बन गया। अत: उपनयन संस्कार से पूर्व ही वैदिक साहित्य के

1. विष्णु पुराण 4.3.37

अध्ययन अध्यापन के लिए वेदारम्भ संस्कार किया जाने लगा। वेदारम्भ संस्कार में आचार्य ब्रह्मचारी को अनेक उपदेश देकर संस्कार के बाद एक वर्ष के भीतर ही गायत्री मंत्र की दीक्षा के साथ अपना अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ कर देता था। मनु स्मृति (2.70) में उल्लेख है–

**अध्येष्यमाणस्तृवाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्.मुखः ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।।** अर्थात् वेदाध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी को शास्त्रोक्त-विधि से आचमन करते हुए, ब्रह्माञ्जलि बांधकर, हल्के वस्त्र को धारण कर जितेन्द्रिय होना चाहिए। यह परवर्त्ती संस्कार है जिसका उल्लेख मात्र व्यास स्मृति में है।

## केशान्त या गोदान

गृह्यसूत्र में इस संस्कार की गणना चूड़ाकरण संस्कार के साथ ही वर्णित है, क्योंकि इसका संबंध भी केशों से है। इस संस्कार में आचार्य को गौ दान में दिया जाता था, इसलिए इसे गोदान-संस्कार भी कहते है। गौतम ने चार वेदव्रतों की चर्चा की है। आश्वलायन ने भी चार वेदव्रतों का उल्लेख किया है महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद् एवं गोदान। इनमें से प्रथम तीन विलुप्त हो गये। ब्रह्मचारी के सोलहवें वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न होता था।[1] जब उसकी दाढ़ी आदि का पहली बार क्षौर कर्म होता था। मनु का मानना है गर्भ के सोलहवें वर्ष ब्राह्मण का, बाइसवें वर्ष क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष वैश्य का केशान्त समारोह सम्पन्न करना चाहिए (**केशान्तः पौडषे वर्षे ब्राह्मस्य विधीयते। राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्वयधिकेततः।।** 2. 65)। कभी-कभी यह संस्कार विवाह से पूर्व भी सम्पन्न कराया जाता था। यह संस्कार ब्रह्मचारी के तरूण अवस्था में प्रस्थान को द्योतित करने वाला था। परवर्त्ती काल में यह मुण्डन संस्कार में ही समाविष्ट हो गया।

## समावर्तन

समावर्तन का अर्थ है - **'तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरुकुलाद् स्वगृहागमनम्'** अर्थात् वेदाध्ययनोपरांत गुरुकुल से अपने घर को प्रत्यावर्तन का नाम समावर्तन है।[2] शिक्षा समाप्ति पर्यन्त जब ब्रह्मचारी अपने गृह की ओर प्रस्थान करने की तैयारी में होता था, तब गुरु-आश्रम में गुरु द्वारा ब्रह्मचारी का समावर्त्तन संस्कार होता था। इसे स्नान संस्कार भी कहते हैं, क्योंकि इस संस्कार में ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता था। ब्रह्मचारी को एक कमरे में बन्द कर दिया जाता था। मध्याह्न में ब्रह्मचारी गुरु को प्रणाम करके अपने द्वारा इकट्ठा किए गये समिधा से हवन करता

---

1. याज्ञ. स्मृ. 1.36
2. वीरमित्रोदय-1, पृ. 534

था। वहाँ जल से भरे आठ कलश रखे होते थे, जो उसकी विद्या के आठ दिशाओं में प्रसार के प्रतीक हुआ करते थे जिससे वह स्नान करता था तथा अपनी पवित्रता, यश, ऐश्वर्यादि के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। स्नान पर्यन्त ब्रह्मचर्य के प्रतीक दण्ड, मेखला, मृगचर्म आदि का त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता था। अपने बाल और नाखून कटवा कर स्वच्छ हो जाता था। उस अवसर पर गुरु शिष्य को दर्पण, जल पुष्पादि प्रदान करता था और यह कामना की जाती थी कि नव-स्नातक को अधिकाधिक शिष्य प्राप्त होंगे। इस प्रकार स्नातक आचार्य का आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त कर गृह की ओर प्रत्यावर्तन करता था। वस्तुतः यह संस्कार शैक्षणिक जीवन से व्यावहारिक जीवन में लौटने का प्रतीक था। समावर्तन-संस्कार की प्रमुख बातें यह थी कि समावर्तन गुरु की आज्ञा से ही होता था। यह ब्रह्मचर्य की समाप्ति की घोषणा थी। दूसरी ओर यह व्यावहारिक जीवन का सवेरा था। अतएव इस अवसर पर शरीर पर चन्दनादि का अवलेप किया जाता एवं छत्र, जूते और बेंत धारण किये जाते थे। इस अवसर पर ब्रह्मचारी द्वारा गुरु को दान का भी उल्लेख 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में मिलता है। यह संस्कार उपनयन का पूरक था।

### विवाह

विवाह गृहस्थ जीवन की आधार शिला है। गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है अतः सभी संस्कारों में विवाह नामक संस्कार का सबसे अधिक महत्त्व है। व्यक्ति का गृहस्थाश्रम में प्रवेश विवाह-संस्कार से ही होता है। समाज एवं परिवार के प्रति दायित्व में बढ़ोतरी हो जाती है। विवाह एक ऐसी संस्था है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष संबंध मर्यादित रूप से संचालित होते हैं। स्त्री एवं पुरुष के बीच काम संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए 'विवाह' नामक सामाजिक-संस्था को स्वीकार किया जाता है। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले उल्लेख यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उस समय भी विवाह की प्रथा थी। मनु इसे 'नित्यलोक यात्रा' कहते हैं (**एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्री पुंसयोः शुभाः** IX 25) जिसका अर्थ है कि भारतीय समाज में यह प्रथा अनादिकाल से चली आ रही थी। सामान्यतः आज भी विवाह को एक अनुबंध के रूप में स्वीकार किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता कहती है "**जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवां जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणे यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी** (6/3/10/15)। तीन ऋणों में से दो पितृऋण एवं देवऋण को चुकाने के लिए विवाह आवश्यक है। पाणिनी ने पत्नी को साहचर्य करनेवाला कहा है (**पत्युर्नो यज्ञ संयोगे** IV. 1.33)। इस प्रकार पितृऋण एवं देवऋण को चुकाने के लिए एवं वंश परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए 'विवाह नामक

संस्था का निर्माण हुआ (**प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानर्थकञ्च मानवाः। तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः-मनु.** IX 96)

धर्म-सूत्रों एवं स्मृतियों में विवाह की आठ विधियों एवं गृह्यसूत्र में इनके विधि विधानों की विस्तृत चर्चा है जिन्हें विवाह नामक अध्याय में वर्णित किया गया है।

## अन्त्येष्टि

यह संस्कार जीवन के गुजरने के बाद किया जाने वाला संस्कार था, जो मृत व्यक्ति के परलोक में शांति की कामना के लिए सम्पन्न किया जाता था। सभी संस्कार जीवन को उत्कर्ष प्रदान करनेवाले थे जबकि मृत्योपरांत किया जाने वाला अन्त्येष्टि संस्कार परलोक के सुख के लिए था। इसीलिए अनेक सूत्रकार इसे संस्कार की सूचि में नहीं रखते। अशुभ एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायक न होने के कारण विभिन्न संस्कारों में इसकी गणना अनिवार्य नहीं समझी गयी, किन्तु यह भी सच है कि आज के प्रचलित संस्कारों में अन्त्येष्टि की महत्ता उसी प्रकार है जिस प्रकार विवाह की। मात्र याज्ञवल्क्य स्मृति (I 10) में इसका उल्लेख मिलता है।

इस संस्कार के अन्तर्गत पार्थिव शरीर का दाह संस्कार होता था। दाह-क्रिया के पूर्व धार्मिक कृत्य कर शव को बांस की अर्थी पर ले जाया जाता था, जिसमें मृतक के सगे संबंधी सम्मिलित होते थे। स्त्रियों एवं बच्चों का श्मशान जाना वर्जित था। सब को स्नान कराकर घी, नारियल, कुश के साथ लकड़ियों की चिता पर रखकर दाह-क्रिया की परम्परा थी। अग्नि प्रज्वलित करते समय मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। शवदाह के बाद अशौच की स्थिति होती थी। जो तेरहवें दिन पीपल में जल देने के बाद समाप्त होती थी। पिंडदान, श्राद्धकार्य एवं ब्राह्मण भोज[1] भी अन्त्येष्टि क्रिया के विधि-विधान में शामिल थे। जो आज भी हिन्दू समाज का प्रचलित संस्कार है।

इस प्रकार ये सोलह संस्कार ही प्रमुख रूप से हिन्दुओं द्वारा समाज में सर्वाधिक मान्य थे जिनकी पुष्टि गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रों एवं समृतिग्रन्थों से होती है। इनमें से अधिकांश संस्कार मात्र द्विजों के लिए विहित थीं, जो कालान्तर में द्विजों के संकुचित अर्थ 'ब्राह्मण' वर्ण के लिए ही विहित रह गये। स्त्रियों को अधिकांश संस्कारों से वंचित रखा गया। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म की इन कुरीतियों को नयी दिशा प्रदान की और सभी संस्कार सम्पूर्ण मनुष्य के लिए करणीय हो गये। इनमें से अधिकांश संस्कार मानव-जीवन के पूर्वार्द्ध में ही सम्पन्न हो जाते थे। मनोविश्लेषण

---

1. विष्णु पु. 3.13.20, अयुजो भोजयेत्कामं द्विजानन्ते ततो दिने।
   दद्याद्दर्भेषु पिण्डं च प्रतायोच्छिष्टसन्निधौ।।

एवं समाजशास्त्रीय विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ एवं उत्थान की ओर ले जाने के लिए इन संस्कारों से बँधा हुआ था, जिससे उसकी सामाजिक परिधि भी विस्तृत होती थी।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संस्कारों का प्रचलन मंद पड़ने लगा एवं इसके सम्पन्न कराने में शिथिलता आने लगी। अत्यधिक कर्मकाण्ड के खर्चीला होने से भी लोगों में इन संस्कारों का प्रचलन कम होने लगा। मात्र आवश्यक संस्कार ही हमारे जीवन के अंग बने रहे। विज्ञान परक एवं परिवर्तनशील समाज ने अधिकांश संस्कारों को अस्वीकार कर दिया।



# अध्याय-6

# प्राचीन भारत में नारी

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**

प्रकृति ने प्रत्येक रचना के पूरक रूप में विपरीत रचना की है। माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि। ये सभी एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। पुरुष शारीरिक रूप से बलशाली है एवं स्त्री दुर्बल, कोमल एवं कमजोर। इसीकारण प्राचीन काल से ही नारी दबी, कुचली, उपेक्षिता, आश्रिता एवं अबला समझी गयी। वह प्राचीन काल से ही पुरुषों के लिए एक वस्तु के समान हस्तांतरित होती रही है।

नारी की सामाजिक एवं पारिवारिक अवस्था का सही आंकलन स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाले पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति जाने बिना अधूरा रह जाएगा। स्त्री एवं उसके पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप में बताई गयी है -

1. नारी - **नृ** धातु से निष्पन्न **नर वा जातौ ङीष्।**

2. स्त्री - **स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम् - स्त्यै + ड्रप् + ङीप्।**

अर्थात् स्त्री जहाँ एक ओर नर की सहवासिनी थी, वहीं वह उपभोग की वस्तु समझी गयी थी। इसे सिर्फ जननी के रूप में भी देखा गया था। नारी की सामाजिक स्थिति में काल के अन्तराल के साथ ही परिवर्तन होता रहा। किसी काल में यह अनादृत एवं शोषित होती रही, तो किसी काल में यह अत्यन्त आदृत, प्रतिष्ठित, सर्वशक्ति-सम्पन्ना एवं सम्पत्ति की प्रतीक समझी गयी। अतः नारी की विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् काल-खण्डों में विभक्त कर अध्ययन करना उचित होगा।

## वैदिक काल

## (संहिताओं से सूत्रों तक, लगभग ई. पू. 1500 से ई. पू. 300 तक)

### ऋग्वैदिककालीन नारी

ऋग्वैदिक काल में नारियों का सामाजिक जीवन श्रेष्ठ था या अनादृत, यह एक संशय की स्थिति है। जहाँ एक ओर **'जायेदस्तम्'** (ऋग्वेद III. 53.4) अर्थात् जाया ही घर है, ऐसा कहा गया है, वहीं ऋग्वेद के आठवें मण्डल में **'स्त्रिया अशास्यं मनः'** (33.17) कह कर स्त्रियों के मन को अनियंत्रित बताया गया है। ऋग्वेद के

ही दसवें मण्डल में स्त्री को मित्रता के लिए अयोग्य बताया गया है (**न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः।** 95.15)।[1]

पितृसत्तात्मक एवं संयुक्त होने के कारण ऋग्वैदिक कालीन परिवार की वंश-परम्परा पिता-पुत्र के क्रम पर निर्भर थी। वृद्ध पुरुष परिवार का मुखिया था। अतएव परिवार में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का अधिक महत्त्व था। हिन्दु धर्म में पितृ-ऋण की अवधारणा ने भी पुत्र-प्राप्ति को अधिक महत्त्व प्रदान किया। धार्मिक दृष्टि एवं व्यावहारिक रूप से पुत्र की कामना प्रारंभ से ही भारतीय समाज में बलवती रही है। इसका प्रमाण ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ हैं। ऋग्वेद (X. 85.45) में वर्णित है - "**दशास्या पुत्रानाधेहि**" अर्थात् दस पुत्रों की कामनाएँ पुत्री की अपेक्षा पुत्र की महत्ता दर्शाते हैं। 'पुत्र' शब्द का अर्थ ही है कि जो पिता को 'पुत्' नामक नरक में गिरने से बचाता है।

फिर भी, इस काल में नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा थी, क्योंकि लम्बे संघर्ष पर्यन्त आर्यों का भारत में रहना एक ऐसी चुनौती थी, जिसमें संख्या बल की आवश्यकता थी। ऐसे में जननी रूप में महिलाओं की भूमिका अहम् हो गयी। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कार्यों में सहभागी हो गयीं। स्त्रियों का जितना सम्मान ऋग्वैदिक काल में रहा, उतना अन्य काल में नहीं था। ऋग्वेद में यत्र-तत्र पत्नी का पति की सम्पत्ति होना या वधू-विक्रय अथवा नारी अपहरण के भी संकेत कितव सूक्त (10.34) में प्राप्त होते हैं अथवा युद्ध में स्त्रियों का विजेता पक्ष को भेंट किया जाना आदिम समाज की अवधारणाओं का सूचक है। युद्ध के आधिक्य के कारण भी वीर पुत्रों की महत्ता थी। इसीकारण पुत्री की अपेक्षा पुत्रों की कामना की जाती थी, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि परिवार में नारियों की स्थिति आदरणीय या सुदृढ़ नहीं थी। कन्या भी पुत्रों की भांति शिक्षा ग्रहण किया करती थीं। बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी, अतः कन्याओं का विवाह युवती होने पर ही हुआ करता था। कन्याओं का भी उपनयन होता था, अतएव धार्मिक कृत्यों[2] वैदिक यज्ञों एवं शिक्षा में उन्हें पुत्र की ही भांति समान अधिकार था। लोपामुद्रा[3], विश्ववारा[4], घोषा[5], सिकता निवावरी[6] जैसी विदुषी स्त्रियों का उल्लेख वैदिक मन्त्र

---

1. द्रष्टव्य-शतपथ ब्राह्मण; XI. 5.1.9.
2. ऋग्वेद IV.42.9: पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्ध व्येभिरिन्द्रा वरुणा नमोभिः।
   अथ राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम्॥
3. ऋग्वेद (1.179)
4. वही, (5.28)
5. वही, (10.39-40)
6. वही (8.91)

स्रष्टा के रूप में हुआ है। यह नारी के लिए समान-स्तरीय शिक्षा का प्रमाण है। मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा, वाक्चनवी आदि वैदिक विदुषी महिलाओं का नाम आज भी प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की याद दिलाता है।

नारी को कुछ बातों की स्वतंत्रता भी मिली हुई थी। वैदिक कन्याएँ अपने वर का वरण स्वेच्छया करती थीं।[1] माता-पिता से अनुमोदित गान्धर्व विवाह का भी प्रचलन था। विवाह एक धार्मिक संस्कार था, जो प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री के लिए अनिवार्य था। पत्नी घर की वास्तविक स्वामिनी थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में वधू के साम्राज्ञी होने का आशीर्वाद है -

**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।**

**ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेव वृषु।। 85.46**

युवाओं अथवा युवतियों की अत्यधिक स्वतंत्रता तथा नैतिकता का उच्च स्तर साथ-साथ सम्भव नहीं है। वैदिक समाज में 'कुमारीपुत्र' की भी चर्चा है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के 55.8 मंत्र में एक दृष्टांत इसीप्रकार का है जो कन्या की स्वतंत्र भावना का द्योतक है। एक प्रेमिका अपने शयनकक्ष में प्रेमी के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। इस समय एक प्रयोग द्वारा घर में उपस्थित परिजनों को निद्रा में डालने का उल्लेख है। ऐसी घटनाओं को सामाजिक मान्यताएँ प्राप्त नहीं थीं।

इस युग में सामान्यतया पुरुष एक स्त्री से ही विवाह करता था, किन्तु राजन्य वर्ग एवं प्रतिष्ठित धनी व्यक्ति अनेक विवाह भी किया करते थे[2]। कुछ स्त्रियाँ कुँवारी ही रह जाती थीं, जिन्हें **'अमाजूः'** कहते थे। ये कुँवारी कन्याएँ पितृगृह में ही वृद्ध हो जाती थीं। घर में पति एवं पत्नी दोनों की समान प्रतिष्ठा थी। ऋग्वेद में पति के 'स्वामी' एवं पत्नी के लिए 'स्वामिनी' शब्द का प्रयोग समानता को द्योतित करता है। वरवधू को घर के लिए मङ्गलकारी माना जाता था (**अदुर्मंगलीः पतिलोकमाविशं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे**। (X. 85.43)[3]। यह मङ्गल कामना पर्दा प्रथा के प्रचलन में न होने को भी द्योतित करता है क्योंकि विवाह के अवसर पर वधू को दिखाकर सबों से मङ्गल कामना करने को कहा जाता था। स्त्रियाँ उत्सवों एवं बाहरी कार्यों में भी स्वेच्छा से भाग लेती थी।

ऋग्वैदिक काल में विधवा पुनर्विवाह या नियोग का भी संकेत मिलता है। ऋग्वेद (10.40.2) में वर्णित है-

---

1. ऋग्वेद X. 86.10; 'नारी समनं वाव गच्छति'।
   वही, X. 168.2; 'गच्छन्ति समनं न योषाः।'
   वही, IV. 58.8; 'अभिप्रवन्त समनेव योषाः।'
2. वही, I. 62.11, I. 104.3, VI. 53.4
3. वही, X. 85.33; 'सुमङ्गलीरियं वधूः।'

**कुहस्विददोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपत्वं करतः कुहोषतुः।**
**को वां शयुत्र विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।।**

इससे स्पष्ट होता है कि देवर के साथ पुनर्विवाह अथवा नियोग का विधान था। पति की मृत्यु के बाद विधवा के द्वारा देवर से सन्तान को जन्म देने की प्रथा (अर्थात् नियोग प्रथा) सभी प्राचीन सभ्यताओं में प्रचलित थी। इस प्रथा का मूल कारण था लोगों की स्त्री एवं पुत्र के प्रति दृष्टि। सन्तान की अत्यधिक कामना एवं स्त्री को सम्पत्ति रूप में देखा जाना इस प्रथा का मूल कारण था। विवाह के द्वारा पिता का पुत्री पर स्वामित्व मानो पति को हस्तान्तरित कर दिया जाता था। स्त्री का विवाह जिस पुरुष से किया जाता था स्त्री उस कुल की सम्पदा समझी जाती थी। वैदिक काल से पूर्व भी यह सामाजिक दृष्टि विद्यमान थी। किसी पति को निःसन्तान अथवा बिना पुत्र के मृत्यु हो जाने पर उसके छोटे भाई के साथ धार्मिक दृष्टि से (मृत व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त) एवं सामाजिक दृष्टि से (विधवा स्त्री कुल के बाहर किसी अन्य पुरुष से विवाह किए बिना, इस आशंका से) भाई की विधवा में सन्तान उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता था। गोद लेकर पुत्र प्राप्त करना वैदिक समाज में अच्छा नहीं समझा जाता था **( न शेषे अग्ने अन्यजातमस्ति...। ऋ. VII 4/7)**। देवर को द्वितीय वर समझा जाता था। यास्क के अनुसार-**देवर कस्मात्? द्वितीयो वर उच्यते**। (निरुक्त III. 15.1) **'देवृकामा'**[1] शब्द का प्रयोग भी देव की कामना अर्थ में किया गया है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि विधवा स्त्रियाँ देवर से या देवर के न रहने पर या अस्वीकार करने पर अन्य से पुनर्विवाह कर सकती थीं। ऋग्वेद X. 18.8 मंत्र (**उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ।**) की व्याख्या में सायण का कहना है- **त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतज्जनित्वं जायात्वमभिसंबभूथ आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि**। इसके विपरीत बहुपत्नी-प्रथा के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं मुख्यतः सन्तोनात्पत्ति एवं दम्पति द्वारा ही यज्ञ का सम्पादन जैसे धार्मिक कार्यों ने पुनर्विवाह अथवा बहुपत्नी विवाह को जन्म दिया।

विधवाओं की सामाजिक स्थिति पर ऋग्वेद से कोई प्रकाश नहीं मिलता है। **'धव'** शब्द पति वाची है अतएव विधवा का अर्थ पति विहीन स्त्री है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मरुतों की तीव्रगति में भूमि की उपमा काँपती हुई विधवा स्त्री से दी गयी है - **प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु युद्ध युञ्जते शुभे।** (87.3) इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में विधवाएँ असुरक्षित थीं तथा

1. ऋग्वेद X. 85.44

उनकी सामाजिक दशा अच्छी नहीं थी। ऋग्वैदिक काल में विधवाओं के लिए सती-प्रथा का प्रचलन था अथवा नहीं-यह एक विचारणीय विषय है। सती प्रथा के चलन में मूल कारण निम्नलिखित थे-

1. बहुपत्नीक पति को यह आशङ्का रहती थी कि उसकी कोई उपेक्षिता पत्नी उत्कट सपत्नी होने की आकांक्षावश पति की मृत्यु का कारण हो सकती थी। ऐसी आशङ्का से मुक्त होने के लिए 'सती-प्रथा' का चलन शुरू किया गया, ताकि हर पत्नी पति के प्रति समर्पण भाव न रहने पर भी अपने जीवन के बचाव के लिए पति के वध का षड्यंत्र न करे।

2. युद्धशील लोग अपनी विधवाओं को विजयी शत्रुओं के हाथों पड़ने की आशङ्का से उन्हें मृतपति के साथ ही जला देना श्रेयस्कर समझते थे। परवर्त्ती काल में राजपूत या क्षत्रिय विधवाओं द्वारा जौहर दिखाने के पीछे भी यही कारण था।

3. लोगों की यह मान्यता थी कि नवीन लोक में मृतकों की आवश्यकताएँ प्राय: वैसी ही होती हैं, जैसी इस जन्म में पृथ्वी पर। अतएव, जब भी कोई राजा, सरदार या राजनैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त योद्धा की मृत्यु होती थी, तो उसके द्वारा निजी रूप से प्रयोग की जाने वाली प्रत्येक वस्तु को चाहे उसकी पत्नी ही क्यों नहीं हो उसके साथ ही जला या दफना दिया जाता था। आर्यों में यह प्रथा प्रचलित नहीं हो सकी, न ही ऋग्वेद के और्ध्वदेहिक सूक्तों में इसका उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र X. 18.7 (**इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे**) में अन्तिम शब्द 'अग्रे' को 'अग्ने' पाठक मानकर इसमें सती-प्रथा की भावना दर्शाते हैं, जबकि आर्यों की सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि उस समय सती प्रथा को बढ़ावा दिया जा सके। भारत में प्रवेश करते समय आर्यों की संख्या अत्यल्प थी। अत: जनसंख्या वृद्धि की भावना से आर्यों ने विधवाओं को सती होने देने की अपेक्षा नियोग को प्रोत्साहित किया जिससे पुत्र जन्म हो सके। अत: वैदिक-काल में सती प्रथा को हतोत्साहित किया गया। किन्तु, यह भी नहीं कहा जा सकता कि तत्कालीन ऋषियों को सती-प्रथा की जानकारी नहीं थी, क्योंकि ऋग्वेद में एक मंत्र आया है-

**इयं नारी पतिलोकं वृणानां निपद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।**
**धर्मपुराणनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं च धेहि।। 8.3.1**

इस काल में विधवा के अन्य अधिकारों पर जब हम विचार करते हैं, तो देखते हैं कि आर्थिक अधिकार के सन्दर्भ में इनकी कैसी स्थिति थी ? स्त्रियों के व्यापक संदर्भ में हमें यह भी देखना है कि पिता, पति एवं पुत्र की सम्पत्ति में स्त्री का अधिकार था भी अथवा नहीं। बचपन से ही पुत्र की भांति पुत्रियों का पालन-पोषण

पिता द्वारा होता था। पुत्री के विवाह होने तक या अविवाहित पुत्री का मृत्यु-पर्यन्त पितृगृह में ही भरण-पोषण होता था। अभ्रातृका पुत्रियाँ पिता की सम्पत्ति की अधिकारी थीं (**ऋ.-'अभ्रातेव पुंस एति'- I. 124.**)। पत्नी के रूप में स्त्री घर की स्वामिनी होती थी। विवाह में पुरुष को स्त्री के भरण-पोषण का पूरा दायित्व उठाने का वचन देना होता था।

ऋग्वैदिक काल में स्त्रियाँ भी युद्ध में भाग लिया करती थीं। विश्पला का युद्ध में पैर गँवाना एवं अश्विनीकुमार द्वारा उसके लोहे के पैरों को बनवाने का वर्णन ऋग्वेद में है।[1] एक और वीर बाला का वर्णन है जिसने अपने पति के शत्रुओं को पराजित किया था तथा वह अपने पति का रथ भी हांक रही थी।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य महिलाओं का युद्ध में भाग लेना उस समय की सामरिक आवश्यकता थी किन्तु महिलाओं को राजनैतिक अधिकार भी थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। 'सभा' एवं 'विदथ' जैसी प्रशासनिक संस्था में महिलाओं की भागीदारी स्पष्ट नहीं दिखती है।

धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में पति-पत्नी एक साथ अपनी सहभागिता दर्शाते थे। यज्ञ उस समय अनिवार्य धार्मिक कृत्य था, जो बिना पत्नी के सम्भव नहीं हो पाता था। ऋग्वेद (2.32.2) में वर्णित है:- **'दम्पत्ति क्रतुविद्'**। यज्ञ की अग्नि भी पति-पत्नी मिलकर ही प्रज्ज्वलित किया करते थे। सामाजिक समारोह में पति-पत्नी साथ-साथ सम्मिलित होते थे।

इस प्रकार आज जिस प्रकार स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर आत्मनिर्भर, सर्वप्रतिभासम्पन्न एवं बलवती होती जा रही हैं, उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में भी स्त्रियाँ उपनयन का अधिकार प्राप्त रहने के कारण शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। अतएव शैक्षणिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से महिलाएँ अत्यन्त प्रतिष्ठित थीं। विदथ जैसी संस्थाओं में इनका सामाजिक, प्रशासनिक एवं राजनैतिंक हस्तक्षेप भी था।

## उत्तरवैदिक कालीन नारी

ऋग्वेद को छोड़कर अन्य संहिताओं, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं आरण्यकों का काल उत्तर वैदिक काल कहलाता है। इस काल के प्रारंभ में नारियों की स्थिति वैदिक काल की भांति आदर्शात्मक एवं प्रतिष्ठा पूर्ण थी। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या, पत्नी एवं माँ के रूप में ये समाज में आदृत थीं। घर की स्वामिनी होने के कारण सभी उनकी बातों को आदर पूर्वक सुनते थे।

---

1. ऋग्वेद - 1.12.10, 1.116.15, 1.118.8
2. वही, 10.102.3, 10.86.9, 10.159.2,3.4

पारिवारिक एवं सामाजिक निर्णयों में उनकी अहंम भूमिका थी। गृह स्वामिनी का आदेश परिवार के सभी सदस्य निष्ठापूर्वक मानते थे।[1] इसकाल में नारी का महत्त्व इतना अधिक था कि नारी के बिना पुरुष अधूरा था--

**एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।**
**विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृतांगना।। शत. ब्रा. 5.2.1.10**

तैतिरीय ब्राह्मण (3.75) में वर्णित है कि स्त्री एवं पुरुष दोनों यज्ञ रूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल हैं। यज्ञ में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी।[2] जहाँ माताएँ देवी मानी जाती थीं (**मातृ देवो भव**), वहाँ नारी के सम्मान पर शङ्काएँ किस प्रकार की जा सकती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (6.4.17) को देखकर ऐसा लगता है कि कुछ लोग कन्याओं अर्थात् पुत्रियों की भी कामना करते थे। बहुपत्नी विवाह भी इसकाल में प्रचलित था।[3] हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियाँ थीं।[4] महर्षि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी एवं कात्यायनी नामक दो रानियाँ थीं। पत्नी की बहुलता धनी व्यक्तियों के लिए कोई असामान्य बात नहीं थी।

वैसे तो उत्तर वैदिक काल का प्रारंभिक काल नारियों के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा का काल था, किन्तु इनकी स्थिति परिवार एवं समाज में क्रमशः कमजोर पड़ने लगी थी, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण (XI. 5.1.9) में स्त्रियों को मित्रता के अयोग्य घोषित किया गया है एवं इनका हृदय भेड़ियों के समान बताया गया है (**न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः**)। वस्तुतः इस स्थिरता रूपी दोष ने नारियों की सामाजिक एवं पारिवारिक स्थिति को अवनत कर दिया। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को समाज में श्रेयस्कर स्थान न मिलने का एक कारण स्त्रियों का शारीरिक स्तर पर कमजोर होना भी था। साथ ही, स्त्रियों के शारीरिक बनावट एवं प्रकृति प्रदत्त शील, लज्जा जैसी विशेषताओं ने उसे पुरुष के नियंत्रण में रहने के लिए विवश कर दिया।

उत्तरवैदिक काल में भी स्त्रियाँ जीवनपर्यन्त अध्ययनरत रहती थीं। ऐसी स्त्रियाँ 'ब्रह्मवादिनी' कहलाती थीं तथा ब्रह्मचर्य धारण करती थीं।[5] किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। याज्ञिक शुद्धता के नाम पर आडम्बर के उत्तरोत्तर विकास ने स्त्रियों को वैदिक यज्ञ से अलग कर दिया। शिक्षित कन्याएँ जो समाज

---

1. अथर्व., 14.14
2. शत. ब्रा., 1.19.2.14
3. तैत्तिरीय ब्रा. 3.8.4, श्रिया या सद्रूपं यत्पलयः।
4. ऐतरेय ब्रा. 33.1
5. अर्थव, 11.5.18

में प्रतिष्ठित थीं, धीरे-धीरे शिक्षा से दूर होने लगीं और उत्तरवैदिक काल के बाद ये वैदिक शिक्षा से पूर्णतया दूर कर दी गयी। यद्यपि सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों में स्त्रियाँ अब भी खुलकर भाग लेती थीं।[1] उत्तरवैदिक काल में स्त्रियाँ ललितकला जैसी अन्य कलाओं में भी पारंगत थीं। इसकाल में वैसी स्त्रियों का उपनयन भी होता रहा था, जो कन्या पढ़ने की इच्छुक होती थीं। कुछ स्त्रियाँ बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न होती थीं एवं मन्त्रों की उद्गात्री भी थीं। उस काल की स्त्रियाँ दर्शन, तर्क, मीमांसा आदि विषयों में पारंगत होती थीं। मैत्रेयी दार्शनिक रूप से पारंगत स्त्री थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (2.4, 4.5) उसके दार्शनिक होने का परिचायक है :

**सा होवाच मैत्रेयी। येनाहं नामृता स्याम किं तेनाहं कुर्यामिति।**

स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया था। (**पत्याऽविराधयन्ती। अथर्ववेद 2.36.4**)। इसके पातिव्रत्य के बदले पुरुष जिंदगी भर साथ निभाने की प्रतिज्ञा करता था (**ममेयमस्तु पोष्या।**)[2] स्त्रियों के प्रति नृशंस व्यवहार निन्दनीय था। स्त्रियों पर नृशंस व्यवहार न करने की पुरुष प्रतिज्ञा लेते थे -

**मा व्यथिष्ठा मया सह, मा हिंसिष्टं कुर्याम्।** -अथर्ववेद, 14.1.48

उत्तरवैदिक काल में उच्च वर्ण की बालिकाओं का ही उपनयन होता था। कुछ स्त्रियों के नृत्य एवं संगीत में पारंगत होने का भी वर्णन है।[3] छात्राएँ दो प्रकार की हुआ करती थीं। आजीवन ब्रह्मचर्य धारण कर अध्ययन करनेवाली स्त्रियाँ 'ब्रह्मवादिनी' एवं विवाह होने के पूर्व तक शिक्षा ग्रहण करनेवाली **'सद्योद्वाहा'** कहलाती थीं।[4]

उत्तरवैदिक काल के उत्तरार्द्ध में नारी की स्थितियों में जो क्रमिक परिवर्तन हुए उसे ऐतरेय ब्राह्मण के निम्नलिखित उद्धरण द्वारा जाना जा सकता है, जिसमें पुत्र की अपेक्षा पुत्री को हीन ही नहीं, अपितु पुत्री को दुःख का कारण भी माना गया -

**सखा ह जाया कृपणं हि दुहिता ज्योतिर्हि पुत्रः परमे व्योमन्।**

तैत्तिरीय संहिता (6.5.10) एवं मैत्रायणी संहिता (4.6.4) को देखने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक घर में पुत्री की प्राप्ति खुशी का प्रतीक नहीं थी - **अवभृथमवयन्ति। परास्थालीरस्यन्ति। उद्वायव्यानि हरन्ति। तस्मात्स्त्रियं जाता परास्यन्ति उत्पुमांसं हरन्ति।** अथर्ववेद में पुत्री की स्पष्ट निन्दा हुई है।[5] अथर्ववेद में

1. बृहदा. उप., 3.6, अनतिपृश्न्याँ वै देवतामपिपृच्छासि।
2. अथर्व. 14.1.52
3. तैत्तिरीय संहिता 6.1.6.5. मैत्रायणी संहिता 3.7.3
4. वीरमित्रोदय (संस्कार-प्रकाश)- द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्षचर्येति। सद्योवधूनां तू उपस्थिते विवाहे कथं चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।
5. अथर्ववेद, 6.2.3

पुत्र-प्राप्ति हेतु आए हुए मंत्र में निश्चित ही नारी की अवनत अवस्था का वर्णन मिलता है।[1]

चूँकि इसकाल में भी कन्याएँ शिक्षा ग्रहण करती थीं एवं इनका उपनयन होता था, अतएव कन्या का विवाह युवावस्था में ही होता था। अधिकांश कन्याएँ घर में ही शिक्षा ग्रहण किया करती थीं। कुछ कन्याएँ अपने वर का चयन स्वयं करती थीं। क्षत्रियों में स्वयंवर प्रथा भी प्रचलित थी। विधवा पुनर्विवाह के भी उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं।[2] विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काल में सती-प्रथा प्रचलित नहीं थी।

इस युग तक नारियों के अनेक अधिकार समाप्त होते चले गये चूँकि स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा घर में ही होती थी, अतएव अनेक प्रकार की शिक्षाओं से ये नारियाँ वंचित होने लगी। यज्ञों की पवित्रता को ध्यान में रखकर स्त्रियों के याज्ञिक क्रियाओं में अंकुश लगने लगा। धन एवं सम्पत्ति का अधिकार परिवार की महिषी होने के कारण स्त्रियों को था, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिवार के सदस्य के रूप में ये उसका उपभोग कर सकती थीं, किन्तु उसपर अपना स्वामित्व नहीं दर्शा सकती थीं।

इसप्रकार सम्पत्ति संबंधी अनाधिकार, धार्मिक एवं याज्ञिक निषेधाज्ञा, सामाजिक गतिविधियों में गतिरोध, शारीरिक कोमलता, राजनैतिक सहभागिता का अभाव आदि अनेक ऐसे कारक थे, जिससे तत्कालीन नारियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा हीन होती गयी।

## सूत्रकालीन नारी

सूत्रकाल में भी नारियों की स्थिति बहुत कुछ नहीं बदली थी। नारियों की जो स्थिति उत्तरवैदिक काल में थी, वहीं स्थिति सूत्रकाल में बनी रही। स्त्रियाँ इसकाल में भी शिक्षा ग्रहण करती थीं किन्तु ऐसी स्त्रियों की संख्या कम होती थी क्योंकि अबतक बाल-विवाह का प्रारंभ हो चुका था। कतिपय गृह्यसूत्रों में विवाह योग्य कन्या का लक्षण 'नग्निका' बताया गया है।[3] 'नग्निका' का तात्पर्य है कि आठ से दस साल के बीच कन्या का विवाह कर दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कन्याओं के विवाह में दहेज-प्रथा का प्रारंभ हो चुका था। यही कारण था कि समाज में बाल-विवाह का प्रारंभ होने लगा। इस युग में आठ प्रकार के विवाह

---

1. अथर्ववेद, 3.2.3, 4.11
2. वही, 9.5.27-28
3. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र- 1.19.2; ताभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत् सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीमसगोत्राम्। गोभिल गृह्यसूत्र 1.4.6; नग्निका तु श्रेष्ठा।

प्रचलित हो चुके थे। इन आठ प्रकार के विवाह में असुर विवाह में कन्या के माता-पिता वर पक्ष से धन ले लेते थे।[1] ब्राह्म एवं दैव विवाह प्रकारों में कन्या का पिता अपनी पुत्री को भली-भांति अलंकृत करके विवाह करता था। गौतम धर्मसूत्र (1.4.7) में वर्णित है - **अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवोऽलंकृत्य।**[2] विधवा पुनर्विवाह हुआ करता था। अतएव सतीप्रथा का प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ सार्वजनिक स्थलों पर कम ही उपस्थित होती थीं। उनका कार्य-स्थल मुख्य रूप से गृह परिसर के भीतर ही था। वे घरेलू कार्यों को निपटाती थीं। सुबह एवं शाम पूजा एवं अर्चना द्वारा परिवार के कल्याण की कामना करती थीं।

कात्यायन श्रौतसूत्र (V 10/16) के अनुसार पुरुकुत्स की पत्नी ने अपने पति की अनुपस्थिति में इन्द्र और वरुण को हवि देकर प्रसन्न किया था। **(पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्ध व्येभिरिन्द्रा वरुणा नमोभिः। अथ राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्थ देवम्॥)**। इसका अर्थ है कि स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से भी यज्ञ किया करती थीं। साम गायन पहले स्त्रियों द्वारा ही सम्पन्न होता था।

तथापि धार्मिक-कार्यों एवं याज्ञिक-क्रियाओं में इनकी भागीदारी कम होती जा रही थी, इसका प्रमुख कारण ब्राह्माडंबर एवं पुरोहित का बढ़ता हुआ प्रभाव था। यूँ तो परिवार में स्त्रियों की प्रतिष्ठा बनी हुई थी, किन्तु सार्वजनिक रूप से इस काल में नारियों की स्थिति गिरती ही गयी। स्वतंत्र रूप से स्त्रियों के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अधिकार कम होते जा रहे थे। आप. ध. सू. (II. 6/14/16-19) में स्पष्ट कहा गया है कि पति-पत्नी के बीच कोई भी बँटवारा नहीं होता। विवाह के बाद सभी कर्मों में वे साथ-साथ होते हैं **(जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु। तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु च)।**

सूत्रकाल में माता की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी। वसिष्ठ धर्मसूत्र (13/48) कहता है - **''पितुर्दशशतं माता''** किन्तु आचार्य एवं माता में कौन श्रेष्ठ है यह स्पष्ट नहीं है। गौतम धर्मसूत्र (II. 56) के अनुसार- **'आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणां मातेत्येके'**। यह सच है कि माता का संतान पर सबसे अधिक ऋण है और सन्तान की सेवा तथा भक्ति की वह प्रथम अधिकारिणी है। आप. धर्मसूत्र (110/28/9) में कहा गया है - **''माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते। तस्यां शुश्रूषा नित्या।''** समाज में जो पतित होता था उस व्यक्ति को जाति एवं समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था, किन्तु माता के आचरण विहीन होने पर भी सूत्रकारों ने माता के बहिष्कार की आज्ञा नहीं दी है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (13/47) में कहा गया है- **''पतितः पिता परित्याज्यो**

---

1. गौतम धर्मसूत्र 1.4.9; वित्तेनानतिः स्त्रीमतामासुरः।
2. वही, 1.4.4; ब्राह्मी विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय दद्याद्याच्छाद्यालंकृताम्।

**माता तु पुत्रे न पतति।''** आप. ध. सू. (110/28/9) भी पतित माता को बच्चे के लिए कुमाता नहीं मानता **( तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि )**। बौधायन धर्मसूत्र (II. 25.15) का भी ऐसा ही कहना है–**''पतितामपि तु मातरं विभृयादनभिभाषमाण:''**।

सूत्रकाल में विधवाओं की सामाजिक एवं पारिवारिक स्थिति पर विचार करने से पूर्व 'विधवा' शब्द का ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है। 'विधवा' शब्द का 'धव' पतिवाची है अर्थात् विधवा का अर्थ हुआ जिसका पति विगत हो गया है **( विगतो धवो यस्या: सा )**। विधवाओं के लिए सती-प्रथा जैसी अवधारणा वैदिक काल के अन्त तक विलम्बित रही थी, क्योंकि भारत में आर्यों की संख्या अनार्यों से कम थी, अतएव भारत में प्रविष्ट आर्यों ने विधवाओं को सहमरण के द्वारा नष्ट होने देने की अपेक्षा उन्हें नियोग के द्वारा सन्तान को जन्म देने के लिए प्रोत्साहित किया। गृह्यसूत्रों में भी सती-प्रथा का कोई विधान निर्दिष्ट नहीं है, अतएव यह निश्चित है कि वैदिक काल में भारत में सती-प्रथा का प्रचलन नहीं था।

पति की मृत्यु के बाद विधवा के द्वारा देवर से सन्तान देने की प्रथा (अर्थात् नियोग प्रथा) विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं में प्रचलित थी, क्योंकि प्रारंभ से ही लोगों में सन्तान की प्रबल कामना रही है तथा स्त्रियाँ सम्पत्ति के रूप में देखी गयी हैं। विवाह के द्वारा पुत्री पर पिता का स्वामित्व पति को हस्तांतरित कर दिया जाता था। स्त्री का विवाह निश्चय ही किसी एक पुरुष के साथ ही होता था। स्त्री को पति कुल में सौंपे जाने की यह धारणा वैदिक काल से भी पूर्व से रही है। गोभिल धर्मसूत्र (II.10.27) में वर्गित है- **''कुलाय हि स्त्री दीयते इति उपदिशन्ति**। बृहस्पति भी यही कहते हैं -**''कुले कन्याप्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते।''**

स्त्री के विधवा हो जाने पर, उसका विवाह देवर से ही कर दिया जाता था या नियोग की भी स्वीकृति समाज ने दे रखी थी। सामान्य तौर पर देवर से ही नियोग को श्रेष्ठ माना जाता रहा था क्योंकि इससे सम्पत्ति के हस्तांतरित होने का भय समाप्त हो जाता था। इस नियोग का उल्लेख धर्मसूत्रों में व्यापक रूप से हुआ है- गौ. ध. सू. (II. 9/4.8) में वर्णित है, **''अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। गुरुप्रसूता नर्तुमीयात्। पिण्डगोत्रर्षिसंबंधेभ्यो योनिमात्राद्वा। नादेवरादित्येके। नातिद्वितीयम्।''** यहाँ गौतम नियोग प्रथा के प्रति कुछ लचीले दिख पड़ते हैं। इनका कहना है कि सन्तान विहीन विधवा न केवल देवर से अपितु सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर से भी, गुरुजनों की अनुमति लेकर, सन्तान प्राप्त कर सकती है, किन्तु यह नियोग की व्यवस्था मात्र एक पुत्र प्राप्त करने के लिए ही है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (17.49) में

उल्लेख है–**''प्रेतपत्नी षड्मासान् व्रतचारिण्य- क्षारलवणं भुञ्जानाध:शयित, ऊर्ध्वं षड्भ्यो मासेभ्य: स्नात्वा श्राद्धं पत्ये दत्त्वा। विद्याकर्म गुरुयोनिसन्धान् सन्निपात्य पिता भ्राता वा नियोग कारयेत्।''** अर्थात् विधवा स्त्री को पति की मृत्यु के बाद 6 माह तक व्रत का पालन करना चाहिए और तब पति का श्राद्ध करके गुरुजनों की अनुमति लेकर नियोग के द्वारा पुत्र-सन्तान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुत: संहिताओं के समय से ही विधवा के लिए नियोग का मार्ग पूरी तरह खुला हुआ था, लेकिन उत्तरवर्त्ती काल में धीरे-धीरे इस मार्ग में कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते हुए दिख पड़ते हैं जो ई. पू. तीसरी शताब्दी तक भारतीय समाज में दिखाई पड़ती है, किन्तु अब नियोग (पुत्र) सन्तान विहीन स्त्री, पति की मृत्यु के बाद या क्लीबत्व के कारण सन्तान को उत्पन्न करने में अक्षम पति के जीवन काल में ही पति की वंश परम्परा को बनाये रखने के लिए तथा पति को पितृऋण से मुक्त कराकर स्वर्गप्राप्ति का अधिकारी बनाने के निमित्त, केवल एक दो या अधिक से अधिक तीन पुत्र प्राप्त करने के लिए, गुरुजनों से अनुमति लेकर अपने देवर, सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर अथवा किसी ब्राह्मण से केवल ऋतु शुद्धि के बाद सहवास कर सकती थी, किन्तु किसी भी अवस्था में नियोग की यह व्यवस्था विषय-भोग की इच्छा के लिए नहीं थी। कालान्तर में पातिव्रत्य की भावना ने नियोग को निन्दित बना दिया।

धर्मसूत्रों में विधवा पुनर्विवाह की स्वीकृति दो तरह से उपलब्ध होती है- एक तो वे स्त्रियाँ थीं जो दीर्घकालीन पति प्रवास के कारण अकेले ही रह रही थीं एवं जिनके पति घर नहीं लौटे एवं दूसरे पुनर्भू के उल्लेख मिलते हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र (XVII. 67-71) में वर्णित है - **''प्रोषितपत्नी पञ्चवर्षाण्युपासीत, उर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृ सकाशं गच्छेत्। यदि धर्मार्थाभ्यां प्रवासं प्रत्यनुकामा न स्याद्यथा प्रेत एवं वर्तितव्यं स्यात्। एवं ब्राह्मणी पञ्च प्रजाताऽप्रजाता चत्वारि, राजन्या प्रजाता पञ्चाप्रजाता त्रीणि, वैश्या प्रजाता चत्वार्य प्रजाता द्वे शूद्रा प्रजाता त्रीण्यप्रजातैकम्। अत उर्ध्वं समानोदकपिण्ड जन्मर्षि गोत्राणां पूर्व: पूर्वो गरीयान्। न तु खलु कुलीन विद्यमाने परगामिनी स्यात्''**। स्पष्ट है कि वसिष्ठ पाँच वर्षों तक प्रवासी पति की प्रतीक्षा करने का परामर्श देते हैं। तदनन्तर उस स्त्री को समानोदक या सपिण्डादि से भी विवाह करने की छूट देते हैं। भिन्न-भिन्न वर्णों की स्त्री के लिए तथा सन्तान युक्त और नि:सन्तान स्त्री के लिए वशिष्ट प्रतीक्षा के वर्षों की संख्या भिन्न-भिन्न बताते हैं।

| **वर्ण** | **सन्तानयुक्त** | **सन्तानरहित** |
|---|---|---|
| ब्राह्मण स्त्री | पाँच वर्ष | चार वर्ष |

| | | |
|---|---|---|
| क्षत्रिय स्त्री | चार वर्ष | तीन वर्ष |
| वैश्य स्त्री | तीन वर्ष | दो वर्ष |
| शूद्र स्त्री | दो वर्ष | एक वर्ष |

विवाह को अत्यन्त पवित्र संस्कार माना गया था। **'पुनर्भू'** (वैसी विधवा स्त्री जिसने पुनः विवाह कर लिया था) तथा **'पुनर्भव पुत्र'** को धर्मशास्त्रों ने भी स्वीकार किया है। बौधायन एवं कश्यप ने सात प्रकार की 'पुनर्भू' को स्वीकार किया है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (XVII. 66) में वर्णित है, **''पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता सा चेदक्षतयोनिः स्याद् पुनः संस्कारमर्हति।''** अर्थात् पाणि-ग्रहण के तुरंत बाद पति की मृत्यु पर्यन्त कौमार्य धारण करनेवाली स्त्री मात्र मंत्र द्वारा विवाह संस्कार से सम्बद्ध मानी जाएगी और पुनर्विवाह के योग्य होगी। इसके पूर्व (XVII. 20.21) में दो प्रकार के पुनर्भू की भी चर्चा की गयी है - **''या कौमार भर्तारमुन्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति।। या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्त्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति।।''** अर्थात् ऐसी कौमार्य युक्त विवाहिता जिसने अपने पति को छोड़ अपने कुटुम्बों के आश्रय में अन्य के साथ रहती है, पुनर्भूः हो सकती है या जो क्लीव या पागल पति को छोड़कर अन्य को पति मान ले या पति की मृत्यु के बाद भी स्त्री पुनर्भू हो सकती है।

इस काल तक स्त्री को पति के साथ ही देखा जाता था। अतएव स्त्री को स्वतंत्र रूप से सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त नहीं था। पति की सम्पत्ति का ही पत्नी उपभोग करती थी। विवाह संस्कार द्वारा चूंकि कन्याएँ अन्य कुल को विधिवत् दान दी जाती थीं, अतएव पितृ-धन पर भी कन्या का विवाहोपरान्त अधिकार समाप्त हो जाता था। कुल मिलाकर स्त्रियाँ परिवार की अनन्य सदस्या हुआ करती थीं, किन्तु इस पितृसत्तात्मक-व्यवस्था में उनका स्वतंत्र अस्तित्व अत्यन्त सीमित था।

धर्मसूत्रों के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये धर्मसूत्र बहुपत्नी विवाह की वैधानिकता स्वीकार करते थे। पारस्कर-गृह्यसूत्र (I. 4/8-11) में वर्णित है- **''तिस्रो ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण। द्वे राजन्यस्य। एका वैश्यस्य। सर्वेषां शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्।''** वर्णों की दृष्टि से पत्नियों की संख्या का यह निर्धारण बहुपत्नी प्रथा के सामाजिक अनुमोदन को दर्शाता है। बहुपत्नी-प्रथा से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि समाज के साथ-साथ परिवार में भी नारियों की स्थिति पुरुष के समकक्ष नहीं थी। वस्तुतः एक पत्नीव्रत सामान्य नियम था, किन्तु उत्तरवैदिक काल में बहुपत्नीकता का प्रचलन प्रचुर था। बहुपत्नीकता के दो कारण स्वीकार किए जा सकते हैं - (1) सन्तान (पुत्र) प्राप्ति की तीव्र इच्छा एवं (2) शत्रु राज्य पर विजयोपरांत विजयी द्वारा सामान्यतः पराजितों की स्त्रियों को बंदी बना लिया जाना तथा उपभोग के लिए आपस में बाँट लिया जाना। विष्णु धर्मसूत्र (26) में वर्णित

है - **'द्विजस्य शूद्रा भार्या तु धर्मार्थं न क्वचिद भवेत्। रत्यर्थमेव सा तस्य रागान्धस्य प्रकीर्तिता।''** वसिष्ठधर्मसूत्र (18/17) कृष्णवर्ण कन्या अर्थात् अनार्य एवं शूद्र कन्या को रमण के लिए ही रखने की आज्ञा देता है - **'कृष्णवर्णा या रामा रमणयैव न धर्माय'**।

यद्यपि बहुपत्नी प्रथा ब्राह्मण काल से ही दिख पड़ती है क्योंकि इन ग्रन्थों में अनेक प्रकार की पत्नियों का उल्लेख मिलता है-अभिषिक्ता पत्नी **'महिषी'** कहलाती थी, दयिता पत्नी **'वावाता'**, निराकृता पत्नी **'परिवृक्ता'** अथवा **परिवृक्ति** तथा हीनजातीय रमणी **'पालागली'** कहलाती थीं। पालागली से विवाह राजनीति से प्रेरित होकर की जाती थी। इसी प्रकार के राजनैतिक प्रयोजनवश सभासदों की कुमारियों से भी विवाह किया जाता था। यद्यपिबहुपत्नीकता का चलन सम्पन्न एवं उच्च वर्गों में ही था।

**महाकाव्य एवं स्मृतिकालीन नारी**

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से दूसरी से तीसरी शताब्दी के प्रारंभ तक के 600 या 700 वर्षों का काल भारतीय-संस्कृति के लिए संक्रमण-काल है, इसकाल में प्राचीन वैदिक संस्कृति मे अनेक परिवर्तन आए, जिनका अध्ययन तत्कालीन ग्रन्थों रामायण, महाभारत, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, मनुस्मृति एवं अन्य प्रारम्भिक स्मृतियों से किया जा सकता है। यद्यपि इन महाकाव्यों एवं तत्कालीन अन्य ग्रन्थों में अनेक विरोधाभासी कथन मिलते हैं। कहीं नारियों के प्रशंसापरक तो कहीं निन्दापरक कथन हैं। महाभारत (आदि. 74/70) में नारियों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है - **''अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।''** कालिदास ने भी पत्नी रूप नारी की प्रशंसा में लिखा है: **''गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।'' (रघु. VIII. 67)** । मनु ने तो नारी विषयक अमर पंक्तियों का सम्पादन किया है -

**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**

**यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। मनु III. 56.**

नारियों की जहाँ एक ओर प्रतिष्ठा की बात कही गयी थी, वहीं उनके प्राकृतिक चंचल मन को बन्धन में रखने का कारण बताया गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व (40/4) में वर्णित है -**''न हि स्त्रीभ्यः परं पुत्रः पापीयस्तरमस्ति वै। क्षुरधारां विषं सर्पो वह्निनिरित्येकतः स्त्रियः।''** रामायण में भी इसी प्रकार के कथन हैं- **''शतह्नदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णता तथा। दहनानिलयो, शैर्घ्यमनुकुर्वन्ति योषितः (III 13/6)।''** यही कारण है कि मनु ने नारियों को हर स्थिति में अपने वश में रखने का निर्देश दिया है -

**पिता स्मृति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।**

**रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।। IX. 2**

मनु ने भार्या को दास की भांति रखने का परामर्श दिया है...**''भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्'' (VIII. 46)** । स्पष्ट तौर पर मनु ने नारी के स्वभाव को दूषित करने वाला बताया है।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति उपर्युक्त कथनों से बहुत अधिक स्पष्ट नहीं होती। अतएव स्त्री की स्थिति को समझने के लिए स्त्रियों के समानान्तर पुरुषों की स्थिति को भी समझना होगा। पारिवारिक सदस्यों का परिचय देते समय माता, पत्नी, पुत्री इन स्त्री रूपों पर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अतिरिक्त पितामही, मातामही, चाची, मातुलानी, बहिन, भाभी, पुत्रवधू, बुआ आदि और भी बहुत से रूपों को हिन्दू परिवार में प्राचीन काल से ही मान्यता प्राप्त है, किन्तु माता एवं पत्नी रूप ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक पुत्री ही अपनी दीक्षा के कारण विवाह के पश्चात् अच्छी पत्नी एवं माता बन सकती है, इसलिए इनका भी स्त्रियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव इन तीन नारी रूपों से ही स्त्री की सामान्य स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

चूँकि माता जननी एवं पालन-पोषण करनेवाली होती है, अतएव माँ अत्यन्त पूजनीया है। महाभारत के शांतिपर्व (266/32) में वर्णित है :-

**कुक्षिसंधारणाद् धात्री जननात्जननी स्मृता।**

**अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः।।**

मनु-स्मृति में भी प्रजनन एवं पुत्र के परिपालन में दक्ष माँ को पूजनीय बताया गया है तथा स्त्री को गृहलक्ष्मी बताया गया है -

**प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हाः गृहदीप्तयः।**

**स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।। 9/26**

**उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।**

**प्रत्यहं लोक यात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्।। 9/27**

अन्य स्त्रियों को भी समाज में सम्मान देने का निर्देश आपस्तम्ब स्मृति (10. 11) में प्राप्त होता है - **'मातृवद् परदाराश्च।'** महाभारत में एक उद्धरण है, जिसमें यक्ष युधिष्ठिर से पूछता है कि पृथ्वी से भी अधिक गौरव किसका है, तो युधिष्ठिर कहते हैं कि माता पृथ्वी से भी अधिक गौरवपूर्ण है: **'किंस्विद् गुरुतरं भूमेः...माता गुरुतरा भूमेः।**[1] माता के आचरण पर भी विशेष बल दिया गया था, क्योंकि माता के आचरण का प्रभाव ही बच्चों पर भी पड़ता है-

1. महाभारत, वन पर्व; 113/59 तथा 60 का प्रथम चरण

**कुलीनां शील सम्पन्नामपत्यजननीमपि।**

**त्वाहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम्।।**[1]

रामायण में भी इसकी स्वीकारोक्ति है-**न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति।**[2]

महाभारत में भी माता को सबसे बड़ा गुरु माना गया है -"**गुरुणां चैक सर्वेषां माता परमेको गुरुः**'।[3] मनु ने भी माता को पिता से श्रेष्ठतर माना है।

**उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।**

**सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।।** 2/145

रामायण ने माता की प्रतिष्ठा को अत्यन्त ऊपर उठाया है। रामायण के अनुसार पतित गुरु हों, तो त्याग देना चाहिए, किन्तु माता को कभी भी नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि प्रकृति से ही माता का पुत्र के प्रति स्नेह अनन्य होता है। माता का पुत्र स्नेह पिता से भी अधिक होता है (**स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।** अनु. 12/47)। महाभारत के वन-पर्व में अजगर में लिपटे हुए भीम के प्रति माता कुन्ती की चिन्ता सबसे अधिक थी, क्योंकि **मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्र एद्धिनीम्। यास्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः।**[4] महाभारत में इसीलिए कहा भी गया है,

**"नास्ति मातृ समा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।**

**नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमाप्रिया:।।** शां. पर्व, 267/31

ऐसी माता के प्रति जो उपेक्षा भाव रखते हैं या प्रिय सोचते हैं, उन्हें कहीं भी शरण नहीं मिलती (**सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते। न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते।**)[5] एवं जो कृतघ्न माता का वध कर दे, वह तो नरक योग्य है (**मातृहा निरयं घोरं...**)।[6] यहाँ तो यह भी कहा गया है कि यदि माता-पिता के बीच झगड़ा हो, तो बीच में न पड़ें और यदि विवशतावश साथ देना भी पड़े, तो माता का ही साथ दें (**न माता पित्रोरन्तरं गच्छेत्पुत्रः। कामं मातुरेवानुब्रुयात्। सा हि धारिणी पोषणी च। न पुत्रः प्रतिमुच्येतान्यत्र सौत्रामणियागाज्जीवन्नृणामस्तुः।**)।

अब प्रश्न यह है कि माता की यह उत्कृष्ट स्थिति सैद्धान्तिक थी या वास्तविक। इसको स्पष्ट करने के लिए एक दो कथाएँ प्रसङ्गवश जानना आवश्यक है। एक बार परशुराम अपने पिता की आज्ञा से माता का वध कर डालते हैं, जबकि माता से

1. महाभारत, आदि पर्व; 156/33
2. रामायण; III, 16/34
3. महाभा. आदि पर्व; 211/16
4. महाभा. वनपर्व; 179/35
5. महाभारत, आदि; 37./4
6. रामा. II. 21/28

उनका कोई भी वैमनस्य नहीं था, वे माता से अत्यन्त प्रेम करते थे। यह उनके द्वारा प्रसन्न हुए पिता से की गयी वर-याचना से भी स्पष्ट है ( **स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै** )।[1] क्योंकि उन्होंने माता के पुनः जीवित होने तथा इस वध की घटना की विस्मृति का वरदान माँगा था। यही कथा शान्तिपर्व में महर्षि गौतम एवं पुत्र चिरकारी के बीच की है। माता के वधं का आदेश पिता से प्राप्त कर वह सोंचता है- **पितुराज्ञा परोधर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम्; स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातो सुखी भवेत्**।[2] चिरकारी ने सोचा-"**तस्मात् पितुर्वचः कार्यं न विचार्य कदाचन। पातकान्यपि पूज्यन्ते पितुः शासनकारिणः**"।[3] अपने चिरकारीपन के कारण उसे अपनी माता के वध का विचार तुरन्त नहीं आया और उसने यह पाप नहीं किया, क्योंकि उसके पिता को तब-तक अपनी गलती समझ में आ गयी। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि माता की अपेक्षा पिता का स्थान ऊँचा था। रामायण में भी वन-गमन से रोकती हुई तथा सपत्नियों से अपनी रक्षा की प्रार्थना करती हुए कौशल्या से राम ने स्पष्ट कहा :-

**जानतोऽपि हि मातृणां दुःखं पुत्र प्रवासजम्।**
**नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं प्रतिकुलयितुं मम्।। II. 21/32-33**

इस पितृसत्तात्मक समाज में माता के प्रति जो भक्ति दिख पड़ती है, वह वस्तुतः व्यवहार में नहीं। किसी भी काल में स्त्री का दर्जा पुरुष के समकक्ष नहीं रहा। पुरुष-प्रधान समाज में जिस परतंत्र स्त्री ने भी अपने अधिकारों के प्रति सजगता न दर्शायी, वे आदर्श नारी हो गयीं एवं जिन्होंने भी अपने अधिकारों के लिए दावा किया, उन्हें लांच्छित या दण्डित होना पड़ा। कौशल्या ने चुपचाप अपने अधिकारों का त्यागकर दशरथ की दृष्टि में अच्छी पत्नी एवं राम की दृष्टि में अच्छी माता बनी रहीं। दूसरी ओर राज्यशुल्का कैकेयी अपनी मांग पर डटी रहीं, तो दशरथ ने उसे अपनी ओर से त्याग दिया ( **कैकेयी मामङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये। न हि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी।। अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्। अनुजानामि तत्सर्वमास्मिल्लोके परत्र च।** )[4] और पुत्र भरत ने भी कहा-

**"राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयी नृशंसे दुष्टचारिणी।**
**परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदति भव।।"**[5]

1. महाभा. वन. 116/17
2. वही, शान्ति, 266/11-12
3. वही, शान्ति 266/19
4. रामायण II. 42/6-8
5. रामायण II 74/2

स्वयं राम ने भी निष्कलंक सीता को त्याग दिया था, यह जानते हुए भी कि वह निष्कलंक है।

इस काल की कन्याओं की सामाजिक स्थिति भी वैदिक-कालीन कन्या की भांति सुदृढ़ नहीं कही जा सकती है क्योंकि जिन कन्याओं को उपनयन का अधिकार था, उनका यह अधिकार अत्यन्त सीमित हो गया। इस प्रकार कन्याएँ वेदाध्ययन से भी वंचित हो गयीं। स्मृतियों में तो स्त्रियों के उपनयन की बात 'पुराकल्प' हो गयी, उनके अधिकतर संस्कार **'मन्त्रवर्जम्'** अथवा **'तूष्णीम्'** (अर्थात् बिना वैदिक मंत्रों के प्रयोग के) होने लगे तथा उनको द्विजत्व की प्राप्ति (उपनयन के स्थान पर) विवाह संस्कार द्वारा होने लगी **(वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः)**[1]। इस काल तक कन्या का विवाह बाल्यावस्था में भी होने लगा, जिससे कन्याएँ वैदिक अध्ययन तो दूर सामान्य अध्ययन से भी वंचित होने लगी। गांधर्व विवाहों का चलन धीरे-धीरे कम हो गया- ये मुख्यतः क्षत्रियों में ही सीमित रह गये। अब पुत्र एवं पुत्री के विवाह करने का अधिकार पिता अथवा गुरुजनों का ही हो गया। रामायण के सभी स्त्री पात्र अपने से विवाह का प्रस्ताव रखने वाले को उत्तर देते हैं -

**''पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः।**
**यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति।''**[2]

लगभग यही स्थिति महाभारत में भी दिख पड़ती है-**कन्या पितृत्वं दुखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम्। न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति।।**[3] पितृसत्तात्मक पारिवारिक संगठनों में विवाह होने पर पुत्री वधू बनकर पति के घर में रहने जाती है। स्वभावतः नये स्थान पर पुत्री का व्यवहार कैसा होगा, यह पुत्री एवं पुत्र के माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय बन गया था। रामायण में वर्णित है-

**मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव च दीयते।**
**कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति।। VII. 9/10**

महाकाव्य काल में स्त्रियों के लिए उपनयन के निषेध से दो कठिनाइयाँ उभरीं। प्रथम तो यह कि स्त्रियों की वैदिक शिक्षा समाप्त हो गयी। स्त्रियाँ नित्य कर्म में संध्या तथा देवों एवं पितरों की अर्चना, अपने मृत पुत्र अथवा पति के लिए 'उदक-क्रिया' अथवा श्राद्ध-कर्म तक सीमित रह गयीं। अब ये यज्ञ में मन्त्रोच्चारण न कर मात्र पति का यज्ञ में साहचर्य करने लगी, मंत्रोच्चारणपूर्वक यात्रा पर जाने

---

1. मनु. II. 67
2. रामायण, I. 32/22
3. वही, VII 9/9

वाले पति अथवा पुत्र के लिए **'स्वस्त्ययन'** क्रिया करने लगीं, सन्तान प्राप्ति हेतु व्रत, उपवास एवं नियमों का पालन करने लगीं, अपने पति के साथ वानप्रस्थ में प्रवेश कर नाना प्रकार के तप एवं यज्ञ में पति की सहकर्मी बन गयीं। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ अब कम ही होती थीं। साथ ही कौशल्या, कैकेयी, सीता, अरुन्धती जैसी नारी पात्रों की संख्या मात्र गिनी-चुनी एवं उदाहरण के रूप में ही थीं जो उच्च घरानों से सम्बद्ध थीं। कुल मिलाकर नारियाँ अब सामान्यतया गृह-कार्यों तक ही सीमित रह गयी थीं। सम्भ्रान्त कुलों में विशिष्ट आचार्यों को नियुक्त कर घर-घर में ही स्त्रियों के शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, उत्तरा, सावित्री, दमयन्ती आदि ऐसी ही शिक्षा सम्पन्न नारी पात्रों का उल्लेख हम महाभारत में पाते हैं। ब्राह्मण कन्याएँ अपने पिता से ही शिक्षा ग्रहण करती थीं। द्रौपदी ने घर में ही बार्हस्पत्य राजधर्म की शिक्षा आचार्य से ग्रहण की थी तथा उत्तरा ने बृहन्नखा रूपधारी अर्जुन से गीत, नृत्य एवं वाद्य की शिक्षा ली थी। हाँ ! यह अवश्य है कि अध्यात्म-विद्या अथवा मोक्ष-विद्या के निरन्तर प्रयास हेतु छूट थी।

पतञ्जलि **'उपाध्यायानी'** तथा **'उपाध्याया'** शब्दों का उल्लेख करते हैं,[1] जिसमें प्रथम उपाध्याय की पत्नी के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु द्वितीय 'उपाध्याया' वैसी स्त्रियों के लिए प्रयोग होता था जो अध्यापन से सम्बद्ध थीं। पाणिनी ने बालिकाओं के लिए शिक्षा की पृथक् संस्था का उल्लेख किया है। इसी प्रकार का मिलता-जुलता वर्णन रामायण में भी हैं। रामायण में वाल्मीकि ने स्त्री तपस्विनियों के पृथक् आश्रम का उल्लेख किया है जहाँ बाल्मीकि ने परित्यक्ता सीता को रखा था। इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि कन्याओं के पृथक् शिक्षा की व्यवस्था वैसे आश्रमों में थी, जहाँ 'उपाध्याया' पढ़ाया करती थीं या अधिक उम्र की विदुषी स्त्रियाँ कन्याओं को सर्व-शिक्षा में दक्ष करती थीं। पतञ्जलि **'अपिशाला'** तथा **'कोशकृत्स्वा'** शब्दों का उल्लेख करते हैं जो क्रमशः अपिशालि की व्याकरण तथा काशकृत्स्न के मीमांसा-ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाली स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होते थे। यह इस बात का निर्देश है कि नृत्य, संगीत जैसी ललित कलाएँ ही नहीं, अपितु व्याकरण एवं मीमांसा जैसे दुरूह विषय भी स्त्रियों के द्वारा पढ़े जाते थे और वे उनमें प्रावीण्य प्राप्त करती थीं किन्तु यह सुविधा ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण वाले संभ्रान्त परिवार की स्त्रियों को ही प्राप्त था। सामाजिक रूप से स्त्री के अध्ययन के प्रति अरुचि होने पर भी कुछ स्त्रियाँ वैदिक ज्ञान प्राप्त करती थीं।[2]

सामान्यतया स्त्रियों से उपनयन का अधिकार छिन जाने से एक अत्यन्त

---

1. अष्टाध्यायी, 4.10.48 पर वार्त्तिक
2. अष्टाध्यायी, 4/1/63

हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो गयी क्योंकि उपनयन के बिना स्त्रियाँ **'अद्विज'** अर्थात् शूद्र के समकक्ष हो गयीं, ऐसे में इनसे उत्पन्न पुत्र को क्रमशः 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय' एवं 'वैश्य' का दर्जा किस प्रकार दिया जाय, यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ, तब हारित ने अपने धर्मसूत्र में ऐसी व्यवस्था बनायी जिससे इसका निराकरण हो सके। उन्होंने विवाह-संस्कार को स्त्री के द्विजत्व हेतु उपनयन का स्थानापन्न स्वीकार किया। अब स्त्रियों के लिए विवाह के अनन्तर पति की सेवा करना गुरुकुल में निवास के तुल्य माना गया और घरेलु कार्यों का निर्वाह (ब्रह्मचारी द्वारा) आचार्य की अग्नि की सेवा करने के बराबर समझा गया। मनु ने माना कि **''वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया''।**[1] निश्चय ही, उपनयन का निषेध हो जाने से स्त्रियों की नियमित शिक्षा व्यवस्था में भारी रुकावट आ गयी। इसके कारण न केवल वेदों का अध्ययन, स्वतंत्र रूप से यज्ञ करने का अधिकार, यज्ञों में मन्त्रोच्चारण का अधिकार ही समाप्त हो गया, अपितु सामान्य रूप से ज्ञानदीप के सहसा बुझ जाने से भारतीय समाज में स्त्रियों का जीवन घोर-अन्धकारमय हो गया।

इसकाल में स्त्रियों की स्थिति में एक और मुख्य परिवर्तन आया, वह परिवर्तन था स्त्रियों का बाल्यावस्था में विवाह। स्त्रियों का 'उपनयन' अधिकार छिन जाने से द्विजत्व की प्राप्ति हेतु विवाह की अनिवार्यता घोषित की जाती रही थी। इससे वैदिक काल में होनेवाले स्नातक स्नातिकाओं के विवाह का प्रचलन समाप्त होने लगा। स्मृति-काल तक विवाह की आयु घटते-घटते 'नग्निका' का विवाह कर देने का आग्रह होने लगा।[2] स्मृतियों में ॠतु-दर्शन से पूर्व ही अपनी पुत्री का विवाह कर देने का पिता को आदेश है क्योंकि ऐसा न करनेवाला नरकगामी माना जाने लगा था। संक्षिप्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं स्त्रियों के लिए नियमानुकूल शिक्षा अर्थात् संस्थागत शिक्षा एवं औपचारिक शिक्षाएँ समाप्त होने लगीं। यद्यपि महाकाव्यों की सामाजिक दशा के अन्तर्गत कन्या की विवाह योग्य आयु पूर्ण युवावस्था में ही प्रतीत

---

1. मनुस्मृति, II. 67
2. पराशर स्मृति, 7/6-9 अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी।
   दशवर्षा भवेद् कन्या, तत् उर्ध्वं रजस्वला।
   माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
   त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्टवा कन्या रजस्वलाम्।।
   यस्तां समुद्वहेत् कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानमोहितः।
   असम्भाष्यो ह्यपांक्तेय स विप्रो वृषलीपतिः।।
   
   मनुस्मृति 9/94; त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
   त्रयष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः।।

होती है, क्योंकि द्रौपदी, कुन्ती, शर्मिष्ठा एवं देवयानी जैसी स्त्री पात्राएँ युवावस्था में ही विवाहित हुई थीं।

स्मृति में वधु के लिए अनिवार्य शर्त 'अक्षत यौवना 'होना माना गया इसका समाज पर एक कुपरिणाम यह निकला कि विधवा विवाह के प्रति समाज में जुगुप्सा एवं निषेध की भावना आने लगी क्योंकि विधवा का अक्षत-यौवना होना कठिन ही था। दूसरा विवाह विच्छेद एवं नियोग के प्रति स्मृतिकारों ने अरुचि प्रदर्शित कर दी इसका तीसरा कुपरिणाम यह हुआ कि सती-प्रथा को इससे अत्यन्त बढ़ावा मिला क्योंकि विधवा (मृतभर्तृका)का जीवन जिस नैतिकता एवं उच्च सामाजिक मूल्यों की कसौटी पर कस दिया गया, उन परिस्थितियों में जीवन-निर्वाह कर पाना अत्यन्त कष्ट-प्रद था। विधवाओं के शुद्ध एवं पवित्र जीवन-यापन हेतु ऐसे नियम के अनुपालन का निर्देश दिया गया, जो अत्यन्त नीरस एंव उद्देश्य-हीन जीवन व्यतीत करने को बाधित करता था। विधवा-विवाह के लिए स्मृतिकारों की अनुज्ञा ने विधवा को दो चीजों के लिए विवश कर दिया। प्रथम तो यह कि वे ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवन-यापन करें। बृहस्पति का कहना है कि पति के मरने के बाद जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा (ब्रहाचर्य) का पालन करती है, वह सब पापों को छोड़कर पतिलोक को प्राप्त होती है। नित्य व्रत -उपवास में रत ब्रह्मचर्य में व्यस्थित दम और दान में रत स्त्री अपुत्रा होते हुए भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।[1] मनुस्मृति (5/157)में भी वर्णित है:

**कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।**
**न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौप्रेते परस्य तु।।**

अर्थात् विधवा पवित्र फूल फलों से भोजन कर शरीर को भले ही कृश कर दे, परन्तु पति के मरने पर दूसरे का नाम भी न ले। पुनः मनु का यह मानना है कि जो विधवा स्त्री/या पतिव्रता स्त्री संतान के लोभ से भर्ता का अतिक्रमण करती है (अर्थात् पर पुरुष से सन्तान ग्रहण करती है।), वह इस लोक एवं परलोक से भी भ्रष्ट हो जाती है। यहाँ इससे दो बातें स्पष्ट होती है- (1) नियोग के प्रति उदासीनता एवं (2) ब्रह्मचर्य का पालन।

सूत्रकाल में जिस नियोग की व्यवस्था दी गयी थी, स्मृतिकाल में वह निन्दित हो गयी एवं द्वितीय यह कि पुरुषों को जहाँ पुत्र-प्राप्ति हेतु अन्य विवाह की अनुमति प्राप्त थी[2] वहीं स्त्रियाँ संतान प्राप्ति हेतु भी अन्य का वरण नहीं कर सकती थीं। यहाँ

---

1. बृह. स्मृति, 21/15
2. मनुस्मृति, 5/168; भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वग्नीनन्त्यकर्मणि।
   पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च।।

तक कि 'प्रोषितभर्तृका' भी अब नियोग नहीं कर सकती थीं। अब उनके लिए भी अनेक निषेध लगा दिए गए।[1] यह सूत्रकाल एवं स्मृति काल में परिवर्तन दिख पड़ा है। अतएव स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य पालन ही जीवन व्यतीत करने का एक मात्र दुरुह मार्ग बच गया (**आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एक पत्नीनां काङक्षती तमनुत्तमम्॥**)।[2]

विधवा के प्रति तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण ने उसे पति की चिता के साथ धकेल दिया। सती प्रथा को अमर एवं सत्यवादी आदर्श के रूप में दिखाया गया। साथ ही, इस प्रथा को पति-पत्नी के अटूट संबंध के रूप में देखा जाने लगा। 'सती' शब्द के लिए अन्वारोहण (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना), सहमरण, सहगमन एवं अनुमरण (यदि पति की मृत्यु विदेश-प्रवास काल में हो गयी है, तो उसका समाचार जानने के बाद उसके पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था अस्थिर चित्तवाली स्त्रियों द्वारा पति-हनन न होने देने के लिए की गयी थी, क्योंकि यदि किसी स्त्री के पति का जीवन समाप्त होता है, तो साथ ही उसकी अर्द्धांगिनी का जीवन भी समाप्त हो जाएगा। अतः 'सती' शब्द की अभिव्यक्ति ऐसे प्रचलन से जुड़ गयी जो विधवा स्त्री के मृत पति के प्रति अनन्य अनुराग एवं त्याग का परिचायक था। सती प्रथा का उल्लेख रामायण एवं महाभारत महाकाव्य में हुआ है। रामायण में ब्राह्मणी वेदवती के सती होने का उल्लेख है- **"एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसं पपात।"**[3] महाराजा पाण्डु के मृत होने पर उनकी रानी माद्री ने अन्वारोहण किया था (**तत्रैनं चितागिनस्थं माद्री समन्वाहरोह**।)[4] महाभारत के ही शांतिपर्व में कपोती के सती होने की कथा है-

**न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया बिना।**
**पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत्॥** 248.8
**एवं विलप्य बहुधा करुण सा सुदु:खिता।**
**पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्॥**

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्य काल तक सती-प्रथा ऐच्छिक थी, क्योंकि राजा दशरथ की मृत्यु पर्यन्त उनकी कोई भी रानी सती नहीं हुई थीं।

वैदिक काल में स्त्रियों के बीच पर्दा-प्रथा नहीं थी, किन्तु महाकाव्यकाल तक

---

1. याज्ञ., 1/84; क्रीडां शरीर संस्कारं समाजोत्सव दर्शनम्।
   हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका॥
2. मनु. 5/158
3. रामायण, 7.17.14.33
4. महाभारत, आदि 95/65

पर्दा अर्थात् अवगुंठन का प्रचलन प्रारंभ हो गया था। पाणिनी ने अष्टाध्यायी में ऐसी स्त्री जिसने सूर्य नहीं देखा है उसे '**असूर्यम्पश्या**' कहा है।[1] रामायण में भी सीता जब राम के साथ वन गमन के लिए सन्नद्ध हुईं तो वाल्मीकि ने कहा कि जो स्त्री आकाश में विचरण करनेवाले पक्षियों द्वारा भी नहीं देखी गयी, वह (सीता) अब राजमार्ग के सभी लोगों द्वारा देखी जाएगी।[2] रामायण के ही युद्ध काण्ड में एक प्रसङ्ग में कहा गया है–

**व्यसनेषु च कृच्छेषु नो युद्धे नो स्वयंवरे।**

**न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियः।।** 6/116/28

अर्थात् विपत्ति, युद्ध, स्वयंवर एवं विवाह में स्त्रियों का सबों के मध्य आना अनुचित नहीं है। इसका अर्थ है कि इन अवसरों के अतिरिक्त स्त्रियाँ पर्दे में रहा करती थीं। महाभारत (15/16/13) में युद्ध के उपरान्त जब धृतराष्ट्र वन को जाने लगे, तब उनकी शोक-व्यथित पत्नियाँ भी राजमार्ग पर उतर गयीं, जिन्हें कभी सूर्य और चन्द्रमा ने भी नहीं देखा था (**या नापश्यच्चन्द्रमा नैव सूर्यो रामाः काश्चिताः स तस्मिन्नरेन्द्रे। महावनं गच्छन्ति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्ग प्रपेदुः।।**) किन्तु कुछ सामाजिक वेत्ताओं का मानना है कि महाकाव्य काल में किसी भी प्रकार की पर्दा-प्रथा नहीं थी। ये तर्क देते हैं कि अशोकवाटिका में बंदी सीता रावण से पर्दा नहीं करती थी। महाभारत की द्रौपदी, कुन्ती, गान्धारी कोई भी पर्दा नहीं करती थीं।

महाकाव्य काल में बहुविवाह के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। दशरथ, कृष्ण, अर्जुन, दुर्योधन, रावण आदि की अनेक रानियाँ थीं। अतएव सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त परिवार में बहुविवाह का प्रचलन था, किन्तु बहुपति विवाह का एक मात्र उदाहरण महाभारत में द्रौपदी एवं पंच पाण्डवों का मिलता है किन्तु इस प्रकार के विवाह को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी। अनुलोम विवाह के उदाहरण मिलते हैं जो येन-केन-प्रकारेण समाज में स्वीकार कर लिए जाते थे, किन्तु प्रतिलोम विवाह पूर्णतया वर्जित एवं निन्दित था। समाज इसका बहिष्कार करता था। 'सावित्री' 'चाण्डाल' जैसे निन्दित शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिलोम विवाह करने पर स्त्रियाँ समाज से निष्कासित कर दी जाती थीं।

इस प्रकार वैदिककाल के बाद निरंतर स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अवनत हो रही थी। अनेक वर्जनाओं एवं बंधन के बीच स्त्रियों का जीवन स्वाबलम्बी नहीं रह गया था। स्त्रियाँ पूर्णरूपेण पुरुषों पर आश्रित हो गयी थीं।

---

1. अष्टाध्यायी, 3/2/36
   महाभारत, 9/29/74
2. रामायण, 2/33/8; या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
   तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः।।

## नारियों की शैक्षणिक स्थिति

प्राचीन भारत में नारियों के शैक्षणिक-व्यवस्था की चर्चा की गयी है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार चरम बिन्दु पर था। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों एवं पुरुषों में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। पुरुषों की भांति स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार हुआ करता था। स्त्रियाँ भी विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण किया करती थीं। साथ ही, पुरुषों की भांति ब्रह्मचर्य भी धारण किया करती थीं। तर्कशास्त्र, दर्शन, वेद आदि की शिक्षाएँ स्त्रियाँ पुरुषों की ही भांति सामान्य रूप से ग्रहण किया करती थीं। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं का प्रणयन विदुषियों के द्वारा हुआ। लोपामुद्रा, घोषा, निबावरी, सिकता, विश्ववारा, अपाला, रोमशा सदृश अनेक विदुषी स्त्रियों की बौद्धिक चर्चा हम सुनते हैं। सूत्र काल तक स्त्रियों द्वारा यज्ञ सम्पादित किया जाता रहा।[1] राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय कौशल्या ने यज्ञ का सम्पादन किया था।[2] पाण्डवों की माँ कुन्ती भी अथर्ववेद में पारंगत थी।[3] इस युग तक स्त्रियाँ मंत्रवित् एवं पंडिता होने के कारण ब्रह्मचर्य पालन करती हुई[4] उपनयन संस्कार भी कराती थीं। शिक्षा में अभिरुचि रखनेवाली दो प्रकार की स्त्रियाँ वैदिक काल तक थीं- 1. **सद्योवधू** एवं 2. **ब्रह्मवादिनी**। सद्योवधू विवाह पूर्व तक अपनी शिक्षा ग्रहण करती थीं किन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करती थीं एवं अध्ययन-अध्यापन करती थीं। अध्यापन-कार्य में संलग्न स्त्रियाँ **'उपाध्याया'** (उपाध्यायी) या **'आचार्या'** भी कहलाती थीं।[5] स्त्रियाँ उद्‌गात्री भी हुआ करती थीं, जो मंत्रों का सस्वर पाठ किया करती थीं। ऋग्वैदिक काल में भी इडा अध्यापिका के रूप में दर्शायी गयी है।[6] मैत्रेयी वेदान्त दर्शन की मर्मज्ञ थी। गार्गी ने भी अपने तर्कशक्ति से याज्ञवल्क्य को चौंका दिया था। काशकृत्स्नी ने मीमांसा-दर्शन का प्रणयन किया था, जिसके नाम पर मीमांसकों की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। द्रौपदी भी शिक्षित थी। अत्रेयी ने वाल्मीकि से शिक्षा ली थी। अम्बा, प्रार्थीतेयी, बढ़वा सदृश नारियों ने भी शिक्षा के क्षेत्र में अपना परचम दिखाया था।

बौद्ध ग्रन्थों में भी अनेक शिक्षित एवं आध्यात्मिक नारियों का वर्णन मिलता है।

---

1. पा. गृ. सू. 2.20; स्त्रियश्चोयपजेरम्ना चरित्वात्।
2. रामायण 2.20.15; सा क्षौम वसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
   अग्नि जुहोति स्म तदा मन्त्रविस्कृतमंगला।।
3. महाभारत, 3.305-20
4. अथर्ववेद 11.5.18
5. महाभाष्य 33.21 वार्तिक 1
6. ऋग्वेद 1.31.11, इडामकृण्वन् मनुषस्य शासनीम्।

थेरीगाथा की कवयित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित भिक्षुणियाँ थीं। भिक्षुणी खेमा जगत् प्रसिद्ध हुई। सुभद्रा व्याख्यान देने में प्रसिद्ध थी। राजगृह के सेठ की पुत्री भद्राकुण्डाकेशा एक शिक्षित एवं भद्र महिला थी। जैन ग्रन्थों में भी कौशाम्बी नरेश की पुत्री जयन्ता दार्शनिक प्रवृत्ति की थी।

पाणिनी ने महिला शिक्षणशाला का उल्लेख किया है।[1] सह-शिक्षण की भी व्यवस्था थी। वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ आत्रेयी भी शिक्षा ग्रहण किया करती थी। पुराणों में नारी शिक्षा के दो रूप दिख पड़ते है: (1) आध्यात्मिक एवं (2) व्यावहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान में अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला[2], मेना, धारिणी[3] संनति[4] शतरूपा, बृहस्पति भगिनी भुवना[8] आदि कन्याओं का वर्णन मिलता है जो 'ब्रह्मवादिनी' थीं। उमा, पीवरी, धर्मव्रता सदृश कुछ कन्याओं ने तपस्चर्या के बल पर मनोनुकूल वर पाया था।[6] कन्याएँ गार्हस्थ्य शिक्षा अपने घर में ही ग्रहण करती थीं। कन्याएँ कृषि कार्य में भी सहयोग किया करती थीं।[7] ऋग्वैदिक-काल में अपाला नामक कन्या का उल्लेख प्राप्त होता है, जो कृषि कार्य में अपने पिता को सहयोग किया करती थी। कन्या के लिए 'दुहिता' शब्द आया है। इसका अर्थ है कि कन्याएँ घर में गायें भी दुहा करती थीं। घर में सूत कात कर या वस्त्र सिलकर आर्थिक सहयोग भी किया करती थीं। नृत्य एवं गायन में इनकी स्वाभाविक अभिरुचि हुआ करती थी।[8] चित्रकला का भी पूर्ण विकास उस काल तक हो चुका था। वाणासुर के मंत्री कुष्माण्ड की कन्या की एक सखी चित्रलेखा ने गंधर्वों, मनुष्यों और अनेक देवों की आकृतियों का अंकन किया था।

स्मृतिकाल तक स्त्रियों का उपनयन समाप्त हो चुका था। विवाह के अवसर पर ही उनका उपनयन संस्कार व्यवहार रूप में प्रचलित हो गया था। उनके लिए गृह कार्यों को भली-भांति सम्पन्न करना तथा अग्रजों एवं पति को आदरपूर्वक रखना ही धार्मिक अनुष्ठान था।[9] अब तक कन्याओं का गुरुकुल में रहकर पढ़ना समाप्त हो

---

1. पाणिनि, 6.2.46, छात्रादय: शालायाम्।
2. वायु पुराण 72.13-15
3. विष्णु पुराण 3.10.19
4. मत्स्य पुराण 20.27
5. ब्रह्माण्ड पुराण 3.2.28
6. वायु पुराण 41.31 तपस्तप्तवती चैव यत्रदेवी वारांगन
7. ऋग्वेद 8.91.5.6
8. तैतिरीय संहिता 6.1.65
9. मनु.; वैवाहिको विधि स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मत:।
   पतिसेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिक्रिया।।

चुका था। मण्डन मिश्र की पत्नी तुल्य तर्क, वेदान्त और साहित्य में प्रवीण स्त्रियाँ उदाहरण स्वरूप ही हुआ करती थीं। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी सदृश कवयित्री और टीकाकार भी अन्य स्त्रियाँ थी, किन्तु इस प्रकार के गुणों से युक्त रेखा, रोहा, माधवी, शशिप्रभा सदृश कवयित्रियाँ वही स्त्रियाँ हुआ करती थीं, जिनमें स्वयं कुछ कर दिखाने की प्रबल इच्छा होती थी।[1]

राजकीय एवं प्रशासनिक कार्यों से स्त्रियों को दूर ही रखा जाता था। फिर भी, बुद्धिमता एवं कुशलता से युक्त स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर राजकीय कार्यों का भी संवहन करती थीं। कश्मीर की सुगन्ध एवं दिद्दा नामक रानियाँ अपने प्रशासन एवं राज कार्य के लिए प्रसिद्ध थीं।[2]

## स्त्रियों का सम्पत्ति संबंधी अधिकार

प्राचीन काल में स्त्रियों का सम्पत्ति संबंधी अधिकार अत्यन्त सीमित था। वह सीमित अधिकार भी उन्हें तभी तक प्राप्त था, जब-तक वे पति द्वारा समादृत हुआ करती थीं। स्त्री की पूर्ण स्वत्व वाली सम्पत्ति वही होती थी, जो स्त्रीधन कहलाता था। विवाह में अग्नि के सम्मुख कन्या को जो कुछ दान दिया जाता था या ससुराल-गमन के समय जो भी सामान उसे माता-पिता या भाई द्वारा मिलता था, वही स्त्री-धन कहलाता था।[3] विवाहोपरान्त सास श्वसुर से पाद-वन्दनादि प्रथा में स्त्री को जो प्राप्त होता, वह भी स्त्री-धन ही कहलाता था।[4] सम्पत्ति विभाजन के समय पत्नी या माता को प्राप्त होने वाला पुत्र के समान अंश या भाइयों के अंश के चतुर्थांश आदि को भी स्त्री-धन के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है।[5] वस्तुतः उत्तराधिकार में मिली हुई या पति द्वारा स्त्री को दी गयी सम्पत्ति भी स्त्री धन था।[6] आसुर विवाह में अभिभावक द्वारा कन्या के निमित्त जो धन लिया जाता था, वह भी स्त्री धन के निमित्त होता था।[7] पति के धन में या परिवार की सम्पत्ति में स्त्री का भाग भी सुनिश्चित किया जाने लगा। पति के मृत्यु के बाद नारी को स्त्री धन से

1. कर्पूरमञ्जरी; 1.1
2. गाथासप्त.; 1.87.90; 2.2.63, 4.3.28, 74, 76
3. मनु. 9.194, अध्यग्न्यध्यावाहनिक दत्तं च प्रति कर्मणि।
   भ्रातृ मातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।।
4. मिताक्षरा, याज्ञ. 2.143.44, पितृमातृपतिभ्रातृ दत्तमध्यान्युपागतम्।
   आधिवेदनिकाद्यञ्च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्।।
5. अपरार्क, पृ. 751
6. मिताक्षरा, याज्ञ. 2.143; आद्य शब्देन रिक्थ क्रय संविभाग परिग्रहाधिगमप्राप्तमेत्सस्त्रीधनं नन्वादि निरुक्तम्।
7. वही, 2.145, अप्रजस्त्रीधनं भतृर्बाह्यादिषु पर्व्वपि। दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेशु पितृणामि तत्।।

बंचित भी नहीं किया जा सकता था।[1] स्नेही जनों से प्राप्त धन को '**सौदायिक**' कहते थे। सौदायिक स्त्री-धन के ग्रहण अथवा दान में पति, पुत्र, पिता, भाई किसी का अधिकार नहीं था (**सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातंत्र्यं परिकीर्त्तितम्। विक्रये चेव दाने च यथेच्छ स्थावरेष्वपि।। दायभाग**)। नारद स्मृति के अनुसार स्त्री धन का उपयोग पति द्वारा मात्र दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि अथवा जेल जाने की स्थिति में होता था। नारद-स्मृति स्त्री को मात्र चल सम्पत्ति बेचने का ही अधिकार देता है-

**भर्त्ता प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियैतस्मिंन्मृतेऽपितत्।**
**सा यथाकाममश्नयीद्दाद्याद्वा स्थावरादृते।।**

विज्ञानेश्वर का सम्पत्ति संबंधी अधिकार में अपना ही तर्क है। इनका कहना है, "यह उचित है कि पुत्री को ही माता का स्त्री-धन एवं पुत्र को ही पिता की सम्पत्ति प्राप्त हो, क्योंकि स्त्री का रज अधिक उत्पन्न होने से पुत्री एवं पुरुष का अधिक वीर्य उत्पन्न होने से पुत्र उत्पन्न होता है।" पराशर ने लिखा है कि अविवाहित कन्याओं को ही स्त्री-धन मिलना चाहिए पुत्र को नहीं। विवाहित पुत्री की स्थिति में पुत्र एवं पुत्री के बीच धन का बँटवारा समान रूप से होना चाहिए। जो स्त्री आचरणहीन एवं अवगुणों से युक्त होती थी, उसे स्त्रीधन से भी बंचित कर दिया जाता है।

नारियों के लिए संपत्ति के उत्तराधिकार को लेकर वैदिक काल से ही आक्षेप प्राप्त होने लगते हैं। तै. संहिता (6.5.8.2) में वर्णित है- '**तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादी**'। शतपथ ब्राह्मण (4.4.2.13) में भी दाय-भाग के लिए स्त्रियों को उत्तराधिकारी नहीं माना गया है (**ता नात्मनश्चैशत न दायस्य चैशत्।**)। यह निषेध अपवाद जैसा प्रतीत होता है क्योंकि दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ पुत्री को माना गया है (**नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदयो मनसा मन्तवा उ। ऋग्वेद 7.4.8**)। वैसे भी भाई के न रहने पर बहन ही सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती थी (**अभ्रातेव पुंस एति प्रतीचो गर्तारुगिव सनये धनानाम्**)[2]। इन दृष्टान्तों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार विशेष परिस्थितियों में प्राप्त था। सूत्रकाल तक भाई के न होने पर बहन के सम्पत्ति के अधिकार को भी समाप्त कर दिया गया। आप. ध. सू. (2.14.2.4) में कहा गया है-"**पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः। आचार्याभावे अन्तेवासी हत्वा धर्मकृत्येषु योजनयेत्। दुहिता वा।** अर्थात् उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड या गुरु या शिष्य कोई न हो,

---

1. मनु. 3.52, स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति मानवाः।
   नारीयानानि वस्त्रं ते पापा यान्त्यधोगतिम्।।

2. ऋग्वेद 1.12.4.7

तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है, यद्यपि सम्पत्ति मालिक द्वारा पुत्री को अधिकारी न स्वीकार करके सम्पूर्ण सम्पत्ति धर्मकार्य में लगा देने का निर्देश दे दिया गया हो। मनु, गौतम एवं वसिष्ठ ने भी पुत्री को उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार नहीं किया है।[1]

महाकाव्य काल में पुत्री के प्रति समाज उदार दिख पड़ता है-

**यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।**
**तस्यात्मात्मनि तिष्ठन्त्यो कथमन्या धनं हरेत्।।**

अर्थात् आत्मा सदृश पुत्र को एवं पुत्र समान पुत्री को समझना चाहिए। ऐसा न मानने पर धन दूसरा कोई हर लेता है। निश्चय ही यह उक्ति भी सम्पत्ति में पुत्र को ही प्राथमिकता प्रदान करता है। तदनन्तर ही पुत्री के सम्पत्ति-अधिकार को स्वीकार किया गया है। इस मन्तव्य की पुष्टि महाभारत के निम्नलिखित कथन से भी हो जाती है - **अभ्रातृका समग्रार्हा चाधर्हित्येपरे विदु:।**[2] अर्थात् भाई के न होने पर बहन को आधी सम्पत्ति भी अवश्य मिलनी चाहिए। स्पष्ट है कि समाज में सम्पत्ति पर स्त्रियों का अधिकार पुत्र-उत्तराधिकारी के रहने पर अत्यन्त सीमित था। अर्थशास्त्र (3.5) द्वारा भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि मिलती है- **द्रव्यंपुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च**। याज्ञवल्क्य का भी इसी प्रकार का कथन है। इनके अनुसार पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही सम्पत्ति की उत्तराधिकारी है।[3] याज्ञवल्क्य ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री को सम्पत्ति का अधिकारी माना है, किन्तु बृहस्पति एवं नारद ने भी पुत्र के अभाव में ही पुत्री को उत्तराधिकारी स्वीकार किया है। **(पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानकारणात्)**[4] वस्तुतः कन्या के स्वत्रंत अधिकार की अनुशंसा विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन ने किया है। इन दोनों ने पुत्री को पुत्र के हिस्से का चौथा हिस्सा देने की अनुशंसा की है। विष्णु[5] ने कन्या को भी सम्पत्ति में हिस्सेदार बनाने की संस्तुति की है। नारद भी सम्पत्ति के बड़े हिस्से पुत्र को एवं छोटा हिस्सा पुत्री को देने की अनुशंसा करते हैं-

**ज्येष्ठायांशोऽधिको देयः कनिष्ठायापरः स्मृतः।**
**समांशभाजः शेषाः स्युरप्रत्ता भगिनी तथा।**

---

1. मनु. 9.185, गौ. ध. सू. 28.21, वसिष्ठ ध. सू. 15.7
2. महाभारत 13.88.22
3. याज्ञ. 2.135
4. नारद 13.50
   कात्या. याज्ञ. 2.135.6; पत्नी पत्युर्धनहरी या स्याद् व्यभिचारिणी।
   तदभावे तु दुहिता यद्यनूढ़ा भवेत्तदा।।
5. विष्णु. 18.34; मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहरिष्यः। अनुढ़ा दुहितरश्च।

वस्तुतः कन्या को सम्पत्ति का उतना ही हिस्सा मिलने की समाज अनुशंसा करता था, जितना अविवाहित रहने तक कन्या पर खर्च था (**या तस्य दुहिता तस्यः पित्र्योऽशो भरणे तथा। असंस्कारं भजेरस्ताः परतो बिभृयात्पति।। -नारद 13. 27**)। वैसा भी पिता के दिवंगत होने की स्थिति में कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्त्तव्य था तथा अपने हिस्से का एक-चौथाई विवाह कार्य में व्यय कर सकता था।

**असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः।**

**भागिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांश तु तुरीयकम्।। याज्ञ. स्मृति. 2.124**

अगर एक चौथाई हिस्से से भी बहन का विवाह कर पाना कठिन था, तो भाई का कर्त्तव्य था कि वह अपने हिस्सा इतना बहन के विवाह में खर्च करे (**यदि संस्कारं पर्याप्तमपि पितृधनं नास्ति तदा पुत्र समभागितैव दुहितृणाम्।-वीरमित्रोदय, पृ. 542**)। किन्तु यदि पारिवारिक सम्पत्ति अधिक है एवं कन्या के विवाह में कम खर्च हुआ, तो शेष सम्पत्ति में से कन्या को साथ ले जाने का भी अधिकार नहीं था-

**तस्मात्संस्कारोपयुक्तद्रव्यस्येव दानमात्रं विवक्षितम्। वीरमित्रोदय, पृ 542**

सम्पत्ति में विधवा को वैदिक काल में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था।[1] आश्वलायन धर्मसूत्र (2.14.2-4) में पुत्र के अभाव में सपिण्ड को, सपिण्ड के न रहने पर आचार्य को, आचार्य के न रहने पर निकट संबंधी को या फिर धर्म कार्य हेतु किसी को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाना चाहिए (**पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः। आचार्याभावेऽन्तेवासी हृत्वा धर्मकृत्येषु योजयेत्। दुहिता वा**)। यहाँ स्त्रियों के लिए उत्तराधिकार की कोई व्यवस्था नहीं थी। मेधातिथि ने मनुस्मृति (9.187) पर भाष्य लिखते हुए स्पष्ट कर दिया है कि विधवाओं की सम्पत्ति में कहीं भी भागीदारी नहीं है-'**अतो यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्ध मुक्तं तत्सम्बद्धम्। पत्नीनामसभागित्वं बृहपत्यादिसमतम्। मेधातिथिर्निरा कुर्वन्न प्रीणाति सतां मनः।।**' कौटिल्य ने सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से विधवा का सम्पत्ति पर अधिकार बताया -

**अदायदकं राजा हरेत्स्त्री वृत्तिप्रेतकदर्यवर्जम्। अर्थशास्त्र 3.5**

विष्णु (2.135-136) के अनुसार यदि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होनेवाले पुत्र अयोग्य हों, तो विधवा सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती है-

**पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा।**

**तत्सुता गोत्रजा बंधुशिष्यस ब्रह्मचारिणीः।।**

---

1. तै. सं. 6.5.4.2, तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः।

**एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः।**
**स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥**

वहीं नारद ने उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार मानकर विधवा को भरण-पोषण मात्र धन देने की संस्तुति की है-

**अन्यत्र ब्रह्मणात्किन्तु राजा धर्मपरायणः।**
**तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेश धर्मः सनातनः॥** 13.52

परन्तु दाय-भाग एवं मिताक्षर का मत पूर्व मत का विरोधाभासी है। इनके अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा को दे देना चाहिए।

**अपुत्रा शपनं भर्तृः पालयन्ती पतिव्रता।**
**पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंश हरेत च॥** मिताक्षरा, याज्ञ., 2.136

उपर्युक्त कथनों से यह प्रतीत होता है कि पुत्र की तुलना में पुत्री या नारी सदस्यों की स्थिति सम्पत्ति के अधिकार को लेकर अत्यन्त कमजोर एवं सीमित थी। विधवाओं का जीवन भी कठोरता एवं निर्मम सादगी से भरा था जिन्हें व्यवहारतः सम्पत्ति का अधिकार नहीं था।

### सती-प्रथा

मृतभर्तृका अर्थात् विधवा का जीवन अत्यन्त दुरुह हो गया था। स्त्रियों के लिए पति मृत्यु के उपरांत दो प्रकार का विकल्प था। प्रथम यह कि वे जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य की जीवन व्यतीत करें।[1] दूसरा विकल्प था, अपने पति की चिता में जल मरना। सती-प्रथा को **'अन्वारोहरण'** भी कहा गया है। अमर और सत्य पर स्थिर रहने का प्रतीक सती-प्रथा को माना गया था। यह **'सहगमन' 'अनुमरण'** एवं **'सहमरण'** भी कहलाता था। यह विधवा स्त्री के अनुपम अनुराग एवं त्याग का प्रतीक था।

सती-प्रथा के उद्धरण ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी प्राप्त होते हैं -

**इया नारीरविधवाः सपत्नी राजनेन सर्पिषा संविशन्तु।**
**अनश्रवो नयीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयोयोनिमग्ने॥ 10.18.7**
**उदीर्ष्य नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।**
**हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तचैव पत्युर्जेनित्वममिसवभूथ॥ 20.18.**

अथर्ववेद (1921) में भी वर्णित है-''**इयं नारी पतिलोकं वृषानां निपद्यते उपत्वा मर्त्य प्रेतम् धर्मम् पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्राणिं चेहधत॥**'' इसका

---

1. मनु. 5.157; कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥

अर्थ है कि विधवा प्रतीकात्मक रूप में पति की चिता पर जाती थीं। तैतिरीय आरण्यक (6.1) द्वारा भी मृत पति के साथ विधवा स्त्री को दर्शाया गया है **(धनुर्हस्ता दाददाना मृतस्य श्रिमे ब्रह्मणे तेजसे बलाय अत्रैव त्वमिह वयं सुशेयवा; विश्वा स्पृधी भिजातीर्जेयम्।)**।

वैदिक काल में सती-प्रथा की प्रतीकात्मक स्थिति अन्य तत्कालीन सभ्यताओं में प्रचलित सती-प्रथा के प्रभाव की द्योतक हैं क्योंकि आपस्तम्ब धर्मसूत्र को छोड़कर किसी भी अन्य धर्मसूत्रों में सती-प्रथा का उल्लेख नहीं है। चौथी शताब्दी ई० पू. में ही सती-प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत एवं रामायण में सती होने का उल्लेख है। रामायण (7.17.14,33) में उल्लेख है- **''एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसं पपात।''** ब्राह्मणी वेदवती के सती होने का यह उल्लेख संदेहास्पद प्रतीत होता है, क्योंकि दशरथ की मृत्यु होने पर किसी भी रानी ने सती होने की तत्परता नहीं दर्शायी थी। निश्चित ही यह उद्धरण प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है। किन्तु महाभारत में सती-प्रथा के अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। पाण्डु की मृत्यु पर उनकी पत्नी माद्री ने अन्वारोहण किया था **(तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वाहरोह।[1])** महाभारत के शांतिपर्व (248.8-8) में कपोती के सती होने के समय का मार्मिक कथन है-

**न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया बिना।**<br>
**पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत्॥**<br>
**एवं विलप्य बहुधा करुण·सा सुदु:खिता।**<br>
**पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्॥**

कालिदास ने भी 'कुमारसंभवम्' के चतुर्थ सर्ग में सती-प्रथा को **'पतिवर्त्मगा'** पद संकेतित किया है।[2] 'कामसूत्र' में भी सती-प्रथा का उल्लेख मिलता है जिसमें वेश्याएँ सती होने का झूठा आश्वासन देती थीं।[3] बृहस्पति ने विधवा के द्वारा ब्रह्मचर्य युक्त जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा सती होना ठीक माना है।[4] बृहत् संहिता[5] एवं व्यास[6] ने भी सती होना विधवाओं के लिए सर्वोत्तम विकल्प स्वीकार किया है। विष्णु पुराण में रानी रुक्मिणी द्वारा कृष्ण की मृत्यु होने पर सती होने का वृतान्त हैं-

---

1. महाभारत, आदि. 95.65
2. कुमारसंभवम् 4.33, 35, 36
3. कामसूत्र 6.2.53
4. बृहस्पति 483-84
5. बृहत् संहिता, 84.16
6. व्यास 2.53; दक्षस्मृति भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्।<br>सा भवेत शुभाचारा स्वर्गलोक महीयते॥

**अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणी प्रमुखास्तु याः।**

**उपयुह्य हरेर्देह दिविशुस्ता हुताशनम्।।** 5.38.2

पुनः रेवती द्वारा बलराम की मृत्यु होने पर सती होने की चर्चा है-

**रेवती चापि रामस्य देहमाश्लिष्य सत्तमा।**

**विवेश ज्वलितं वह्निं तत्संगाहू लादशीतलम्।।** 5.58.3

'कृत्यकल्पतरु' में भी विधवा के लिए सती से पृथक् अन्य विकल्प नहीं बताया गया है-

**मृते भर्तरिसत्स्त्रीणां न चात्या विद्यते गतिः।**

**नान्यद्भर्तृ वियोगाग्निदाहस्य शमनं क्वचिद्।।** 634

'राजतरंगिणी' में शङ्करवर्मन की मृत्यु हो जाने पर उसकी सुरेन्द्रवती नामक राजरानी के साथ अन्य तीन रानियों के सती होने का उल्लेख है-

**तिस्रः सुरेन्द्रवत्याद्या गग्यो राजनमन्वयुः।**

**वेलावित्तः कृतज्ञश्च जयसिंहाह्वयः कुतः।।** 5.226

इस प्रकार कथासरित्सागर, मेधातिथि आदि अनेक परवर्त्ती संस्कृत वाङ्मय में विधवाओं द्वारा सती होने के अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। मृच्छकटिक के दशम अंक में सती-प्रथा जैसे अत्यन्त क्रूर, जघन्य एवं निन्दनीय प्रथा की निन्दा की गयी है। इन शास्त्रीय विरोधों के बीच सती-प्रथा का चलन बना रहा। बहुधा यह अमानुषिक एवं घृणित कृत्य स्त्री सम्पत्ति में हिस्सा न देने के उद्देश्य से ही था।

### गणिका अथवा वेश्यावृत्ति

गणिका का अर्थ है जो समूह के बीच हो (**गणःसमूहोऽस्त्यस्याः। भर्तृत्वेन। ठन्।।**) या जो गणना करनेवाली हो (**गणयति। गण संख्याने**)[1] वेश्या के भी अनेक अर्थ बताये गए हैं: **'वेशेन नेपथ्ये शोभते'** अर्थात् नेपथ्य में वेश-भूषा से सुशोभित होती है। 'वेशो वेश्या गृहेगृहे।' या **'वसति अस्याः गृहे गृहे।'** या जिसकी रूप आजीविका है ( **रूपमाजीवोऽस्याः** )।

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि वेश्याओं की वृत्ति गायन, वादन एवं नृत्य द्वारा संगीत प्रेमी लोगों को आनन्दित करना था, जिससे आकृष्ट हो लोग पुनः यहाँ आया जाया करते थे। प्राचीन-काल में गणिकाएँ अत्यन्त प्रतिष्ठित थीं। गणिकाओं का जीवन नृत्य संगीत से आबद्ध था जो लोगों के लिए आमोद -प्रामोद की साधन थीं। ये वेश्याएँ सौन्दर्य-युक्त हुआ करती थी। सांस्कृतिक कार्यों एवं

---

1. अमरकोष, पृष्ठ 209, श्लोक 19

विलासपूर्ण जीवन की ये महत्वपूर्ण कड़ी थी। सेनाओं के साथ वेश्याओं का प्रयाण भी हुआ करता था। गर्भवती गान्धारी की देखभाल में गणिकाओं को लगाया गया था। बौद्धकाल में गणिकाओं की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई थी। इस युग में नगरों का विलास गणिकाओं की संख्या पर निर्भर करता था। वेश्यावृति के लिए वैशाली की चर्चा दूर-दराज के क्षेत्रों में फैली हुई थी। आम्रपाली नामक सुन्दर गणिका का बिम्बिसार भी प्रशंसक था।[1] उन्हीं दिनों अनेक गुणों से युक्त सालवती नाम की गणिका का भी उल्लेख मिलता है, जो राजगृह में राज्य की ओर से समादृत थी। उसका राज्य ने गणिकाभिषेक भी किया था। समाज में ऐसी गणिकाओं का बहुत अधिक सम्मान था। राजकीय पदाधिकारी या अभिजात्य वर्ग इन रूपों पर ही आकृष्ट नहीं होता था, अपतु इनके गुणों की चर्चा हुआ करती थी। राजमहोत्सव एवं प्रजा रञ्जनार्थ इनके संगीत एवं नृत्य के आयोजन हुआ करते थे। गणिकाओं से उत्पन्न पुत्र समाज निन्दित नहीं थे। सालवती के पुत्र जीवन को राज्य वैद्य के रूप में सम्मान प्राप्त था। परन्तु ऐसा नहीं था कि गणिकाएँ मात्र प्रशंसा की पात्र थीं। जातक कथाओं में उनके गुण एवं अवगुणों का उल्लेख हुआ है।[2]

इन वेश्याओं को देवदासी, रूपजीवा, सामान्या, नर्तकी आदि अनेक नामों से जाना जाता था। ये लोगों की कामजनित भावना, नृत्य-संगीत के प्रति आकर्षण को पूरा करती थीं। कुछ गणिकाओं का नाम आदर्श नारी के रूप में भी लिया जाता था। 'मृच्छकटिक' में वर्णित वसन्तसेना इसी प्रकार की आदर्श गणिका थी जिसे उसके अच्छे चरित्र के लिए जाना जाता था।

देवदासियाँ मंदिरों में रहकर मंदिर की सेवा में लगी रहती थीं। आराध्य देव के सम्मुख नृत्य एवं संगीत द्वारा ये मंदिरों के ऐश्वर्य एवं वैभव की वृद्धि करती थीं। ये अपने कोमल ध्वनियों द्वारा भगवान् की पूजा एवं अर्चना करती थीं। इन देवदासियों का उद्भव ई. पू. तीसरी शती में हुआ। इन देवदासियों का उल्लेख पुराणों एवं मेघदूत में मिलता है।[3] पद्मपुराण (52.97) में वर्णित है कि मन्दिर की सेवा हेतु सुन्दर कन्याओं को क्रय कर देवदासियों के रूप में दान देना चाहिए (**क्रीता देवाय दातव्या धीरेणाक्लिष्ट कर्मणा। कल्पकालं भवेत्स्वर्गो नृपौ वासौ महाधनी॥**) इसी प्रकार का वर्णन भविष्य पुराण में भी मिलता है-

**वेश्याकदम्बक यस्तु दद्यात्सूर्याय भक्तितः।**
**स गच्छेत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति मानुमान॥** 1.93.67

1. महावग्ग, 8.12
2. जातक, 3 पृ. 435-38
3. मेघदूत 1.35

पूजा एवं अर्चना के केन्द्र रहे ये मन्दिर अब वैभव-विलास एवं कामोद्दीपन के केन्द्र बन गये। इसका प्रभाव परवर्त्ती काल में मन्दिर स्थापत्य-कला पर हुआ। अब अनेक मन्दिरों की दीवारों पर काम कला के विभिन्न चित्र और आकृतियाँ बनायी जाने लगीं।

## मूल्याङ्कन

भारतीय हिन्दु समाज नारी के प्रति कठोर होता चला गया, क्योंकि इस पितृसत्तात्मक समाज की यह अवधारणा थी कि पुत्र ही पिता को पितृ ऋण से उऋण करता है। यह वंश-परम्परा को चलानेवाला तथा पैतृक-सम्पत्ति का अधिकारी है। यही कारण है कि वैदिक कालीन समाज में भी पुत्र कामना हेतु यज्ञ का आयोजन होता था, जबकि पुत्री का जन्म अशुभ माना जाता था। यद्यपि पुत्री के जन्म होने पर उसका लालन-पालन पुत्र के समान ही होता था, किन्तु जैसे-जैसे दहेज का चलन प्रारंभ होने लगा, समाज का पुत्री के प्रति दृष्टिकोण बदलता गया।

स्मृति काल में जब उपनयन का अधिकार स्त्रियों से छिन गया, तब समाज में इनकी स्थिति और भी अवनत हो गयी। शिक्षा से हिन्दु नारियाँ वंचित होने लगी। उपनयन की अधिकारिणी न होने के कारण नारियाँ धार्मिक कृत्यों से भी वंचित हो गयी। इसका दूरगामी प्रभाव नारी की पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति पर हुआ, अब कन्याओं का विवाह कम उम्र में ही किया जाने लगा। पति-पत्नी के बीच आयु का अन्तर बढ़ता गया, जिसने जीवन की समरसता को प्रभावित किया।

प्राचीन काल से ही पत्नी के रूप में स्त्री की बहुत अधिक प्रतिष्ठा थी। घर के सगे-संबंधी एवं घरेलु सेवा में नियुक्त नौकर एवं नौकरानियों पर इनका समान अधिकार था। अर्धाङ्गिनी होने के कारण वह घर की संयुक्त स्वामिनी थीं और वह पति की रति सहचरी भी थी। पति-पत्नी का यह रूप उत्तर वैदिक काल तक भर्त्ता-भार्या के रूप में परिणत हो गया। भर्त्ता चूंकि भरण-पोषण करनेवाला था, अतएव भार्या से भर्त्ता का स्थान ऊपर हो गया। अब पत्नी एवं पति का स्वरूप दासी एवं स्वामी का हो गया। स्त्रियों का अस्तित्व धूमिल पड़ने लगा। अब ये मात्र पतियों के अधीन रह गयीं।

हाँ ! माता रूप में स्त्री की प्रतिष्ठा बहुत अधिक रही है। यही कारण है कि प्रत्येक हिन्दु के लिए प्रत्येक माता देवी समान हैं -

**'या देवी सर्व भूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।'**

माता को न केवल जननी अपितु पोषणी एवं धारिणी माना गया है। फिर भी, पिता के निर्णय के अनुकूल ही माता का भी निर्णय सामान्यतया होता था। पिता का निर्णय कभी-कभी मातृ-आदेश पर हावी भी हो जाता था।

वैधव्य नारी-जीवन में कष्टदायक था। वैदिक काल तक नियोग एवं पुनर्विवाह की संस्तुति समाज द्वारा मिल जाने के कारण वैधव्य-जीवन उतना कष्टदायक नहीं था, किन्तु परवर्त्ती काल में सती-प्रथा को सामाजिक स्वीकृति या इसके आदर्श स्वरूप की अवधारणा ने विधवाओं को आत्मदाह के लिए विवश कर दिया या फिर आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्ण अभिशप्त जीवन ही उनका एक मात्र सहारा रह गया।

वैदिक समाज ग्रामीण प्रधान समाज था। अतएव स्त्रियों का समाज में आर्थिक सहयोग अत्यधिक था। स्त्रियाँ कृषि एवं पशुपालन में पुरुषों की सहकारी थीं। धार्मिक कार्यों में भी स्त्रियों की सहभागिता अनिवार्य थी। सूक्तों के गायन, दर्शन एवं यागादि में ये पुरुषों के समान थीं। आर्य स्त्रियाँ युद्धों में भी शस्त्र निर्माण आदि कार्यों में सहयोग करती थीं। अतएव पूर्ववैदिक काल तक स्त्रियों की स्थिति सुदृढ़ एवं सम्मानजनक थी, किन्तु परवर्त्ती काल में शूद्रों की श्रमिक के रूप में उपलब्धता ने नारियों को महत्त्वहीन बना दिया। जो कार्य स्त्रियों के सहयोग से पूर्ण होता था, वह अब इन शूद्रों द्वारा होने लगा। स्त्रियों की उपयोगिता समाज में कम हो गयी। उपनयन के अधिकार समाप्त होने के बाद स्त्रियों में शिक्षा का अभाव होने लगा। अशिक्षा का यह दंश अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुआ, अब नारियाँ अपने विरूद्ध होने वाले अन्याय का प्रबल विरोध करने योग्य नहीं रहीं। प्रताड़ना को अपने जीवन का अंग मानना उनकी विवशता हो गयी। स्त्रियाँ दासी एवं पुरुष देवता बन गए।

बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन प्रारंभिक काल से रहा है, किन्तु परवर्त्ती काल में स्त्रियों के अपने पुत्र के प्रति अनन्य प्रेम ने सपत्नी की संतान के प्रति वैर-भाव को उत्पन्न किया, जो स्त्री प्रतिष्ठा के ह्रास का कारण बना। आर्य-स्त्रियों के सामाजिक प्रतिष्ठा में ह्रास का कारण शूद्र औरतें भी बनीं, क्योंकि ये शूद्र औरतें द्विजों द्वारा घर में रख ली जाती थीं, जिससे स्त्री की पारिवारिक स्थिति दयनीय होने लगी। शूद्र स्त्रियों पर प्रभावी वर्जनाएँ अब सामान्य स्त्रियों के लिए भी बंधन का कारण बन गयीं। उपनिषद् काल में वैराग्य पर बल दिए जाने के कारण स्त्रियाँ और भी उपेक्षित हो गयी। वराहमिहिर के शब्दों में -

**यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोग भूः।**
**स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।**

हिन्दी कवि ने ठीक की कहा था -

**अबला तेरी हाय यही कहानी**
**आँचल में है दूध और आँखों में पानी।**

**हिन्दुओं में नारी के प्रति अवधारणा**

हिन्दुओं की दृष्टि में नर की अपेक्षा नारी महिमामयी रही है, क्योंकि नारी को शक्ति का प्रतीक माना गया है-

**या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। - दुर्गासप्तशती**

आदि शक्ति दूर्गा के रूप में ही भारतीयों ने नारियों को प्रतिष्ठा दी है-

**या देवी सर्वभूतेषु नारी रूपेण संस्थिता।**

माता की महिमा का वर्णन अनेक संस्कृत-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यजुर्वेद (12/35) में कहा गया है जो सन्तति को जन्म देने वाली पत्नी है, वह नमन योग्य है:-

**'तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नी'**। महाकवि कालिदास ने भी माता-पिता को देवी-देवता के रूप में प्रस्थापित किया है -

**वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।** रघु. 1/1

हिन्दु समाज में स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति का द्योतक ही है - राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर, सीता-राम या पार्वती-परमेश्वर सदृश कथन। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के सदृश ही स्त्री को भी माना गया है - **'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ'**।[1]

नारी को निष्काम कर्मयोगी मानां गया है क्योंकि नारी जो भी कार्य करती है, वह पति के प्रति समर्पित होकर ही करती है। उसकी सारी इच्छाएँ पति की इच्छाओं में विलीन हो जाती है। वह वृद्धों, रोगियों, भिक्षुओं और आश्रितों का सत्कार स्वयं ही नैसर्गिक रीति से करती है। पति ही नारी का सर्वस्व है। पति दुःख में स्वयं दुखी होती है। यह पति के मृत्यु होने पर अपने शरीर का भी त्याग कर देती है। हिन्दू नारी के इष्ट देवता उसके पति ही हैं। पति के प्रति स्त्री का स्वाभाविक अनुराग है। पति के समक्ष पत्नी की स्वार्थ स्पृहा समाप्त हो जाती है। वह पूर्ण उपासिका है। वह ब्रह्मचारिणी रहकर सर्वदा पति की सेवा में लगी रहती है -

**शुश्रूषमाणां भर्तारं नियतं ब्रह्मचारिणी।।** (सीता)

हिन्दू नारी पति को ईश्वर समान मान कर पति की धारणा में अपने शरीर का मोह पूर्णतया त्याग देती है। इतिहास उदाहरण है जब सत्यवान को यमराज ले जाने लगे, तब सावित्री भी उनके पीछे-पीछे जाने लगी, जब यम ने सावित्री को लौट जाने का आदेश दिया तो सावित्री ने कहा-

**यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति।**
**मयापि तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः।।**

---

1. ऋ. 8/33/19

अर्थात् जहाँ मेरे पति को ले जाया जाय या जहाँ मेरे पति स्वयं जाएं, वहाँ मुझे भी जाना चाहिए। यही सती का धर्म है। अन्ततः यमराज ने सावित्री के आचरण से प्रसन्न होकर सत्यवान को लौटा दिया। पातिव्रत्या तेज के समक्ष मनुष्य और देवता की तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भी नहीं चलती है। एक बार पत्नी की सहमति पाकर इन त्रिदेव ने अनुसूया से 'इच्छा-भोजन' माँगा। त्रिदेव अनुसूया के समक्ष साधु वेश में थे। अनुसूया द्वारा 'इच्छा भोजन' की शर्त स्वीकार कर लेने पर तीनों साधुओं ने अनुसूया को नंगी होकर भोजन परोसने को कहा। अनुसूया किंकर्तव्यविमूढ होकर खड़ी हो गयीं और साधुओं पर जल छिंटते हुए कहा- 'यदि मनं, वचन एवं कर्म से मैं सच्ची पतिव्रता हूँ तो तीनों मेरे बालक बन जायें। पातिव्रत्य के प्रभाव से तीनों देवता बालक बन गये। अनुसूया ने उनका लालन-पालन करना प्रारंभ किया। तदनन्तर तीनों की पत्नियों द्वारा बार-बार क्षमा माँगने के उपरान्त अनुसूया ने उन्हें पूर्व रूप प्रदान कर दिया। तीनों देवता अनुसूया के पातिव्रत्य से प्रसन्न होकर कहने लगे -

**तपनस्तप्यतंऽत्यन्ते दहनोऽपि च दह्यते।**
**कल्पान्ते सर्व तेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः॥**

इस प्रकार हिन्दू नारी के लिए पति-तन्मयता ही उसका ध्येय एवं पति-सेवा ही उसका स्वभाव बन जाता है। क्रमशः पति को वह सगुण ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करती है। यह गृहलक्ष्मी है। विद्या की अधिष्ठात्री है, आदि शक्ति है, जगद्धात्री है, अन्नपूर्णा है और माया है।



# अध्याय–7

# हिन्दू विवाह : संतुलित जीवन जीने की कला

विवाह नामक संस्था हिन्दू समाज में महत्त्वपूर्ण है जिसे धार्मिक कृत्य के द्वारा संस्कार रूप में अपनाया गया है जिसका उद्देश्य पुरुषार्थों की प्राप्ति है। विवाह गार्हस्थ्य जीवन का प्रवेश द्वार है।[1] परिवार एवं वंश का वार्धिक्य विवाह के माध्यम से ही होता है। विवाह को मात्र यौन–तृप्ति अथवा वंश वार्धिक्य का साधन मानना गलत होगा, क्योंकि हिन्दू–विवाह की विशेषता सामाजिक एवं पारिवारिक स्थिरता एवं धर्म के प्रति आस्था है। विवाह परिवार निर्माण का प्रधान आधार है। परिवार के विकास एवं समाज के संयोजन में विवाह की अहम् भूमिका है। हिन्दू ही नहीं अधिकांश धार्मिक सम्प्रदायों ने विवाह की आवश्यकता को स्वीकार किया है तथा इसे सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत स्वरूप प्रदान करने का यत्न किया है क्योंकि कुटुम्ब को स्थायित्व प्रदान करने में विवाह का उल्लेखनीय योग रहा है।

पति–पत्नी कालान्तर में माता–पिता में परिणत हुए और एक सभ्य समाज के निर्माण में उन्होंने अपना सक्रिय योग प्रदान किया। वस्तुतः सन्तानोत्पत्ति, उनकी देखरेख और लालन–पालन, आर्थिक आवश्यकता की पूर्त्ति, सदाचार का अनुसरण, नैतिक मूल्यों की रक्षा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व विवाह पर आधृत था। विवाह में होने वाले यज्ञ, मंत्र–पाठ, देवताओं का आह्वान तथा अन्य धार्मिक कृत्य विवाह को अत्यन्त पवित्र एवं उदात्त स्वरूप प्रदान करते थे। हिन्दू विवाह की विशेषता पति और पत्नी के अविच्छेद्य संबंध की स्थापना है। पति एवं पत्नी के बीच यह अविच्छेद्य संबंध स्त्री एवं पुरुष की प्रकृति एवं प्रवृत्ति में मौलिक भेद के कारण है जिस प्रकार मूल प्रकृति परम पुरुष के अधीन है उसी प्रकार स्त्री जाति का स्वभाव है पुरुष जाति के अधीन रहना। विवाह से पूर्व भी स्त्रियाँ पुरुष के अधीन रहती हैं और विवाह संस्कारों के समय कन्या जिन प्रतिज्ञाओं से वर के सामने स्वयं को आत्मसमर्पण करती हैं और वह उसे स्वीकार करता है उनसे भी इन्हीं सिद्धांतों की पुष्टि होती है।

## विवाह का अर्थ

विवाह शब्द वि उपसर्गक 'वह्' धातु एवं 'घञ्' प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ

---

1. याज्ञ. 5.97; मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिणः। तस्य कर्तुर्नियोगेन संसारो येन वर्धितः॥

है विशिष्ट रूप से वहन करना। अमरकोष में उल्लिखित है- **''विवाहोपयमौ समौ। तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम्।''**[1] विवाह का अर्थ परिणय अथवा पाणि ग्रहण (हाथ का ग्रहण करना) बताया गया है। साधारणतः विवाह का अर्थ है वधू का उसके पिता के घर से लाकर विशेष रूप से वहन का दायित्व निभाना अर्थात् पत्नी के रूप में विशेष प्रयोजन से वधू को लेकर आना। अन्य की कन्या को आत्मीय बनाकर उसमें संस्कार का आधान है विशिष्ट वहन। अन्य की वस्तु को आत्मीय बनाना प्रतिग्रह के बिना संभव नहीं और प्रतिग्रह दान के बिना नहीं बन सकता। अतः सिद्ध हुआ कि कन्या के पिता द्वारा दान करने पर उसको प्रतिग्रहपूर्वक आत्मीय बनाकर पाणि-ग्रहण, होम आदि संस्कारों से संस्कार सम्पन्न कराना ही विवाह है। इसप्रकार हिन्दू विवाह विधि में दान, प्रतिग्रह (दान स्वीकार करना), पाणि ग्रहण तथा होम-ये चार कर्म प्रधान हैं, शेष वर के कृत्य हैं। विवाह के अन्य पर्यायवाची शब्द जो अमरकोष में बताए गये हैं उनमें 'उद्वाह' का अर्थ है-वधू को पितृगृह से ले जाना। परिणय का अर्थ है अग्नि की प्रदक्षिणा। उपयम का अर्थ है किसी को अपने साथ लाकर अपना बनाना एवं 'पाणि-ग्रहण' का अर्थ है वधू का हाथ ग्रहण करना अर्थात् अपना बनाना। विवाहोपरांत पत्नी को 'पाणिगृहीता' कहा गया है जो 'परिणीता' का पर्यायवाची है जिसका अर्थ है पुरुष द्वारा ग्रहण या वरण की गयी स्त्री।

## हिन्दू विवाह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दू-संस्कृति में विवाह एक बड़ा संस्करण है। हिन्दू धर्म में विवाह स्त्री-धारा को पुरुष-धारा में मिलाकर उसे मुक्ति की अधिकारिणी बनाना है और दोनों की पशुवत् व्यवहार को रोकना है।

प्राचीनकाल से ही मनुष्यों में भी अन्य जीवों की भांति स्त्री-पुरुष के बीच यौन संबंध पारस्परिक सहमति एवं बल-प्रयोग पर आधारित होगा। विवाह नामक संस्था की स्थापना नहीं हुई थी। मनुष्यों में यौन स्वेच्छाचारिता की स्थिति सभ्यता के उदय से पहले थी, इसका सुन्दर दृष्टांत महाभारत के आदिपर्व एवं ऋग्वेद के दशम मण्डल में देखने को मिलता है। महाभारत (आदिपर्व 122/4) में वर्णित है:- **'अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरारने। कामाचारविहारिण्यः स्वतंत्राश्चा-रुहासिनि।।'** कथन है कि बालक श्वेतकेतु के सामने एक पुरुष उसकी जन्मदात्री को बलपूर्वक ले जाने लगा। तब बालक श्वेतकेतु ने विरोध प्रकट किया। उसकी जन्मदात्री ने तदनन्तर उसे बताया- 'वत्स! क्रोध न करो; स्त्रियाँ भी गाय की तरह आवरणहीन एवं स्वैच्छाचारिणी होती हैं''। इस बात को सुनकर श्वेतकेतु ने

1. अमरकोष, पृ. 266.56

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को मर्यादित करने के लिए विवाह में बाँध दिया ( **मर्यादेयम् कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना...। आदिपर्व 122/20** )। उत्तरक्षेत्र में यौन स्वेच्छाचार की कथा पाण्डु द्वारा भी महाभारत में वर्णित है। ऋग्वेद में वर्णित यम-यमी संवाद (10.10) में यमी अपने सहोदर भाई यम से कहती है- इस विस्तृत समुद्र के मध्य द्वीप के निर्जन प्रदेश में आकर मैं तुम्हारा सहवास चाहती हूँ; क्योंकि माता की गर्भावस्था से तुम मेरे साथी हो। विधाता ने मन ही में समझा है कि तुम्हारे द्वारा गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह हमारे पिता का एक श्रेष्ठ नाती होगा। तब यम कहता है कि तुम्हारे साथ ऐसा सम्पर्क मैं नहीं चाहता क्योंकि तुम सहोदरा भगिनी (अगन्तव्या) हो (**न ते सथा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्वि पुरुषा भवाति**)। भारत में विवाह ऋग्वेद के समय से ही प्रतिष्ठित है। जिसमें कहा गया है कि विवाह ही व्यक्ति को गृहस्थ बनाता है, देवताओं के निमित्त यज्ञ करने की योग्यता देता है।[1] तैतिरीय संहिता में वर्णित है- **'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिर्भिऋण वां जायते ब्रह्मचार्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो चः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारीवासी'** (6.3.10.5)। अर्थात् पितृऋण एवं देव-ऋण को चुकाने के लिए विवाह परमावश्यक है।

## हिन्दू विवाह के विभिन्न प्रयोजन

डॉ. पाण्डुरंग विनायक काणे के मत में स्मृतियों एवं निबन्ध-ग्रन्थों के अनुसार विवाह के तीन प्रमुख प्रयोजन हैं - धर्म सम्पत्ति, प्रजा एवं रति। मनुस्मृति (9.28) में भी उल्लिखित है -**'अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रुष रतिरूत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह।।'** अर्थात् धर्मपालन, पुत्र-प्राप्ति एवं रति-सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य हैं।

हिन्दू समाज में धर्म का अतिमहत्त्व है एवं धार्मिक कार्यों में यज्ञ का अतीव महत्त्व है। ये यज्ञ पाँच प्रकार के हैं - ब्रह्मयज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ, पितृ-यज्ञ और अतिथि यज्ञ। इन यज्ञों या देवताओं के पूजन में पति-पत्नी एक दूसरे के सहायक बताये गये हैं।[2] तैतिरीय ब्राह्मण के अनुसार अविवाहित यज्ञ योग्य नहीं है ( **अयज्ञियो वा एषयोऽपत्नीकः। 2.2.2.6** )। पत्नी को पति की अर्द्धांगिनी बताया गया है ( **अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यवज्जायां.... तर्हि हि सर्वो भवति ( शत. ब्रा. 5.2.1.10** )। याज्ञवल्क्य स्मृति (1.89) में उल्लेख मिलता है कि पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के निमित्त दूसरा विवाह करना चाहिए ( **दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवर्ती पतिः। आहरेद्विविधवद्दारानग्नीश्चैवालिम्बयन्।।** )

1. ऋग्वेद; 8.30
2. वही; 5.3.2, 5.28.3

पद्मपुराण (2.5.9.8-32) कहता है कि गुणवती सहधार्मिणी पत्नी का त्याग कर जो व्यक्ति धर्म प्राप्त करना चाहता है उसका समस्त प्रयास निष्फल हो जाता है। इस प्रकार के अनेक उद्धरण विवाह को धर्म प्राप्ति का सहायक मानते हैं।

विवाह का सबसे अहम् प्रयोजन है वंशवृद्धि। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि पाणि-ग्रहण का प्रयोजन उत्तम संतान प्राप्त करना है।[1] विवाहोपरांत वर-वधू को अनेक पुत्र पैदा करने का आशीर्वाद दिया जाता था।[2] प्रारम्भ से ही हिन्दू समाज में पुत्र की अत्यन्त महत्ता थी। ऐतरेय ब्राह्मण में चर्चा है कि पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता अमर हो जाता है। पुत्र संसार सागर से पार करने के लिए 'अतितारिणी' है।[3] इस प्रकार के अनेक वृतान्त मनु स्मृति, ब्रह्मपुराण, महाभारत आदि में प्राप्त होते हैं। भारतीय चिंतकों ने सामाजिक विकास को दृष्टि में रखकर पुत्रोत्पत्ति की अनिवार्यता पर बल देते हुए पुत्रोत्पत्ति को धार्मिक आस्था से जोड़कर देखा। वंश-परम्परा का विकास विवाह का प्रतिफल है अतएव प्राचीन ग्रन्थों में इसकी अनिवार्यता पर बल दिया गया है। एक ओर जहाँ पुरुष सुसंस्कृत सन्तान उत्पन्न कर अपने तीनों ऋण से उऋण होता है वहीं स्त्री मातृऋण से उऋण हो जाती है।

विवाह का प्रमुख प्रयोजन पाश्चात्य-चिंतकों के अनुसार यौन-सन्तुष्टि है। धर्मशास्त्रकारों ने मानसिक एवं शारीरिक संतुलन के लिए यौन-सुख को अनिवार्य माना हैं मनु ने रति की महत्ता स्वीकार करते हुए विवाह के उद्देश्यों में इसे प्रधान माना है।[4] किन्तु भारतीय चिंतकों ने यौन-सुख से ऊपर धर्म को स्वीकार करते हुए धर्म के लिए ही विवाह की उपयोगिता स्वीकार की। कौटिल्य के अनुसार काम धर्म एवं अर्थ का विरोधी नहीं होना चाहिए।[5] हिन्दू समाज में पत्नी के अतिरिक्त अर्थात् विवाहेत्तर रति संबंधों को बुरा मानते हैं। अतः विवाह नामक संस्था स्त्री एवं पुरुष को सन्मार्ग की ओर ले जाने वाली है। इसके द्वारा दोनों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति होती है तथा दोनों के पवित्र संबंध द्वारा सुव्यवस्थित जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है। सामाजिक परम्परा, आचार-व्यवहार की निरंतरता विवाह से ही बनी रहती है। हिन्दू परिवार अन्य धार्मिक-परिवारों की तुलना में कहीं अधिक संगठित, नैतिक एवं धार्मिक होता है। इस प्रकार हिन्दू सुसंगठित सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित जीवन का प्रतीक है। अनर्गल भोग वृतियों को नियंत्रितकर आत्मत्याग के

---

1. ऋग्वेद 10.85.36
2. वही, 10.85.45
3. ऐत. ब्रा. 33. 1-4
4. मनु. 9.28
5. कौ. अ. 1.7 धर्मार्थविरोधेन कामं न सेवेत्।

अभ्यास से आध्यात्मिक उन्नति में पति-पत्नी सहयोगी बनते है। अतः स्त्री के लिए पतिव्रत्य और पुरुष के लिए एक पत्नी व्रत्य का धर्म ही प्रशस्त एवं आदर्श है।

## विवाह हेतु योग्यता

विवाह संबंध स्थापित करने के लिए भारतीय धर्मशास्त्र एवं सूत्रकारों में योग्यताएँ निर्धारित की हैं। यथा - कुल कैसा हो वर में कौन से गुण हो, एवं वधू में किन गुणों की प्रधानता हो ? आदि।

विवाह से पूर्व यह निर्देश दिया गया है कि दोनों पक्षों के लोग एक -दूसरे के कुल की सूचना प्राप्त कर उनके गुणों का आंकलन कर लें। कुलगत गुणों एवं विशेषताओं के आंकलन पर्यन्त ही विवाह करने का परामर्श था। आश्वलायन कहते हैं कुलमग्रे परीक्षेत् मातृतः पितृतश्चेति। (1.5) अर्थात् सर्वप्रथम मातृ एवं पितृ दोनों पक्षों की परीक्षा कर लेनी चाहिए। विभिन्न धर्मशास्त्रियों ने कुल की योग्यता का निर्धारण पृथक्-पृथक् किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति (1.54) पर विज्ञानेश्वर भाष्य में लिखा है-**'दशपुरुष विख्याताछोत्रियाणां महाकुलान्'**। अर्थात् दश पुरुष (पीढ़ी) मातृपक्ष से तथा पाँच पीढ़ी पितृ-पक्ष से विख्यात परिवार को 'कुलीन' कहा जाता है। वस्तुतः कुल का निर्धारण वंश पर आधारित था। वंश में उत्पन्न व्यक्ति 'वंश्य कहा जाता था। 'विद्या' एवं 'योनि' दो 'वंश' पर आधारित थे। विद्या वंश गुरु-शिष्य परम्परा पर एवं योनि का संबंध पिता-पुत्र पर आधारित था। पुरुष सत्तात्मक समाज के कारण पुरुष के नाम से वंश का निर्धारण होता था। प्राचीन ग्रन्थों में गुरुकुल-परम्परा एवं पितृ-परम्परा देखी जाती है।

वर-वधू की योग्यताओं में उनके जाति, पिंड, गोत्र आदि को ध्यान में रखा जाता था। वर के चुनाव में उसके गुण, उत्तम स्वास्थ्य, युवा अवस्था, बुद्धिमत्ता, पुंसत्वादि के साथ उसके सौन्दर्य को आवश्यक माना गया है ( **एतेरैव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियोवरः। यत्नान् परीक्षितः पुंसत्वे युवा धीमान् जनप्रियः।।** याज्ञ. 1.55)। वीरमित्रोदय में वर के आयु को प्राथमिकता दी गयी है **'पूर्वमायुः परीक्षेत्...'**[1] इसी ग्रन्थ में वर के सात गुणों को आवश्यक बताया गया है-**'कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्या च वित्तं च सनाथतां च। एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्।।'** वर के चुनाव में कुछ अवगुण एवं दोष की चर्चा भी की गयी है जिनके आधार पर वर का चयन करना वर्जित था। मनु के अनुसार - **'यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीवादीनां कथञ्चन। तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति।। 9.20 )** अर्थात् शरीर से विकलांग, क्लीव, रोगयुक्त पुरुष को कन्या नहीं दी जा सकती है। यद्यपि मनु ने नपुंसक के प्रति नम्रता दिखाते हुए नियोग की सहमति देते हुए विवाह का अधिकार दिया है।

1. वीर मित्रो., पृ. 752

वधू चयन में उसे सौन्दर्य, गुण, शील आदि का चुनाव किया जाता था। भारद्वाज के अनुसार वित्त, रूप, प्रज्ञा और बान्धव इन चार गुणों को ध्यान में रखकर वधू का चयन करना चाहिए। **चत्वारि विवाहकरणानि वित्त रूपं प्रज्ञा बान्धवमिति।**[1] मिताक्षरा में वधू अथवा स्त्री का लक्षण दिया गया है कि जो संतान उत्पन्न करने में सक्षम हो **( स्त्रियं नपुंसकत्व निवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् 1.51 )**। मिताक्षरा में ही वधू के दो अन्य गुण आवश्यक बताए गये हैं (1) यवीयसी (वर से आयु में कम) तथा (2) अनन्यपूर्विका (शादी से पूर्व किसी अन्य के साथ यौन संबंध स्थापित न किया गया हो)। उसके अलावा शारीरिक दोषों से युक्त स्त्री को वधू के लिए मनु ने अयोग्य बताया है। सामान्यतः तीन से पाँच वर्ष छोटी वधू का चयन किया जाता था। सन्तान के विवाह का उत्तरदायित्व पिता का था। विष्णु धर्मसूत्र (24/38.39) के अनुसार पिता के अभाव में यह अधिकार क्रमशः पितामह, भाई, बन्धु, नाना तथा माता को प्राप्त होता था। वर-वधू इच्छा पूर्वक भी विवाह कर सकते थे।

## विवाह के प्रकार

धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाह का उल्लेख है।[2] जो हमारे समाज में प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। विष्णु पुराण (3.10.24) में वर्णित है-
**'ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षं प्राजापत्यस्तथासुरः। गांधर्वराक्षसौ चान्यो पैशाचाष्टमो मतः॥**
अर्थात् ब्राह्म, प्राजापत्य, देव, आर्ष, गन्धर्व, असुर, राक्षस और पैशाच ये विवाह की आठ विधियाँ हैं। विवाह के इन आठ प्रकारों में प्रथम चार विधियाँ समाज में आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी तथा अन्तिम चार निन्दित थे। अन्तिम चार विधियाँ उत्तरवर्त्ती साहित्य में देवयोनियों के नाम हैं। कुछ विचारकों का मानना है कि ये देवयोनियाँ अनार्य जातियाँ थीं, जिनके साथ अति प्राचीनकाल में आर्यों का सम्पर्क हुआ था। विवाह के इन प्रकारों का विकास विभिन्न परिस्थितियों में होता गया, किन्तु विवाह के इन प्रकारों में नैतिकता एवं धार्मिक मूल्यों पर खरा उतरने वाले प्रथम चार प्रकार के विवाह अधिक प्रचलित हुए। अन्तिम चार विधियाँ धार्मिक कृत्यों से पृथक् होने के कारण एवं अनैतिक होने के कारण निन्दित माने गये।

### 1. ब्राह्म-विवाह

विवाहों में यह सर्वोत्तम कोटि का विवाह माना गया है जिसके अन्तर्गत कन्या के पिता के द्वारा अपनी पसंद के वर के लिए वस्त्रालंकार से विभूषित निज कन्या

---

1. भारद्वाज. 1.6
2. गौ. 4.63, कौटि. 3.2, मनु. 3.21.40

का वर को पाणि-ग्रहण करवाया जाता था। मनु स्मृति (III.27) में उल्लिखित है -**"आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्। आहूय दानं कन्यायाः ब्राह्मोधर्मः प्रकीर्त्तितः।"** आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार ब्राह्म विवाह में वर के कुल आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा की उत्पत्ति तथा एक साथ धर्म-कर्म करने के प्रयोजन से कन्या प्रदान करे।[1] आज भी विवाह की यही आदर्श पद्धति समाज में स्वीकृत थी।

## दैव-विवाह

दैव-विवाह ब्राह्मणों में प्रचलित था। अन्यवर्ण का वर इस विधि द्वारा विवाह नहीं कर सकता था, क्योंकि अपनी कन्या का विवाह करने के पूर्व कन्या का पिता यज्ञ का आयोजन करता था। उस यज्ञ को जो ऋत्विक् विधिपूर्वक श्रेष्ठतम रूप से सम्पन्न कराता था, उसे कन्या का पिता अपनी कन्या सौंप देता था। यह यज्ञ श्रौत यज्ञ होता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2.19) में भी वर्णित है-**दैवे यज्ञतंत्र ऋत्विजे प्रतिपादयेत्।** बौधायन धर्मसूत्र (1.11.5) में भी उल्लेख है- **'दक्षिणासुनीयम् नास्वन्तवैदि ऋत्विजे स दैवः।** मनु ने भी ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में ऋत्विक् को कन्या-दान देने का उल्लेख किया है **( यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते। अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते।।**3.28)।। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि विवाह के लिए कन्या-पक्ष के ब्राह्मण ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे, जो यज्ञ जैसे कर्म-काण्डों में निपुण हों और अपनी आजीविका इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराकर चला सकें। अतः ऐसे ब्राह्मण को ही कन्या दान-स्वरूप दे दी जाती थी।

## आर्ष-विवाह

आर्ष 'ऋषि' शब्द का ही दीर्घ रूप है। कन्या का पिता विवाह के लिए इच्छुक ऋषि से एक गाय और बैल या दो गाय लेता था।[2] और अपनी कन्या उस ऋषि को सौंप देता था। सामाजिक चिंतकों का ऐसा मानना है कि प्राचीन लोग अपनी कन्या ऋषियों को सौंपना चाहते थे किन्तु ऋषियों की शादी के प्रति अन्यमनस्कता अथवा उनका मौन रहना कन्या के पिता के लिए असामञ्जस्य की स्थिति थी। ऐसी स्थिति में जब ऋषि स्वयं प्रतीक रूप में गाय का जोड़ा या एक गाय एवं बैल देने को

---

1. आप. ध. सू., ब्राह्मे विवाहे बन्धुशील लक्षण सम्पन्न श्रुतारांग्याणि बुध्वा प्रजां। सहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेच्छक्तिविषयेणाऽलंकृत्य।।
2. वही, 2.18, अर्षिदुहितृमते मिथुनौ गावौ दयौ।

उत्सुक होता था, तदनन्तर कन्या का पिता आश्वस्थ हो जाता था और अपनी कन्या ऋषि द्वारा दिये गये भेंट के बदले ऋषि को सौंप देता था। जैमिनि के अनुसार यह कर्म धर्ममात्र के लिए था।[1]

वस्तुतः यह विवाह 'आसुर' विवाह का ही सुधरा हुआ रूप था, क्योंकि समाज में कन्या के बदले पैसा लेना अत्यन्त निन्दनीय माना जाता है जैसा कि 'असुर-विवाह' में भी हम पाते हैं। अतएव यहाँ पैसा न लेकर गायों का लिया जाना भेंट का एक प्रतीक मात्र माना गया। वैसे जब हम वैदिक आर्थिक व्यवस्था को देखेंगे, तो उस समय वस्तु विनिमय प्रणाली ही थी और जिसके पास जितनी अधिक गायें थीं, वह उतना ही अधिक धनी माना जाता था, अस्तु।

**प्राजापत्य-विवाह**

यह सर्वाधिक प्रचलित विवाह विधि थी। इस विधि से विवाह के अन्तर्गत वर-वधू एवं दोनों पक्षों के कुटुम्ब आदर्श एवं मर्यादापूर्वक 'प्रजापति' को सम्मुख कर सन्तानोत्पत्ति एवं उनके कुशल पालन-पोषण हेतु उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की शपथ लेते। वस्तुतः प्राजापत्य विवाह एवं ब्राह्म-विवाह में बहुत अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता है। इस विधि में वर की पूजा करके कन्या का दान किया जाता था। वर-वधू दोनों को गृहस्थ जीवन में धर्माचरण का संकल्प कराया जाता था। (**सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च। कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्रजापत्यो विधिः स्मृतः**। मनु 3.30)। याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राजापत्य विवाह का मूल आधार धर्म की वृद्धि के साथ ही आर्थिक सम्पन्नता एवं सन्तान हेतु पत्नी के अनुमति के बिना दूसरा विवाह न करना था (**इत्युक्त्वा चरतां धर्म सह या दीयतेऽर्थिने स कायः पावदत्यद्यः षट्षड्वंश्यान् सहात्मना॥** 1.60)। इस विवाह में कन्या का पिता नवीन वस्त्रों एवं आभूषणों के साथ कन्या का दान करता था।

**आसुर-विवाह**

महाभारत (13.47.3) में वर्णित है कि प्रायः धन से कन्या को खरीदकर और उसके सगे-संबंधी को धन का प्रलोभन देकर जो विवाह सम्पन्न किया जाता है, विद्वान् उसे आसुर धर्म कहते हैं। मनु का भी ऐसा ही मानना है-'**ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्या प्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥**' वस्तुतः विवाह की यह प्रणाली कन्या की खरीद पर आधारित थी।[2]

आर्ष एवं आसुर विवाह में पहला अन्तर यह था कि आर्ष-विवाह में परम्परा

---

1. जैमिनि 6.1.15 क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् तथा शबर नामो क्रम इति।
2. याज्ञ., 1.61 - आसुरोद्रविणादानात्।

के अनुसार गाय-बैल का जोड़ा भेंट स्वरूप वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को प्रदान किया जाता था, किन्तु असुर विवाह में कन्यापक्ष को कन्या का मूल्य धन के रूप में चुकाया जाता था। दूसरा, अन्तर वर में था। आर्ष विवाह में वर ऋषि हुआ करता था जबकि आसुर विवाह में किसी भी जाति का वर हो सकता था जो कन्या का मूल्य चुकाने में सक्षम हो। इस प्रकार का विवाह आज भी अनेक जातियों एवं समाज में प्रचलित है। तीसरा अन्तर इन दोनों विवाह के प्रचलन के समय को लेकर भी हो सकता है। संभवत: आर्ष विवाह वैदिक युगीन होना चाहिए क्योंकि वह उस समय मुद्रा-विनिमय का न होकर वस्तु-विनिमय का रहा है और वैदिक युग में गायें ही मुद्रा या धन का प्रतीक थीं; जिसके पास जितनी अधिक गायें थी, वह व्यक्ति उतना अधिक सम्पन्न समझा जाता था।

प्राचीन कालीन असीरियों में विवाह क्रय-विक्रय पर आधारित था। अत: ऐसी संभावना है कि यह असीरियों से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हो और इसी कारण इसका नाम आसुर विवाह पड़ा हो। वैदिक काल में भी आसुर विवाह प्रचलित था, क्योंकि इस विधि से विवाह करनेवाले वर को निरुक्त में 'विजामाता' अर्थात् विशिष्ट प्रकार का जामाता कहा गया है जो अप्रतिष्ठित एवं अनादृत था।[1] महाभारत काल में भी आसुर विवाह का उद्धरण मिलता है। भीष्म ने पाण्डु का द्वितीय विवाह अपार धन देकर मद्र नरेश की कन्या से किया था।[2] अधिकांश बौद्ध साहित्य इस विवाह के प्रमाण हैं।

सामान्यत: यह विवाह-पद्धति हिन्दुओं में आदृत नहीं थीं। कन्या का विवाह हेतु खरीदा जाना एवं उसे पत्नी बनाया जाना हिन्दू समाज को स्वीकृत नहीं था। स्वयं भीष्म ने महाभारत में इस विवाह की निन्दा की है (**पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर। पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यो कथञ्चन॥ 13.44.9**) मनु ने भी कन्या के क्रय-विक्रय का विरोध करते हुए कहा है कि शूद्र भी कन्या दान करता हुआ कन्या का मूल्य न ले, क्योंकि यह विवाह नहीं बल्कि कन्या की बिक्री है। **आददीत न शुद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन्। शुल्कं हि ग्रहणात्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम्॥ 9.98**)।

वस्तुत: इसप्रकार का व्यवहार आर्थिक अभाव के कारण ही कन्या पक्ष द्वारा किया जाता होगा और कमोवेश, सभी जातियों में इस विवाह के उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजा दशरथ ने भी मूल्य चुका कर कैकेयी से शादी की थी। निष्कर्ष रूप में हम देखते हैं कि आसुर विवाह स्त्री मूल्यों का हनन है अतएव यह किसी काल में

1. निरुक्त 6.9; अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वा विजामातातुरूतद्यावास्यालात्.....।
2. महाभारत 1.113.8 - 13

भी निन्दनीय है। माता-पिता द्वारा अपनी कन्या का विक्रय सभ्य समाज के लिए लांछनीय है। कुछ विचारकों का मानना है कि दशरथ के साथ कैकेयी का एवं शान्तनु के साथ सत्यवती का विवाह 'राज्य शुल्क' था और राम के साथ सीता का तथा अर्जुन के साथ द्रौपदी का विवाह 'वीर्यशुल्क' था, जो शुल्क औपचारिक था। यह शुल्क कन्या के पिता ने अपने लाभ के लिए वर पक्ष से ग्रहण नहीं किया था। अतएव ये शादियाँ निन्दनीय नहीं थीं।

## गान्धर्व विवाह

तैत्तिरीय संहिता (VI. 1.6.5) में वर्णित है 'स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः' गन्धर्व को नृत्यगीत में रत रहनेवाली पर्वतीय जाति के रूप में शास्त्रों में वर्णित किया गया है जिसमें विवाह स्त्री-पुरुष के आपसी सहमति से होते थे। बौधायन ने कहा है कि जब स्त्री-पुरुष प्रेमवश काम के वशीभूत होकर विवाह कर लें, तो उसे गान्धर्व विवाह कहते थे (**सकामेन सकामायां मिथः संयोगो गान्धर्वः 11.6**)।[1] मनु ने भी कामुकता वश वर एवं कन्या का संयोग ही गान्धर्व माना है (**इच्छयाऽन्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।। 3. 32**)। वैदिक काल में भी कन्याएँ अपने पति का चुनाव आम सभाओं में स्वेच्छा से किया करती थीं और माताएँ उनका अलंकरण कर अपनी स्वीकृति की इच्छा प्रकट करती थीं (**भद्रावधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा कृणुते जाने हति 10.27. 12; सृसंकाशा मातृपृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुर्षेदृशेकमे। 1.12.11**)। दुष्यन्त एवं शकुन्तला का विवाह भी गान्धर्व विवाह था।[2] वायुपुराण (2.15) में पुरूरवा उर्वशी का प्रेम विख्यात है। सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' नाटक में कन्दर्पकेतु एवं वासवदत्ता के प्रेम विवाह की कथा वर्णित है। 'मालती' एवं माधव के गन्धर्व विवाह का विस्तृत उल्लेख भवभूति के मालतीमाधव में देखने को मिलता है जिसमें कहा गया है कि परिणय के लिए वर और वधू का परस्पर मेल ही सर्वोत्कृष्ट मंगल है; जिसमें वर-वधू के मानस-चक्षु मिलते हैं। वात्स्यायन इसे ही सर्वश्रेष्ठ एवं सुखद विवाह मानते हैं (**सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह। अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः।। 3.30**)। धर्मशास्त्र भी इसे श्रेष्ठ मानता है-**गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्। बोधा. ध. सू. 1-11.20.16**)। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गान्धर्व-विवाह एक प्रेम विवाह या प्रणय विवाह था। जो वर अथवा कन्या के स्वच्छन्द चरित्र का द्योतक था, किन्तु समाज ने इसे स्वीकृति प्रदान कर

---

1. गौ. ध. सू.; 1.4.8, इच्छन्त्या स्वयं संयोगो गान्धर्वः।
2. अभिज्ञान. 3.22, गान्धर्वेण विवाहेन बद्धयो राजर्षिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।।

दी थी। इस स्वीकृति का कारण यद्यपि वर-वधू के राजनैतिक सम्प्रभुता सम्पन्न होना रहा हो या कोई अन्य कारण।

### राक्षस विवाह

कन्या का बलपूर्वक अपहरण कर विवाह करना राक्षस विवाह था। युद्ध, संघर्ष अथवा शक्ति-प्रदर्शन द्वारा क्रूरता पूर्वक अथवा कपट से कन्या का अपहरण किया जाना 'राक्षस विवाह' कहा जाता था। मनु ने उल्लेख किया है कि कन्या-पक्ष वालों को मारकर अथवा उनको घायल करके, गृह-द्वार तोड़कर तथा रोती हुई कन्या का बलपूर्वक लाना राक्षस विवाह है (**हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशंतीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरुच्यते।।3.33**)। दक्षिण भारत में राक्षस जाति थी, जिसमें इस विवाह का प्रचलन था, जिसका साक्ष्य रामायण में प्राप्त होता है। सम्भवतः इसीकारण इस विवाह का नाम राक्षस-विवाह पड़ा। सुन्दरकाण्ड के अशोक-वाटिका-प्रकरण में सीता से रावण ने कहा है-**'स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा।'** पराई स्त्रियों के साथ बलात्कार अथवा बलपूर्वक संयम में करना रावण 'राक्षस-धर्म बताता है। इस विवाह विधि द्वारा शौर्य अथवा पराक्रम का प्रदर्शन अनिवार्य अंग था। इसीकारण अप्रशस्तविधि होने पर भी क्षत्रियों ने इसे स्वीकार किया। इसीलिए इसे 'क्षात्र-विवाह' भी कहते हैं। महाभारत में स्त्रियों को बलपूर्वक हर ले जाना क्षत्रियों के लिए उत्तम माना गया है। अपहृत कन्या को अविवाहित माना गया है और उससे विवाह करना समुचित माना गया है।[1] बल एवं शक्ति का प्रदर्शन वर्णाश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रियों का विषय था। अतएव यह विवाह उन्हीं के लिए सुखद था। काशीनरेश को पराजित कर भीष्म ने उसकी कन्या से अपने अनुज विचित्रवीर्य का एवं अर्जुन ने कृष्ण की बहन सुभद्रा का बलात् अपहरण कर विवाह किया था। बौद्ध-साहित्य एवं जातक भी राक्षस विवाह के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अजमेर नरेश पृथ्वीराज चौहान एवं संयोगिता का विवाह इस विवाह-विधि का ज्वलंत उदाहरण है।

### पैशाच विवाह

हिन्दू विवाह के विभिन्न प्रकारों में यह विवाह निकृष्टतम एवं सर्वाधिक निन्दनीय है। मदहोश, सोती हुई, उन्मत्त, मदिरापान की हुई अथवा मार्ग में जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति कामयुक्त होकर अपनाता है तो वह पैशाच-विवाह कहलाता

---

1. महाभारत, 1.1.21; को हि धर्मिणामात्मानं जानन् ज्ञान विदविरः।
   कुयश्रिथा त्वया भीष्मकृतं धर्ममवेक्षता।। 21।।
   अन्यकामा ही धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना।
   अम्बा नामेति भद्र से कथं सापहतात्वया।। 22।।

है। इस विवाह का मूल आधार छल और कपट था।[1] मनु ने भी कहा है- **सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।** 3.34 स्पष्ट है ऐसा विवाह असभ्य एवं अंसस्कृत है। आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ ने इसे विवाह के प्रकार में नहीं माना है क्योंकि यह विवाह नहीं, कुत्सित कर्म था।

गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच को धर्मशास्त्रकारों ने अनादृत एवं निकृष्ट माना तथा प्रथम चार विवाह ब्राह्म, देव, आर्ष एवं प्राजापत्य को श्रेष्ठ माना है। वस्तुतः उनकी धारणा थी कि विवाह का मूल उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है। उस दृष्टि से पैशाच को विवाह का प्रकार मानने से कुछ धर्मशास्त्रियों ने इन्कार कर दिया। विवाह के निन्दित प्रकारों की गणना दुर्भाग्यग्रस्ता स्त्री के यत्किञ्चित् अधिकारों और सम्मान की रक्षा करने के लिए ही हुआ था क्योंकि इससे बलात्कारी या अपहर्त्ता पुरुष की स्वच्छन्दता पर अंकुश लगाया जा सकता था। बलि स्त्री को पत्नी का अधिकार देने के लिए विवश किया जा सकता था।

## विवाह के अन्य पहलू

विवाह के इन आठ प्रकार से पृथक् वर-चयन की एक और प्रथा समाज में स्वीकृत थी, जो या तो कन्या द्वारा या उसके अभिभावक द्वारा आयोजित की जाती थी, जिसे 'स्वयंवर' कहा जाता था। 'स्वयंवर' का अर्थ ही है कन्या द्वारा स्वयं वर का चयन। पूर्व वैदिक युग में कन्याएँ स्वयं अपने वर का वरण करती थीं **( भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं कृणुते जनेइत्। ऋ.10.27.22 )** उत्तरोत्तर इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। रामायण (1.66.67) में उल्लेख है कि राजा जनक ने सीता के विवाह के लिए स्वयंवर आयोजित कर शिव के धनुष को तोड़ने की शर्त्त रखी थी। महाभारत में भी द्रौपदी के स्वयंवर का उल्लेख है जिसमें आँखे बंद कर मत्स्य भेदने की शर्त्त रखी गयी थी। कुन्ती दमयन्ती आदि के अनेक उदाहरण संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं। रघुवंश (6-7) में इन्दुमती स्वयंवर एवं विक्रमांकदेवचरित में चन्द्रलेखा का स्वयंवर वर्णित है।[2]

धर्मशास्त्रकारों ने भी पिता द्वारा वर न चुने जा सकने पर स्वयंवर की अनुमति दी थी **( त्रीन्कुमार्यतृनतीत्य स्वयं युज्ये तानिन्दितेतोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान्। गौ. ध. सू. 18.20)**।[3] स्वयंवर सभी कुलों के लिए मान्य था किन्तु मध्य काल में यह

---

1. याज्ञ.; 1.61; आसुरो द्रविणादानाद् गन्धर्वः समयान्मिथः।
राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाच्छलात्।।
2. विक्रमा.; नवम सर्ग
3. याज्ञ.; 1.64, अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ।
गम्यन्त्वभावेदातृणां कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्।।

राजकुल तक सीमित हो गया। स्वयंवर द्वारा वर से जब कन्या अभिभावक के अनुमति के बिना विवाह करती थी, तो उसे पैतृक सम्पत्ति लौटानी पड़ती थी।

हिन्दू विवाह में कन्या का विभिन्न प्रकार के वस्त्र एवं आभूषणों एवं अन्य सामानों के साथ पति के घर विदा करना इसकी अन्य विशेषता है जो वैदिक युग से ही प्रचलित था। उस समय कुलीन घराने की कन्या अपने साथ दहेज में सौ-सौ गायें लेकर वर के घर जाती थीं (**नास्या जाया शतवाही कल्याणी अल्पभाषये।** ऋ. 10.85.13)। रघुवंश एवं 12.169 में वर्णित है अज को अपनी पत्नी इन्दुमती के यहाँ से बहुत धन प्राप्त हुआ था। संस्कृत-साहित्य कन्या के साथ दहेज दिए जाने के उद्धरणों से पटा पड़ा है किन्तु कालान्तर में यह प्रथा समाज के लिए कलंक साबित होने लगी और असमथों को इसकी पीड़ा झेलनी पड़ रही है।

### अन्तर्विवाह (सवर्ण और सजातीय विवाह)

स्वधर्म स्वजाति, स्वसमूह, स्ववर्ण, स्वधर्म एवं स्वप्रजाति में विवाह का होना अन्तर्विवाह है। धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य को अपने ही वर्ण अथवा जाति में विवाह करना चाहिए। धर्मशास्त्रियों की ऐसी मान्यता थी कि अपने वर्ण अथवा जाति में शादी करने से कुल एवं रक्त की रक्षा होती है। समाज में अनेक जातियों एवं उपजातियों का निर्माण कालान्तर में हुआ, जिससे अन्तर्विवाह के स्वरूप में भी परिवर्तन आया। सभी लोग अपनी जातियों एवं उपजातियों में विवाह करने लगे। इस प्रकार जाति अन्तर्विवाह, उपजाति अन्तर्विवाह, प्रजाति अन्तर्विवाह, वर्ग अन्तर्विवाह, क्षत्र अन्तर्विवाह एवं धर्म अन्तर्विवाह का प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक युग वर्ण अथवा जाति में विभक्त नहीं था। शतपथ ब्राह्मण (4.1.5.13. 2.9.8) में वर्णित है कि श्यावाश्म नामक ब्राह्मण मनीषी ने क्षत्रिय शासक रथवीति दार्म्य कन्या से विवाह किया था, ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था। अतएव वर्णपरक प्रतिबंध समाज में नहीं था। वस्तुतः सवर्ण विवाह पर अधिकबल स्मृतियों एवं सूत्र साहित्यों में दिया गया है जब वर्ण का पूर्ण विभाजन हो गया, तब सवर्ण विवाह आदृत हो गये और इन्हें ही उत्तम माना जाने लगा। गौतम के अनुसार असवर्ण विवाह निम्न था।[1] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ बताया है (**सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥ मनु. 3.12, याज्ञ. 1.55**)। पौराणिक युग में भी सवर्ण विवाह को ही श्रेष्ठ बताया गया है। इसकी पुष्टि मत्स्य-पुराण (30.18) के अत्यन्त आकर्षक उद्धरण से होती है (**विद्धयौनसि भद्रतेन त्वदर्होऽस्मि**

---

1. गौ. ध. सू. 4.1, गृहस्थः सदृर्शीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्।

**भामिनि। अविवाह्य स्म राजानो देवयानि पितुस्तव॥)** अर्थात् ब्राह्मण कन्या देवयानी ने राजकुलोत्पन्न ययाति से प्रेम-विवाह के लिए याचना की, जिसे उसने सवर्ण न होने के कारण अस्वीकार कर दिया। आधुनिक काल तक समाज में बहिर्विवाह की घोर निंदा होती रही किन्तु आज के व्यावसायिक दौर में अन्तर्पेशा विवाह भी अन्तर्विवाह की भांति समादृत प्रतीत होता दिख पड़ा रह है।

## अन्तर्जातीय विवाह (अनुलोम और प्रतिलोम विवाह)

वैदिक युग से ही अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन रहा है। यद्यपि इसे निन्दित माना जाता रहा है जिसका मूल कारण रक्त की पवित्रता को बनाये रखना एवं ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्थिर रखने की अभिलाषा एवं वर्ण-व्यवस्था को सुस्थिर रखने की कामना थी। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह को समाज में निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था। प्राय: लोगों द्वारा अपनी जाति अथवा वर्ण में विवाह किया जाना इस धारणा पर आधारित था कि (1) रक्त के शुद्धता की भ्रामक धारणा टूटने न पाये। (2) वर्ण व्यवस्था, जो प्राचीन काल में व्यवसाय पर आधारित थी, बनी रहे। (3) वर्ण एवं जाति के दैवी उत्पत्ति की मिथक् धारणा में कोई विघ्न न पड़े। (4) विभिन्न वर्णों की सांस्कृतिक विरासत अक्षुण्ण रहे। वस्तुत: इन धारणाओं का एक कारण समाज में शिक्षा का अभाव, भौगोलिक संकीर्णता एवं उदारीकरण की प्रवृत्ति में कमी थी। यह कमी अन्तर्जातीय विवाह की दृष्टि से आज भी बनी हुई है।

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का भी प्रचलन था। अनुलोम विवाह में ऊँचे वर्ण का पुरुष होता था और निम्न वर्ण की स्त्री। वैदिक युग में वर्ण और जाति का कठोर बंधन नहीं था, इसलिए इस तरह के विवाह बहुधा हुआ करते थे। इस प्रकार के वैदिकयुगीन साक्ष्य हैं। भृगुवंशी ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था।[1] ब्रह्मर्षि श्यावश्य ने क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति को अपनी भार्या बनाया था।[2] वृष्णिवंशीय शौरि की पत्नियों में से एक वैश्य की पुत्री थी।[3] चाक्षुष और कक्षीवान् जैसे तपस्वियों का जन्म ब्रह्मर्षि और शूद्रा की संयुक्तता से हुआ था।[4] वसिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अदृश्यन्ती से हुआ था।[5] ब्राह्मण ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा क्षत्रिय थी।[6]

---

1. श. ब्रा. 4.15
2. ऋग्वेद, 5.6.1.17-19
3. मत्स्य पु. 46.20, वैश्यायामदधाच्छौरि: पुत्रं कौशिकममग्रजम्।
4. वही, 48.62; वायु पु., 99.70; ब्रह्माण्ड पु. 3.74.71
5. महाभारत, 13.53.17
6. वही, 3.94-97

वैदिक युग के बाद ऐसे विवाह निन्द्य कहे गये तथा समाज में इनका मान कम हो गया। सवर्णा स्त्री की उपस्थिति में असवर्णा स्त्री को धार्मिक कार्य सम्पन्न करने से वंचित कर दिया गया।[1] समाज में सवर्णा स्त्री प्रतिष्ठित और अभिशंसित मानी गई।[2] ब्राह्मणों को सभी वर्णों की कन्याओं से परिणय करने का अधिकार प्राप्त था।[3] शास्त्रों के अनुसार, अनुलोम से ब्राह्मण तीन (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओं से), क्षत्रिय दो (वैश्य और शूद्र कन्याओं से), वैश्य मात्र (शूद्र कन्या से) अतिरिक्त विवाह कर सकता था।[4] अनुलोम विवाह के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं। इन उद्धरणों से यह प्रकट होता है कि अनुलोम विवाह-प्रथा समाज में प्रचलित थी, जो पूर्व मध्य काल के समाज में भी वर्तमान थी। ग्यारहवीं सदी के बाद से अनुलोम विवाह संबंधी नियम सिद्धांत मात्र ही रह गए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही जाति की स्त्री से विवाह करता रहा है जो दसवीं सदी से बहुत अधिक प्रचलित हुआ।[5] इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न संतान को सवर्ण विवाह से उत्पन्न संतान की तुलना में अत्यल्प अधिकार प्राप्त था। अनुलोम से उत्पन्न संतान को पिता की सम्पत्ति में बहुत कम धन मिलता था।[6]

## एकल-विवाह

एकपति अथवा एक पत्नी को ही हिन्दू विवाह का आदर्श माना गया है। एक पति के रहते दूसरे पुरुष से विवाह या एक पत्नी के रहते दूसरी स्त्री से विवाह अति निन्दित था। एकपत्नी अथवा एक पति का आदर्श दर्शानेवाला 'दम्पति' शब्द इसका द्योतक है। पत्नी अर्धांगिनी होती थी, उन्हें 'धर्मपत्नी' पुकारा जाता था जिससे एक पत्नी की आदर्श एवं सम्मानित स्थिति का पता चलता है। हिन्दू आदर्श विवाह के अन्तर्गत पति-पत्नी सम्पूर्ण जिंदगी एक साथ व्यतीत करते थे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (2.5.12) में उल्लिखित है धर्म-प्रजायुक्त पत्नी के रहते दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए (**धर्मप्रजासम्पन्नेदारेनऽन्यां कुर्वीत्**)। पतिव्रता एवं सन्तानयुक्त पत्नी के रहते पुरुष द्वारा अन्य विवाह करने पर कठोर दण्ड का प्रावधान था।[7] एक पतित्व

1. याज्ञ., 1.88; मनु. 9.85-86
2. कात्या. 8.6 व्यास. 2.11-12; वि. स्मृ. 26.13
3. अथर्ववेद, 4.17.8.9
4. मिता. 1.4; याज्ञ. 4.91-92, शंख स्मृति, 4.6-7
   तिस्रत्रस्तु भार्या विप्रस्य द्वे भार्य्ये क्षत्रियस्य तु।
   एकैव भार्य्या वैश्यस्य तथा शूद्रस्य कीर्तिता।।
5. राधाकृष्णन्, रिलिजन एण्ड सोसायटी, पृ. 173
6. याज्ञ. 1.88, यदि स्वश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः।
   तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्य पूजा च वेश्म च।।
7. नारद (स्त्री पुंस.) 95, अनुकूलावामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्।
   त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राजा दण्डेन भूयसा।।

का महत्त्व हिन्दू स्त्रियों के सतीत्व, विशुद्ध आचरण एवं चरित्र का द्योतक रहा है जिसे वे पातिव्रत्य और सदाचरण द्वारा पूरा करती थीं। नारी की पति के प्रति इस प्रकार के पूर्ण समर्पण की भावना ने ही निः सन्तान रहते हुए भी कई पुरुषों को पुनर्विवाह के लिए उत्तेजित नहीं किया। वस्तुतः पति-पत्नी के संबंध को जन्म-जन्मान्तर का प्रतीक माना जाने लगा।

एक विवाह के कई कारण थे। यथा, अपने अधिकार का बंटवारा कम से कम लोगों के बीच करना, पारिवारिक कलह से बचना, आर्थिक संसाधनों की कमी आदि। एक विवाह का लाभ यह हुआ कि परिवार में स्थायित्व बना रहा और सुरक्षा की भावना बढ़ी। साथ ही, स्त्रियों को जहाँ समाज में प्रतिष्ठा मिली, वहीं स्त्रियों के अधिकारों की भी रक्षा करने में मदद मिली।

## बहुविवाह

बहुपत्नी अथवा बहुपति विवाह की प्रथा प्राचीन भारत में रही है किन्तु यह स्वीकृति विशेष अवस्था में ही दी जाती थी। धर्मशास्त्र के अनुसार एक पुरुष दो स्त्रियाँ रख सकता था, किन्तु एक से अधिक भार्या रखने की अनुमति नहीं थी, यह अनुमति विशेष परिस्थितियों में दी जा सकती थी। वेद के अनुसार एक पुरुष दो पत्नी रख सकता है, किन्तु यह प्रायः धनी वर्गों में ही देखने को मिलता था। श.ब्रा. (5.2.1.10) में उल्लिखित है कि राजाओं की साधारणतः चार प्रकार की पत्नियाँ हो सकती हैं-" **महिषी** (प्रधान रानी), **परिवृक्त** (प्रभावशाली), **वावार्ता** (व्यक्तिगत रूप से प्रिय) तथा **पालागली** (सबसे निम्न व्यक्ति की कन्या)।"[1] ऋग्वेद ( 10. 145.159) भी बहुविवाह के परिचायक हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (12.11) कहता है - **'तस्मादेको वहवीजीयाविन्दते। तस्मादेकस्य वहवयो जाया भवन्ति नैकस्ये बहवः सहपतयः।** अर्थात् एक पुरुष की अनेक भार्याएँ हो सकती हैं किन्तु एक पत्नी के कई पति नहीं हो सकते। 'तैतिरीय-संहिता' में भी वर्णित है कि एक यूप में दो रशनाएँ बाँधी जा सकती हैं किन्तु एक रशना दो यूपों में नहीं बाँधी जाती हैं।[2] याज्ञवल्क्य की दो विदुषी पत्नियाँ थी-मैत्रेयी और कात्यायनी।

दूसरी शादी की मान्यता दो कारणों से थी - (1) धर्म और (2) प्रजा अर्थात् सन्तान 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में वर्णित है कि इन दोनों में से किसी एक का भी अभाव हो, तो श्रौत-कर्म के पूर्व दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना चाहिए ( **धर्मप्रजासम्पन्ने दारनान्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागान्याधेयात्॥**-10.28.19)। 'पारस्कर-

---

1. चलस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति। महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली।
2. तै. सं. 6.5.4.1 एकस्मिन्यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते।
   यन्नैका रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पति विन्दते॥

गृह्यसूत्र' (1.4.8-11) के अनुसार ब्राह्मणों की तीन पत्नियाँ, क्षत्रियों की दो पत्नियाँ एवं वैश्य की एक पत्नी हो सकती है। बौ. ध.सू. (2.2.9) के अनुसार यदि पुत्र का अभाव हो तो दूसरी पत्नी के निमित्त आठ वर्ष इन्तजार करना चाहिए। मनु का विचार है कि विवाह धर्म के साथ-साथ काम का भी शमन करता है, इसलिए अनुलोम के अनुसार ब्राह्मण 4, क्षत्रिय 3, वैश्य 2 एवं शूद्र 1 विवाह कर सकता है।[1] याज्ञवल्क्य (1.73) ने पत्नी में दोष रहने पर दूसरे विवाह की अनुमति प्रदान की है- **'सुराऽपि व्याधिता धूर्त्ता वन्ध्यार्थध्न्यप्रियम्बदा। स्त्री प्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा।।** यद्यपि श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियाँ इसका अपवाद है। हाँ! एक बात अवश्य प्रतीत होता है कि महाभारतकालीन समाज में लोगों की अनेक पत्नियाँ आम बातें थीं। शिशुपाल, दुष्यन्त, चन्द्रापीड, अग्निमित्र आदि अनेक उदाहरण बहुपत्नी विवाह के हैं। हम पाएंगे कि-बहुपत्नी विवाह सन्तति-लिप्सा के अलावा क्षत्रियों के लिए शौर्य एवं पराक्रम एवं वैश्यों के लिए ऐश्वर्य का प्रतीक था, वहीं यह ब्राह्मणों के लिए विलासिता का द्योतक था। बहुविवाह से लाभ-हानि दोनों थे। इससे वंश परम्परा में मदद मिलती थी। साथ ही, सन्तति का पालन-पोषण भी ठीक ढ़ंग से होता था किन्तु जो इसका प्रमुख लाभ था वह अनैतिकता को विवाह जैसे संस्था द्वारा आवृत्त करना था। अनैतिक व्यवहारों को विवाह, बंधन द्वारा ढ़कने की चेष्टा ही बहुविवाह का कारण थी, जिसे सामाजिक दबाव या सामाजिक स्वीकृति कहा जा सकता है।

बहुपतित्व की अवधारणा हिन्दू धर्म विरोधी है। एक ही समय में एक स्त्री द्वारा एक से अधिक पुरुषों का वरण करना निन्दनीय था। वैदिक काल में संभवतः ऐसा विवाह हुआ होगा, क्योंकि वहाँ भी इसको निन्दनीय माना गया है। अथर्ववेद में भी बहुपति विवाह के प्रमाण मिलते हैं - **या पूर्वम् पतिं हित्वा अथान्यं विन्दते पतिम्।...समानलोकौ भवति पुनर्भूव अपरः पतिः।**[2]

## पुनर्विवाह

पुनर्विवाह को निन्दित मानना हिन्दू संस्कृति की विडम्बना है। यहाँ पुनर्विवाहित स्त्री को 'परपूर्वा स्त्री' (जो पूर्व में किसी की पत्नी रह चुकी है) कहा जाता था और धर्मशास्त्र एवं स्मृतियों में निन्दित माना गया है किन्तु वैदिक काल में पुनर्विवाह की आज्ञा थी। ऋग्वेद (10.40.2) के अनुसार पति के मृत्यु के उपरांत स्त्री को दूसरा विवाह करने का पूर्ण अधिकार था। ऋग्वेद (10.18.8) में कहा गया है- **को**

---

1. मनु 3.13 शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
   ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः।।
2. अथर्ववेद, 14.2.1, 9.5.27-29

**वां शयुत्रा विधवेव देवरम्।** अथर्ववेद में भी पुनर्विवाह का संदर्भ आता है- **या पूर्वं हित्वा अधान्यं विन्दते पतिम्।** **'तैतरीय-संहिता' (3.2.44)** में **'देधिषव्य'** विधवा के पुत्र का परिचायक है। महाभारत (13.12.19)में उल्लिखित है कि पति के न रहने पर देवर को पति बनाया जा सकता है **(नारी तु पत्य भावे वरं कृणुते पतिः)**। अनेक धर्मशास्त्रों में पति के मृत्योपरांत देवर से विवाह करना श्रेयस्कर माना गया है। जिस स्त्री का पुनर्विवाह होता था, उसे **'पुनर्भूः'** कहा जाता था।[1] देवर से पुनः विवाह करना श्रेयस्कर इस कारण था, क्योंकि इससे संपत्ति की वंशगत रक्षा हो सकती थी। इस संदर्भ में कौटिल्य की उक्ति महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य के अनुसार पति के विदेश चले जाने पर या सन्यास ले लेने पर या मृत्यु होने के उपरान्त सात बार रजस्वला होने पर अपुत्रवती पत्नी को पुनर्विवाह कर लेना चाहिए **(दीर्घप्रवासिनः प्रवर्जितस्य प्रेतस्य वा भार्या सप्ततीर्थान्याकांक्षेत् 1-अर्थ. 3.4)**। पुनः कौटिल्य स्त्रियों का आदर करते हुए कहते हैं पति के विदेश चले जाने पर सात तीर्थों तक, अगर कह कर गया हो तो एक वर्ष तक विदेश से उसका समाचार न मिलने पर पाँच तीर्थों तक और मिलने पर दस तीर्थों तक प्रतीक्षा करे, तदनन्तर धर्माधिकारी की अनुमति पर्यन्त अपने मनोनुकूल विवाह करे।[2] कौटिल्य स्त्रियों के प्रति जितना ही उदार हैं, मनु उतना ही कठोर। उसके अनुसार पति के पतित, क्लीव और उन्मत्त होने पर भी पत्नी उसकी सेवा करेगी।[3] नपुंसक एवं राजद्रोही होने पर ही वह पुनर्विवाह करेगी।[4] ध्रुवस्वामिनी ने अपने पति रामगुप्त को नपुंसक और क्लीव होने के कारण उसे छोड़कर चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से विवाह कर लिया था।

पुनर्विवाह (पुनर्भू) याज्ञवल्क्य की दृष्टि में दो प्रकार की थी -क्षता (विवाहोपरांत पुरुषोपभुक्त) और अक्षता (अभुक्ता)। पुनर्भू से पृथक् 'स्वैरिणी' वे स्त्रियाँ थीं, जो किसी कुमारावस्था वाले पति का त्याग कर बिना विवाह-विधि के अन्य सवर्ण के आश्रय चली जाती थीं **(अक्षता वा क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः। स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्ण कामतः श्रेयेत्।। 1.67)**। जबकि बौधायन ने पुनर्भू सात प्रकार

---

1. वसिष्ठ धर्मसूत्र 16.19-20, या कौमारं भर्तरिमुत्सृज्यान्यान्यैः सहचरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भू भवति।
2. अर्थशास्त्र, 3.4; धर्मविवाहात्कुमारी परिग्रहीतारमनाख्याय प्रोषितमश्रूयमाणं सप्ततीर्थान्याकांक्षेत्। सवत्सरं श्रूयमाणं। आख्याय प्रेषितमश्रूयमाणं पंचतीर्थान्याकांक्षेत्। दश श्रूयमाणम्। ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टं यथेष्टं विन्देत्।
3. मनु. 9.79; उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पपिरोगिणम्।
   न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्।।
4. 'नारद-स्मृति' में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है- अपत्यार्थ स्त्रियः सृष्टाः स्त्रीक्षेत्र बीजिनो नराः क्षेत्रे बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रमर्हति।

का बताया है **"वाग्दत्ता, मनोदत्ता, अग्निपरिगता सप्तं पदं नीता मुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तविधापुनर्भूर्भवति। अतस्वां गृहीत्वा न प्रजां धर्म च विन्देत्।"** 'पुनर्भू' से उत्पन्न होने वाला 'पौनर्भव पुत्र' कहलाता था, जिसे हीन माना गया था।

वस्तुत: पुनर्विवाहितस्त्रियों की स्थिति धर्मशास्त्रों के अनुसार संतोषजनक नहीं दिख पड़ती है। ये उपेक्षित और निन्दित थीं तथा इनके पतियों की स्थिति भी सम्मानजनक नहीं थी। वस्तुत: विधवा पुनर्विवाह को आदृत बनाने में स्वामी दयानन्द सरस्वती का महत्त्वपूर्ण योगदान था। आधुनिक समाज सेवियों ने भारतीय-जनमानस में इन विधवाओं एवं पुनर्भू के प्रति संवेदनाओं का सृजन किया, जिससे आज सामाजिक उत्सवों एवं क्रिया-कलापों में भी इन्हें सम्मिलित किए जाने में कोई हिचक नहीं होती है।

## नियोग-प्रथा

जब पतिविहीन स्त्री विशेष प्रयोजन (सन्तानोत्पत्ति हेतु) से किसी विशेष पुरुष के साथ संबंध स्थापित कर विवाह करती थी, तब ऐसा विवाह नियोग कहलाता था। ऋग्वेद में एक उदाहरण मिलता है, जिसमें पति के चिता के समीप बैठी विधवा के लिए कहा गया है कि "तुम्हारा पति निर्जीव हो चुका है। जिसने तुम्हारा पाणि-ग्रहण किया और प्रेम किया उस पति के प्रति तुम्हारा पत्नीत्व पूरा हो चुका है। अतएव देवर को पति रूप में ग्रहण करो" **(को वां शत्रुया विधवेव देवरमर्यम् न योषा कृणुते सधस्थ आ। 10.4.2)**। अथर्ववेद 9.5.27-28 में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है- **या पूर्वपतिं वित्वा अथात्यं निन्दते पतिम्। पंचौदनं च तो अजं ददतो न नियोजतः। समान लोको भवति पुनर्भुवा अपरः पतिम्।।** गौतम ने भी नियोग हेतु देवर के साथ विवाह की अनुमति दी है **(अपतिरपत्य लिप्सुर्देवरात् 18.4.-14)**।[1] मनु ने देवर के अलावा सपिण्ड से भी नियोग का निर्देश किया है - **'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये।।9.59"**। मनु ने नियोग से सन्तान उत्पन्न करने वाली नारी **'क्षेत्र'** या **'क्षेत्रिक'** तथा पुत्र उत्पन्न करने के लिए नियुक्त देवर आदि सपिण्ड पुरुष **'बीजी'** (बीज बोनेवाला) अथवा **'नियोगी'** है।[2] रुग्ण एवं नपुंसक पति के कारण पुत्र की लालसा के लिए स्त्री द्वारा नियोग किया जाता था। गरुड पुराण एवं मनु के अनुसार निन्दनीय था **(अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिव्याप्तश्च देवरात्। उभौ तौ नार्हतौ भागं जारजातक कामजौ।। मनु)** तथा इससे उत्पन्न होने वाले पुत्र को **'जारज'** कहा जाता था, जिसे सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं मिलता था। पुन: मनु ने 'ब्राह्मण स्त्रियों

---

1. महाभारत में भी ऐसा ही वर्णन है-नारी तु पत्यभावे देवरं कृणुते पतिम्। 13.12.19
2. मनु. 9.32-34

को सगोत्र अथवा मातृ-बंधु पुरुष से संबंध स्थापित कर क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करने का अधिकार दिया है और उसे संपत्ति का भी अधिकार सौंपा है।

महाभारत के अनुसार नियोग द्वारा मात्र तीन पुत्रों को ही उत्पन्न किया जा सकता है। फिर भी नियोग प्रथा आदृत नहीं थी, इसे 'पशुधर्म' माना जाता था। यही कारण है कि मध्यकालीन समाज विधवा-विवाह अथवा नियोग को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करता था। विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य का जीवन श्रेयस्कर माना जाता था। विधवाओं को धार्मिक और नैतिक मार्ग पर चलने का सुझाव दिया जाता था।

## विवाह योग्य आयु

ऋग्वैदिक विवाह युवावस्था प्राप्त करने पर ही वर-वधू की आपसी सहमति से होती थी **(सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभावरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा ददाता।)** 10.84। प्रायः ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद ही विवाह होता था, क्योंकि लगभग 8 वर्ष की आयु में उपनयन सम्पन्न होता था। लगभग 20 या 21 वर्ष की आयु से पूर्व वर का विवाह नहीं होता था एवं स्त्रियाँ भी विद्याध्ययन हेतु ब्रह्मचर्य पालन करती थीं। लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, विश्ववारा आदि स्त्रियाँ इसी श्रेणी की थीं। स्त्रियाँ अपने मन से वर को चुनती थीं। इसका अर्थ है कि वे भी युवा ही रहा करती होंगी। उदाहरणार्थ-रामायण में सीता एवं महाभारत में द्रौपदी का विवाह इसके अच्छे उदाहरण हैं।

गृह्यसूत्र का काल बाल विवाह का पक्षधर दिखता है क्योंकि गोभिल गृह्यसूत्र 3.4.6 ने तो विवाह के लिए 'नग्निका' कन्या को ही श्रेष्ठ बता दिया है। वस्तुतः धर्मसूत्र एवं गृह्यसूत्र काल में स्त्रियों का विवाह 10 वर्ष से 14 वर्ष के बीच हो जाया करता था। विभिन्न आयु की कन्या के पृथक्-पृथक् नाम हैं-

| **आयु** | | |
|---|---|---|
| 10 से 12 वर्ष तक | - | श्यामा |
| 12 से अधिक | - | कुमारी |
| 10 से अधिक | - | रजस्वला |
| 9 वर्ष की | - | रोहिणी (जो रजस्वला नहीं होती थी) |
| 10 वर्ष की | - | कन्या |
| 9 वर्ष की | - | गौरी |

विवाह की आयु को लेकर धर्मशास्त्रों में मतवैभिन्य है। गौ.ध.सू. के अनुसार ऋतु के पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए **(प्रदानं प्रागृतो।... प्रग्पासस प्रतिपतेरित्येके।।**8.21-23) 'संवर्त-स्मृति' में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि

कन्या का विवाह रजस्वला होने तक भी नहीं होता, तो माता-पिता एवं ज्येष्ठ भाई तीनों नरक को जायेंगे। कौटिल्य ने बारह वर्ष स्त्री के विवाह का उत्तम उम्र माना है (**द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहार भवति**। 3.2)। गौतम का भी ऐसा ही मानना है-**प्रयच्छन् दोषीः 18.22**)। 'पराशर-स्मृति' 7.7 में वर्णित है- **'प्राप्ते तु द्वादशे वर्षेयः कन्यां न प्रयच्छति।'** मनु ने तीस वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की कन्या से एवं 24 वर्ष के पुरुष को 8 वर्ष की कन्या से विवाह करने का परामर्श दिया है।[1]

7वीं सदी तक वर वधू के विवाह-वय की आयु करीब यही रही, किन्तु वात्सायन ने वर-वधू के बीच विवाह वय के अन्तर को तीन साल बताकर कम कर दिया। (**त्रिवर्षात् प्रभृति न्यूनवयसाम्। कामसूत्र** -3.1.2)। बाद के कालों में गान्धर्व विवाह के दृष्टान्त यह सिद्ध करते हैं कि महाकाव्य काल में विवाह किशोरावस्था में होने लगा। 'रघुवंश' (5.10) के अनुसार ब्राह्मण वेदाध्ययन के बाद विवाह करता था, क्षत्रिय रणकुशल होने पर (रघु. 3.32)। 'हर्षचरित' के अनुसार राजा हर्ष की बहन राजर्षि का विवाह वयस्कावस्था में हुआ था। वस्तुतः मध्यकाल तक कन्या के विवाह की आयु बारह से चौदह वर्ष तक ही निश्चित रही।

### वैवाहिक-विधि

वैदिक काल में विवाह संस्कार की विधि सरल थी। वर (स्नातक)अपने परिचित एवं सगे संबंधियों के साथ कन्या के घर आकर वधू-पक्ष द्वारा दिए गए भोज आदि सत्कार को ग्रहण करते थे।[2] कन्या के पाणि-ग्रहण काल में वर गाते हुए कहता था-**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदाष्टिर्यथासः। भगोऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुगर्हिपत्याय देवाः॥** पिता सभी देवताओं और विशेषकर अग्नि देवता के समक्ष कन्या दान करते थे और उपस्थित लोग नव वरवधू को आशीर्वचन कहते थे -

**इहैव स्तं मा यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।**
**क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्व गृहे॥**
**इमां त्वमिन्द्रमीद्वः सुपुत्रां सुभगां ऋणु।**
**दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥**
**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञीं श्व श्र्वां भव।**
**ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवेषु॥**

---

1. मनु. 9.94 त्रिंशद्वर्षेद्विहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
   त्र्यष्टवर्षेऽष्टवर्षे वा धर्मे सीदति सत्वरः॥
2. ऋग्वेद 10.85, 10.17.01, 4.58.9; अथर्व. 6.60, 14.2.59

महाकाव्य काल में भी वैवाहिक संस्कार की विधियाँ सरल ही रहीं; किन्तु परवर्त्ती काल में आर्य विवाह एवं आर्येत्तर विवाह का समन्वय होने लगा। ऐसी स्थिति में भारत के विभिन्न भागों की स्थानीय विधियाँ भी सम्मिलित हो गयीं; जिससे विभिन्न प्रकार के विवाह-संस्था की विधियाँ देखने को मिलने लगीं।

प्रथम विवाह के काल की चर्चा करेंगे। आश्व. गृ. सू. के अनुसार सभी काल में विवाह करना चाहिए। जिस कन्या में शुभ गुणादि हो (**पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत॥ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन॥**)। 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' में कुल तीस विधि-विधान संकेतित हैं जिन्हें तीन भागों मे विभक्त कर सकते हैं - वर के सत्कार के लिए की जानेवाली मधुपर्क विधि; वधू के घर में की जाने वाली विवाह की मुख्य विधियाँ तथा वधू के ससुराल आने पर की जाने वाली विधियाँ।

प्रथम चरण की विधियों में वर (वरेण्य-श्रेष्ठ) का स्वागत कन्या का पिता अर्घ्य मधुपर्क के द्वारा करता था। सूत्रकाल में गोमांस द्वारा अतिथि का सत्कार किया जाता था-**नत्वेवामांसोऽर्घः स्यात्। अधियज्ञमधि-विवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात्।** (पा.गृ.सू.1.3.29-30)।

वैवाहिक होम, लाजा-होम, कन्या दान, पाणि-ग्रहण, अश्मारोहण तथा सप्तपदी ये मुख्य विधियाँ वधू गृह में सम्पन्न होती थीं। विवाह में साक्षी देवता हुआ करते थे विशेष रूप से अग्नि। इसी कारण विवाह में अग्नि-होम प्रमुख होता था। इस अवसर पर स्वास्थ्य, सन्तान और दीर्घायु के साथ-साथ यज्ञ-अभिवृद्धि की कामना की जाती थी। यज्ञ वेदी पर वर एवं कन्या **''ॐ समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥''** कह कर दोनों एक दूसरे को स्वेच्छया स्वीकार करते थे। तदनन्तर वर-वधू के बायें पूर्वाभिमुख होकर यज्ञ वेदी पर बैठते थे। उत्तराभिमुख करके पुरोहित यज्ञ वेदी पर बैठते हैं एवं शरीर प्रक्षालन के उपरांत प्रधान होम का प्रारंभ होता हैं। लाजा-होम में वधू शमी के पत्तों से मिली हुई लाजा (खील) की अर्यमा देवी को आहुति देती है। लाजा होम सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यदि कन्या के पिता पुत्र रहित हैं तो ऐसी कामना की जाती थी, कि वह अपनी पुत्री के पुत्र को गोद लेगा। अतएव विवाह से पूर्व कन्या के भ्रातृमयी होने की जाँच कर ही लोग विवाह करते थे। लाजा-होम में वधू का भाई छाजले में खील (कभी-कभी धान का लावा) लेकर वधू के पीछे खड़ा होकर आहुति हेतु बार-बार बहन के हाथों में खील देता है। यह वधू के भ्रातायुक्त होने का प्रमाण है।

कन्यादान में वधू का पिता वर को कन्या सौंपता है एवं पाणिग्रहण में वर के द्वारा कन्या को स्वीकार किया जाता है। कन्यादान एवं पाणि-ग्रहण की पूरक विधियाँ पति-पति के संबंध को स्वीकार करने की घोषणा है। अश्मारोहण (अश्मन्) संबंध की सुदृढ़ता, स्थिरता हेतु एवं ध्रुव-दर्शन दोनों के संबंधों की

निश्चलता एवं अटलता का प्रतीक है। इस विधान में स्त्री को दांये पैर से पत्थर पर चढ़ाया जाता है एवं रात्रि में ध्रुवतारा का दर्शन कराया जाता है।

'सप्तपदी' हिन्दू विवाह का महत्त्वपूर्ण विवाह-विधान है। इसमें वर-वधू को साथ-साथ सात पग चलाया जाता है। वर एवं वधू के उत्तरीय में गाँठ बांधकर जोड़ा बनाया जाता है। यह वर-वधू में परस्पर मैत्री-भाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसमें पहला पग अन्न हेतु, दूसरा पग बल के लिए, तीसरा धन की वृद्धि के लिए, चौथा आरोग्यके लिए, पांचवा पशु धन के लिए, छठा ऋतुओं के लिए और सातवाँ मित्रता के लिए हो **(एकमिषे द्वे ऊर्जे, त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः सखे सप्त पदा भव।)** सप्तपदी के अवसर पर ही वधू के दाएं कन्धे पर से अपना हाथ ले जाकर उसके हृदय को छूता हुआ वर मंत्र का उच्चारण करता है-**मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेक मना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।।** अर्थात् मेरे व्रत में तेरा हृदय स्थापित हो, मेरे चित्र के अनुकूल तेरा चित्र हो, मेरी वाणी को एक मनवाली होकर प्रीतिपूर्वक सेवन करें, प्रजापति तुझे मेरे साथ जोड़े। सप्तपदी वर-वधू के तादात्म्य की आकांक्षा से किया जानेवाला संस्कार है।

हिन्दू समाज पितृ-सत्तात्मक होने के कारण विवाहोपरांत कन्या का गोत्र भी पति के गोत्र में बदल जाता था, क्योंकि बहुएँ दूसरे परिवार से लाई जाती थीं **(स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे)**। सप्तपदी विधान द्वारा ही वधू कानून की दृष्टि से पत्नी बनती है। सप्तपदी के पूर्व यदि विवाह किसी कारण से टूट जाता था, ऐसी स्थिति में वधू कन्या ही मानी जाती है और उसका अन्यत्र विवाह संभव है, किन्तु सप्तपदी के उपरांत नहीं। मनु. (8.227) में कहा गया है- **पाणि ग्रहणिका मन्त्रा नियतंदारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे।**

विवाहोपरान्त वधू पति गृह आती थी। वधू का शाब्दिक अर्थ था पति गृह लाई जानेवाली कन्या। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार वधू के संग विवाहाग्नि को भी पति गृह लाकर स्थापित किया जाता था एवं समस्त गृहकार्य उसी अग्नि से सम्पन्न होते थे (**विवाहाग्नि अग्रतोऽजस्रं नयन्ति।** 1.8.5)। वधू-वर के घर जब आती थी तो चतुर्थी कर्म होता था, जिसमें वर एवं वधू दोनों जमीन पर सोकर तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। इस प्रकार पति-पत्नी में अविच्छेद्य संबंध की स्थापना होती थी। अंत में आहुत देवताओं की विदाई कर दी जाती थी एवं विवाह मण्डप हटा दिया जाता था।

मध्ययुग में आकर वैवाहिक विधि विधान विस्तृत होते गये। सिन्दुर-दान को विवाह में प्रमुख माना जाने लगा एवं अनेक अन्य छोटे विधि विधान क्षेत्रीय प्रभाव से जुड़ते चले गये।



## अध्याय-8

# भारतीय प्राचीन शिक्षा-पद्धति

**विद्या अथवा शिक्षा का महत्त्व**

'विद्या धनं सर्वधनं प्रधानम्' यह उक्ति विद्या के महत्त्व को दर्शाती है। भर्तृहरि ने कहा है -

**विद्यानाम् नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं**

**विद्याभोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।**

**विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता**

**विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः॥** नीति. 20

विद्या ही वह साधन है जो मानव के सम्पूर्ण उद्देश्यों की पूर्त्ति करने में सहायक है। यह मातावत् संरक्षिका है, पितावत् सत्पथप्रदर्शिका है, कान्ता के समान सुखद एवं मनोरञ्जक है। यह दुर्गुणों का नाश कर मन को पवित्र करनेवाली, वैभव एवं कीर्त्ति प्रदान करनेवाली है। यह सभी अभीष्टों की पूर्त्ति करनेवाली, सभी गुणों से हमें संवलित करनेवाली, सभी सुखों की प्रदाता है। भोजप्रबन्ध में वर्णित है -

**मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते,**

**कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।**

**लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं**

**किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥**

'विद्या' शब्द ज्ञान अर्थ में विद् धातु से क्यप् + टाप् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। विद्या के कई अर्थ बताए गये है - ज्ञान, शिक्षा अवगम, विज्ञान।[1] विद्या को अभ्यास द्वारा अर्जित किया जा सकता है -**विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि।**[2] विद्या को प्रच्छन्न धन बताया गया है-**विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनम्।**[3] इसी कारण सुभाषित (पृ. 30) में कहा गया है -

**न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।**

**व्ययेकृते वर्धते एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥**

---

1. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोष, पृ. 935
2. रघु. 1.88
3. भर्तृ. 2.20

**वसुमती पतिना न सरस्वती बलवता रिपुणाम् न नीयते।**
**समविभागहरैर्न विभज्यते विबुधबोधबुधैरपि सेव्यते।।**

विद्या को अधिगत कर लेना ही 'ज्ञान' कहलाता था। 'ज्ञान' शब्द ज्ञा+ल्युट् से निष्पन्न है। भारतीय मनीषियों ने देवत्व को ज्ञान के अधीन माना है (**विद्वांसो हि देवा इति।**)[1]। बृहदारण्यकोपनिषद् (4.4.11 एवं 1.5.16) में वर्णित है - **अविद्वांसो नरके पतन्तीति भयकारणमेवाज्ञानं मतम्। विद्यया देवलोको जय्यः। देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठः। तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति।** बृहदारण्यकोपनिषद् (1.5.16) में भी कर्म के द्वारा पितृलोक एवं विद्या द्वारा देवलोक की प्राप्ति बतायी गयी है, जो सभी लोकों में श्रेष्ठ है (अथ त्रयो वाव लोकाः मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोको इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः। देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठ तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति)। विद्या की महत्ता का उल्लेख करते हुए महाभारत के आदि-पर्व (84.2) में भी कहा गया है- **ये विद्यया तपसा जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम्।** विष्णु पुराण (1.19.41) विद्या को मुक्तिदायी कहा गया है (**सा विद्या या विमुक्तये**)। उपनिषदों में भी विद्या के महत्त्व को दर्शाया गया है -'**विद्ययाऽमृतमश्नुते।**[2] अर्थात् विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त किया जा सकता है। विद्या को शक्तिशाली बनानेवाला भी कहा गया है- "**नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।।**[3] जो विद्या का अर्जन नहीं करते, वे अन्धकार को प्राप्त करते हैं।[4]

'शिक्षा' शब्द भी 'विद्या' का ही समानार्थी है। यह **शिक्ष् (विद्या उपादाने) + अ (गुरोश्च हलः - पाणिनी 3/3/103) + टाप् प्रत्यय** से बना है।[5] अर्थात् विद्या प्राप्त करने का साधन ही शिक्षा है। अविद्या का निराकरण विद्या का अन्य फल है।

## शिक्षा की उपयोगिता

शिक्षा की भूमिका समाज के लिए अहम है क्योंकि शिक्षा समाज की दशा एवं दिशा दोनों को तय करता है। यह समाज के विकास का पथ निर्दिष्ट करता है। साथ ही, हमारे लक्ष्य के स्वरूप को भी दर्शाता है इसीलिए कहा गया है-**नास्ति विद्यासमं चक्षुः।**[6] विद्यार्थी की बहुमुखी प्रतिभा एवं चहुँमुखी विकास के लिए शिक्षा

1. शतपथ ब्रा. 3.4.3.10
2. ईशा; 3.11
3. छां. उप. 3०, 1.1.10
4. विष्णु पु., अन्धं तम इवाज्ञानम्।
5. अमरकोष, पृ० 64-65, सूत्र सं. 4
6. महाभारत, 12. 339.6

आवश्यक है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्य आश्रम का संयमित, अनुशासित एवं कठोर जीवन हमारे दुर्गुणों को नष्टकर सद्‌गुणों का संचार करता था। यह शिक्षा प्रणाली हमें उदार, सहिष्णु तथा परोपकारी बनाती थी। यह हमें हमारे कर्त्तव्यों के प्रति जाग्रत बनाती थी। प्राचीन-शिक्षा की उपयोगिता उसकी पद्धति के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

## प्राचीन शिक्षा-प्रणाली

बालक की विधिवत् शिक्षा का प्रारम्भ उपनयन संस्कार के द्वारा प्रारम्भ होता था। वस्तुतः आर्यों में शिक्षा का विधिवत् अधिकार द्विजों को ही प्राप्त था। उनकी उम्र सीमा मनु (2.36) के अनुसार निम्नलिखित थीं।[1]

| वर्ण | सामान्य नियम | विशेष नियम[2] | अधिकतम आयु सीमा[3] |
|---|---|---|---|
| ब्राह्मण | 8 से 10 वर्ष की उम्र तक | 5 वर्ष (ब्रह्म तेज की इच्छा रखनेवाली) | 16 वर्ष |
| क्षत्रिय | 11 वर्ष | 6 वर्ष (बल चाहने वाले) | 22 वर्ष |
| वैश्यपुत्र | 12 वर्ष | 8 वर्ष (धन चाहने वाले) | 24 वर्ष |

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि द्विजों की विधिवत् शिक्षा किस उम्र में उपनयन संस्कार के साथ शुरू होती थी। ब्राह्मण श्वेतकेतु के आठ वर्ष में उपनयन का उदाहरण इसका प्रमाण है।[4] जैमिनी गृह्यसूत्र (1.12) के अनुसार अध्ययन रत ब्राह्मण परिवारों में सात वर्ष में ही उपनयन हो जाता था एवं ब्रह्मज्ञान की कामना करनेवाले 5 वर्ष में अध्ययन प्रारंभ कर देते थे (**सप्तये ब्राह्मणमुपनीयत पंचमे ब्रह्मवर्चसकामम्**)।।

## शिक्षा-स्थल

प्राचीन भारत में शिक्षा का स्थल गुरुकुल या आश्रम था जहाँ रहकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। बालक उपनयन संस्कारोपरांत स्व गृह का त्याग कर गुरुकुल में विद्या अध्ययन करते थे (**ततोऽनन्तरसंस्कार संस्कृतो गुरुवेश्मनि कुर्याद्‌विद्या-**

---

1. मनु०, 2.36, गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्।
   गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।।
2. वही, 2.37 ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य विप्रस्य पञ्चमे।
   राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।।
3. वही, 2.38 आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
   आद्वाविंशात्क्षत्रबनधोशचतुर्विंशतेर्विशः।।
4. छा० उ० 6.2.1

**परिग्रहम्)।**[1] वस्तुतः विद्यालय आचार्य का घर होता था। इस आचार्य गृह में विद्यार्थी आचार्य के पुत्र के साथ रहते हुए पढ़ते थे। सभी विद्वान् ब्राह्मण आचार्यों के अध्यापन में ब्रह्मयज्ञ भी सम्मिलित था जो मनु ने नित्यकर्म माना है–**'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः'**।[2] इन आचार्यों का घर प्रायः वनों अथवा गाँवों में हुआ करता था। वन, उपवन, पर्वतीय प्रदेशों में गीष्मकाल में भी सन्ताप नहीं होता था। गायों के लिए भक्ष्य-पदार्थ (भूसा, नेवारादि) प्रचुर मात्रा में मिलता था। हवन के लिए समिधा पर्याप्त प्राप्त हो जाती थी। विद्यार्थियों के स्थान के लिए सरोवर, नदी आदि हुआ करते थे। उपनिषदों में ब्रह्मचारी का अरण्य में आवास पर्याय था। अरण्यों में रहनेवाले ऋषियों के समीप विद्यार्थी अध्ययन के लिए पहुँचते थे। इन गुरुकुलों को उपनिषद् में **'आचार्यकुल'** भी कहा गया है (द्वितीयो ब्रह्मयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी)।[3] 'कुल' शब्द कालान्तर में परम्परा का वाची हो गया। गुरु आश्रम भी दो प्रकार का था– एक गृहस्थ गुरु का आश्रम एवं द्वितीय वनस्थ प्रवर्जित गुरु आश्रम। गुरुकुल का वातावरण परिवार के समान एवं सानिध्य युक्त होता था। छान्दोग्य उपनिषद् 'अन्तेवासी' आचार्यकुल के साथ-साथ 'ब्रह्मचर्यवास' का भी उल्लेख है। विष्णु पुराण (3.10.12) के अनुसार कृष्ण एवं बलराम ने संदीपनि मुनि के आश्रम में शिक्षा-ग्रहण की थी। कच ने शुक्राचार्य के आश्रम में शिक्षा ग्रहण की थी।[4] महाभारत में कण्व, व्यास, वसिष्ठ, भरद्वाज, परशुराम आदि महर्षियों के आश्रमों का वर्णन मिलता है। मालिनी नदी के किनारे अवस्थित कण्व के आश्रम का वर्णन इस प्रकार है-

> **मनः प्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च।**
> **शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद्वनम्।**
> **सर्वर्तुकुसुमवृक्षैः सुखच्छायैः समावृत्तम्।।**
> **प्रेक्षमाणो वनं तत् तु प्रहृष्टविहङ्गमम्।**
> **आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम्।।** आदि-पर्व, अध्याय 64

परवर्त्तीकाल में विद्यालय मन्दिर से सम्बद्ध थे। ये मन्दिर आचार्यों ने आश्रम में बनवाए थे -**'तीर्थे चायतने पुण्ये सिद्धक्षेत्रे तथाश्रमे। कर्त्तुरायतनं विष्णोर्यथोक्तात् त्रिगुणं फलम्।।**[5] मन्दिरों में अध्यापन पुण्य कार्य समझा जाता था। आज भी धारानगरी में सरस्वती का मन्दिर है। यह महाराजा भोज के समय विविध विद्या का शिक्षण-स्थल था। ये सभी गुरुकुल वैदिक-शिक्षा के केन्द्र हुआ करते थे।

---

1. विष्णु पु. 3.10.12
2. मनु; 3.70
3. छा० उप० 2.23.1
4. मत्स्य पु० 26.1
5. अग्नि पु० 38.15

**विद्या ग्रहण करने वाले**

आचार्य योग्य शिष्य को ही शिक्षा देता था क्योंकि ये विद्यार्थी ही उनके यश को फैलाने वाले होते थे। रुचि के अनुसार ही विद्यार्थी को शिक्षा दी जाती थी एवं उसकी वृत्ति का निरीक्षण भी कर उसे शिष्य बनाया जाता था।[1] कुछ अधिक उम्रवाले भी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। गुरु के सानिध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण करनेवाले विद्यार्थी 'सतीर्थ्य' कहलाते थे।[2] जो विद्यार्थी गुरु के समक्ष नम्रता के साथ उपस्थित नहीं होता था, जो अपने विशिष्ट विषय के महत्त्व को नहीं समझता था, ऐसे शिष्य को स्वीकार नहीं किया जाता था (**नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूयां। उपसन्नाय तु विर्ब्रूयात्। यो बालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा।**)।[3]

विद्या ग्रहण करनेवाले विद्यार्थी की व्युत्पत्ति है - **विद्यामर्थयते ( विद्या + अर्थ + णिनिसुप्यजातौ ठिनिस्ताच्छील्ये )**।[4] विद्यार्थी के लिए उपनिषदों में प्रायः **'अन्तेवासी'** शब्द का प्रयोग मिलता है।[5] अन्तेवासी गुरु के दिनचर्या से सम्बद्ध था। वह गुरु की सेवा, सश्रुषा में लगा रहता था। अन्तेवासी की व्युत्पत्ति है - **अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छीलः ( अन्ते + वस् + णिनिपुनः शयवासवसिष्वकालात् से अलुक्।**[6] विद्यार्थी गुरु का शिष्य हुआ करता था, जो विद्यार्थी के अनुशासित आचरण को दर्शाता था। शिष्य का व्युत्पत्ति परक अर्थ है -**शासितुं योग्यः इति ( एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् से क्यप् प्रत्यय )**।[7] विद्यार्थी को छात्र भी कहते थे क्योंकि विद्यार्थी गुरु के दोषों का आवरण है (**छत्रं गुरोर्दोषाणामावरणं, तच्छीलमस्य**)। पाणिनी (4.4. 62) के अनुसार **छत्रादिभ्योः णः**। लम्बे समय तक साथ रहने के कारण गुरु के कुछ अवगुण छात्रों के समक्ष उपस्थित हो जाते थे। इन अवगुणों को ढ़कते हुए उनके गुणों एवं यश का प्रसार करने के कारण ये विद्यार्थी छात्र कहलाते थे। ईर्ष्याविहीन, विद्वेषरहित एवं निरभिमानी स्वभाव को व्यक्त करनेवाला यह छात्र शब्द आज सर्वाधिक प्रचलित है। कोई भी गुरु दोषदर्शी, असुयायुक्त, कुटिल, असंयमी एवं गुरु के प्रति विरोध करनेवाला शिष्य नहीं चाहता था। जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा गुरु का आदर नहीं करता, शास्त्र भी उनकी रक्षा नहीं करता। पवित्र,

---

1. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारी-काण्ड, 199
2. अष्टाध्यायी, 4.4.107 समानतीर्थेवासी।
3. निरुक्त 2.3
4. पाणिनि 3.2.78
5. तैतिरीय उप० 1.11; वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।
6. पाणिनि 6.3.109
7. वही, 3.1.109

अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचर्य सम्पन्न एवं गुरु के प्रति सदा आदरभाव वाले शिष्य की ही गुरु अपेक्षा करते थे।[1] विद्या के योग्य अधिकारी का लक्षण वेदान्तसार में वर्णित है-**अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जन पुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तो पासनानुष्ठानेननिर्गतनिखिल-कल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। तथा**

**प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्त कारिणे।**
**गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे।।** वेदान्तसार 5.8

वेदान्तसार में अधिकारी ब्रह्मज्ञान के साधनों को जानना चाहता है, अतः उसके लिए उसका चित्त प्रशान्त होना आवश्यक है और जितेन्द्रिय होना भी अपेक्षित है। तत्त्वज्ञान के अभ्यर्थी के लिए कामन्दक ने भी कहा है -''**शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः।।** महाकवि कालिदास ने विद्यार्थी के लिए विषयों का अभ्यास आवश्यक माना है-**विद्यामभ्यासेन।**

किसी भी शिष्य को अपनी अज्ञानता से गुरु को परिचित कराकर गुरु के प्रतिपूर्ण शरणागति धारण करना चाहिए -

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढ़चेताः।**
**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।**[2]

विद्या वैसे ही विद्यार्थी में अपने को सुरक्षित अनुभव करती थी। निरुक्त में वर्णित है-

**विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि।**
**असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथास्याम्।**
**अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।**
**तथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।**
**यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपन्नम्।**
**यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।।**

मनु ने भी कहा है -

**आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।**
**आप्तःशक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दशधर्मतः।।** मनु. 2.109

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 13.7, आचार्योपासनम्।
   वेदान्तसार, 2; गुरुनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।
2. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.7

अर्थात् आचार्यपुत्र सेवा करनेवाला, अन्य विषय की शिक्षा देनेवाला, धर्मात्मा, पवित्र, बांधव, ज्ञान के धारण करने में समर्थ, धन प्रदान करनेवाला, हिताभिलाषी और स्वजातीय इन दस विशेषताओं से युक्त छात्र गुरु द्वारा धर्मानुसार पढ़ाने योग्य थे। मनुवादी विचार-धारा का प्रसार प्राचीन शिक्षा पद्धति को संकीर्ण परिधियों में समेटने लगा था। सजातीयता एवं आर्थिक सम्पन्नता पर बल मनुवादी प्रवृत्तियों का द्योतक है।[1]

कठोपनिषद् में यम ने भी नचिकेता को उपदेश देने के पूर्व उसकी पात्रता की परीक्षा ली थी,[2] तभी यम ने नचिकेता को उपदेश दिया था। मत्स्य पुराण (35.19) में वर्णित है कि कच के शील एवं स्वभाव से सन्तुष्ट होकर ही शुक्र ने उसे अपना शिष्य बनाया था (**शीलादाक्षिण्यमाधुर्येराचारेण दमेन च।**)। सन्दीपनि मुनि ने भी कृष्ण एवं बलराम के आचरण से संतुष्ट होकर, उन्हें वेदशास्त्र का ज्ञान कराया।[3]

विद्यार्थी भिक्षा मांगता था, किन्तु स्वयं भिक्षा का अन्नग्रहण नहीं करता था। यह वृत्ति उसे निरभिमानी बनाता था। वैदिक युग के पश्चात् ब्रह्मचारियों के लिए सूत्र-ग्रन्थों एवं स्मृतियों में विस्तृत नियम बताये गये हैं जिनकी विस्तृत चर्चा ब्रह्मचर्य आश्रम में की गयी है। ब्रह्मचारी के स्वभाव का वर्णन महाभारत में भी विस्तार से मिलता है:-

**आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।**

**मृदुदान्तो धृतिमानप्रमतः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी।**[4]

आपस्तम्ब में भी विद्यार्थी के आचार-विचार एवं व्यवहारों पर प्रकाश डाला गया है -**"न प्रक्षेत नग्नांस्त्रियम्। ओषधिवनस्पतीनामाच्छिद्य नोपजिघ्रेत। उपानहौ छत्रयानमिति च वर्जयेत्। न स्मयेते। नोपजिघ्रेत् स्त्रियं मुखेन। न हृदयेन प्रार्थयेत। नाकारणादुपस्पृशेत्"॥**[5]

विद्यार्थी से क्षमाशील, जितेन्द्रिय, विनयी, परिश्रमशील, कर्तव्यपरायण, कर्मशील, आत्मजीत, क्रोधरहित, स्फूर्तियुक्त एवं ईष्यारहित होने की अपेक्षा रखी जाती थी। विद्यार्थियों के लिए त्याग एवं तपोमय जीवन आवश्यक था। महाभारत में कहा गया है-

---

1. मनु. 2.112, धर्मार्थो यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
   तत्र विद्या न वक्तव्या शुभंबीजमिवोपरे॥
2. कठोपनिषद् 1.1.20-29
3. विष्णु पु०, 5.21.23 विचिन्त्य तौ तदा मेने प्राप्तौ चन्द्रदिवाकरौ।
   सांगाश्च चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राणि चैव हि॥
4. महाभारत, आदि०, 86.2
5. आपस्त० 1.7.3-11

**'सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।**
**सुखार्थी वा त्यजेत्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्।।**

विद्यार्थियों के लिए विनय एवं आचार्य सेवा आवश्यक था। महाभारत में आरूणि के गुरु भक्ति का आदर्श वृतान्त प्रसिद्ध है। आचार्य सेवा न करनेवालों का फल महाभारत में निर्दिष्ट किया गया है –

**ऋतस्यदातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम्।**
**ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापॉल्लोकॉस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाम्।।**आदि पर्व 71.51

गुरु की सेवा में रत ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में करके तपोवृद्धि के लिए नियमों का पालन करता था–**'सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः।।**[1]

अग्नि की सेवा अर्थात् यज्ञ आर्यों की समस्त धार्मिक-क्रियाओं का प्रतीक या केन्द्र था। अतः 'अग्नीन्धनम्' भी ब्रह्मचारी का प्रमुख कर्त्तव्य था। उपनयन विद्यार्थियों के लिए प्रथम संस्कार था। इस संस्कार के लिए ब्रह्मचारी हाथ में समिधा (यज्ञ की लकड़ी) लेकर आता था, इसे **'प्रायणीया'** समिधा कहते हैं। इसी प्रकार विद्यार्थी जीवन के समावर्तन के अवसर पर जिस अन्तिम समिधा को ब्रह्मचारी आचार्य की अग्नि में डालता था, उसे **'उदयनीया'** समिधा कहते हैं। इन दोनों के बीच प्रतिदिन यज्ञ में डाली जानेवाली समिधा **'सत्र'** कहलाती है-**यो ब्रह्मचर्यमुपैति स यामुपयन् समिधमादधाति सा प्रायणीया या स्नास्यन् सा उदयनीया या अन्तरेण सत्र्या एवास्य ता।** (शतपथ II. 3.3.2) विवाह के पूर्व व्यक्ति की निजी धार्मिक-अग्नि नहीं होती थी, अतएव ब्रह्मचारी आचार्य की अग्नि में ही ये क्रियाएँ सम्पन्न करता था। गुरु ब्रह्मचारी की शिक्षा सावित्री मन्त्र से प्रारम्भ करता था। यह मन्त्र विद्यार्थी अपने स्मरण शक्ति के अनुसार एक वर्ष, छह माह, चौबीस दिन, बारह दिन अथवा तीन दिनों में सीखता था (**अथास्मै सावित्रीमन्वाह। तां हस्मैतां पुरा सम्वत्सरे...अथ षट्सु मासेषु...अथ चतुर्विंशत्यहे अथ द्वादशाहे...अथ त्र्यहे. ..सद्यो ह वा त्वाव ब्राह्मणायानुब्रुयाद् आग्नेयो वै ब्राह्मणः** – शतपथ XI 5.4. 1–17)।

श्रुतिकाल में ऐसी मान्यता थी कि 'विद्या' ब्राह्मण की निधि है, जिसकी रक्षा करना उसका पुनीत कर्त्तव्य है। उसकी रक्षा का एक मात्र उपाय था, उचित अधिकारी को चुनकर शिक्षा दिया जाय, अनाधिकारी को नहीं। निरुक्त में वर्णित है-

**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।**
**असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्य्यवती तथा स्याम्।।**

---

1. मनु 2.175

**यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।**
**यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्निति।।** 4.1.4।।

मनु स्मृति में भी अधिकारी को ही शिक्षा देने का निर्देश है।[1]

विद्याप्राप्ति के साथ-साथ ब्रह्मचारी को चार व्रतों का भी पालन करना होता था। ये व्रत थे-**महानाम्नीव्रत**, **महाव्रत**, **उपनिषद्व्रत** तथा **गोदानव्रत**। अन्य जगह इन्हें क्रमशः **शुक्रीम**, **साकर**, **व्रार्तिक** तथा **औपनिषद्** कहे गये हैं और कहीं गोदानिक, वार्तिक, आदित्य, ओपनिषद् एवं ज्येष्ठसामिक (पाँच नाम से) कहे गये हैं। सामान्यतः प्रत्येक व्रत एक वर्ष में सम्पन्न होता था। इसमें उपनयन के अवसर पर होनेवाली 'केशवपन' से लेकर 'परिदान' पर्यन्त विधियाँ दोहराई जाती थीं। आश्वलायन गृह्यसूत्र (I. 22.20) में वर्णित है - **एतेन वापनादिपरिदानान्तं व्रतादेशनं व्याख्यातम्।** ये विद्यार्थी अनेक प्रकार के थे। व्रतस्नातक, वेदस्नातक, वेदव्रत स्नातक। पारस्कर-गृह्यसूत्र (II.5/32.35) में वर्णित है-**त्रयः स्नातका भवन्ति विद्या स्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत स्नातक इति। समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्या स्नातकः। समाप्यव्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रत स्नातकः। उभयं समाप्य यः समावर्तते सविद्याव्रत स्नातक इति।** 'नैष्ठिक' 'ब्रह्मचारी भी होते थे जो बीच में ही विचलित होकर शिक्षा का त्याग कर घर लौट जाते थे। वैसे ये विद्यार्थी गुरुकुल में अधिक से अधिक 48 वर्ष एवं कम से कम 12 वर्ष तक गुरुकुल में रहकर वैदिक-शिक्षा ग्रहण करते थे।[2] इसकी विस्तृत-चर्चा आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य-आश्रम में की गयी है।

औपचारिक शिक्षा की समाप्ति समावर्तन संस्कार पर्यन्त होती थी। आचार्य को सन्तुष्ट कर देना ही शिक्षा की पूर्णता का एक मात्र आधार था। उस समय आज की भांति परीक्षाएँ नहीं होती थीं। विद्यार्थी शास्त्रार्थादि करते थे या आचार्य द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते थे। इसीलिए मनु ने कहा है-'**गुरुणानुमातः स्नात्वा समावृत्तः**।[3] समावर्तन संस्कार में मुख्य विधि थी स्नान।[4] स्नान किया हुआ व्यक्ति अपनी शिक्षा पूर्ण कर चुका होता था और स्नातक कहलाता था। स्नान किए हुए व्यक्ति को सूर्य के समान तेज वाला मानकर एक दिन किसी कमरे में बन्द रखा जाता था, जिससे

---

1. मनु० 2.110, नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नचान्यायेन पृच्छतः।
   नानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।।
2. गोपथ ब्रा० 11.5, अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेद ब्रह्मचर्यं तच्चतुर्धा वेदेषु व्युह्य
   द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादशवर्षाण्यवरार्धमि स्नास्यंश्चरेद् यथाशक्ति।
3. मनु० 111. 4
4. 'स्नान' एवं 'आप्लवन' बहुधा समावर्तन के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

स्नातक के तेज के समक्ष सूर्य का तेज कम न पड़ जाए। भारद्वाज-गृह्यसूत्र (11. 1-8) में वर्णित है-**एतदहःस्नाताना ह वा एष एतत्तेजसा तपति, तस्मादेनमेत-दहर्नाभिपेत्।** स्नान सुवासित जल से होता था जो सांसारिक भोगों के प्रारम्भ का द्योतक था। अभी तक ब्रह्मचारी पर जो प्रतिबन्ध थे, वे उनके शैक्षणिक एकाग्रता को बनाए रखने के लिए थे।

**शिक्षा प्रदान करने वाला**

वैदिक शिक्षण-विधि में शिक्षा देनेवाले को सामान्यतः आचार्य कहते थे। आचार्य आचार सीखानेवाला होता है। छात्रोपयोगी विषयों को छात्रों में सम्प्रेषित करता है। छात्र की बुद्धि के विकास में आचार्य सहायक होता है। निरुक्त (1.4) में वर्णित है :-

**आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति।**

**आचिनोत्यर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा।।**

अथर्ववेद में आचार्य उनको बताया गया है, जो सदाचार बताता है और छात्रों को जितेन्द्रिय होने की शिक्षा देता है **(आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।)**[1] भारतीय दृष्टिकोण में आचार्यों द्वारा विद्यार्थी का चरित्र-निर्माण करना आचार्य का प्रथम कर्त्तव्य था। पञ्चतंत्र में वर्णित है-**अतीत्यबंधूनवलंघ्यशिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्य दोषः।** इसी प्रकार गौ. ध. सू. कहता है-**आचार्याधीनो भवति अन्यत्राधर्माचरणात्।**

वैदिक शिक्षण-विधि में देवताओं के व्यक्तित्व के अनुरूप आचार्य का व्यक्तित्व होता था। अथर्ववेद में एक अत्यन्त सुन्दर उक्ति द्वारा आचार्य को अनुशासनप्रिय होने के कारण यम, न्यायपूर्ण आचरण के कारण वरुण और विद्यार्थियों के लिए शील-सम्पन्न एवं आह्लादक होने के कारण सोम बताया गया है **(आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः)**[2]। विविध विद्या में पारङ्गत, ज्ञान-विज्ञान का भंडार एवं अध्यापन विधि में निष्णात् आचार्य '**वाचस्पति**' कहलाते थे अथर्ववेद में वर्णित है -**पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।।**[3] **एवं वाचस्पतिर्भि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।।**[4] ये वैदिक साहित्य में प्रायः व्रत संस्थापक, बुद्धिवर्द्धक, तमस-नाशक, चेतनाप्रदायक रूप में वर्णित हैं। ये देवताओं के समान

---

1. अथर्व. 11.5.17
2. वही, 11.5.14
3 वही, 1.1.2
4. वही, 1.1.3

आत्मगुणों से संवलित होते थे। ये मन्त्रद्रष्टा एवं कवि होते थे। ऋग्वेद में कहा गया है - **तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥**[1]

आचार्य का तत्कालीन समाज में बहुत आदर था। गुणवैशिष्ट्य के कारण आचार्य को ब्रह्म समान माना गया था (**आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः॥**)[2]।

प्रथम आचार्य पिता ही होता था। ऋषि भी स्वयं ही अपने पुत्रों को पढ़ाते थे। पुत्र के साथ अनेक ग्रामीण बालक भी वहाँ आकर पढ़ते थे। वह ऋषि न केवल अपने पुत्र अपितु सम्पूर्ण बच्चों का पिता माना जाता था। ऐसी अवधारणा के कारण ही अथर्ववेद में वर्णित है-

**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।**
**तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥**[3]

इसी प्रकार आचार्य को माता के रूप में भी सिद्ध किया गया है, क्योंकि शिष्यों को पुत्रवद् आचार्यों के नाम से भी जाना जाता था। सौन्दरनन्द (1.23) में कहा गया है-

**एक पित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात्।**
**राम एवाभवत् गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः॥**

आचार्य का स्वयं का जीवन भी ब्रह्मचारी के समान तपोमय था।[4]

आचार्य का कर्त्तव्य अन्तेवासी (गुरुकुल के विद्यार्थी) के व्यक्तित्व को संवारना था, आचार्य के इस भाव को **'आचार्यस्ततक्ष'** कहते थे। ये आचार्य वेद एवं वेदाङ्गों का अध्यापन करते थे। मनुस्मृति में वर्णित है-

**उपनीयतु यः शिष्य वेदमध्यापयेद् द्विजः।**
**संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥**[5]

व्यास ने भी आचार्य के लिए आचार संहिता बनायी थी। उनके अनुसार आचार्य के लिए श्रोत्रिय, पवित्र, वेदशाखीय एवं कुलीन होना आवश्यक था (**वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियंशुचिम्। स्वशाखाज्ञमनालस्यं विप्रं कर्तारमीप्सितम्॥**)।

उपनिषद् काल में आचार्य विद्वान्, निस्पृह, त्यागी, तपःशील, भौतिक सुख के

---

1. ऋग्वेद, 3.8.4
2. मनु. 2.226
3. अथर्व. 11.5.3
4. वही. 11.5.3
5. मनु. 2.140

प्रति विरागी हुआ करते थे और विकट समय में भी शिष्य को शिक्षा देते थे। वस्तुतः उनके सम्मुख आये शिष्य उनके अतिथि थे एवं शिष्य के लिए आचार्य देवता के समान थे। ये आचार्य अपने विषय के पूर्ण ज्ञानी होते थे (**नैषा मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तानि एव सुज्ञाताय प्रेष्ठ।**)[1]। उन्हें आशु, पण्डित, प्रवक्ता, रोचक-कथाओं में दक्ष, प्रतिभावान् होना चाहिए (**प्रवृत्तवाक् चित्रकथः उहवान् प्रतिभावान्। आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः पण्डित उच्यते।।**[2])। प्रश्नोनिषद् में एक रोचक वृतान्त है-**नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परितुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नाहम्यिनृतं वक्तुम्**।। 6.1।। इस प्रसंङ्ग में सुकेशा भारद्वाज से कौशल्य राजपुत्र ने सोलह कलाओं से युक्त पुरुष के विषय में पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया कि मैं तुम्हारे प्रश्न को नहीं जानता। अगर जानता होता तो भला क्यों नहीं बताता। जो असत्य बोलता है, वह समूल सूख जाता है। इसलिए तुमसे असत्य नहीं कह सकता। वस्तुतः आचार्य के लिए परमावश्यक था कि वह चरित्रवान् हो, ताकि वह अपना उदाहरण अपने अन्तेवासी के समक्ष अनुकरणीय आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर सके। मनु का कहना है कि अपने मन एवं इन्द्रियों पर संयम रखकर शास्त्र की मर्यादापूर्वक आचरण करने वाला विप्र यदि (पाण्डित्य के नाम पर) गायत्री मन्त्र को ही जानने वाला हो, तो वह अच्छा है, किन्तु तीनों वेदों को जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि सभी भक्ष्य-अभक्ष्य को खाने वाला एवं जिस किसी भी वस्तु को बेचकर धन बटोरनेवाला हो, जिसका आचरण संयमपूर्ण नहीं हो, तो अच्छा नहीं है (**सावित्रीमात्त-सारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः नायन्त्रितस्त्रिवेदोपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।**)[3] तैतिरीय उपनिषद् में भी आचार्य के आचरण का विवरण प्राप्त होता है-

**यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।**

**यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।। शिक्षावल्ली**

यास्क के अनुसार 'आचार्य' शब्द की दूसरी व्याख्या है- ज्ञान के विषयों को विद्यार्थी के मस्तिष्क में सम्प्रेषित कर उसको समृद्ध एवं विस्तृत ज्ञान देना। 'मालविकाग्निमित्रम्' में कहा गया है कि गुरु की विशेष कुशलता होती थी, कि जब वह छात्र के मस्तिष्क में ज्ञान का मंत्र फूँक सकने में समर्थ हो (**उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः। श्यामायते न युष्मासु या काञ्चनमिवाग्निषु।।**)[4]।

---

1. कठो. 11.9
   मु. उ. 1.2.3, तद्विज्ञानाय गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।
2. महाभारत, 5.33.33
3. मनु. II. 118.
4. मालविका., 2.9

तैत्तिरीयोपनिषद् में गुरु की कामना है कि वह अपनी ज्ञान राशि को अधिक से अधिक ब्रह्मचारियों तक पहुँचा सके। वर्णित है-**यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः।** कूर्मपुराण में वर्णित है-**संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानमनिदिशन्। हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरुः।।** आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहता है कि यदि आचार्य अपने ज्ञान को नहीं बांटता तो वह आचार्य नहीं है।[1]

तैतिरीय उपनिषद् में आचार्य के कर्त्तव्य का वर्णन इस प्रकार है - **ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। आतिथ्यश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजापतिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टि। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौदगल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।**[2] अर्थात् वह उचित एवं अनुचित का विचार कर, सत्य, तपस्वी, संयमी होकर स्वाध्यायकरे एवं प्रवचन करे आदि...। कालिदास का भी मानना है कि शिक्षकों का कर्त्तव्य अपने पाण्डित्य एवं ज्ञान से शिष्य को लाभान्वित करना है। वही शिक्षक शिष्ट-क्रिया युक्त, साधु चित्तवाला है (**शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता। यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।**)।[3]

आचार्य के लिए गरिमामय व्यवहार अपेक्षित था। वह चारपाई पर या लेटे हुए अध्ययन करे। वह माला या अनुलेप द्वारा शरीर का अलंकरण न करे। भीड़ भाड़ एवं हीन व्यक्तियों से दूर रहना, तैर कर नदी न पार करना, इधर उधर गंदगी न फैलाना), आचार्य का उत्तम व्यवहार माना जाता था। वह पढ़ने की दीक्षा लेने आये ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता था।[4] अर्थात् वह ज्ञान गर्भ के किसी भी ज्ञान से ब्रह्मचारी को निराश नहीं करता था।

मनु ने शिक्षा देने वालों की तीन श्रेणियाँ बतायी हैं। पहली श्रेणी आचार्य की थी। आचार्य उपनयन संस्कारोपरांत सम्पूर्ण वेदों एवं वेदान्त की शिक्षा देते थे (**उपनीय यः तु शिष्यं वेदमध्यापयेनद्विजः संकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते।।**)[5]।

---

1. आप. ध. सू. 12.8.27
2. तै. उ., 1.9.1
3. मालविका, 1.16
4. महाभारत, उद्योग पर्व, 44.6 आचार्य योनिमिह प्रविश्य भूत्वागर्भे ब्रह्मचर्य चरन्ति। इहैवतै शास्त्रकाराः भवन्ति।
5. मनु. II. 140.

द्वितीय-श्रेणी में उपाध्याय आते थे। इन्हें विषय-विशेष की जानकारी होती थी और जिन्हें उस विशिष्ट विषय को ग्रहण करने की इच्छा होती थी, वही उपाध्याय से शिक्षा ग्रहण करने आते थे।[1] वैसे ब्रह्मचारी जो पूर्व ही उपनयन करवा चुके थे एवं आजीविका हेतु किसी विशेष वेद या वेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहते थे वे उपाध्याय से शिक्षा लेते थे।[2] सम्भवतः उपाध्याय उन ब्रह्मचारियों से शुल्क भी ग्रहण करते थे, जबकि आचार्य ब्रह्मचारियों को निःशुल्क शिक्षा देते थे (**एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥**)।[3] पतञ्जलि ने महाभाष्य में '**खण्डिकोपाध्याय**' का उल्लेख किया है जो प्रारंभिक कक्षाओं के शिक्षक थे। वेतन पाने वाले शिक्षक को **मासिक अध्यापक** कहा जाता था। जो छह माह या सलाना वेतन लेते थे उन्हें क्रमशः **षाण्मासिक** एवं **सांवत्सरिक अध्यापक** कहते थे। तृतीय-श्रेणी में गुरु आते थे। गुरु संभवतः पिता भी हो सकते थे। निषेक आदि (उपनयन आदि) कर्म जो करवाकर विद्यार्थी से अन्न ग्रहण कर परिवार का भरण-पोषण करता था, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता था (**निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।**)।[4] गुरु सामान्यतः गृहस्थ होते थे। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति भी अनेक धातुओं से बतायी गयी है :-

1. **गृ निगरणे तुदादि :- गिरति गिलति अज्ञानान्धकारम् इति गुरुः।** अर्थात् जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करनेवाला है वह गुरु है।
2. **गृ सेचने भ्वादि :- गरति सिंचति ज्ञानवारिणा शिष्यहृदय क्षेत्रम् इति। गिरति सिंचति कर्णयोर्ज्ञानामृतम् इति गुरुः।** अर्थात् जो शिष्य के हृदय में ज्ञान का सागर भरने वाला है, या कानों में ज्ञानामृत देता है वह गुरु है।
3. **गृ विज्ञाने चुरादि :- गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यमिति। गारयते बोधयति वेदशास्त्रादीनि आत्मतत्त्वादिकं वा।** अर्थात् शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने वाला अथवा वेद एवं वेदाङ्गों में वर्णित आत्म-तत्त्वों को बताने वाला गुरु कहलाता है।
4. **गृ शब्दे क्र्यादि :- गृणादि उपादिशति धर्मं ज्ञानं भक्तिं चेति गुरुः** अर्थात् धर्म ज्ञान एवं भक्ति का उपदेश देने वाला गुरु है।
5. **गुरी उद्यमने :- गुरते सत्पथे प्रवर्तयति शिष्यम् इति गुरुः।** अर्थात् जो शिष्य को सन्मार्ग पर प्रवृत्त करता है, वह गुरु है।

---

1. महाभाष्य 3.3.20, वा. 1; उपेत्याधीयतेऽस्मादुपाध्यायः।
2. भागवत पु., न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम्।
3. मनु. II. 141.
4. वही, II. 142.

6. **गृ स्तुतौ :- गीर्य्यते स्तूयते महत्त्वाद् इति गुरुः।** अर्थात् जो विशिष्ट रूप से स्तुत्य है वह गुरु है।

इसके अतिरिक्त गुरुगीता (19) में वर्णित है - **गु शब्दस्त्वन्धकारे स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधके। अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥** अर्थात् 'गु' शब्द अन्धकार के लिए प्रयुक्त होता है एवं 'रु' शब्द उसका निरोध है। अतः अन्धकार को दूर करनेवाला गुरु जाना जाता है। तन्त्रसार के अनुसार गुरु की व्युत्पत्ति है - **'गकारः सिद्धिदः प्रोक्तः रेफ पापस्य हारकः। उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरु परः॥'** गुरु एवं उपाध्याय में अन्तर यह था कि उपाध्याय के पास आस-पास के गाँव के लोग आकर पढ़ते थे, जबकि गुरु के पास दूर-दूर से लोग पढ़ने आते थे। उपाध्याय एवं गुरु में एक मौलिक भेद भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार यह भी है कि उपाध्याय वेद-वेदाङ्ग जैसे मौलिक विषयों को पढ़ाते थे, जबकि गुरु या आचार्य प्रायोगिक विषयों को भी (**धनुषिशिक्षते।** - महाभाष्य 1.3.2)।

गुरु शिष्यों का आत्मनिरीक्षण भी करता है और उनकी कुप्रवृत्तियों को संयमित करके धार्मिक पथ की ओर प्रेरित करता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त होता है - **'त्रयाः प्रजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः। द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति...।**[1] कथा है देवता, मनुष्य एवं असुर अपने पिता प्रजापति के समीप अध्ययन करते थे। अध्ययन समाप्ति पर उन्होंने प्रजापति से उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने तीनों को 'द' अक्षर का उपदेश दिया। देवों ने अपनी विलासी प्रवृत्ति का निरीक्षण कर अपनी त्रुटि अनुसार द का अर्थ इन्द्रियों का दमन समझा। मनुष्यों ने लोभ एवं संग्रहण की प्रवृत्ति जैसी मानवीय दुर्बलता के कारण 'द' को 'दान' अर्थ में ग्रहण किया, जबकि क्रूर एवं हिंसक प्रवृत्ति वाले असुरों ने 'द' का अर्थ दया माना।

कालान्तर में शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी, ऐसे में हजार, दस हजार विद्यार्थियों के वस्त्र, भोजन एवं आवास की व्यवस्था होने लगी और व्यवस्थापक को **'कुलपति'** कहा जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में गुरु की एक और श्रेणी की चर्चा है - **स यदि तं चरकेभ्यो वा यतो वानूब्रूवीत।**[2] यह श्रेणी **'चरक'** कहलाती थी। **'चरक'** (चर) सम्भवतः घूम-घूम कर शिक्षा देते थे। शिक्षक की एक अन्य श्रेणी **'श्रोत्रिय'** कहलाती थी। यह वेद की शाखाओं को कण्ठस्थ कर छात्रों को दीक्षा देते थे। मुण्डकोपनिषद् में श्रोत्रिय की चर्चा है- **तद्विज्ञानाय गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।** श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होते थे। वह अध्यापक जो 'प्रोक्त' साहित्य की

---

1. बृहदारण्यक., 5.2
2. शतपथ ब्राह्मण 4.2.4.1

शिक्षा देता था, वह **'प्रवक्ता'** या **'अख्याता'** कहलाता था। प्रोक्त शाखाग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ और श्रौतसूत्र कहलाते थे। कुलार्णतन्त्र में गुरु के छः रूप बताए गये हैं **प्रेरक, सूचक,, वाचक, दर्शक, शिक्षक एवं बोधक।**[1]

गुरु को विद्वान् होना आवश्यक था, क्योंकि जो गुरु तथ्य को न जानकर भी जानने का ढोंग करता था, अनृत अर्थात् झूठ कथन करता था, वह समूल अर्थात् धन पुत्रादि सहित नष्ट हो जाता था (**कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति...**)[2] उसी प्रकार जो गुरु अपने शिष्य का ज्ञान अधूरा छोड़कर हट जाता। उसका समावर्तन-संस्कार नहीं करता था, वह निन्दनीय था। जैसा कि जाबाल की पत्नी ने जाबाल की भर्त्सना उसके शिष्य उपकोसल एवं कामलायन के समावर्तन संस्कार न करने पर की थी।[3] गुरु बिना परीक्षा के विद्यार्थी का उपनयन नहीं कराता था, न पढ़ाता था और न यज्ञ कराता था (**नापरीक्षितं याजयेत् नाध्यापयेत् नोपनयेत्। धर्मार्थौ यत्र न स्यातं शुश्रुषा वापि तद्विधा न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।।**)[4]। वाल्मीकि ने भी बिना मेधा को देखे वेद की शिक्षा न देने की सलाह दी है–

**स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ।**
**वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः।।**[5]

मनुस्मृति के अनुसार धर्म एवं अर्थ से रहित, सेवा भाव विहीन अपात्र शिष्य को विद्यादान नहीं करना चाहिए -

**धर्मार्थौ यत्र न स्यातं शुश्रुषा वापि तद्विधा।**
**तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।।**
**विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना।**
**आपद्यापि हि घोरायां न त्वेनामिरेणे वपेत्।।**

मनु. 2/112-113

मनु ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि आचार्य का व्यवहार शिष्य के प्रति कठोर न हो। वह अहिंसा पूर्वक अनुशासन से ही शिष्य को नियंत्रित करे, शिष्य के कल्याण के लिए उपदेश दे और स्निग्ध वाणी का उपदेश करे। (**अहिंसयैव भूतानां**

---

1. कुलार्णतन्त्र, 13; प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा।
   शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः।।
2. प्रश्नोपनिषद् 6.1
3. छान्दो., 4.10.2
4. विष्णु स्मृति, अध्याय-29
5. वा. रामा., 1.4.6

**कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।। 112. 159 )**। वायुपुराण के अनुसार गुरु में कुछ गुण अनिवार्य हैं - **वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते।।**[1] अर्थात् अनुभव, निर्लोभता, आत्मज्ञान, अहंकारराहित्य, विनम्रता तथा सरलता आचार्य के लिए आवश्यक गुण हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण में गुरु को वेद एवं वेदाङ्गों में पारंगत होना तथा शिक्षण-कार्य में दक्ष होना आवश्यक माना गया है। साथ ही, उसे शांत चित्त वाला एवं तत्त्वज्ञान युक्त होना भी आवश्यक समझा गया है-**तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशयाश्रयम्।।**[2]

वस्तुतः आचार्य का कर्त्तव्य था कि वह शिष्य के विद्याध्ययन के साथ-साथ उसके खाने-पीने एवं पोशाक आदि आवश्यक आवश्यकताओं का प्रबन्ध करे। इसकी विस्तृत-चर्चा बृहत्पराशरस्मृति में हुई है-

**गृहं वा मठिकं वाऽपि शयनाऽऽसन विष्ठरम्। दत्वा च कशिपुं विद्वान् विप्रान् यः पाठयेन्नरः। महीदानादिकं व्यास। विद्यादानं शताधिकम्। विद्यार्थिनां च विप्राणां पादाभ्याङ्गमुपानहौ।। यो ददाति द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मलोकं स गच्छति। आदावारभ्य वेदांस्तु शास्त्रं वान्यतमं द्विजः।**[3]

समाज में शिक्षकों का आदर-सम्मान बहुत था, लोग गुरु को देवता के समान मानते थे - **'आचार्य देवोभव'** (तैत्तिरीयोपनिषद्)। अथर्ववेद में गुरु को तरूण, सोम, ओषध आदि कहा गया है-**आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्।। अथर्व० 11.5.14।।** उन्हें गीता में सम्पूर्ण जड़चेतन के पिता के रूप में दर्शाया गया है- **पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।।11.43**

गुरु के सन्दर्भ में मनुस्मृति में बहुत ही विरोधाभास है। मनुस्मृति (2.238) में वर्णित है कि श्रद्धापूर्वक नीच से भी विद्या ग्रहण करनी चाहिए (**श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि**)। वहीं (2.242) में कहा गया है- **अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः।** अर्थात् जो ब्राह्मण नहीं है उससे अत्यन्त आपत्काल में ही पढ़ने का प्रावधान बताया गया है और साथ ही उस गुरु की सेवा-सुश्रूषा भी जब-तक पढ़ता रहे, तब-तक ही करे। ये उक्तियाँ मनुवादी विचारधारा की ओर इंगित करती हैं एवं सामाजिक असमानता की द्योतक हैं, क्योंकि

---

1. वायु पु, 1.59.29
2. श्रीमद्भागवत पु., 11.3.21
3. वृहत्पराशर स्मृति, 10.223-225

आगे (3.156) में मनु ने कहा है-**शूद्र शिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्ड गोलकौ॥ उतरार्द्ध**॥ अर्थात् शूद्र के शिष्य एवं शूद्र के गुरु देवकार्य एवं श्राद्ध-कार्य में वर्जित हैं।

### गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु एवं शिष्य का अत्यन्त पुनीत संबंध था। महाभारत का शांतिपर्व गुरुशिष्य संबंधों के औचित्य पर प्रकाश डालता है -

**न बिना ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।**
**न बिना गुरुसंबंध ज्ञानस्यधिगमः स्मृतः॥**
**गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।**
**विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्॥** 326.22-23

अर्थात् ज्ञान-विज्ञान के बिना परमपुरुषार्थ की प्राप्ति संभव नहीं है एवं ज्ञान का अधिगम गुरु के बिना संभव नहीं है। प्रायः छात्र उत्साही एवं प्रखर बुद्धि वाले गुरु से ही शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। दोनों का संबंध पिता के समान था (**तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्यत्कतमच्चनाह।**)[1] गुरु भी जिसे उपयुक्त समझता था, उसे ही विद्या देता था। मनु स्मृति (2.114-115) में वर्णित है- **विद्ययैव समं कामं कर्तव्यं ब्रह्मवादिना। आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्।**[2] अर्थात् किसी को बिना पढ़ाये ही मरना भला है, परन्तु घोर आपत्ति में भी इसे घोर उसर में न बोवें अर्थात् कुपात्र को न पढ़ाये क्योंकि यह वृतान्त है कि विद्या ने किसी ब्राह्मण से आकर कहा है कि 'मैं तेरा खजाना हूँ। मेरी रक्षा करो। मेरी निन्दा करनेवाले को मुझे मत दो, इससे ही मैं वीर्यवती होऊँगी।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् में एक वृतान्त है जब याज्ञवल्क्य ने विदेह-शासक जनक को 'ब्रह्मज्ञान' की शिक्षा दी, तो अनुगृहीत होकर जनक ने कहा, आपको नमस्कार। समस्त विदेह और मैं आपका ही हूँ।[4] यह आदर सूचक भाव गुरु के समीप आता था (**स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**)[5] ज्ञान ग्रहण की अवधि में शिष्य गुरु की निष्कपट सेवा करता था।[6] शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन, परिचर्या, सेवा, भिक्षाटन, गुरु का पशुचारण, समिधा

---

1. निरुक्त 2.4 एवं महाभारत, उद्योग पर्व. 44.6.20
2. मनु. 2.113
3. मनु. 2.114 विद्याब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।
   असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ 9. मुण्डको., 3.2.10
4. बृ. उ. 4.2.4
5. मुण्डक. 1.2.12
6. शतपथ ब्रा. 11.5.4.1...17

हरणादि करता था। गुरु की इच्छा रहती थी कि सभी दिशाओं से शिष्य आएँ, किन्तु मुझसे द्रोह न करें।[1]

गुरु-शिष्य के बीच का संबंध पूज्य-पूजक संबंध कहा जा सकता है क्योंकि गुरु के प्रति शिष्य अत्यन्त विनम्र एवं श्रद्धा से युक्त होता था। गुरु के प्रति ऐसा भाव होने पर ही शिष्य को विद्या दान देने की बात कही गयी है। नचिकेता ने यमराज से विनम्र होकर ही विभिन्न ज्ञान को बताने की याचना की थी (**प्रब्रूहि तं श्रद्धानाय मह्यम्।**)।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् (6.23) में श्रद्धा एवं भक्ति के कारण ही गुरु को ईश्वर सदृश माना गया है (**...यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ**)। यहाँ तक कि गुरु को ही सृष्टि का पालनकर्त्ता, स्रष्टा एवं संहर्त्ता माना गया है—

**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।**
**गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**
**अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥**

शिष्य की यह कामना होती थी कि जैसे-जैसे मैं यशस्वी और ब्रह्मतेजस् होऊँ वैसे-वैसे गुरु की भी ख्याति बढ़े (**सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्**)।[3] गुरु-शिष्य के बीच साथ-साथ कार्य करने की भावना उनके बीच समभाव को व्यक्त करती है (**सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।**)।[4]

प्राचीन काल से ही भारत में विद्या-वंश की परम्परा चली आ रही है- **'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च।'** गुरुकुल में शिष्य परिवार के सदस्य की भांति होता था और गुरु गुरुकुल का कुलपति (अध्यक्ष) होता था। अतः मनु (2.144) में गुरु को पिता माना गया है (**य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ। स माता स पिता ज्ञेयस्तं न दुह्येत्कदाचन॥**)। अथर्ववेद में कहा गया है आचार्य अपने समीप लाये गये शिष्य को तीन रात्रि तक अपने उदर में रखता है।[5] कहा गया है कि शिष्य का शरीर उसके माता-पिता देते हैं जबकि शिष्य में विद्या का जनक गुरु ही है (**स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः**)।[6] गुरु में पिता की भावना रहने के कारण ही पिता को भी गुरु नाम से अभिहित किया जाता था।

1. तैत्तिरीयोप. 1.4.2 अमायन्तु ब्रह्मचारिणः।
2. कठोप., 1.13
3. तैत्तिरीय उप., 1.3.1
4. कठो., 6.19
5. अथर्व. 11.5.3
6. आप. ध. सू. 1.1.1.16....18

## शिक्षण-शुल्क

प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य के बीच पिता-पुत्र, पूज्य-पूजक संबंध होने के कारण गुरु शिष्यों से कोई शुल्क नहीं लेते थे। शिष्य भी गुरु को पिता एवं उनके परिवार को अपने परिवार की तरह समझकर गुरु एवं उनके परिवार की सेवा सुश्रूषा करते थे। शिक्षा समाप्ति पर्यन्त ही शिष्य यथा-शक्ति गुरु-दक्षिणा देते थे।[1] गुरु वह दक्षिणा स्वीकार कर भी सकते थे और नहीं भी। किन्तु उपाध्याय की परिभाषा में स्पष्ट निर्देश है कि ऐसे अध्यापक वेतन लेते थे। वे अध्यापन कार्य वृत्ति के लिए ही करते थे।[2] इसी कारण से इनकी कोटि वेतन न लेने वाले आचार्य से निम्न मानी जाती थी। इन भृतकाध्यापकों को निन्दित माना जाता था। इनको वेतन देने वाले छात्रों की भी निन्दनीय स्थिति थी। (**भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापिकस्तथा**)।[3] इनसे पढ़ना उपपातक माना गया है।[4] किन्तु आपत् काल में सशुल्क शिक्षा देना निन्दित नहीं था (**कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः। सेवा नृपं नृपौ भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु॥**)[5]।

सक्षम विद्यार्थियों की यह इच्छा रहती थी कि शिक्षा समाप्ति उपरान्त आचार्य को गुरुदक्षिणा देकर ही लौटे। विष्णु पुराण (3.10.13) में वर्णित है–**गृहीत विद्यो गुरवे दत्वा च गुरु दक्षिणाम्**)। कृष्ण एवं बलराम द्वारा गुरुदक्षिणा दिए जाने का भी उल्लेख मिलता है (**उचुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा**)।[6] महाभारत काल में आचार्यों को शिष्य के अभिभावकों की ओर से आवास एवं प्रचुर धन-धान्य दिए जाने का भी विवरण मिलता है।[7] यह विवरण उनके मासिक वेतन की पुष्टि तो नहीं करता, किन्तु उनके भरण-पोषण एवं आवास की व्यवस्था का प्रमाण है। आज भी यह व्यवस्था भारतीय-ग्रामों में देखने को मिलती है।

राज्य सेवा में रत रहते हुए शिक्षण-कार्य करने वाले आचार्यों को राज्य की ओर से वेतन मिलता था (**वेतनदानेन**)।[8] राज्य सेवा में रत अध्यापक की अपेक्षा सामान्य

---

1. आप. ध. सू. 1.2.7.19-23, गौतम ध. सू. 2.54-55
2. मनु. 2.141 शंख स्मृति 3.2
3. मनु. 3.156
4. वही, 11.62 एवं
   महाभारत, अनुशासन पर्व 10.74 सत्यानृतेन हि कृत उपदेशी हिनस्ति हि।
5. याज्ञ. स्मृति 3.42
   मनु. स्मृति 10.116; विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
   धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥
6. विष्णु पु., 5.21.4
7. महाभा., आदि., 133. 2-3
8. मालविका., पृ. 17, अध्याय-1

आचार्यों से ही समाज का शिक्षण-कार्य पूर्ण होता था क्योंकि पहली बात इनकी संख्या समाज में अधिक थी एवं गे वेतन भी नहीं लेते थे, विद्या को बेचना अपमानजनक समझते थे। विद्या को बेचने वाले वणिक् कहलाते थे (**यस्यागमः वेतन जीविकार्थ तं ज्ञानपण्यं वणिजं ददन्ति**)।[1] यही कारण था कि शिष्य कौत्स द्वारा आचार्य कौत्स को बार-बार गुरु दक्षिणा देने का आग्रह करने पर वे गुस्सा हो गये और निर्धन कौत्स से चौदह करोड़ धन की माँग कर दी (रघुवंश पाँचवां अध्याय)। बृहदारण्यक उपनिषद् (4.1.2) भी गुरु दक्षिणा की बात स्वीकार करते हैं, किन्तु बिना पूरी तरह शिक्षा प्रदान किए हुए गुरु-दक्षिणा लेना अनुचित माना जाता था। (**हस्त्यृषभं सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति**)। वस्तुतः गुरु-दक्षिणा गुरु के प्रति आदर एवं श्रद्धा का प्रतीक था, जो कालान्तर में प्रचलन बन गया था। ब्राह्मणों के पास जो भी जमीन या गाँव था, वह उन्हें गुरु-दक्षिणा में क्षत्रियों अथवा शूद्रों से प्राप्त हुआ था। अपरार्क ने लिखा है कि गुरु को ब्राह्मण गाय दान में दें, राजन्य एवं क्षत्रिय गाँव दान में दें एवं वैश्य घोड़े दान में दें।

आचार्यों को गुरुदक्षिणा के अलावा समय-समय पर दानादि भी प्राप्त हुआ करता था। मत्स्य पुराण (69.25-27) में वर्णित है-'**पूजयेदंगुलीभिश्च कटकैर्हेमसूत्रकैः वसोभिः... उपाध्यायस्य च द्विगुणम्**'। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भीम द्वादशी के दिन उपाध्याय को अँगूठी, कटक, सुवर्णसूत्र, सुवस्त्रादि देने की प्रथा थी। आचार्य को पौरोहित्य करने का भी अधिकार प्राप्त था, जिससे इनकी आमदनी दोगुनी हो जाती थी। आचार्य को गुरु-दक्षिणा भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और वस्त्र के रूप में प्रदान किया जाता था (**क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्। धान्यं शाकं वासांसि गुरवे प्रतिमावहेत्।। मनुस्मृति**)।

वस्तुतः आर्य शिक्षण-पद्धति निःशुल्क थी। सामर्थ्यानुसार ब्रह्मचारी या उनके अभिभावक आचार्य को शिक्षा समाप्ति पर्यन्त गुरुदक्षिणा दे दिया करते थे, जो गुरु के प्रति श्रद्धा का प्रतीक था। यह आवश्यक नहीं, अपितु ऐच्छिक ही कहा जा सकता है, क्योंकि शिक्षा का व्यापार अतिनिन्दित था।

## पाठ्यक्रम

भारतीय संस्कृति में वेद अपौरुषेय है एवं इन वेदों को 'श्रुति' माना गया है। प्रारम्भिक वैदिक युग में ऋग्वेद के मंत्रों एवं सूक्तों का अध्ययन, अध्यापन एवं मनन होता था क्योंकि 'मन्त्रो मननात्... यास्क की यह उक्ति प्रसिद्ध है। ऋषिगण मंत्रों के अर्थ एवं वाक् का अध्ययन कर सूक्तों का निर्माण करते थे। उनके मुख

1. मालविका., 1.17

से निकलने वाली वाणियाँ सूक्त होती थीं, जो विभिन्न देवताओं के प्रति समर्पित होती थीं। सूक्तों को कण्ठस्थ करने की ही शिष्य-परम्परा प्रारम्भ में थी। यह गुरु-शिष्य परम्परा मौखिक ज्ञान के आधार पर चलती रही होगी, किन्तु कालान्तर में सूक्तों की संख्या बढ़ जाने के कारण इनको कण्ठाग्र रख पाना संभव नहीं रहा। अतएव ऋग्वेद के लिखित रूप प्राप्त होने लगे। गुरु-शिष्य परम्परा के कारण कालान्तर में भिन्न-भिन्न शाखाओं द्वारा लिखे गये ऋग्वेद के अनेक स्वरूप प्राप्त होने लगे। प्रत्येक शाखाओं के मंत्र-पाठ एवं धार्मिक अनुष्ठान भिन्न थे।

उत्तरवैदिक काल में अथर्ववेद के साथ उपनिषद् साहित्य ब्राह्मण एवं आरण्यक पाठ्यक्रम में सम्मिलित हो गये। बाद में वेदाङ्ग भी पढ़ाया जाने लगा, क्योंकि शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया। प्रारंभ में मन्त्रों एवं उनके अर्थों का मौखिक अभ्यास करवाया जाता था। वेद एवं वैदिक साहित्यों की अवधारणा आचार्यों में भिन्न-भिन्न थी। अतएव अपने चिंतन को रखने के लिए इन आचार्यों के द्वारा टीकाएँ लिखी जाने लगी। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा की शुरूआत हुई।

प्रारम्भ में शिक्षा का विषय वेद एवं धर्म की परिधि के भीतर था। बाद में व्याकरण, कल्प, शिक्षा आदि वेदाङ्गों को सम्मिलित कर लिया गया। मनु ने षड् वेदाङ्गों एवं वेद के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा आवश्यक नहीं मानी है-

**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**

**स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।** मनु. 2.168

किन्तु, धीरे-धीरे आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, शस्त्रशास्त्र आदि को भी शिक्षा में आवश्यक मानकर पढ़ाया जाने लगा। कालान्तर में पुराण, नाट्यशास्त्र, मीमांसा-ग्रन्थ एवं महाकाव्य लिखे गये, जो गुरुकुलीय पाठ्यक्रम के विषय बनते गये। याज्ञवल्क्य ने लिखा है -

**पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता।**

**वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः।।** याज्ञ. स्मृति 1.3

याज्ञवल्क्य ने वेद (चार), वेदाङ्ग (छह), पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र इन चौदह विद्याओं को पुरुषार्थ सिद्धि में सहायक बताया है। लौकिक विषयों का अध्ययन उत्तरवैदिक काल में प्रारम्भ हो गया था। कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को शिक्षा का विषय माना है।[1] पुराणों में चार उपवेद तथा अर्थशास्त्र को वैदिक साहित्य के साथ जोड़ दिया गया है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में

1. अर्थशास्त्र 1.1, आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेतिविद्या।
2. मत्स्यपुराण 53.5-6; वायु पु. 1.61.78

चतुर्वेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, पितृयज्ञ, अंक गणित, लक्षण-विद्या, निधि ज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देव-विद्या, ब्रह्मविद्या, भूत-विद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या एवं ललित कलाओं को पठनीय बताया गया है (**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवाविद्या ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽयेमि**)[1]।

कालिदास के रघुवंश (5.21) में चौदह विद्याओं का उल्लेख है- वेद (चार), वेदाङ्ग (छह), मीमांसा, न्याय, पुराण एवं धर्मशास्त्र। वात्स्यायन ने चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है।[2] ये कलाएँ संगीत, चित्रकला, शिल्पकला, चिकित्सा, पठन-पाठन की कला, गुप्त भाषा, विज्ञान, काव्यालङ्कार का ज्ञान, वस्त्र एवं आभूषणों को पहनने की कलाएँ थीं। दण्डी ने 'दशकुमारचरितम्' में सभी लिपियों एवं भाषाओं, वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, काव्य, नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसशास्त्र, युद्धविद्या, द्यूत, चौर्य विद्या आदि को अध्ययन का विषय माना है (**ततः सकललिपि ज्ञानं निखिलदेशीयभाषा पाण्डित्यं षडङ्गसहितवेदसमुदायकोविदत्वं काव्यनाटकारव्यायिकेतिहासचित्रकलासहित-पुराणगणनैपुण्यं धर्मशब्दज्योतिस्तर्कमीमांसादिसमस्तशास्त्र निकरचातुर्यं कौटिल्यकामन्दकीयादिनीतिपटलकौशल वीणाद्यशेषवाद्यदाक्ष्यं संगीतसाहित्यहारित्वं मणिमन्त्रौषधादिमायाप्रपञ्चुञ्चुत्व मातङ्गतुरङ्गादिवाहनारोहणपाटवं विविधायुध-प्रयोगचणत्वं चौर्यदुरोदरादिकपटकलाप्रौढ़त्वं च तत्तदाचार्येभ्यः सम्यग्लब्ध्वा**)।[3]

महाकवि बाण ने कादम्बरी में चन्द्रापीड़ को अनेक कलाओं एवं विद्याओं में दक्ष बताया है। यथा-व्याकरणशास्त्र, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, न्यायवैशेषिक, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, व्यायाम विद्या, नाट्यशास्त्र, कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य, महाभारत, इतिहास, पुराण आदि विद्याएँ एवं विभिन्न कलाएँ वर्णित हैं।[4]

उत्तर काल में उपर्युक्त विद्याओं से पृथक् अनेक विषय शिक्षा में सम्मिलित होने लगे। यथा-शिल्पकला। शिल्पकला के लिए प्राचीन भारत में विद्यालय था या नहीं, संदिग्ध है। शिल्प की शिक्षा के लिए प्रथम सुप्रसिद्ध विद्यालय तक्षशिला था, जहाँ अठारह शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। इन शिल्पों में गीत, वाद्य, नृत्य, चित्रादि के साथ व्यावसायिक शिक्षा एवं गणित भी सम्मिलित था। महाभारत काल में गान्धर्व विद्यालयों में नृत्य-गीतादि बताए जाते थे। अर्थशास्त्र में वर्णित है कि राजा के द्वारा

---

1. छा. उप. 7.1.2-4
2. कामूसूत्र 1.2.15
3. दशकुमारचरित, प्रथमउच्छवास
4. कादम्बरी, पूर्वभाग, चन्द्रापीऽस्य शिक्षा वर्णनम्।

गीत, नाट्य, नृत्य, वाद्य, चित्र, माला गूँथना आदि विशिष्ट कलाओं के शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। भरतमुनि भी इस तरह की संस्था के आचार्य थे। शिल्प-कला के संवर्द्धन में राजकीय-योगदान की बहुशः चर्चा मिलती है। ये कलाएँ ब्राह्मणों, राजकुमारों एवं जनसामान्य द्वारा भी ग्रहण की जाती थीं। मन्दिरों में देव-अर्चनाओं के लिए नृत्य, गीत, वाद्य अभिप्रेत थे। अतः ये ललितकलाएँ उच्चवर्गों में भी प्रसिद्ध हुए। हर्ष की बहन राज्यश्री ने भी नृत्य गीतादि की शिक्षा ली थी। ग्यारहवीं शताब्दी में 'एन्नारियम्' मन्दिर में रूपावतार अर्थात् मूर्त्ति एवं वास्तुकला की शिक्षा दी जाती थी।

युद्ध विद्या देना राजकीय संस्थाओं का काम था।[1] उपनिषदों में इसे 'क्षत्रविद्या' कहा गया है। महाभारत में आश्रमों में भी धनुर्विद्या देने का वर्णन मिलता है। भरद्वाज, परशुराम आदि प्रमुख आचार्यों द्वारा धनुर्विद्या दिए जाने का वृतान्त मिलता है। गदायुद्ध, अश्वपृष्ठ, धनुर्वेद, असिचर्म, गजशिक्षा और नीतिशास्त्र युद्ध-विद्या के विभिन्न विषय थे। तक्षशीला में भी वेदों के साथ धनुर्वेद पढ़ाया जाता था। महाभारत (213.65-66) में वर्णित है- **'ब्राह्मणाय धनुर्देयं खड्गं वै क्षत्रियाय च। वैश्याय दापयेत् कुन्तं गदां शूद्राय दापयेत्।'** बाणभट्ट ने भी शिप्रा नदी के तट पर राजकीय-संस्था द्वारा राजनीतिशास्त्र, व्यायाम, शस्त्र विद्या, रथ चालन, गजपृष्ठ, अश्वारोहण, यन्त्रों का प्रयोग, विष-अपहरण, सुरंग खोदने की कला, नदी, तालावों को पार करने की कला, पर्वतारोहण एवं सभी भाषाओं की शिक्षा दिए जाने का उल्लेख किया है।[2]

प्राचीन काल में कौटिल्य अर्थशास्त्र की शिक्षा प्रमुख रूप से राजनीतिशास्त्र के रूप में दी जाती थी। अर्थशास्त्र में यह कहा गया है कि राजकुमारों को दण्डनीति अवश्य जाननी चाहिए। अर्थशास्त्र में प्रमुख आचार्यों के राजनैतिक मत बताए गये हैं। उनका अध्ययन शासनाध्यक्षों के अनुरूप था। महाभारत में यह बताया गया है कि संसर्ग विद्या का वर्णन अर्थशास्त्र में है।[3]

व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाती थी। अतिप्राचीन काल में व्यावसायिक-शिक्षा परम्परागत व्यापार एवं कला द्वारा लोग घर में ही सीख लेते थे एवं गुरुकुल के शिष्य आचार्य-शिष्य परम्परा में कृषि-कर्म एवं पशुपालन सीख लेते थे, किन्तु परवर्त्ती काल में कृषि, पशुपालन, तक्षण, व्यापार आदि की विधिवत् शिक्षा तक्षशीला में दी जाने लगी। यहाँ नौका विनिर्माण कला, समुद्र विज्ञान आदि की शिक्षा दी जाती

---

1. महाभारत, आदि पर्व, 123.7
2. कादम्बरी, पूर्व भाग-74.7
3. महाभारत, आदि पर्व 108.16

थी। व्यावसायिक शिक्षा में दन्त व्यापार, रत्न परीक्षा एवं व्यापार, पुस्तक व्यापार आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था।

आयुर्वेद की परम्परा भारत में बहुल प्राचीन काल से रही है। आयुर्वेद की विधिवत् वैज्ञानिक शिक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही दी गयी। यहाँ जीवक ने सतरह वर्षों तक आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। आयुर्वेद की शिष्य-परम्परा की बृहत् तालिका 'आयुर्वेद संहिता' में मिलती है।

## शिक्षा-विधि

प्राचीन काल में वेदों के मंत्र मौखिक स्मरण पर ही आधारित थे एवं इनके अर्थ एवं व्याख्या का विकास संवाद पर निर्भर था। इन संवादों में प्रश्नकर्त्ता **'प्रश्निन्'** प्रतिप्रश्नकर्त्ता **'अभिप्रश्निन्'** और उत्तरदाता **'प्रश्नविवाक्'** (अथर्ववेद में प्रावाचिक') कहलाते थे। मंत्रों का प्रणयनआरोह-अवरोह पर आधारित होने के कारण यह लेखन पर आधारित नहीं था। वैदिक यज्ञों में मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण आवश्यक माना जाता है। मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण से अनिष्ट का भय बना रहता है। अत: वेद की शिक्षा देते समय गुरु स्वयं मंत्रों का शुद्ध उच्चारण करते थे एवं शिष्य उनका अनुकरण करते थे, यही शिक्षा की सनातन पद्धति थी। वैदिक युग में नित्य देवताओं की नवीन स्तुति होती थी। इस प्रयोजनवश शिष्य काव्य-रचना का अभ्यास करते थे एवं शिक्षक उनके अभ्यास कर्मों का शोधन करते थे। यह लिखित प्रक्रिया इस कारण शुरू हुई क्योंकि मंत्र एवं सूक्तों की संख्या बढ़ती गयी, जिससे ये वैदिक मंत्र विस्मृत होने लगे।

वस्तुत: गुरुकुलीय शिक्षण-विधि तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक था। उस समय पुस्तक अथवा कॉपी का चलन न होने के कारण पठन-पाठन मौखिक ही था। एक-एक शब्द को आचार्य के साथ बार-बार दोहराना पड़ता था, ताकि यह उसे कण्ठस्थ हो सके। सीखने के दृष्टि से पहली प्रक्रिया **'श्रवण'** थी। मन्त्र का अध्ययन प्रारंभ करने के पहले एक छोटा संस्कार **'उपक्रम'** होता था। मंत्रों के शुद्ध उच्चारण का निरन्तर **'अभ्यास'** तब किया जाता था। उच्चारण के साथ ही मंत्र का ज्ञान **'अपूर्वता'** कहलाता था। अभ्यास के परिणाम का अवलोकन **'फल'** कहलाता था। मन्त्र के अर्थ को समझने में सहायक अन्य ग्रन्थ का ध्यान रखना **'अर्थवाद'** कहलाता था एवं मंत्र के अध्ययन में स्वयं किसी सिद्धांत को प्रतिपादित करना **'उपपत्ति'** कहलाता था। आचार्य परम्परा का इतना महत्त्व था कि यदि कोई आचार्य से शिक्षा ग्रहण नहीं करता था, तो वह सम्मान का पात्र नहीं रह जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् में विर्णत है- **''आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति।''** पराशर स्मृति (13.18) में स्पष्ट वर्णित है- **''पुस्तकं प्रत्ययाधीतं नाधीवं गुरुसन्निद्धौ,**

**भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः।''**[1] कण्ठाग्र करने की अनिवार्यता ने पद्य-शैली को बढ़ावा दिया। सभी दार्शनिक-ग्रन्थ एवं अधिकांश वेदाङ्ग साहित्य सूत्र-शैली में लिखे गये।

सूत्र अथवा पद्य-शैली में रचित सम्पूर्ण ग्रन्थों का अभ्यास ही नहीं किया जाता था, अपितु उसे अधीत (अर्थसहित आत्मसात् करना) भी कर लिया जाता था, जिसमें प्राचीन पद्धति श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन (अर्थात् तत्त्वार्थ को समझने के लिए और भी गूढ़ चिन्तन करना) अध्ययन का आवश्यक अंग बन गया था।[2] जो इस पद्धति की सहायता नहीं लेते थे, वे अर्थ को नहीं जान पाते थे एवं केवल पद्यों का बोझ ढ़ोने जैसा कार्य करते थे, इसीलिए यास्क ने निरुक्त (I.8) में कहा है- **'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानातियोऽर्थम् योऽर्थज्ञः इत्सकलं भदमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।'** अर्थात् जो अर्थ जानता है, विद्या से कल्याण उसी का होता है, जो अर्थ नहीं जानते वे खम्भे की भांति केवल पुस्तकों का भार ढ़ोते हैं।

ऋग्वेद (10.39.6) के अनुसार पिता द्वारा पुत्र को शिक्षित किया जाना भी आदर्श शिक्षण विधि मानी गयी है। उस समय संगोष्ठी[3] व्याख्यान, शास्त्रार्थ, विद्वद्-परिषद् द्वारा हुआ करता था। दर्शन विषयों में जिज्ञासावश छात्र परिषद् में प्रश्न पूछते थे। ऋग्वेद में इसका उदाहरण भी मिलता है-**पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि। वत्से वष्कयेऽधि सप्त तन्तूंन्वि तन्तिरे कवय ओतवा उ॥** शतपथ ब्राह्मण (11.3.1.5-6) में गुरु शिष्य प्रश्नोत्तर का रूप देखने को मिलता है-

**प्रश्न-किं स्विद्विद्वान्प्रवस्त्यग्निहोत्री गृहेभ्यः। कथं स्वीदस्य काव्यम्। कथं सन्तोऽग्निभिरिति। कथं स्विदस्यानपप्रोषितम्भवति।**

**उत्तर- यो जविष्ठो भुवनेषु। स विद्वान्प्रवसन्निवदे तथा तदस्य काव्यम् तथा..।**

विविध विषयों पर प्रश्नोत्तर होते थे एवं वाद-विवाद भी होता था। वाजसनेयि संहिता में प्रश्नकर्त्ता को 'प्रश्नी' एवं उत्तर देने वाले को 'अभिप्रश्नी' कहा गया है। 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' (2.6.5) में विधि पूर्वक तर्क द्वारा ज्ञान को उपयुक्त बताया गया है- **'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः इति।'** प्रश्नोत्तर की यह प्रक्रिया केनोपनिषद् में भी प्राप्त होती है-

---

1. महाभारत, अनुशासन पर्व 31.75; वेदानां लेखिनश्चेव ते वै निरयगामिनः।
2. विवेक चूड़ामणि, 36; श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि। निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्।
3. हर्षचरित, सर्ग-1 समानविद्याविद्शीलबुद्धिवयसामनुरूपेरासापेरेकत्रासनबन्धो गोष्ठी।

**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।**
**केनेषितांवाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्र क उ देवो युनक्ति।**

गोष्ठियों के नाम विषयों पर आधारित होते थे। यथा, **'वीर-गोष्ठी'**[1] में वीरता एवं शौर्य से संबंधित रचनाओं, **'काव्यगोष्ठियों'**[2] में प्रबन्ध-रचना पर विचार, **'प्रमाण गोष्ठी'**[3] में विषयों की प्रमाणिकता पर विचार होता था। बाण ने इन्हें **'विद्या-गोष्ठी'**[4] कहा है। शास्त्रार्थों में काशी के मण्डन मिश्र एवं आचार्य शङ्कर के बीच का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है।

## सह-शिक्षा

वैदिक युग में स्त्रियाँ भी पुरुषों के साथ ही अध्ययन किया करती थीं। स्त्रियों ने भी अनेक वैदिक सूक्तों की रचना की थी। उपनिषद् में वे पुरुषों की भांति ही विद्वद् गोष्ठियों में भाग लेती थीं एवं शास्त्रार्थ किया करती थीं। ऋग्वेद (10.7.11) में उल्लेख है कि विद्वद् सभा में स्त्रियाँ ऋक्गान किया करती थीं। भवभूति ने 'मालतीमाधव के प्रथम अंक में सह-शिक्षा का उल्लेख किया है–**'अयि किं न वेत्सि यदेकत्र नो विद्यापरिग्रहाय नानादिगन्तवासिनां साहचर्यमासीत्।'** इन्होंने **'उत्तररामचरित'** के द्वितीय-अंक में अत्रेयी को लव एवं कुश के साथ वाल्मीकि आश्रम में साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते दिखाया है। कालान्तर में सह शिक्षा में कमी आ गयी, क्योंकि स्त्रियों में शिक्षा का अभाव होने लगा।

## शिक्षा में भेद-भाव

ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का विकास नहीं हुआ था।[5] अतएव उस काल में शिक्षा का अधिकार सभी को था, किन्तु उत्तरवैदिक काल से शिक्षा का अधिकार द्विज मात्र को था। प्रायः सभी शास्त्रकारों ने शूद्रों को शिक्षा दिए जाने का विरोध किया है, साथ ही शूद्रों से शिक्षा ग्रहण करना भी निन्दित माना है। उपनयन का अधिकार न देकर शूद्रों के लिए शिक्षा का द्वार पूर्णरूपेण बन्द कर दिया गया था, क्योंकि बिना उपनयन संस्कार के न तो वे यज्ञ करने के लिए अधिकारी थे और न ही ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी थे। वेद सुनने वाले शूद्र को भी कठोर दण्ड दिए जाने का विधान था। गौतम का मानना है कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण

---

1. हर्षचरित, सर्ग-1 वीरगोष्ठियुः......।
2. कादम्बरी, पृ. 4
3. हर्षचरित, सर्ग-3
4. वही, सर्ग - 1
5. यदि दशम मण्डल को प्रक्षिप्त अंश माना जाय।

करनेवाले शूद्रों की जिह्वा काट दी जाय।[1] जैमिनि भी शूद्रों द्वारा वैदिक यज्ञ के विरोधी थे। कौटिल्य ही एक ऐसे दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने इस विषय पर कोई चर्चा नहीं की। जबकि महाभारत भी शूद्रों के द्वारा यजन एवं वेदाध्ययन किए जाने की अनुमति नहीं देता है (**तस्माच्छूद्रः पाक यज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्। पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम्।।**)[2]। मनु एवं अपरार्क भी शूद्रों द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के विरोधी थे। शूद्रों के समाज में अत्यन्त पिछड़ने का यही कारण है।

## स्त्री शिक्षा

ऋग्वैदिक काल में नारी-शिक्षा या नारी उत्थान के प्रति समाज सचेत था। ये महिलाएँ शिक्षा में किसी भी प्रकार से पुरुषों से निम्न नहीं थी। लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, घोषा, काक्षीवती, शचि, कामायनी, अदिति, इन्द्राणी, शश्वती, अकीरसी आत्रेयी आदि वैदिक विदुषी नारियाँ अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व के कारण आज भी बुद्धिजीवियों की रसनाग्रनर्तकी हैं। गार्गी ने जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान् महापुरुष को अपने आध्यात्मिक प्रश्नों से परास्त कर दिया था।[3] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी विदुषी एवं ब्रह्मवादिनी महिला थीं (**अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुमैत्रेयीचकात्यायनी च तयोर्हं मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्री प्रज्ञेव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन्।**)।[4]

ऋग्वेद में नारियों के उपनयन की व्यवस्था थी।[5] वेदाध्ययन का भी अधिकार था। ये शास्त्र, मन्त्रदर्शन एवं वैदिक यज्ञों में भी सम्मिलित होती थीं। इनकी भी शिक्षा समावर्त्तन के बाद ही समाप्त होती थी।[6] सूत्रकाल में भी स्त्रियाँ ब्रह्मचर्यधारण कर शिक्षा ग्रहण करती थीं।[7] उस युग में दो प्रकार की स्त्रियाँ थी 1. सद्योवधू एवं 2. ब्रह्मवादिनी। **'सद्योवधू'** विवाह पूर्व तक विद्या अर्जन करती थी, जबकि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करते हुए ज्ञानार्जन करती थीं। जो स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में निमग्न थी, उन्हें **'आचार्या'** या **'उपाध्याया'** (उपाध्यायी) कहते थे।[8] ऋग्वेद में इडा मनुष्य की अध्यापिका रूप में वर्णित है।[9]

---

1. गौ. ध. सू.-12.8
2. महाभारत, अनुशासन पर्व, 12.60.30
3. बृ. उ. 3.6.8
4. वही, 2.4.3, 4.5.1
5. आश्वा. गृ. सू. 3.8.11
6. गो. गृ. सू. 2.1.19-20
7. का. गृ. सू. 25.23
8. महाभाष्य 9.3.21 वा. उपेत्याधीयते तस्या उपाध्याया उपाध्यायी।
9. ऋ. 1.31.11, इडामकृण्वन् मनुषस्य शासनीम्।

रामायण एवं महाभारत में भी नारी शिक्षा का वर्णन मिलता है। रामायण में कौशल्या एवं तारा को मन्त्रज्ञाता बताया गया है।[1] रामायण एवं उत्तररामचरित में आत्रेयी को वेदान्त विद्या में निष्णात बताया गया है (**तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां उ.रा.2.3**)। स्त्रियों के नृत्यसंगीत कला का वर्णन मिलता है। द्रौपदी तो राजनीति-शास्त्र की ज्ञाता थी ही। उत्तरा ने अर्जुन से संगीत एवं नृत्य की शिक्षा प्राप्त की थी।

बौद्ध ग्रन्थानुसार संघमित्रा ने बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार बाहर जाकर किया था। थेरीगाथा में कविताओं का संकलन 50 भिक्षुणियों द्वारा किया गया था। जैन-परम्परा में भी जयन्ती, सहस्रनीक आदि महिलाएँ विदुषी थीं।

भाष्य में लोकायत सम्प्रदाय की व्याख्यात्री वर्णिका या वर्तिका नामक आचार्या का भी उल्लेख मिलता है।[2] आपिशल एवं काशकृत्स्न के बताए हुए शास्त्रों का अध्ययन करनेवाली अपिशला एवं काशकृत्स्न[3] ब्राह्मणियों, कठ और बह्वृच शाखा की अध्येत्री कठी और बह्वृची स्त्रियों[4] का भी वर्णन भाष्य में है। अध्ययन करनेवाली छात्राओं को **'अध्येत्री'** कहा जाता था। पतञ्जलि ने औदमेध्या नामक आचार्या का उल्लेख किया है (**औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेधाः।**)।[5]

वात्स्यायन ने भी उपाध्यायी, आचार्या आदि का उल्लेख किया है।[6] मनु, याज्ञवल्क्य सदृश स्मृतिकारों द्वारा स्त्रियों के उपनयन में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग न किए जाने का उल्लेख यह बताता है कि धीरे-धीरे स्त्रियों से वेद आदि के शिक्षा का अधिकार समाप्त होता गया और महिलाएँ धीरे-धीरे शैक्षणिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ती गयी। यद्यपि उच्च घराने में स्त्रियों के बीच शिक्षा का प्रसार पूर्ववत् बना रहा। गाथा सप्तसती में अनेक गाथाएँ नारियों द्वारा रचित थीं।

## शैक्षणिक अवकाश

प्रायः दैवप्रकोप होने पर शैक्षणिक अवकाश दे दिया जाता था। मनु, बौधायन एवं गौतम का भी यही मत है। शृगाल, उल्लू, गधा, कुत्ता आदि के बोलने पर वेदाध्ययन या अध्यापन स्थगित कर दिया जाता था। अपरार्क का मानना है कि ऐसा करने पर ईश्वर रुष्ठ हो जाते हैं–

---

1. रामा. 2.20.75
2. महाभाष्य 7.3.45 वा 7.8; वर्णिका-भागुरी लोकायतस्य वर्त्तिका।
3. वही, 4.1.14 वा. 3, 4; अपिशलमधीते ब्राह्मणी अपिशला ब्राह्मणी,
   काशकृत्स्नमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।
4. वही, 6.3.35, वा. 10
5. महाभाष्य 4.1.78
6. कामसूत्र 4.1.32

**छिद्राण्याहुर्द्विजातीनामनध्यायान्मनीषिण:।**

**छिद्रेभ्य: स्रवति ब्रह्मणेन यदर्जितम्।।**

**आयु: प्रजां पशून्मेधां कृन्तामि सुकृतं च यत्।**

**अनाध्यायेष्वभ्यसत: ब्रह्म व्यवहारतस्था।।** अपरार्क, याज्ञ.1.142,152

मेघगर्जन, आमावस्या और पूर्णिमा के दिन अनध्याय की सलाह दी गयी है-

**अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु।**

**अनध्यायं बुध: कुर्यादुपरागादिके तथा।।** विष्णु पुराण-3.12.36

भवभूति ने अतिथि के शुभागमन पर अध्ययन न करने का निर्देश दिया है- **'स्वागतमनेकप्रकाराणां जीर्णकूर्चानामध्यायकारणां तपोधनानां।'**[1]

### शिक्षण-अवधि एवं पाठ्यक्रम

गुरुकुल में ब्रह्मचारी सामान्यतया 12 से 16 वर्ष तक रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे। ब्रह्मचर्य की यह उम्र सीमा अधिकतम 48 वर्ष तक हो सकती थी। गोपथ ब्राह्मण में प्रत्येक वेद के लिए 12 वर्ष की शिक्षा निश्चित की गयी है, जबकि मनु ने 36 वर्ष तक ही ब्रह्मचर्य की आवश्यकता मानी है। परन्तु, अपवाद भी संस्कृत-साहित्यों में प्राप्त होते हैं। यथा-सत्यकाम जाबाल के आश्रम में उपकोशल कामलायन ने 12 वर्ष व्यतीत कर शिक्षा ग्रहण की थी। (**तौ ह द्वात्रिशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषस्तुस्तौह प्रजापतिरुवाच...।**)[2] भरद्वाज ने जीवन के चौथे चरण में ब्रह्मचर्य के पालन हेतु अनुष्ठान किया था (**भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिब्रह्मवर्चसमुवास तं ह इन्द्र उपव्रजयोवाचयत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां कुर्या इति ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच।**)[3]।

प्राचीन काल में गुरुकुल में भी शैक्षणिक सत्र हुआ करते थे। आचार्य मनु ने बताया है कि ब्राह्मण श्रावणमास अथवा भाद्र पद मास की पूर्णिमा को उपाकर्मादि पूजन करके वेदाध्ययन करे और साढ़े चार मास तक वेदाध्ययन में लगा रहे। पुष्यनक्षत्र में अथवा माघमास के शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा को पूर्वाह्न में वेदोत्सर्ग कर्म करे। मनु का यह भी मानना है कि शुक्लपक्ष में वेदों का एवं कृष्णपक्ष में वेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिए-

**श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथा विधि।**

**युक्तश्छन्दांस्य धीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान्।।**

---

1. उत्तरराम., 4.1 के अनन्तर आनेवाला संवाद
2. छां. उ. 8.7.4

   वही, 4.10.15 उपकोशलो ह वै कामलायन: सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार।
3. तैत्तिरीय ब्रा., 3.10.11

**पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः।**
**माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि।।**
**अत उर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्।**
**वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत्।।** –मनु. 2.95,96,98

## अध्ययन साफल्य, उपाधियाँ एवं परीक्षा

प्राचीनकाल के गुरुकुलीय शिक्षा में परीक्षा की व्यवस्था नहीं थी ऐसा सोंचना गलत है। उस समय ब्रह्मचारियों का मूल्याङ्कन आचार्य द्वारा समय-समय पर होता रहता था, तभी उसे अगले पाठ्यक्रम में प्रवेश मिलता था। समावर्तन संस्कार भी ब्रह्मचारियों द्वारा योग्यता प्राप्त कर लेने के बाद ही प्राप्त होता था। यथा-महर्षि विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण से यज्ञविध्वंसक राक्षसों का विनाश करवाया जाना उनकी एक प्रकार की परीक्षा ही थी या द्रोण ने धनुर्वेद में लक्ष्यवेध की परीक्षा ली थी और जब वे सन्तुष्ट हुए तो उन्होंने हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र के समक्ष उनके अद्‌भुत-कौशल का प्रदर्शन करवाया, किन्तु इसके ठीक विपरीत गुरुभक्त एकलव्य की गुरु-द्रोण के समक्ष दी जाने वाली परीक्षा के उपरांत मांगा जाने वाला गुरु दक्षिणा भारतीय-संस्कृति का कलंकित अध्याय है।

जो ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा पूरी कर लेते थे उन्हें 'स्नातक' कहा जाता था। ये स्नातक भी योग्यतानुसार तीन प्रकार के बताए गये हैं-**वेद स्नातक, व्रत स्नातक** एवं **वेदव्रत स्नातक**। जो बीच में ही शिक्षा का परित्याग कर लौट आते थे, उन्हें **'नैष्ठिक'** कहा जाता था। परवर्त्ती काल में जो शिक्षा में निष्णात हो जाते थे उन्हें **'आचार्य'** की उपाधि प्राप्त होती थी।

विद्यार्थियों की सफलता उनकी योग्यता पर निर्भर करता था। कुछ छात्र साध्वध्यायी होते थे एवं कुछ विलम्बिताध्यायी होते थे। अध्ययन संबंधी परीक्षा का स्पष्ट उल्लेख पाणिनि एवं पतंजलि दोनों ने किया है। परीक्षा काल में उच्चारण संबंधी एक भूल करनेवाले को एकान्यिक कहते थे। उसीप्रकार द्वैयन्विक, त्रैयन्विक से चतुर्दशान्यिक आदि संज्ञाएँ छात्रों को दी जाती थी।[1] पढ़ाई प्रायः मौखिक होती थी, अतएव परीक्षाएँ भी मौखिक ही होती होंगी।

## हिन्दू शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

प्राचीन भारत में विद्यालय शाश्वत रूप से आचार्यों का आवास रहा है। वहाँ विद्यार्थी रहकर पढ़ते थे। इन आचार्यों या महर्षियों के घर प्रायः प्राकृतिक क्षेत्रों के

1. महाभाष्य, 4.4.63-64 एवं 6.1.85 वा. 4; कर्माध्ययने वृत्तम्। बह्वृचपूर्वपदाट्ठच् तथा द्वादशान्यिकः त्रयोदशान्यिकः।

सन्निकट, वनों या गाँवों में हुआ करते थे। जहाँ ग्रीष्म-काल में गर्मी प्रतीत नहीं होती थी एवं समिधा के लिए पर्याप्त लकड़ी एवं जानवरों के लिए खाद्य-सामग्री उपलब्ध हो जाती थी। उपनिषद्काल में अरण्य में रहनेवाले ऋषियों के पास विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए रहते थे।[1]

## महाकाव्य कालीन शिक्षा के केन्द्र

गङ्गा यमुना के संगम प्रयाग में भरद्वाज मुनि का आश्रम था। उस आश्रम के प्राकृतिक वातावरण में मृग भी विचरण करते थे एवं पक्षी भी कलरव करते थे। छात्रों के आवास हेतु पर्णशालाएँ निर्मित थीं। वेदपाठी ब्रह्मचारी यहाँ हवन-पूजन करते थे। यहीं द्रोणाचार्य एवं राजा द्रुपद ने साथ-साथ शिक्षा ग्रहण की थी। महर्षि अगस्त्य का आश्रम दण्डकारण्य में था, जो वैदिक शिक्षा का केन्द्र था। महर्षि वाल्मीकि का आश्रम चित्रकूट में था। जहाँ वाल्मीकि ने रामायण की रचना की थी। यह आश्रम मन्दाकिनी के तट पर था।

महाभारत में वर्णित ब्रह्मर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर अवस्थित था। यह आश्रम शैक्षणिक गरिमा का प्रतीक था। महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर अवस्थित था। इनके शिष्य सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनी आदि वेद की शिक्षा ग्रहण करते थे। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम था। यहाँ लोग युद्ध कौशल सीखने आते थे।

ये अधिकांश शिक्षा के केन्द्र या तो नदी के किनारे अवस्थित थे, जहाँ पर्याप्त पानी मिल जाता था एवं आवागमन की नौका द्वारा सुविधा थी या फिर वैसे पर्वतीय प्रदेशों में जहाँ आसपास पहाड़ी झरने या झील थे। परवर्त्ती-काल में अधिकांश शिक्षा के केन्द्र हमारे मन्दिर बन गये, किन्तु तक्षशीला, पाटलिपुत्र जैसे बहुत से शैक्षणिक केन्द्र कुशल एवं विशिष्ट शैक्षणिक प्रबन्धन के लिए विख्यात हो गये। अधिकांश आचार्यों के आश्रम या तो गङ्गा नदी के किनारे या हिमालय की तराई में अवस्थित थे, क्योंकि यह क्षेत्र देवस्थली माना जाता था। पाणिनि की जन्मभूमि शालातुरी वैयाकरणाचार्यों का केन्द्र बन गयी थी। यहाँ अनुसंधान एवं अध्ययन के लिए लोग आते थे।

## अन्य शिक्षा केन्द्र

'रघुवंश' में वशिष्ठ आश्रम का वर्णन है तो कादम्बरी में जाबालि के आश्रम का सुन्दर वर्णन है। 'हर्षचरित' के अनुसार विन्ध्य प्रदेश में दिवाकर मिश्र का आश्रम था, तो गुप्त काल में ही भास्कर वर्मन ने असम राज्य में 'कामरूप' में वैदिक विद्या

---

1. मुण्डक., 1.2.11-12 एवं छान्दो., 8.5.3

का केन्द्र खोला। कामरूप में कामाख्या मंदिर प्रसिद्ध है। मन्दिरों में अध्यापन पुण्य का प्रतीक था। आधुनिक धारा नगरी में विद्यालय हुआ करता था, जहाँ महाराजा भोज के काल में विविध विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी।

दसवीं शताब्दी के आस-पास मन्दिरों में अवस्थित शिक्षण संस्थान प्रसिद्ध हो गये। बीजापुर जनपद के शिलोत्गीग्राम में राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण देव के मंत्री नारायण द्वारा प्रतिष्ठापित त्रयीपुरुष मन्दिर के प्रधान कक्ष में अध्यापन कार्य होता था। 'एन्नारियम' वैदिक शिक्षा का केन्द्र था। यहाँ वैदिक सूक्त, वेदाङ्ग, दर्शन आदि के लिए सोलह अध्यापक नियुक्त थे। यहाँ तीन सौ चालीस छात्र विविध विषयों की शिक्षा लेते थे। इसी प्रकार का विद्यालय हेब्बाल नगर के वेंकटेश्वर मंदिर में था। कश्मीर के अनेक मठ-मंदिरों तथा आचार्य गृह में पढ़ाई होती थी। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में राजा यशस्कर के मठ का वर्णन किया है। इसी शताब्दी में अग्रहारों ने भी अनेक शिक्षण संस्थानों की स्थापना की थी। घटिका एवं ब्रह्मपुरी में इन शिक्षित राजाओं के द्वारा विद्यालय स्थापित किए गये थे। इन राजाओं के द्वारा सम्पूर्ण राज्य में शिक्षा को राजकीय संरक्षण एवं सम्पोषण प्राप्त था।

ग्यारहवीं शताब्दी में शङ्कराचार्य द्वारा देश के चारों कोने में मठ स्थापित कर वैदिक-शिक्षा की व्यवस्था की गयी। ये मठ काञ्चीपुरम्, बद्रीनाथ, द्वारिका एवं पुरी में प्रतिष्ठापित थे। यहाँ आज भी वैदिक शिक्षाएँ दी जाती हैं। प्राचीन भारत के कुछ अत्यन्त प्रतिष्ठित शिक्षा केन्द्रों की चर्चा अब की जा रही है।

### तक्षशीला

तक्षशीला प्राचीनतम शिक्षण संस्थानों में है। रामायण के अनुसार इसकी स्थापना भरत ने अपने पुत्र 'तक्ष' के नाम से की थी। बाद में तक्ष को ही इसका प्रबन्धन सौंप दिया गया था **( तक्षं तक्षशिलायाँ तु पुष्कलं पुष्कलावते। गन्धर्व देशे रुचिरे गान्धार विषये च सः।)**[1] इसीकारण इसका नाम तक्षशीला पड़ा। जनमेजय ने यहीं नागयज्ञ करवाया था।[2] कौटिल्य के समय में इस विश्वविद्यालय की ख्याति फैल चुकी थी। चाणक्य एवं वैयाकरण पाणिनि ने यहीं शिक्षा ग्रहण किया था। चाणक्य सम्भवतः यहाँ के कुलपति भी थे। यहाँ वेदों के साथ ही धनुर्वेद आयुर्वेद, नौका विनिर्माण आदि 18 शिल्पों की शिक्षा छात्रों को प्रदान की जाती थी। व्याकरण, दर्शन, शल्य-चिकित्सा, युद्ध-कला, ज्योतिष, भविष्यवाणी, मुनीमगिरी, व्यापार, कृषि, रथ-चालन आदि की शिक्षा विद्यार्थियों को उनकी अभिरुचि के अनुसार दी जाती थी। एक आचार्य के पास 500 से अधिक छात्र पढ़ते थे। यहाँ वाराणसी,

---

1. रामायण 7.10.11 (द्रष्टव्य 10 से 16 तक)
2. महाभारत 1.30.20

उज्जैन, वैशाली, मिथिला, राजगृह आदि से विद्यार्थी पढ़ने आते थे। यहाँ नागवशीकरण, गुप्तनिधि अन्वेषण आदि विशेष विषयों को भी पढ़ाया जाता था। विद्यार्थी यहाँ नृत्य, संगीत एवं चित्रकला में भी रुचि लेते थे। कोशल शासक प्रसेनजित, चन्द्रगुप्त मौर्य, प्राचीन वैद्य जीवक, पतञ्जलि यहाँ से ही शिक्षा-ग्रहण कर विख्यात् हुए थे।

पुरातन गुरुकुलीय पद्धति का यहाँ चलन था, किन्तु अन्तेवासियों को शिक्षा के बदले श्रमदान या पैसा देना होता था। वस्तुतः यहाँ विभिन्न विद्याओं के धुरन्धर विद्वान् आकर बस गये थे। जिससे आकृष्ट हो छात्र यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ, यहाँ के विषयों में भी विस्तार होता गया। यूनानी तक्षण-कला, मुद्रा-निर्माण कला तथा दर्शन-शास्त्र का प्रसार भारत में होने लगा। इससे यहाँ भी इन विषयों का प्रशिक्षण प्रारंभ हो गया। जातक युग में यहाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या बढ़ती गयी। यहाँ द्विजों को समान रूप से शिक्षा दी जाती थी। यहाँ दर्जी एवं मछुआरे भी प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। योग्य एवं मेधावी किन्तु निर्धन छात्रों को राजकीय सहायता प्रदान की जाती थी। यह शैक्षणिक संस्था चौथी शताब्दी तक ही विद्या का केन्द्र रह सकी, क्योंकि यवनों के आक्रमण से नवीन मूर्त्तिकला, वास्तुकला का विकास हुआ एवं ब्राह्मी लिपि की जगह खरोष्ठी ने ले ली। मुद्रानिर्माण, दर्शन एवं कलाओं में नवीन चिंतन एवं प्रयोगों का प्रारंभ हुआ। यूनानी सम्पर्क से ज्ञान विज्ञान एवं कला में नये युग का सूत्रपात हुआ।

### काशी

शिक्षा-केन्द्र के रूप में काशी की चर्चा उपनिषदों में प्राप्त होती है। उपनिषदों में काशी के आजादशत्रु के विद्वत्ता का उल्लेख मिलता है। यहाँ छात्र दूर-दूर से पढ़ने के लिए आते थे। यह धर्म एवं दर्शन का केन्द्र था। इसकी सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक महत्ता इसी से समझी जा सकती है कि यहाँ महात्मा बुद्ध भी उपदेश देने आये थे और शङ्कराचार्य ने यहाँ के उद्भट विद्वान् मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ किया था। अतः यह वैदिक दर्शन, ज्ञान, तर्क एवं शिक्षा का विशाल भण्डार था। श्री हर्ष ने 'नैषधीयचरित' की रचना काशी आवास में ही की थी। धार्मिक स्थल एवं मन्दिरों की नगरी होने के कारण यहाँ धार्मिक शिक्षा एवं भारतीय दर्शन एवं चिन्तन की परम्परा निर्बाध-रूप से मध्य-काल तक चलती रही।

### धारा

यह नगर शिक्षा एवं ज्ञानके लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। यह परमारों की राजधानी थी। 'नवसाहसांकचरित' की रचना यहीं हुई थी। धनंजय जो 'दशरूपक' के रचयिता थे एवं धनिक जिन्होंने 'यशोरुपावलोक' की रचना की थी, वे इसी नगर के निवासी

थे। यह हिन्दू धर्म एवं शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। सम्राट भोज जो यहाँ के शासक थे, इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। इन्हें कविराज भोज भी कहा गया है। इन्होंने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' एवं 'ऋृंगार प्रकाश' नामक दो नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। भोज की राज सभा में अनेक विद्वान् थे। उवट ने यजुर्वेद पर प्रामाणिक एवं मौलिक भाष्य की रचना की। विज्ञानेश्वर एवं धनपाल भी इनके ही राज्य सभा के आश्रित लेखक थे। भोज की स्थापित भोजशाला अत्यन्त प्रसिद्ध थी। राजा मूंज जो भोज के पूर्ववर्त्ती थे, वे भी विद्वान् शासक थे। भोज के मृत्योपरांत धार नगरी की शैक्षणिक महत्ता समाप्त हो गयी।

### कन्नौज

राजा हर्ष के काल में कन्नौज का उत्कर्ष प्रारंभ हुआ। यह हिन्दू एवं बौद्ध-शिक्षा का केन्द्र था। बाणभट्ट ने अपनी कृति 'हर्षचरित' में यहाँ के विद्वान् राजा हर्ष को नायक बनाया है। मध्यकाल में शिक्षा केन्द्र के रूप में इस नगर का उत्तरोत्तर विकास हुआ था। बौद्धों एवं हिन्दू धर्मावलम्बियों के बीच शास्त्रार्थ कन्नौज में ही हुआ था। कन्नौज वासी 'राजशेखर' ने 'काव्यमीमांसा' 'बालरामायण' एवं कर्पूरमञ्जरी' की रचना की थी। इस नगर की महत्ता बाद के काल तक बनी रही।

### कश्मीर

कश्मीर शैव-धर्म का प्राचीन केन्द्र रहा है। यह बौद्ध धर्म एवं शिक्षा का भी केन्द्र रहा है। यहीं चौथी संगीति का आयोजन सम्राट कनिष्क ने किया था। यहाँ भी अनेक रचनाओं का सृजन हुआ था। रत्नाकर ने 'हरिविजय' की रचना यहीं की थी। शिव स्वामीने 'शिवांक' की रचना की। बृहद्कथा-मञ्जरी, रामायणमञ्जरी आदि की रचना करनेवाले क्षेमेन्द्र कश्मीर के ही थे। कल्हण की 'राजतरङ्गिनी' यहीं लिखी गयी, जो संस्कृत भाषा में ऐतिहासिक तथ्यों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करनेवाली प्रथम कृति है। रुय्यर, सोमेन्द्र आदि लेखक एवं अलंकारशास्त्री कश्मीर के ही थे। यह तंत्र विद्या का भी केन्द्र रहा है। यहाँ अनेक शैव-आगमों की रचना हुई है।

### अनिहिलपाटन

चालुक्यों की राजधानी अनिहिलपाटन हिन्दू एवं जैन शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। सोढ़ल, हेमचन्द्र, मेरूतुंग, जयसिंह जैसे रचयिताओं का यह नगर था। हेमचन्द्र ने इतिहास, दर्शन व्याकरण, छन्द, शब्द-शास्त्र, इतिहास कोश आदि पर भिन्न ग्रन्थों की रचना की थी। यहाँ प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत अपभ्रंश का उत्कर्ष एवं प्रसार हुआ था। यहाँ अनेक विद्यालयों की स्थापना चालुक्य राजाओं ने की थी।

### कांची

कांची वैदिक साहित्य का प्राचीन केन्द्र रहा है। दक्षिण-भारतीय यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे। यह वैष्णवों का भी धार्मिक एवं शैक्षणिक केन्द्र था। महाकवि दण्डी ने काञ्ची में ही राज्याश्रय में रहकर 'दशकुमारचरित' आदि की रचना की। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' जैसे भिन्न सामाजिक परिवेशों वाले नाटक की रचना वहीं की थी। वात्स्यायन एवं दिङ्नाग जैसे महान् ज्ञाता कांची में रहकर अपनी विद्वता सिद्ध कर पाये थे। संस्कृत-भाषा एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार यहाँ बहुत तीव्र हुआ था।

कांची में रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत दर्शन की स्थापना की थी। यामुनाचार्य, भास्कर एवं यादवप्रकाश के उपरान्त काञ्चीपुरम् में इन्होंने मठ का आचार्य पद संभाला। रामानुजाचार्य के बाद, अम्माल, आत्रेय रामानुज, वेदान्तदेशिक जैसे दार्शनिक आचार्यों ने प्रचुर ख्याति प्राप्त की। काञ्जीपुरम् आज भी विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है।

इस प्रकार हिन्दुओं के अधिकांश शिक्षा केन्द्र धार्मिक नगरी में ही स्थापित थे। मन्दिर ही भारतीय दर्शन एवं शिक्षा के केन्द्र थे। मन्दिर से होनेवाली आय से या राज्याश्रय द्वारा अथवा मठों के मठाधीशों द्वारा इन शिक्षा केन्द्रों का संचालन होता था, अतएव प्राचीन शिक्षा किसी न किसी रूप में धर्म के इर्द-गिर्द ही घुमा करती थी। परवर्त्तीकाल में ज्यो-ज्यों अन्य संस्कृतियों के साथ सम्पर्क बढ़ा। शिक्षा का स्वरूप भी बदलता गया और शिक्षा का यह स्वरूप हमारे सामाजिक, आर्थिक एवं भौगोलिक तत्त्वों से प्रभावित होते हुए परिवर्त्तित होता रहा।

## बौद्ध-शिक्षा

वैदिक शिक्षा पद्धति की चर्चा हम कर चुके हैं। यह जिस प्रकार सरल एवं प्राकृतिक वातावरण के बीच अध्ययन-अध्यापन की पद्धति थी। यह उपनयन संस्कार से प्रारंभ होकर समावर्तन संस्कार के उपरांत समाप्त हो जाती थी। उसी प्रकार बौद्ध-शिक्षा भी प्रव्रज्या (पब्बजा) से प्रारंभ होती थी।[1] एवं उपसम्बदा से शैक्षणिक जीवन की समाप्ति होती थी। प्रव्रज्या हेतु अभिभावक की अनुमति आवश्यक थी।[2] सामान्यतया शिक्षा की अवधि 12 वर्ष थी। प्रव्रज्या 8 वर्ष से कम उम्र में ग्रहण नहीं की जा सकती थी। प्रव्रज्या के बाद ही भिक्षु या भिक्षुणी शिक्षा के अधिकारी होते थे। बौद्ध-संघ में दीक्षित व्यक्ति गृहविहीन (सामणेर) कहलाता था अर्थात् प्रव्रज्या लिया हुआ व्यक्ति पूर्णतया बौद्ध धर्म के प्रति समर्पित होता था

---

1. महावग्ग, 1.50
2. मिलिन्दपन्ह 1.28

एवं उसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का संकल्प त्यागना पड़ता था। वह लौकिक जीवन से ज्यादा धार्मिक कृत्यों एवं प्रवृत्तियों पर अपना ध्यान आकृष्ट करता था। अतएव लोक-व्यवहार के शिक्षा की इन्हें कोई विशिष्ट आवश्यकता नहीं थी। ये मुख्य रूप से धार्मिक-शिक्षा को ही ग्रहण करते थे, जो बुद्ध के उपदेशों पर आधारित था। शिक्षा में लिङ्ग या वर्ण-विभेद नहीं था। केवल राजपुरुष, अशक्त एवं ऋणी व्यक्ति प्रव्रज्या के अधिकारी नहीं थे। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में उपनयन द्वारा बौद्धिक जीवन का प्रारंभ होता था, उसी प्रकार प्रव्रज्या में बौद्ध-परम्परा के अनुसार बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ होता था। प्रव्रज्या के लिए यह भी आवश्यक था कि सम्पूर्ण संघ की स्वीकृति प्राप्त हो।

महावग्ग में यह बताया गया है कि उपाध्याय का कार्य भिक्षुओं की शिक्षण-व्यवस्था की देख-रेख करना है। साथ ही, उनके आचरण एवं अनुशासन को बनाये रखना आचार्य पर निर्भर करता था। धम्म एवं विनय ये दो शिक्षा के विषय थे जो समृद्ध संघ हुआ करते थे, वहाँ इन दोनों शिक्षाओं के अध्यापन की सुविधा होती थी। जो धम्म की शिक्षा देते थे, उन्हें **'सुत्तान्तिक'** कहा जाता था एवं विनय की शिक्षा देनेवाले **'विनयधर'** कहलाते थे। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य विषयों या अंशों की शिक्षा देनेवाले **'मातिकाधर'** कहलाते थे। **'धम्मकथिक'** वे थे, जो धार्मिक सिद्धांतों को बताते थे। वैदिक परम्परा की भांति ही यहाँ भी आचार्य या उपाध्याय की सेवा भिक्षु करते थे, एवं निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे। ये भिक्षु ब्रह्मचारियों की भांति ही भिक्षाटन भी किया करते थे। ये भी ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक जीवन का अनुपालन प्रव्रज्या में किया करते थे। ये भिक्षु आचार्यों के दिशा-निर्देश पर ही चलते थे। ये भिक्षु अपने संघ के प्रति निष्ठावान् रहते थे। ये अपने संघ की देखभाल भी करते थे। संघ इनके लिए भोजन, वस्त्र एवं आवास की व्यवस्था करता था। विद्या-अध्ययन के उपरांत शिक्षा पूर्ण किया हुआ भिक्षु छात्र ग्रहण करने करने योग्य समझा जाता था। अध्ययनकाल निस्स्य कहलाता था।

बौद्ध-शिक्षण व्यवस्था की दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। प्रथम यह कि बौद्ध विहारों में धर्म के साथ-साथ शिक्षा की व्यवस्था का भी होना, जिसे कालान्तर में वैदिक-परम्परा ने भी अङ्गीकृत कर लिया। मन्दिर एवं हिन्दू मठ भी बौद्ध विहारों की भांति शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बन गये। इसप्रकार दोनों परम्पराओं में शिक्षा किसी न किसी रूप में धर्म के निकट बनी रही। धर्म शिक्षा का अनिवार्य विषय हो गया। बौद्ध-शिक्षा की द्वितीय उपलब्धि पुस्तकीय शिक्षा थी। वैदिक शिक्षा पद्धति प्रारंभ में श्रुति प्रधान थी। अतएव मंत्रों एवं सूत्रों को कण्ठस्थ करने की परम्परा थी, किन्तु बौद्ध-शिक्षा द्वारा पुस्तकीय-शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ एवं इसकी उपयोगिता ने वैदिक शिक्षा पद्धति को भी ग्रन्थ लेखन के लिए प्रोत्साहित किया। वस्तुतः ग्रन्थों

की परम्परा का शुभारंभ बौद्ध-धर्म के चीन में प्रचार-प्रसार के उपरांत ही हो पाया, क्योंकि कागज का प्रथम अविष्कार चीन में ही हुआ था। इस प्रकार ग्रन्थ हमारे शिक्षा का सबसे प्रधान साधन बन गया।

### बौद्ध शिक्षा केन्द्र

बौद्ध-विद्यालयों की स्थापना की अवधारणा महात्मा बुद्ध के चिंतन का परिणाम था। इन बौद्ध विद्यालयों में दश शिक्षा पद एवं पञ्चशीलआदि ग्रहण समारोह हुआ करते थे। ये बौद्ध विद्यालय धीरे-धीरे बौद्ध विहारों में ही स्थापित हो गये। ये बौद्ध विहार समृद्ध गाँवों के समीप ही हुआ करते थे, क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं को भिक्षा इन ग्रामों से ही प्राप्त होती थी। वास्तु शास्त्र की दृष्टि से ये विहार अत्यन्त शांतिदायक एवं सुखकर होते थे।

इन विहारों में अनेक भवन हुआ करते थे। श्रावस्ती एवं जेतवन विहार में एक सौ बीस से भी अधिक भवन थे। इन बौद्ध विहारों में उपदेश देने के लिए, भोजन एवं अध्ययन के लिए अनेक भवन थे। पुस्तकालय, औषधालय एवं भिन्न-भिन्न अध्ययन कक्ष हुआ करते थे। विहार में ही जलाशय की भी व्यवस्था हुआ करती थी। इन पुस्तकालयों में वैदिक-शिक्षा की पुस्तकों के साथ-साथ शिल्प विज्ञानादि की भी पुस्तकें संगृहीत थीं। सभी धर्मों के अनुयायी इन आश्रमों में निवास कर सकते थे।

सम्राट अशोक के समय बौद्ध विद्यालयों की स्थापना सबसे अधिक हुई। छठी शताब्दी में ह्वेनसांग ने अनेक बौद्ध विहारों का वर्णन किया है। इस समय नालन्दा, वल्लभी, विक्रमशीला विश्वविद्यालय विश्वख्याति प्राप्त कर चुके थे-

### नालन्दा विश्वविद्यालय

नालन्दा में एक छोटी नदी के किनारे नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी। 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर 100 करोड़ मुद्राओं में भूमि को खरीद कर महात्मा बुद्ध को सौंपा था। शारिपुत्र की यह जन्म-भूमि थी। यह महात्मा बुद्ध का शिष्य था। यहाँ तथागत ने आमुवन में रूक कर कई दिनों तक उपदेश दिया था। बाद में, सम्राट अशोक ने यहाँ विहार की स्थापना की थी। यह सम्भवतः वैदिक शिक्षा का केन्द्र भी रहा था, क्योंकि 5वीं शताब्दी के आसपास जब बौद्ध धर्म का अत्यन्त प्रचार-प्रसार हो चुका था, दिङ्नाग ने ब्राह्मण विद्वान् सुदुर्गम को नालन्दा में ही शास्त्रार्थ में पराजित किया था। नालन्दा के विहार को गुप्त राजाओं से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी। विदेशी राजाओं का भी सहयोग नालन्दा के विहारों को प्राप्त होता था। सुमात्रा का राजा बालपुत्र यहाँ आया था और पाँच गाँव दान में दिया

था। श्रीहर्ष ने यहाँ कांस्य के मंदिर का निर्माण करवाया था। यहाँ बिल्कुल प्राकृतिक वातावरण था। कुछ छोटे-छोटे भवन थे, तो कुछ गगनचुंबी इमारतें थीं। दस स्नानागार की भी संरचना तैयार की गयी थी। भवनों का निर्माण कलात्मक विधि से किया गया था। व्याख्यान के लिए तीन सौ कक्षाएँ थीं तथा दस हजार विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करते थे। यहाँ बौद्ध विषयों से हटकर अन्य विषय-व्याकरण, तर्कसाहित्य, वेद, वेदान्त, सांख्य आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, वर्मा, सुमात्रा, जावा आदि देशों के छात्र यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। इन छात्रों को निःशुल्क शिक्षा यहाँ प्राप्त होती थी। यहाँ प्रति नौ विद्यार्थियों पर एक शिक्षक थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय एक विशाल परिसर में फैला हुआ था। यह एक मील लम्बाई में एवं आधा मील चौड़ाई में फैला हुआ था। भवनों का निर्माण सुनियोजित था। विद्यार्थियों के रहने के लिए 13 विहार थे, जिनमें किसी में एक एवं किसी में दो व्यक्तियों के रहने की व्यवस्था थी। विद्यार्थियों के कमरे में पत्थर की चौकी, आले, दीपक तथा पुस्तकों की व्यवस्था थी। नालन्दा के ये विहार दो मंजिलें एवं कुछ बहुमंजिले थे। नालन्दा की सर्वाधिक विशेपता इसका विशाल पुस्तकालय था। इसके तीन खण्ड थे- 1. रत्नसागर 2. रत्नदधि तथा 3. रत्नरञ्जक। इत्सिग द्वारा चार सौ संस्कृत-ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार कर रखवाई गयी थीं। इस परिसर को धर्मगंज कहा जाता था। यहाँ स्त्रियों का भी प्रवेश होता था, क्योंकि स्त्रियों के लिए पृथक् विहार बना हुआ था। यह ईंटों के परकोटे से घिरा हुआ था।

यहाँ प्रवेश हेतु मौखिक-परीक्षाएँ होती थीं, जिसमें उत्तीर्ण होने के उपरान्त ही प्रवेश मिलता था। यहाँ प्रवेश हेतु अत्यन्त भीड़ हुआ करती थी। प्रायः सत्तर से अस्सी प्रतिशत विद्यार्थी यहाँ की इस मौखिक प्रवेश परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते थे। यहाँ के सुप्रसिद्ध विद्वानों के नाम इस विहार के उत्तुंग एवं मुख्य-द्वारों पर लिख दिए जाते थे। धर्मपाल एवं चन्द्रपाल अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्ध थे, वहीं प्रभामित्र वक्तृत्व में निपुण थे। जिनमित्र सर्वतोमुखीप्रतिभा के लिए जाने गये थे, तो गुणमति एवं स्थिरमति विवादपार्णत थे। नागार्जुन, वसुमित्र, असंग, धर्मकीर्त्ति आदि ने यहीं अपनी शिक्षा प्राप्त की थी।

नालन्दा बौद्धों के महायान-शाखा का शिक्षा-केन्द्र था, फिर भी यहाँ हीनयान एवं वैदिक धर्म-ग्रन्थों का भी अध्यापन होता था। चिकित्सा-शास्त्र भी यहाँ का प्रमुख विषय था। नालन्दा का समूचा प्रबन्ध दो परिषदों (शिक्षा परिषद् एवं प्रबन्ध-परिषद्) की सहायता से चलता था। महास्थविर इसकी देखरेख करते थे। यह पद जनतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा भरा जाता था।

बारहवीं शताब्दी में बख्तियार खिजली ने इस विश्वविद्यालय को नष्ट कर डाला

था तथा यहाँ का पुस्तकालय भी उसने जला डाला था। ऐसा कहा जाता है कि कई वर्षों तक यह पुस्तकालय जलता रहा था। बिहार के पटना से 100 कि.मी. दूर शिक्षा का यह विशाल केन्द्र सोलह सौ वर्षों तक निरन्तर ज्ञान की ज्योति फैलाता हुआ सर्वदा के लिए समाप्त हो गया।

### विक्रमशिला

विक्रमशिला की स्थापना पालवंश के शासक धर्मपाल ने आठवीं शताब्दी में की थी। यह बिहार के भागलपुर शहर से 40 किमी. की दूरी पर अवस्थित था। यहाँ अनेक बौद्ध मन्दिरों और विहारों का निर्माण करवाया गया था। यहाँ एक सौ आठ विद्या मन्दिर बनवाये गये थे एवं उतने ही शिक्षकों की नियुक्ति भी की गयी थी। इन विहारों में दर्शन एवं धर्म की चर्चाएँ हुआ करती थीं। यह प्राचीन शिक्षा केन्द्रों में अत्यन्त प्रसिद्ध था। यहाँ भी नालन्दा की भांति प्रबन्ध-समिति एवं शिक्षा समिति की सहायता से महास्थविर इस शिक्षा केन्द्र का संचालन उपसम्पदा एवं प्रवज्जा से आने वाले दान से चलता था। यहाँ भी द्वारपालों (द्वार-पण्डितों) द्वारा प्रवेशार्थियों की परीक्षा ली जाती थी। यहाँ बौद्ध-धर्म की शिक्षा के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, तन्त्र एवं तत्त्व ज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। यहाँ का पाठ्यक्रम परम्परावादी था। दीपंकर श्रीज्ञान एवं नागार्जुन जैसे विद्वानों के कारण यह शिक्षा का केन्द्र प्रसिद्ध था। अतिश ने दो सौ पुस्तकों की रचना (मूल+अनुवाद) की थी, यह तिब्बती भाषा का जानकार भी थी। यहाँ का एक छात्रावास तिब्बत के छात्रों से भरा रहता था।

यहाँ की विशेषता यह थी कि यहाँ शिक्षा समाप्ति-पर्यन्त पाल राजाओं के हस्ताक्षर से अंकित उपाधि-पत्र वितरित होते थे। इसे भी बख्तियार खिलजी ने नष्ट कर डाला था। शिक्षा का केन्द्र चार सौ साल तक शिक्षा का प्रसार करता रहा।

### वल्लभी

गुजरात के काठियावाड़ में यह बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था। काठियावाड़ में यह शिक्षा का केन्द्र नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ-साथ स्थापित हुआ था। यह हीनयान शाखा का केन्द्र था, किन्तु यहाँ भी अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ भी शिक्षा के द्वार सभी के लिए खुले हुए थे। सातवीं शताब्दी के आसपास सात हजार छह सौ भिक्षु यहाँ निवास करते थे। वल्लभी में एक सौ विहार थे। यहाँ के स्नातकों को गंगा की घाटियों में प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किया गया था। यह संस्था भी राजकीय सहायता से चलता था। मैत्रक वंशी राजाओं ने वल्लभी को प्रचुर सहायता दी थी। गंगा के प्रदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने आते थे। गुणमति, स्थिरमति आदि विद्वान् यहीं से सम्बद्ध थे। इस विश्वविद्यालय की स्थिति

आर्थिक रूप से सुदृढ़ थी। वल्लभी में करोड़पतियों का आर्थिक सहयोग भी इस संस्था को प्राप्त था।

सात सौ वर्षों तक विद्या का प्रसार करनेवाली यह शैक्षणिक संस्था भी 12वीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रमण का शिकार हो गयी।

### ओदन्तपुरी

यह भी पालवंशी राजाओं द्वारा 11वीं सदी में स्थापित किया गया। किन्तु इस शिक्षा केन्द्र या अन्य शिक्षा केन्द्रों का काल अत्यल्प रहा है। इसी तरह के केन्द्र अमरावती चिनपति तथा जालन्धर विहार आदि थे किन्तु इनके विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

मध्यकाल में ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए ग्राम दान में दिए जाते थे, जिन्हें 'अग्रहार' कहते थे। इन अग्रहार पाने वाले ब्राह्मणों के यहाँ भी शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी।

इस प्रकार भारतीय शिक्षा की विशेषताएँ शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था, आवासीय शिक्षा-प्रणाली एवं राजनैतिक हस्तक्षेप का अभाव था। यह शिक्षा व्यवस्था अत्यन्त सफल रही थी, जिससे व्यक्तित्व के विकास एवं ज्ञान की ज्योति फैलाने में अभूतपूर्व सहायता मिली।



# अध्याय-9

# आर्ष-महाकाव्यकालीन संस्कृति

वैदिक साहित्य के अवसान-काल में लौकिक संस्कृत का उपक्रम होने के समय ऐसे दो महान् ग्रन्थों का उदय हुआ जिन्होंने भारतीय साहित्य तथा जन-जीवन को भी अत्यधिक प्रभावित किया। ये दो ग्रन्थ हैं - रामायण तथा महाभारत इनमें रामायण को 'काव्य' तथा महाभारत को 'इतिहास' कहा गया है। साहित्य की इन दोनों विधाओं का उद्भव श्रौत कर्मकाण्ड के काल में ही हुआ था। यज्ञ के कर्मकाण्ड के क्रम में नैतिक प्रवचन की प्राचीन परम्परा रही है। वैदिक युग में सुपर्णाख्यान (नागों और गरुड़ की शत्रुता से सम्बद्ध आख्यान) प्रचलित हुआ था, ऐसी ही अन्य अनेक कथाएँ नीति की शिक्षा के क्रम से सुनायी थीं। इसी प्रसङ्ग में मर्यादापुरुषोत्तम राम योगिराज कृष्ण की कथाएँ कही जाने लगी थीं। जिन्होंने आनुषङ्गिक कथाओं को जोड़ने से क्रमशः रामायण और महाभारत का रूप लिया। वाल्मीकि और व्यास ने इन्हें ग्रन्थ का रूप दिया।

रामायण तथा महाभारत के प्रचार-प्रसार में प्राचीन सूतों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। ये सूत ग्रामों और नगरों में आजीविका के लिए इन कथाओं को सुनाते थे। कुछ सूत सुशिक्षित एवं कवि भी होते थे। वे समय तथा आवश्यकता देखकर इन कथाओं में अपनी रचनाओं का मिश्रण करते थे। ये प्रक्षिप्तांश भी मूल आख्यान का अङ्ग बनकर दूसरी पीढ़ी में अन्य सूतों के द्वारा सुनाये जाते थे। मूल ग्रन्थ से सम्बद्ध होकर ये अंश प्रान्तीय भेद के कारण विभिन्न संस्करणों के रूप में विकसित हुए। अतएव रामायण-महाभारत दोनों ग्रन्थों के प्रान्तीय संस्करण मिलते हैं जिनसे मूलरामायण या महाभारत के स्वरूप का अनुमान कठिन कार्य है।

### आदिकाव्य रामायण

भारतवर्ष की साहित्यिक परम्परा में वाल्मीकि को 'आदिकवि' और रामायण को 'आदिकाव्य' कहा गया है। शोक से प्रेरित होकर वाल्मीकि के मुख से ही संस्कृत की प्रथम कविता निर्गत हुई थी (**श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः**, रघुवंश 14/70)। इस विचित्र रचना पर स्वयं वाल्मीकि चकित थे कि ब्रह्मा ने प्रकट होकर उनसे कहा-'**ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि, तद् ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिः आर्ष ते प्रतिभाचक्षुः आद्यः कविरसि**'[1] महर्षि वाल्मीकि के

1. उत्तररामचरित 2/5 के बाद आत्रेयी का कथन।

समक्ष शब्दब्रह्म का प्रकाश आविर्भूत हो चुका था, मानवों के लिए उन्होंने शब्द-ब्रह्म के विवर्तरूप रामायण-काव्य की रचना की।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि वाल्मीकि के पूर्व की वैदिक रचनाएँ पद्यात्मक और छन्दोमयी होने पर भी स्तुति, धर्म, यज्ञ, पूजा और अध्यात्म के सन्देशों से ही आकण्ठ भरी थीं, जन-भावना और मानव चेतना से उसका सम्बन्ध नहीं था। वाल्मीकि के मन में क्रान्तिकारी साहित्य की रचना का आन्दोलन चल रहा था कि तमसा-तीर पर 'निषादविद्धाण्डज-दर्शनोत्थः' कवि का शोक श्लोक-छन्द में फूट पड़ा, वही कालान्तर में काव्य की आत्मा के रूप में ग्राह्य हुआ। भले ही इसे भवभूति ने 'शब्दब्रह्म का विवर्त' कहा किन्तु यही कविता जन भावना की वाहिनी बनकर लोक में नई धारा का प्रवर्तन करने में समर्थ हुई। वाल्मीकि चाहते थे कि ऐसी काव्य-रचना करें जो अमर हो, जन-जीवन से सम्बद्ध हो, चतुर्वर्ग की प्राप्ति में सहायक हो, भाव भाषा-छन्द शैली अलङ्कार की दृष्टि से नवीन हो लोक-रञ्जन और परलोक दोनों का साधक हो[1] वे नायक का अन्वेषण कर रहे थे। नारद से उन्होंने पूछ रखा था कि गुण, बल, चरित्र, धर्मज्ञाता, कृतज्ञता, सत्यवाणी, व्रत-पालन, सर्वभूतहित, ज्ञान, सामर्थ्य आदि की दृष्टि से कौन व्यक्ति संसार में श्रेष्ठ है-**महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्।**[2] नायक के रूप में नरश्रेष्ठ राम का चयन होते ही वाल्मीकि की काव्यधारा बह चली। वैदिक गायत्री की पवित्रता प्रदान करने के लिए उनकी कविता एक-एक वर्ण पर एक-एक सहस्र श्लोकों को समर्पित करती हुई 'चतुर्विंशति-साहस्री' संहिता बन गई।

### इतिहासकाव्य-महाभारत

लौकिक संस्कृत साहित्य में महत्त्व की दृष्टि से रामायण के अनन्तर महाभारत का स्थान है। विश्व-साहित्य में सबसे बड़ा ग्रन्थ महाभारत ही है। जिसमें एक लाख से कुछ अधिक श्लोक हैं। यह भारत के सांस्कृतिक विषयों का विराट् कोश तथा आचार संहिता है। महाभारत का जो बृहत्-संस्करण विकसित हुआ है उसके सम्पादक या लेखक ने अपने युग के समस्त उल्लेखनीय विषयों को इसमें समाविष्ट करने का अप्रतिम प्रयास किया है। इसीलिए यह लोकोक्ति चल पड़ी--**यन्न भारते तन्न भारते**। अर्थात् जो बातें महाभारत में नहीं हैं वे भारतवर्ष में नहीं होती हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के समस्त पक्ष इसमें निहित हैं। स्वयं महाभारत के लेखक इस तथ्य का उल्लेख करते हैं -

---

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी-संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ. 111
2. रामायण, 1.1.5 (उत्तरार्ध)।

**धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।**

**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।** (1/62/53)

महाभारत के लेखक का नाम व्यास (कृष्णद्वैपायन, वेदव्यास) है। वे पराशर ऋषि के पुत्र थे। उनकी माता सत्यवती थीं जिनका पालन यमुना के द्वीप में मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा हुआ था। वे वस्तुतः चेदिराज वसु की कन्या थीं। वेदव्यास को यमुनाद्वीप में जन्म के कारण 'द्वैपायन', शरीर से कृष्णवर्ण होने के कारण 'कृष्णमुनि' तथा वैदिक मन्त्रों को याज्ञिक उपयोग के लिए चार वेदों में विभक्त करने के कारण 'वेदव्यास' भी कहा गया है। महाभारत की कथा के अनुसार धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन्हीं से नियोग द्वारा उत्पन्न हुए थे। व्यास ने तीन वर्षों तक निरन्तर परिश्रम से महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की थी।[1]

वर्तमान महाभारत एक लाख से अधिक श्लोकों का ग्रन्थ है। इसलिए इसे 'शत-साहस्री संहिता' भी कहते हैं। उसे अठारह पर्वों में विभक्त किया गया है जो पुनः अनेक उपपर्वों तथा अध्यायों में विभक्त हैं मुख्य रूप से कौरवों और पाण्डवों के बीच हुए उस युद्ध का इसमें वर्णन है जिसमें कौरवों का सर्वनाश हुआ तथा अन्याय पर न्याय की विजय हुई। इस युद्ध में कौरवों के विरुद्ध पाण्डवों की ओर से मन्त्रात्मक सहायता करने वाले कृष्ण की प्रमुख भूमिका थी। अतएव कृष्ण इस ऐतिहासिक काव्य के नायक हैं। महाभारत अठारह पर्वों में विभक्त है।

**रामायण तथा महाभारत**

रामायण तथा महाभारत संस्कृत साहित्य के दो ऐसे अमर तथा विशाल ग्रन्थ हैं जो लौकिक संस्कृत के उदय-काल में ही रचे गये। इन दोनों ने परवर्ती संस्कृत साहित्य को बहुत प्रभावित किया है-कथाओं के उपजीव्य के रूप में भी और वर्णन (प्रतिपादन) की शैली देकर भी। दोनों को धार्मिक ग्रन्थ की कोटि प्राप्त है, दोनों में भारतीय आचार के उपदेश हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन न्यूनाधिक रूप से दोनों ग्रन्थों में हुआ है यद्यपि महाभारत अपने विशालतर आकार के कारण इस विषय में आगे बढ़ गया है। स्वयंवर द्वारा विवाह की कथा दोनों में समान रूप से मिलती है। रामायण में सीता का स्वयंवर होता है तो महाभारत में द्रौपदी का स्वयंवर है। स्वयंवर में कठिन परीक्षा का वर्णन दोनों ग्रन्थों में है। वनवास की कथा भी दोनों ग्रन्थों में वर्णित है यद्यपि दोनों में इसके निमित्तों में अन्तर दिखाया गया है। रामायण में भारत को राज्य दिलाने के लिए कैकेयी का षड्यन्त्र होता है तो महाभारत में दुर्योधन को पूरा राज्य दिलाने के लिए शकुनि का षड्यन्त्र वर्णित है।

1. महाभारत 1.56.52 त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
   महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्।।

दोनों ग्रन्थों में क्रमशः सीता और द्रौपदी के कारण महायुद्ध होता है जो एक पक्ष (हठी पक्ष) के सर्वनाश में परिणत होता है। युद्ध में माया एवं दिव्यास्त्रों का प्रयोग दोनों काव्यों में समान रूप से मिलता है। युद्ध का परिणाम धर्म या न्याय की विजय के रूप में होता है। रामायण में राम के राज्याभिषेक और अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन है तो महाभारत में भी विजेता युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होता है तथा वे अश्वमेध-यज्ञ करते हैं।

दोनों काव्य मुख्य रूप से अनुष्टुप् छन्द का तथा गौण रूप से उपजाति, वंशस्थ, पुष्पिताग्रा, शालिनी आदि छन्दों का प्रयोग करते है। बड़े छन्दों का प्रयोग इनमें नहीं होता है। दोनों की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है जिससे उस युग का स्मरण होता है जब संस्कृत का वाग्व्यवहार सार्वत्रिक था। दोनों काव्यों के वर्तमान रूप आख्यानों एवं मूलकथा को बढ़ाने वाले वर्णनों से भरे हुए हैं। इस प्रकार दोनों में साम्य के दर्शन किये जा सकते हैं। किन्तु कुछ ऐसे विषय भी हैं, तथा उनकी महत्ता अधिक है, जो दोनों ग्रन्थों को परस्पर पृथक् करके उनके पौर्वापर्य के विवेचन में सहायक होते हैं।

'रामायण' और 'महाभारत' में सबसे बड़ा भेद संस्कृति का है। धर्म ही रामायणकालीन संस्कृति का प्राण है। 'महाभारत' का युग कर्मप्रधान था। रामायण में करुण और भावुकता, सरलता और संयम का साम्राज्य है। महाभारत में दर्प और औद्धत्य, उग्रता और तेज का प्राधान्य है। रामायण में पद-पद पर धर्म की दुहाई दी गई है, धर्म ही राम को वन जाने, अनेक कष्ट सहने, यहाँ तक कि सीता का परित्याग करने को बाध्य करता है। पर महाभारत में स्वाभिमान का दर्प उसके पात्रों की रग-रग में भरा है-गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। 'रामायण' पढ़ते समय पाठक एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं, जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता। यदि महाभारत में राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम, भरत जैसे भाई, हनुमान जैसे भक्त और सीता जैसी पतिव्रता नारी, तो 'रामायण' में भी भीष्म जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, बलराम जैसे फक्कड़, कुन्ती और द्रोपदी जैसे तेजोदीप्त नारियों और श्रीकृष्ण जैसे प्रत्युत्पन्नमति और गंभीर तत्त्वदर्शी पात्र दुर्लभ हैं।

महाभारत के पात्रों के चरित्र तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिए युद्ध करना आदि घटनाएँ है व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं है। पर रामायण में ऐसी

घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमा पाता। संतान के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना, रीछ और वानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दस सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती है जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है, उनमें म्लेच्छों का, जो सम्भवतः भिन्न वर्ग तथा भिन्न संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता। परंतु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसलिए किया गया था कि अन्य सभासद् इसको समझ न सकें।

भौगौलिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि रामायण के समय में दक्षिणी भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य-पर्वत तक ही सीमित थी। परंतु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्म पर्व में दक्षिण भारत के प्रतिनिधि राजसूय-यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना पीछे हुई है।

दोनों के सामाजिक दशा में विशेष अंतर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी है। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य ज्येष्ठ भाई के आदेश का पालन करना कर्त्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं , तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं, विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का भार नहीं माना जाता था।

रामायण में नैतिक भावना अपने उँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है परंतु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी। मैथली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुन्दरकांड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते है, परंतु सीता पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती है। अतः वह इसका तिरस्कार कर देती है।

## रामायण का सांस्कृतिक महत्त्व

रामायण एक अत्यन्त लोकप्रिय महाकाव्य है। भारतीय राष्ट्र की विचार-धारा तथा साहित्य को सहस्रों वर्षों तक, अन्य किसी भी ग्रन्थ की अपेक्षा, इसने अधिक प्रभावित किया है। यह काव्य और आचारशास्त्र का संयुक्त रूप है क्योंकि मानव जीवन का आदर्श इसमें प्रस्तुत किया गया है। रामायण के पात्रों तथा मनोरम शिक्षाप्रद कथाओं से प्रत्येक भारतीय का परिचय है। साधारण वार्तालाप में इसके पात्रों का दृष्टान्त दिया जाता है जैसे- राम का आदर्शभूत मानव रूप, लक्ष्मण तथा भरत की भ्रातृभक्ति, सीता का पातिव्रत्य, विभीषण की न्यायप्रियता, रावण की हठधर्मिता, कुम्भकरण की निद्रा इत्यादि। काव्यशास्त्रियों ने काव्योपदेश के रूप में निरन्तर यही कहा है- **'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्।'** रामायण काव्य होने के कारण कान्तासम्मित उपदेश से युक्त है।

रामायण में पितृभक्ति, पुत्रप्रेम, स्वामिभक्ति, प्रजावत्सलता, भ्रातृस्नेह, इत्यादि मानवीय गुणों का एवं सत्य, धर्म सदाचार, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि सामान्य गुणों का विचार से प्रतिपादन किया गया है। अन्याय पर न्याय को अन्ततः विजय का निरूपण करना रामायण का प्रमुख तथा आशावादी पक्ष है। आदर्श मानव के रूप में सभी गुणों से विभूषित नायक राम का चित्रण करके वाल्मीकि ने काव्य में नायक की व्यवस्था का प्रर्वतन किया है (रामायण 1/1/2-4 तथा 8-11)। राम के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और चारित्रिक गुणों का वाल्मीकि ने सूत्ररूप में चित्रण करके पुनः उनका विस्तृत प्रदर्शन किया है[1]। इन गुणों के कारण ही भारत में तथा विदेशों में भी राम कथा का व्यापक प्रचार हुआ। इस दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण भारत के समस्त साहित्य में श्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ है।

वाल्मीकि ने रामायण में मानव-हृदय के सभी पक्षों का वर्णन किया है। पात्रों को उन्होंने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में प्रस्तुत किया है जिससे आज भी भारतीय संस्कार से युक्त व्यक्ति को जीवन के सभी स्तरों में दिशा-निर्देश रामायण से प्राप्त होता है। राजा के कर्त्तव्यों का वाल्मीकि ने व्यापक वर्णन किया है। राजा के न रहने पर प्रजा में सर्वत्र असुरक्षा तथा भय व्याप्त हो जाता है:-

**नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षितः।**
**शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः॥** (2/67/18)

अर्थात् राजा से रहित देश में धनी लोग सुरक्षित नहीं रहते, कृषि और गोपालन

---

1. राम की महत्ता दिखाते हुए वाल्मीकि ने कहा
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हतेद्ध॥ (रा. 2.17.14)

से जीविका चलाने वाले गृहस्थ भी द्वार खोल कर नहीं सो सकते। इसलिए प्रजा में शांति और व्यवस्था राजा का परम कर्त्तव्य है। रामायण की सूक्तियाँ सार्वकालीक महत्त्व रखती हैं, जैसे-**उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु; भयं भीताद् हि जायते; ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्** इत्यादि।

**रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्।**
**सर्वपापहरं पुण्य सर्वदु:खनिबर्हणम्।**
**समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम्।** (रामायणमाहात्म्य 5/63)

रामायण-ग्रन्थ का परायण किया जाता है, इसके लिए धार्मिक विधान हैं। रामायण की पुस्तक ऊँचे स्थान पर रखी जाती है, इसे भूमि पर रखना अशुभ मानते हैं। रामायण में उत्कृष्ट समाज और संस्कृति के चित्र भी प्राप्त होते हैं।

## महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व

महाभारत का उदय निश्चित रूप से युद्ध का वर्णन करने वाले वीररस-पूर्ण काव्य के रूप में हुआ था किन्तु कालक्रम से यह भारतवर्ष की वैविध्यपूर्ण संस्कृति के विशाल दर्पण के रूप में परिवर्तित हो गया। आज यह धर्म और दर्शन के महाकोश के रूप में जाना जाता है जिससे वीररस की प्रधानता शान्तरस में परिणत हो गई। महाभारत के सांस्कृतिक महत्त्व के अनेक पक्ष विचारणीय हैं।

(1) पुरुषार्थ-चतुष्टय का प्रतिपादन-महाभारत में कहा गया है कि इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष -इन चारों पुरुषार्थों का इतना व्यापक विवेचन है कि इसके अतिरिक्त कहीं भी कुछ नवीन सामग्री नहीं हो सकती -

**धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।**
**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहस्ति न तत्क्वचित।।** (1/62/53)

वैशम्पायन ने इसकी प्रशंसा में कहा है कि महाभारत धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र है।[1] प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन में इन पुरुषार्थो को 'चतुर्वर्ग' कहा गया था जिन्हें प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य था। इनके प्रतिपादन से महाभारत ने सम्पूर्ण-जीवन-दर्शन को व्याप्त कर लिया था।

'धर्म' को महाभारत में '**आचारलक्षण:**' तथा '**धारणाद्धर्मः**' के रूप में परिभाषित किया गया है। इसके विविध रूप दिए गये हैं जैसे -सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म। सत्य, तपस्या, दया, अहिंसा आदि सामान्य धर्म हैं। इनका

---

1. धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिनाम्
(1/62/23)। 1/2/383 में पाठ - कामशास्त्रमिदं प्रोक्तम्।

पालन सभी स्थितियों में करना चाहिए। विशिष्ट धर्म के कई प्रकार हैं जैसे- राजधर्म, स्त्रीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, युगधर्म इत्यादि। आपद्धर्म संकट काल में पालनीय होता है। जो सामान्यतः अधर्म के रूप में होता है किन्तु विपत्ति में धर्म का रूप लेता है वही आपद्धर्म है। धर्म का त्याग किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए (**न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः**)।[1] अपने धर्म के लिए प्राणत्याग करने में भी संकोच नहीं होना चाहिए (**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**, गीता 3/34)। धर्म को अवसर के अनुसार परिवर्तित करने का भी विधान महाभारत में है क्योंकि सज्जन के साथ सज्जनता दिखाना यदि धर्म है, तो छली के प्रति छल का प्रयोग भी धर्म ही है-

**यास्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिँस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।**

**मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥** (5/37/7)

'अर्थ की महिमा भी महाभारत में वर्णित है। उद्योगपर्व में धन को परमधर्म कहते हुए निर्धन के जीवन को मृत्युतुल्य कहा गया है-

**धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।**

**जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः॥** (5/71/31)

अर्थ के अभाव में जीवन चल नहीं सकता (**प्राणयात्रापि लोकस्य बिना ह्यर्थं न सिध्यति**, शान्तिपर्व 8/17)। धनहीन व्यक्ति की सभी क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं (**विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा**, शान्तिपर्व 8/18)। धन से ही कुल, धर्म आदि सम्पन्न होते है; 'कृश' होने का अर्थ वस्तुतः धन की कृशता है, शरीर की कृशता नहीं (शान्तिपर्व 8/24)।

'काम' का निरूपण महाभारत के अनेक प्रसंगो में मिलता है। भीष्म ने मानव जीवन की इस सहज प्रवृत्ति को अर्थ का फल कहा है (**कामोऽर्थफलमुच्चते**)। किन्तु धर्ममूलक काम न होने पर वह सर्वनाश का कारण भी बन जाता है (गीता 2/62-3)। भीष्म ने धर्म को श्रेष्ठ, अर्थ को मध्यम तथा काम को दोनों से अवर कहा है -

**धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थं उच्चते।**

**कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः॥** (शान्तिपर्व 167/8)

काम जीवन की गतिशीलता के लिए आवश्यक होने पर संयम की अपेक्षा

---

1. महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व 5/63। इसके पूर्व (5/62)सौति धर्म को अर्थ और काम उत्पादक कारण कहते है - ऊर्ध्वबाहुविरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

रखता है क्योंकि इसके अभाव में चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) दूर हो जाता है (गीता 2/44)। इसीलिए धर्म का अंकुश काम पर लगाने का उपदेश महाभारत में सर्वत्र है।

'मोक्ष' तो महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य ही है। अन्य पुरुषार्थ अङ्ग.मात्र हैं। शांति पर्व में 'मोक्षधर्म' को एक पर्व के रूप में दिया गया है। वैराग्य, संन्यास, धार्मिक जीवन इत्यादि का लक्ष्य 'मोक्ष' ही है जिसमें आत्मा की सांसारिक बन्धनों से आत्यान्तिक निवृत्ति हो जाती है, वह अपने रूप में अवस्थित हो जाता है। मोक्ष की प्रतिष्ठा के लिए इस ग्रन्थ में अनेक गीताओं का निवेश किया गया है जैसे- भगवद्गीता (भीष्मपर्व 25-42) पराशरगीता (शांतिपर्व 290-98), हंसगीता (शांतिपर्व 299), अनुगीता (आश्वमेधिक 16-19), ब्राह्मणगीता (आश्वमेधिक 20-34) इत्यादि।

रचना-काल की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के विद्वान् डॉ. रामजी उपाध्याय ने महाभारत का रचना-काल रामायण की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना है। डॉ. बेबर का भी ऐसा ही मानना है किन्तु अधिकांश विद्वान् रामायण को महाभारत से प्राचीन मानते हैं। युग की दृष्टि से विचार करने पर भी वाल्मीकि व्यास से पूर्ववर्ती हैं क्योंकि वाल्मीकि त्रेता युग के रामचन्द्र के समकालीन हैं तथा व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होने वाले पाण्डवों के समकालीन हैं। साथ ही, कालक्रम की पुष्टि से भी 'वाल्मीकि रामायण' महाभारत से पहले की रचना है।

यही कारण है कि महाभारत में रामोपाख्यान मिलता है। उसमें रामायण के रचयिता वाल्मीकि का नामोल्लेख भी हुआ है।[1] इसके विरोध में रामायण में न महाभारत का उल्लेख है, न उसके रचयिता महर्षि व्यास का और न महाभारत की किसी घटना अथवा उसके किसी पात्र का। रामायण में वर्णित भारतवर्ष की भौगालिक सीमाएँ भी महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित हैं। यह बात दोनों के मूल-रूप की विवेचना करके भी कही जा सकती है। इन समस्त आधारों पर यहाँ कहा जा सकता है कि रामायण की रचना महाभारत की रचना से अधिक प्राचीन है।

परंतु अब प्रश्न यह होता है कि रामायण की रचना हुई कब। बेबर महोदय का मत था कि रामायण की रचना बुद्ध-काल के पश्चात् हुई थी और वह बौद्ध परम्परा के ऊपर आधारित है।[2] परंतु यह मत नितान्त असंगत है। रामायण न महात्मा बुद्ध से परिचित है[3] न उनके जीवन की किसी घटना से और न बुद्ध-कालीन अवस्था

1. महा. 7.14.3.66
2. Uber das Ramayan pg. 6
3. रामायण - 1.109.34 यथा हि चोरस्तया हि बुद्ध तथागतं नास्तिकमत्र वृद्धि-महात्मा बुद्ध को चोर और नास्तिक कहने वाला यह अंश निश्चित रूप से क्षेपक है।

से। पाटलीपुत्र की स्थापना अशोक ने की थी। रामायण इस नगर से परिचित नहीं है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में कौशल की राजधानी सदैव साकेत कही गई है। परंतु रामायण इस नाम से पूर्णतः अनभिज्ञ है। वह इस नगर को प्राचीन नाम अयोध्या से ही पुकारती है। उधर, दूसरी और दशरथ, जातक में रामकथा का उल्लेख मिलता है। इन समस्त साक्ष्यों से यही प्रतीत होता है कि रामायण का रचना-काल बुद्ध-काल से पूर्व का है। भाषा के आधार पर प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् जैकोबी ने भी यही निष्कर्ष निकाला है।[1] अतः मैकडानल्ड महोदय इस मूल का रचना काल 500 ई० पू० के लगभग मानते है।[2]

प्रायः प्रत्येक परम्परागत प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार रामायण में भी प्रक्षेपों की सम्भावना है। जैकोबी महोदय का मत है कि इस महाकाव्य के प्रथम और सप्तम काण्ड पूर्णरूप से प्रक्षिप्तांश है। इस प्रकार यत्र-तत्र प्रक्षेपों को छोड़कर रामायण के प्रारम्भ में केवल पाँच काण्ड थे। जैकोबी महोदय का मत इस बात पर आधारित है कि जिस समय वाल्मीकि ने रामायण लिखी थी उस समय राम एक महापुरुष ही माने जाते थे। रामायण के द्वितीय काण्ड से लेकर पाँचवें काण्ड तक उनका यही रूप मिलता है। परन्तु प्रथम और सप्तम काण्ड से उन्हें ईश्वरावतार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अतः वह बाद का विकास है इस प्रकार सप्तम काण्ड प्रक्षिप्तांश ठहरते हैं। विन्टर्निज का मत है कि रामायण का वर्तमान रूप निश्चित रूप से 200 ईसवीं तक बन गया था।[3]

महाभारत का रचना-काल भी बड़ा विवाद-ग्रस्त है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि महाभारत का युद्ध 2000 ई० पू० और 1000 ई० पू० के बीच हुआ था।[4] इस युद्ध के पश्चात् ही चारणों की घटनाओं और पात्रों की वीरता के सम्बन्ध में गीतों का निर्माण किया गया होगा। इस प्रकार महाभारत के लेखबद्ध होने से सैकड़ों वर्ष पूर्व महाभारत की मूल-घटनाएँ अव्यवस्थित चारण-गीतों के रूप में विद्यमान रही होंगी। कालान्तर में इन्हीं चारण-गीतों पर महर्षि व्यास ने महाभारत को लेखबद्ध किया होगा।

महाभारत को लेखबद्ध कब किया गया, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। महाभारंत का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में हुआ है।[5] इसी प्रकार

1. विण्टरनित्ज ने इस भाषा-साक्ष्य को सन्दिग्ध माना है देखिए उनकी हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग 1, पृ० 511
2. देखिए उनका ग्रन्थ-हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर।
3. विंटरनित्ज, वही पृ० 503.
4. देखिए पार्जिटर का Ancient Indian Historical Traditions.
5. आश्वलायन गृह्य 3.3.1

सांख्यायन गृह्यसूत्र महाभारत के उपदेशक वैशम्पायन, जैमिनि आदि का उल्लेख करता है। परंतु इन गृह्यसूत्रों का रचना-काल निर्धारित करना कठिन है। परंतु इतना निश्चित है कि यह रचना-काल बहुत प्राचीन है। हम पहिले कह चुके है कि रामायण का रचना काल 600 ई० पू० माना जा सकता है। महाभारत इसके बाद की रचना है। अतः यहाँ यही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना 600 ई० पू० के बाद हुई होगी। मैकडानल्ड महोदय का मत है कि रचना 500 ई० पू० के लगभग हुई थी।[1] विण्टरनित्ज इसका रचना-काल 400 ई० पू० लगभग मानते हैं।

परंतु समय-समय पर महाभारत में अनेकानेक प्रक्षेप जुड़ते रहे और इस प्रकार उसका कलेवर बढ़ता रहा। आज इसमें एक लाख श्लोक हैं। परंतु मैकडानल्ड के मतानुसार मूल महाभारत में केवल 20,000 श्लोक थे। अब प्रश्न यह होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप कब बनकर तैयार हुआ। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रश्न पर बड़ी अनुदारता दिखाई है। उदाहरणार्थ होल्जमन के मतानुसार महाभारत का वर्तमान रूप पन्द्रहवीं शताब्दी अथवा सोलहवीं तक निश्चित हुआ था।[2] परंतु समस्त उपलब्ध साक्ष्यों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह मत नितान्त असंगत है।

लगभग 700 ई० में कुमारिल ने महाभारत को एक महान् स्मृति के रूप में उल्लेख किया है।[3] बाण उसे एक उत्तम काव्यकृति बताते हैं।[4] कम्बोडिया में प्राप्त लगभग 600 ई० का एक अभिलेख महाभारत का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करता है। इस महाकाव्य में बौद्ध धर्म विधेयक अनेक उल्लेख पाये जाते है। छठी और पाँचवीं शताब्दियों के अनेक भारतीय अभिलेखों में भी महाभारत का उल्लेख मिलता है।[5] ऐसे ही अनेक साहित्यिक तथा अभिलेख संबंधी साक्ष्यों के आधार पर आर०जी० भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि 500 ई० पू० तक महाभारत एक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता था। वर्तमान रूप में महाभारत में यूनानियों,शकों, पील्वों आदि विदेशीय जातियों का वर्णन मिलता है। उसमें विष्णु और शिव की उपासना का उल्लेख है। अनेक स्थानों पर मन्दिरों और स्तूपों का वर्णन है। इन आधारों पर मैकडानल्ड महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस महाकाव्य का परिवर्धन 300 ई० पू० के बीच में हुआ था। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के मतानुसार महाभारत पतंजलि के महाकाव्य (ई०पू० दूसरी शताब्दी) तक पूर्ण हो चुका था।[6]

1. मैकडानल्ड वही. पृ० 285.
2. Das Mahabharata 1, 194
3. ब्यूलर, इण्डियन स्टडीज 2, एस० डब्लू० ए० 1893, पृ० 5.
4. हर्षचरित - प्राक्कथन रूप में श्लोक 4-10
5. विन्टर्निज वही, पृ० 464.
6. देखिए, उनकी Hindu Civilisation.

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान रूप में सम्पूर्ण रामायण और महाभारत किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की रचनाएँ नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कालों में इन महाकाव्यों के मूल का परिवर्तन करते रहे हैं। अतः जव हम महाकाव्यकालीन सभ्यता का नाम लेते हैं तो इससे किसी काल-विशेष की सभ्यता का बोध नहीं होता। इससे केवल इन दोनों महाकाव्यों में चित्रित सभ्यता का ही अर्थ लेना चाहिए। यह सभ्यता भिन्न-भिन्न कालों की सभ्यता है। कभी-कभी तो ये महाकाव्य आदि मानवीय सभ्यता को लेकर उसका क्रमिक विकास उपस्थित करने की चेष्टा करते है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर हाप्किन महोदय[1] ने कहा है कि इनमें सामाजिक अवस्थाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतया भिन्न-भिन्न तिथियों का है। वहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन दोनों महाकाव्यों में वर्णित अवस्थाएँ एवं विचार धाराएँ बहुत कुछ समान रूप है।

## वर्ण-व्यवस्था

**ब्राह्मण वर्ण**-महाकाव्यकालीन समाज में भी वर्ण-व्यवस्था सम्यक् रूप में प्रतिष्ठित थी। ऋग्वेद की भाँति रामायण में भी चतुर्वर्ण परम पुरुष से उत्पन्न बताये गये है।[2] उससे ब्राह्मण की श्रेष्ठता पूर्ववत् वर्तमान थी। वह परम पुरुष से उत्पन्न हुआ था।[3] वह अबध्य है।[4] वह कर मुक्त है।[5]

परन्तु अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने वाला ब्राह्मण अपना सारा सम्मान खो बैठता था। बिना पढ़ा-लिखा ब्राह्मण काष्ठस्ती अथवा मृगचर्म के समान है।[6] इसलिए ब्राह्मण के लिए एकमात्र वेदाध्ययन और तपश्चर्या पर ही सदैव जोर दिया गया।[7]

ब्राह्मण के संबंध में जो नियम बनाये गये थे उनसे उसके त्यागमय एवं विशुद्ध जीवन पर प्रकाश पड़ता है। धन-संग्रह उसके लिए वर्जित था।[8] ब्राह्मण में शम, दम, तप, शौच, शांति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य होना चाहिए।[9]

---

1. AOSJ Vol. 10 p. 70
2. रामा० 3. 14. 29.30
   मुखतो ब्राह्मण जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
   उरुभ्यां जज्ञिरे वैश्या पद्भ्यां शूद्रा .....,।।
3. रामा० 3. 14 29, महा० 6. 67. 18.
4. महा० 1.28.3.
5. महा० 12. 76. 19.
6. महा० 12. 36. 41. 48.
7. महा० 12. 12. 24.
8. महा० अनुशासन 61. 19.
9. महा० 6. 42. 42.

महाभारत में ब्राह्मणों की 6 कोटियाँ बताई गई हैं- (1) ब्रह्मसम (2) देवसम (3) शूद्रसम (4) चाण्डालसम (5) क्षत्रसम और (6) वैश्यसम। इस कोटिकरण से प्रकट होता है कि अनेक कारणों से ब्राह्मण विविधकर्मा हो गये थे। उन्होंने यह नियम बताया कि ब्राह्मण द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के कर्मों का अनुसरण कर सकता है।[1] अन्य कर्म उसके लिए गर्हित थे।[2] ब्राह्मण-वर्ण क्षत्रिय-कर्मों का अनुसरण कर रहा था - द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य ब्राह्मण थे फिर भी ये शस्त्र ग्रहण कर कौरव-पक्ष की ओर से युद्ध में भाग ले रहे थे। ब्राह्मण की विभिन्न कोटियों में एक कोटि क्षत्रसम ब्राह्मणों की भी थी। महाभारत में ही एक स्थान पर उल्लेख है कि क्षात्राधर्मानुसारी ब्राह्मण के वध में कोई पाप नहीं है।[3]

महाभारत के उल्लेख से प्रकट होता है कि ब्राह्मण वैश्य-कर्म भी करते थे। वैश्यसम ब्राह्मणों के उल्लेख महाभारत से मिलते हैं।[4] वे व्यापार-व्यवस्था भी करते थे। इसके साक्ष्य महाभारत में मिलते हैं।[5] स्वयं व्यवस्थाकारों ने कहा था कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण वैश्य-कर्म का अवलम्ब लेकर जीवन निर्वाह कर सकता है।[6] कदाचित् उद्यमविहीन और चरित्रहीन ब्राह्मण अति निम्नातिनिम्न कर्मो में संलग्न थे। उन्हें चोरकर्मा, नटकर्मा आदि भी बताया गया है।[7] ऐसे ही ब्राह्मणों को महाभारतकार ने शूद्र-सम और चाण्डालसम कोटियों में रखा है।

**क्षत्रिय वर्ण**–क्षत्रिय-वर्ण शासक-वर्ग, संरक्षक-वर्ग और योद्धा वर्ग था। उसका प्रमुख कार्य चतुर्वर्णों का संरक्षण करना था।[8] व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह असाधुओं का दमन करता था और साधुओं की रक्षा।[9] योद्धा और पालक होने के कारण उसमें शूरता तेज, धृति, दक्षता, अपलायन (युद्ध से भागना), दान और आस्तिकता के गुण आवश्यक थे।[10] क्षत्रियों के नैतिक शुद्ध-विधान का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों को भी अध्यापन का अधिकार था।[11] परन्तु रामायण

1. महा० 12. 29. 4. 3.
2. महा० 12. 76. 2.3.
3. महा० 7. 160. 38.
4. महा० 13. 33. 12-14.
5. महा० उद्योग० 38.5, शान्ति. 250 78. 4-6.
6. महा० 12. 29. 4.3
7. महा० अनुशासन० 33. 11.
8. रामा० 2. 106. 18-21.
9. महा० 5. 139. 19.22.
10. महा० 6.42. 43.
11. महा० 5.40, 26; 12.60, 13-20.

के उल्लेखों से प्रकट होता है कि उन्हें अध्यापन अथवा याजन (यज्ञ कराने) का अधिकार न था।[1] इस कथन की पुष्टि महाभारत से भी होती है।[2]

कुछ विचारक वर्णव्यवस्था को जन्मज न मान कर कर्मज मानने की चेष्टा कर रहे थे। उदाहरणार्थ रामायण में एक स्थान पर कहा गया है कि (जन्म से नहीं) वीरता से ही कोई क्षत्रिय होता है।[3] इसी प्रकार महाभारत का उल्लेख है कि शूद्र भी कर्म के अनुसार क्षत्रिय हो सकता है।[4] परन्तु परशुराम, द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य शस्त्र ग्रहण करने के पश्चात् भी आजीवन ब्राह्मण ही रहे। इस प्रकार सुधारवादी वर्ग का जात्यापकर्ष अथवा जात्युत्कर्ष महाकाव्यों में सम्मान्य न हो सका। इस प्रकार अन्य वर्णों की भाँति क्षत्रिय जन्मज ही रहा।

ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रमुख वर्ण थे। इन दोनों वर्णों की पारस्परिक कलह समाज के लिए विनाशकारी बतायी गयी।[5]

**वैश्य वर्ण**-महाभारत में उल्लेख है कि समाज के जिस वर्ग ने अध्ययन यजनादि कर्मों का परित्याग कर कृषि-कर्म और गो-पालन का अनुसरण किया वह वैश्य हो गया।[6] उनका प्रमुख ध्येय धनार्जन ही रहा।[7] कृषि गोरक्षा और वाणिज्य उनके स्वाभाविक कर्म थे।[8] यह वर्ण सबसे अधिक धनी था। इसी से सबसे अधिक राजकर यही देता था।[9] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह शस्त्र-ग्रहण कर सकता था, क्योंकि महाभारतकार का कथन है कि समाज को उच्छृंखलता से बचाने के लिए प्रत्येक वर्ण शस्त्र ग्रहण कर सकता है।[10]

**शूद्र वर्ण**—शूद्र-वर्ण समाज का सबसे अधिक निम्न वर्ग था। ऋग्वेद की भाँति रामायण भी उसे परम् पुरुष के पदों से उत्पन्न बताती है।[11] उसे अध्ययन करने का अधिकार था और यजन करने का।[12] उसका मूल धर्म सेवा था।[13] विदुर ने स्वयं कहा था कि शूद्र होने के कारण मैं शिक्षा नहीं दे सकता।[14]

1. महा० 1.5.9. 13-14.
2. महा० 12.60. 13.20.
3. महा० 7. 26. 33.
4. महा० 3. 136. 11-12.
5. महा० 12. 73. 2.
6. महा० 12. 188. 1-18.
7. महा० 5. 132. 30.
8. महा० 6. 42. 44.
9. महा० 2. 47. 28.
10. महा० शान्ति० 78. 15.
11. रामा० 3. 14. 29. 30.
12. रामा० 1. 59. 13.-14.
13. रामा० 1. 59. 13-14.
14. महा० 5. 41. 5-6.

**विदेशीय आक्रमण का वर्ण-व्यवस्था पर प्रभाव**--महाभारत में हम स्थान-स्थान पर वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोहहीनता, नृशंसताहीनता, विनय, घृणाहीनता और तप-जिसमें ये गुण होते हैं वही ब्राह्मण है। यदि ये लक्षण शूद्र में हों और ब्राह्मण में न हों तो शूद्र नहीं है और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है।[1] इसी प्रकार अन्यत्र महाभारतकार का कथन है कि सत्य, दम, तप, दान, अहिंसा, धर्म-नित्यता-मनुष्य में यही सिद्धिदायक हैं, जाति अथवा कुल नहीं।[2] ऐसे ही अनेक उल्लेख महाभारत में पाये जाते है। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि समाज का एक सुधारवादी वर्ग मनुष्य का मूल्यांकन जाति के आधार पर न करके विशुद्ध कर्म और शील के आधार पर करना चाहता था। इस विचार धारा के अन्तस्थल में कदाचित् दो प्रभाव कार्य कर रहे थे - एक तो कर्मप्रधान बौद्ध-धर्म के प्रचार का प्रभाव और दूसरा विदेशी आक्रमणों का प्रभाव। पहला प्रभाव तो सुस्पष्ट है बौद्ध धर्म ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था और उसके स्थान पर शील की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। समाज के ऊपर इस क्रान्तिकारी विचारधारा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उसी विचार धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए यदि कतिपय विचारकों ने महाभारत में जाति को जन्मज न मानकर कर्मज माना हो, तो स्वाभाविक ही है। यहाँ अब हम दूसरे प्रभाव पर विचार करेंगे।

भारतवर्ष पर विदेशी आक्रमण का जो क्रम 206 ई० पू० के ऐण्टियाकस तृतीय के आक्रमण से प्रारम्भ हुआ, वह ईसा के प्रथम शताब्दी तक जारी रहा। इस 300 वर्षों के आक्रमण-काल में भारतवर्ष में इंडो-यूनानी, शक, पहलव और कुषाण नामक विदेशीय जातियाँ आई। रामायण में यवन और शकों का वर्णन है।[3] महाभारत में यवन, शक, पहल्व, किरात, चीन तथा बर्बर जातियों का उल्लेख किया है।[4] पतंजलि ने 'शकयवनम्' का उल्लेख है और यवन-आक्रमण के प्रत्यक्ष उदाहरण दिये हैं।[5] मनुस्मृति में पौंड्क, द्रविड, कम्बोज, किरात, दरद, चीन, खश, यवन, पारद तथा पहल्व जातियों का उल्लेख मिलता है।[6]

अपने दीर्घकालीन सम्पर्क में इन अनार्य तथा विदेशी जातियों ने भारत के आर्य-समाज पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाला होगा, इसमें सन्देह नही। अनेक विदेशी जातियों ने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया होगा। उनमें बहुतों का

---

1. महा० शान्ति० 189. 4, 8.
2. महा० वन० 189. 42-43.
3. रामा०-योनिदेशाच्च यवना: शकस्थानातथा शका:। महा० शान्ति० 35. 17-18.
4. पाणिनि 2.4.10. पर पतंजलि का महाभाष्य।
5. अरुनद् यवन: साकेतम्। अरुनद् यवन: माध्यमिकाम्।
6. मनु० 10. 43. 45.

भारतीयकरण हो गया था। होलिओडोरस ने भगवत धर्म स्वीकार कर लिया था और मीनेण्डर ने बौद्ध धर्म। रुद्रदामा आदि अनेक विदेशियों के नाम भी भारतीय हो गये थे। इस प्रकार अनार्य विदेशीय जातियों का एक बहुत बड़ा समुदाय अपनी पृथक् सत्ता छोड़कर भारतीय समाज का एक अंग बन गया था। परन्तु भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। प्राचीन चतुर्वर्ण-व्यवस्था इतनी दृढ़ हो चुकी थी कि उसके साथ पंचम वर्ण की कल्पना करना भी असम्भव था।[1] अतः स्पष्ट था कि जब तक भारतीयकृत अनार्यों और विदेशियों को चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत न रखा जाय तब तक वे भारतीय समाज में खप न सकेंगे। कदाचित् इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुधारकों ने जन्म के स्थान पर कर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने की आवाज उठाई।

विदेशियों की विचित्र स्थिति थी। शुद्ध-कर्मा होने के कारण एक ओर तो वे क्षत्रियों के समकक्ष रखे जा सकते थे परन्तु दूसरी ओर अनार्य होने के कारण वे शूद्र थे। अतः यदि भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत उन्हें स्थान मिलता तो क्षत्रिय और शूद्र वर्णों के अन्तर्गत ही। कदाचित् यही हुआ भी। विदेशियों का ऐसा वर्ग जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से उच्चतर था, क्षत्रिय समुदाय में निमज्जित होने लगा। इसके विरुद्ध विदेशियों का यह वर्ग जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से हीन था भारतीय शूद्र समुदाय में घुल-मिल गया। महाभारत तथा मनुस्मृति का यह कथन[2] कि किरात, शबर, दरद, द्रविड, कम्बोज, यवन और शकादि जातियाँ प्रारम्भ में क्षत्रिय थी, परन्तु कालान्तर में ब्राह्मण-सम्पर्क से पृथक् हो जाने के कारण वे शूद्र हो गईं कदाचित् यही सत्य प्रकट करता है। इस कथन से व्यवस्थाकारों की अनार्यों एवं विदेशियों को चतुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सामञ्जित करने की चेष्टा ही परिलक्षित होती है। इससे यह भी आभास मिलता है कि वे क्षत्रिय और शूद्र समुदायों में ही परिगणित हो सकती थीं।

प्रारम्भ से ही शूद्र दो कोटियों में विभक्त थे – (1) निरवसित और (2) अनिरवसित। पतंजलि ने इस पर व्याख्या करते हुए कहा था कि निरवसित शूद्र अस्पृश्य है। उनके भोजन करने से पात्र सदा के लिए अशुद्ध और त्याज्य हो जाते हैं। इस कोटि के शूद्रों में चण्डाल और मृत आते हैं। दूसरी कोटि के शूद्र अनिरवसित थे। ये स्पृश्य थे। जिन पात्रों में ये खाते थे संस्कार द्वारा शुद्ध हो सकते थे। अतएव वे पात्र सदा के लिए अस्पृश्य और त्याज्य नहीं होते थे।[3] इस कोटि के शक और

1. महा० अनुशासन पर्व 47-18., स्मृताश्च वर्णाश्चत्वर पंचमो नाभिगम्यते।
   मनु० 10.4 – चतुर्थ एवं जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।
2. महा० अनुशासन 33. 21. 23. 35. 27. 18., मनु० 10. 43. 45.
3. पाणिनि 2.4.10 पतंजलि -येर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवासिताः।
   यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिता।।

यवन आते थे। इससे प्रकट होता है कि भारतीय व्यवस्थाकार विदेशियों के साथ सामान्य अस्पृश्य शूद्रों का सा व्यहाकार करने में संकोच कर रहे थे। विशेष परिस्थिति को समझते हुए वे उन्हें उच्चतर पद देना चाहते थे।

निरवसित शूद्रों में भी बहुसंख्यक शूद्र ऐसे होंगे जो अपने सदाचार के कारण समाज में विशेष आदरणीय समझे जाते होंगे। ऐसे सदाचारी शूद्रों को (निरवसित और कदाचित् अनिरवसित दोनों को ही) महाभारतकार ब्राह्मण-कोटि में रखने के लिए तैयार हैं।[1] दूसरे स्थान[2] पर जब महाभारत यह घोषणा करता है कि शूद्र भी अपने सदाचार से वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण हो सकता है तो वह जन्म से ऊपर आधारित पुरातन वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध अवश्यम्भावी क्रान्ति की सूचना देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अति प्राचीन काल से ही समाज का एक वर्ग जन्म स्थान पर कर्म को अधिक प्रतिष्ठा देना चाहता था। यह सुधारात्मक विचारधारा महाभारत में अधिक बलवती दिखाई देती है। कदाचित् विदेशी सम्पर्क एवं आगमन ने भारतीय समाज में जो एक नवीन स्थिति उत्पन्न कर दी थी उसने भी इस धारा के प्रवाह को जीवन-दान दिया था।

**शूद्र समुदाय का उन्नयन**–समाज में एक ऐसे सुधारपन्थी वर्ग का भी उदय हो गया था जो प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को परिवर्तित-परिस्थिति में उपहासास्पद समझता था और उसे आमूल नष्ट करके एकमात्र कर्म के आधार पर सामाजिक उच्चता और निम्नता का अंकन करना चाहता था। यह वर्ग अल्पसंख्यक था। यद्यपि सुधारपन्थी वर्ग पुरातनवादी वर्ग को अपदस्य न कर सका और वर्ण-व्यवस्था बहुत कुछ जन्मज ही रही, तथापि उसके सतत् प्रयास का परिणाम यह अवश्य हुआ की शूद्र समुदाय की अवस्था पहले की अपेक्षा कुछ सुधर गई। महाभारत में हम देखते हैं कि सदाचारी शूद्रों का आदर-सत्कार होने लगा था। उदाहरण के लिए विदुर, कायव्य और मतंग को लीजिए। जन्मना ये शूद्र थे, परन्तु कर्म के आधार पर ब्राह्मणों की भाँति ही सामान्य समझे जाते थे। व्यवाहारिक रूप से शूद्रों के अधिकार भी अब बढ़ गये थे। अब राज्य के 3 प्रमुख पद शूद्रों को मिलने लगे थे।[3] अपने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने शूद्र-प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया था।[4] अब एकमात्र सेवा कर्म ही उनका धर्म न था। अब वे वाणिज्य, पशुकर्म और अन्य उद्योग-धन्धों का भी अनुसरण कर सकते थे।[5] यही नहीं, वे यज्ञादि धार्मिक क्रियाएँ

1. वनपर्व 216. 14-.15-यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे सततोत्थितः
   तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृतेन हि भवत् द्विजः।
2. महा० 3. 212 11-12.
3. महा० शान्ति० 75-6-10.
4. महा० 2.33.41.
5. महा० 12. 292. 2-4.

भी कर सकते थे।[1] यह बात नहीं है कि ये अधिकार महाभारत में ही एकमात्र उल्लिखित है। इनमें कुछ का उल्लेख पूर्वगामी सूत्र-साहित्य में भी मिलता है। परन्तु यहाँ सम्पूर्ण महाभारत के वातावरण को देखते हुए जो महत्त्वपूर्ण अन्तर दृष्टिगत होता है वह यह है कि इसी ग्रन्थ में इन अधिकारों का अधिकाधिक व्यावहारिक रूप दिखाई देता है।

**अन्य जातियाँ** -महाभारत में चतुर्वर्णों के अतिरिक्त अन्य बहुसंख्यक जातियों के उल्लेख मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति का विशेष कारण था अनुलोम और प्रतिलोम विवाह।[2] इन जातियों में कुछ का नामोल्लेख भी महाभारत में मिलता है।

(1) **आयोगव** - शूद्र-पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान।[3]

(2) **उग्र**- क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री की सन्तान।[4]

**करण** - क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान।[5]

**चाण्डाल** - नापितपुरुष और ब्राह्मण स्त्री की संतान।[6]

**निषाद** - ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री की संतान।[7] यह जाति रामायण में भी उल्लिखित है। निषादराज गुह ने रामचन्द्र को नदी के पार उतारा था।[8]

**मागध** - वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की संतान ।[9]

**वैदेहिक** - वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की संतान।[10]

परन्तु वर्ण-संकर जातियों का यह नामकरण अधिकाशंतः काल्पनिक था और स्वयं व्यवस्थाकारों में भी उनके नाम और उत्पत्ति के विषय में मत भेद था।

## चार आश्रम

पूर्वगामी व्यवस्थाकारों की भाँति महाभारतकार ने भी मनुष्य की आयु 100 वर्ष की मानी है।[11] इन्हीं वर्षों को चार भागों में बाँट कर चार आश्रमों की कल्पना की

1. महा० 12. 13. 22.
2. महा० 12. 296. 5-9.
3. महा०, अनुशासन 48. 13.
4. महा०, वही, 48.7.
5. महा०, आदि पर्व० 115-43.
6. महा०, अनुशासन 29.17.
7. महा०, अनुशासन 48.5.
8. महा०, अयोध्याकाण्ड 50.33.
9. रामा०, अनुशासन 48.12.
10. महा०, अनु० 48.10.
11. महा० 13. 104. 1.

गई थी।[1] सामान्यतया महाभारत के अनुसार प्रत्येक आश्रम 25 वर्ष का होता था। शूद्र को छोड़कर प्रत्येक द्विजाति के लिए यह आश्रम-योजना बनाई गई थी। शूद्रों के निमित्त गृहस्थ आश्रम ही था।[2] शेष आश्रमों में प्रविष्ट होने का उसे अधिकार न था।

**ब्रह्मचर्य आश्रम**—यह काल मनुष्य के अगामी जीवन-संघर्ष के लिए अपने व्यक्तिगत विकास के लिए समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के निभाने के लिए तैयारी का काल था। यह उसके लिए शिक्षा-दीक्षा, ब्रह्मचर्य और अनुशासन का काल था। संसार के जनजाल से दूर, आमोद-प्रमोद से विरक्त ब्रह्मचारी अति सरलता, अल्प-भाण्डाता और शुद्धता का जीवन व्यतीत करते हुए अपने गुरु के अहर्निश निरीक्षण में अध्ययन कराता था। उसे नियमित भिक्षावृति पर रहना पड़ता था। भिक्षा में मिली वस्तु का उपभोग भी अपने गुरु आज्ञा से ही कर सकता था।[3] अपने गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा, भक्ति तथा आज्ञाकारिता असीम थी।[4]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार रूप में ब्रह्मचर्याश्रम का पालन प्रमुखतया ब्राह्मणों और साधारणतया क्षत्रियों के द्वारा ही होता था। अन्य वर्णो तथा नारी समुदाय में ब्रह्मचारियों के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। ब्राह्मणों में वेद, शुक उपमन्यु, द्रोण, तथा क्षत्रियों में द्रुपद और लव-कुश के उदाहरण मिलते हैं। ये सब ब्रह्मचर्याश्रम में रहे थे। परन्तु इन सबने भी ब्रह्मचार्यश्रम के यम-नियमों को किस सीमा तक पालन किया था, यह नहीं कहा जा सकता। सारांशतः महाभारत में उल्लिखित व्यवस्था और व्यवहार में बड़ा अन्तर था।

**गृहस्थाश्रम**—यह काल विवाहित जीवन का काल था। कभी-कभी विवाह होने में कुछ देर हो जाती थी। अतः ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम के बीच इन अवस्था को स्नातकावस्था कहते थे। रामायण में विद्याध्ययन के पश्चात् राम को स्नातक कहा गया है।[5]

रामायण के अनुसार गृहस्थाश्रम चतुराश्रमों में सर्वप्रमुख था।[6] इसी प्रकार महाभारत का कथन है कि गृहस्थाश्रम की गुरुता अन्य तीनों आश्रमों की गुरुता के सम्मिलित योग के बराबर है।[7] इसी ग्रन्थ में पुनः उल्लेख है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही अवलंबित है।[8]

1. महा० 2.242. 15. 216. 12.242. 48.
2. महा०, अनुशासन० 165.10.
3. महा० 14. 46. 2-7.
4. महा० 12. 242. 16-30.
5. महा० 2. 82. 11.
6. रामा०, अयोध्या० 106. 23.
7. महा०, शान्ति० 12. 12.
8. महा० 12. 295. 39.

**गृहस्थाश्रम के पंचमहायज्ञ**–ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति गृहस्थाश्रम के भी विविध नियम थे। गृहस्थ को जो धार्मिक काम करना पड़ता था उनमे पंच महायज्ञ प्रधान है। इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। रामायण और महाभारत में इनका उल्लेख मिलता है।[1] महाभारत के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ के लिए ये पंचमहायज्ञ अति आवश्यक थे।[2] इन यज्ञों के मूल में आर्यों के पितरों, देवों, ब्राह्मणों अतिथियों और भूतों (प्राणियों) के प्रति श्रद्धा, भक्ति, ऋण अथवा उदारता की भावना ही थी। एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य को देवों, पितरों, ब्राह्मणों अतिथियों के ऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।[3] दूसरे स्थान पर कहा गया कि मनुष्य के समस्त-कार्य कलापों का एक मात्र उद्देश्य देवों, पितरों, भूतों और अतिथियों की सन्तुष्टि है।[4]

**वानप्रस्थ आश्रम**–अपनी आयु के तृतीय चरण में मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होता था।[5] साधारणतया मनुष्य अपने गृहस्थ जीवन के सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के पश्चात् ही इस आश्रम को ग्रहण करता था। अपने पुत्रों के वयस्क तथा उसके बीच राज्य-विभाजन करने के पश्चात् ही राम ने संसार-त्याग किया था।[6] इसी प्रकार पाण्डव परीक्षित का राज्याभिषेक करने के पश्चात् ही गृहत्यागी बने थे।

महाकाव्यों के उदाहरणों से प्रकट होता है कि वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्ति अधिकांशतः ब्राह्मण और क्षत्रिय ही अधिक थे। व्यास, वसिष्ठ और अत्रि ब्राह्मण थे। इसी ग्रन्थ में धृतराष्ट्र का कथन है कि हमारे वंश की यह परम्परा रही है कि पुत्रों को उत्तरदायित्व सौंपकर हम वन गमन करें।[7]

वैश्य-समुदाय स्वभावतः प्रवृत्ति-प्रधान था। व्यावसायिक वैभव एवं आर्थिक समृद्धि के विरोध में विराग एवं संसार-त्याग के सिद्धान्त इसे कभी भी रुचिकर प्रतीत न हुए। यही कारण है कि वानप्रस्थ आश्रम वैश्यों में कभी भी अधिक सामान्य न हो सका। महाकाव्यों में वानप्रस्थ-वैश्यों में एकमात्र श्रवणकुमार के पिता का ही उदाहरण दिया जा सकता है।

---

1. महा०, शान्ति० 270. 10. 11.
2. महा० 12. 146. 6-7.
3. महा० 13. 37. 17.
4. महा० 14. 32. 24.
5. महा० 12. 244. 5.
6. रामा० 7. 108. 4-5.
7. महा० 15. 31. 38.

जहाँ तक शूद्रों का सम्बन्ध है, उनके लिए एकमात्र गृहस्थाश्रम की ही योजना थी। वे अन्य आश्रमों में प्रविष्ट न हो सकते थे। परन्तु समाज की एक अन्य विचारधारा के अनुसार शूद्र अपने गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों का पालन करने के पश्चात् राजाज्ञा से वानप्रस्थ आश्रम भी ग्रहण कर सकता था।[1] विदुर के अतिरिक्त अन्य वानप्रस्थ-शूद्रों के उदाहरण नहीं मिलते।

ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ आश्रम को स्त्रियाँ भी ग्रहण कर सकती थी। महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र और पाण्डु के साथ उनकी पत्नियाँ भी वानप्रस्थ हुई थीं।

**संन्यास**—प्रथम तीन आश्रमों के समस्त उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के पश्चात् मनुष्य संन्यासाश्रम में सम्पूर्णत: संसार से विरक्त हो जाता था। परन्तु महाभारत में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब कतिपय व्यक्तियों ने निर्धारित समय अथवा क्रम का व्यतिक्रम करके भी संन्यास ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, मेधावी और शुक ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर ही संन्यासी हो गये थे। वे गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में प्रविष्ट ही न हुए थे। परन्तु ये उदाहरण अपवाद-स्वरूप हैं।

महाभारत में एक स्थान पर कथन है कि चतुराश्रम-व्यवस्था समस्त वर्णों के लिए है।[2] महाकाव्यों में हमें जो उदाहरण मिलते हैं उनसे तो यही प्रतीत होता है कि व्यावहारिक रूप में यह आश्रम एकमात्र ब्राह्मण-वर्ण में ही प्रतिष्ठित था। रामायण और महाभारत में क्षत्रिय और वैश्य संन्यासियों के उदाहरण नहीं मिलते। जहाँ तक शूद्रों का प्रश्न है, तो उनके लिए केवल गृहस्थ आश्रम ही उपयुक्त समझा गया था। महाभारत में विदुर के उदाहरण को प्रस्तुत करके टीकाकार नीलकण्ठ ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि सन्यासाश्रम शूद्रों के लिए भी धर्मविहित था।[3] महाकाव्यों के प्राय: समस्त संन्यासी ब्राह्मण ही हैं।

महाकाव्यों के साक्ष्य से प्रकट होता है कि कभी-कभी स्त्रियाँ भी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होती थीं। इनमें मेधावी, सुलभा और शबरी के उदाहरण विशेष उल्लेखनीय है परन्तु कालान्तर में स्त्रियों का संन्यासाश्रम-प्रवेश धर्म-विरुद्ध समझा जाने लगा।[4]

## नारी-समाज

**पुत्र**—महाकाव्यों से भी यही प्रकट होता है कि भारतीय समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र ही अधिक प्रिय माना जाता था। उदक-दानादि के द्वारा वह अपने पितरों

---

1. महा० 12. 63. 12-13.
2. महा० शान्ति० 63. 11. 12.
3. आश्रमवासिक 26. 32. 33.
4. अत्रि० 136. 7.

को 'पुत्' नामक नरक से त्राण देता था। इसी से उसका नाम 'पुत्र' पड़ा था।[1] यह इहलोक और परलोक दोनों के लिए आवश्यक था।[2]

**पुत्री**–इसके विरुद्ध पुत्री तो साक्षात् 'आपत्ति' थी।[3] वह अपने माता-पिता और पति तीनों के कुलों के लिए संकट थी।[4] रामायणकार की दृष्टि में भी उसकी स्थिति निम्न थी।[5]

परन्तु इन उद्धरणों से यह न समझना चाहिए कि समाज में पुत्री नितान्त अनादृत और उपेक्षित थी। यद्यपि समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की कामना अधिक की जाती थी तथापि पुत्रियों में भी उसका अनुराग यथेष्ट था। महाकाव्यों में अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं जब पुत्रियाँ अपने माता-पिता के असीम अनुराग की केन्द्र थीं। कुन्ती, देवयानी, द्रौपदी, उत्तरा, और सीता के उदाहरण ऐसे ही हैं। सावित्री और दमयन्ती क्रमशः अपने पिता अश्वपति और भीम की विविध धार्मिक साधनाओं और क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थीं।[6] मणिपुर-नरेश अपनी पुत्री को पुत्र के समान समझता था।[7] महाभारत में भीष्म का भी कथन है कि पुत्री पुत्र के समान होती हैं।[8] यही नहीं, कुछ मनुष्य तो पुत्रियों को पुत्र से भी अधिक प्रिय और वांछनीय समझते थे।[9]

**बाल-विवाह का अभाव**–समस्त उदाहरणों को देखने से प्रतीत होता है कि नियमतः विवाह वयस्क अवस्था में ही होते थे। भीष्म का स्पष्ट कथन है कि व्यस्क कन्या के साथ विवाह करना चाहिए।[10] रामायण का कथन है कि विवाह के समय दशरथ के चारों पुत्र यौवनशाली थे।[11] विवाह के समय उनका अपनी पत्नियों के साथ एकान्त रमण करने का उल्लेख है।[12] इससे प्रकट होता है कि उनकी

---

1. महा० 1. 229. 14-पुन्नामो नरकात् त्रायेते।
2. महा० 7. 115. 17. 18.
3. महा० आदि० 159. 11-आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं हि दुहिता किल।
4. महा० 5. 97. 15.16.-कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम्।
5. रामा० 8. 9. 11.
6. महा० 3. 53. 5.8.
7. महा० 1. 215. 23-पुत्रो ममायमिति।
8. महा० 13. 45. 11.- पुत्रेण दुहिता समा।
9. महा० 1. 157. 37.-
   मन्यते केचिदाधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः।
   कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यविभौ स्मृतौ।
10. रामा० 1. 72. 7.
11. रामा० 1. 77. 14.
12. रामा० 3. 47. 4; 10.

पत्नियाँ भी युवती थी। महाभारत में कुन्ती, द्रौपदी, देवयानी, शकुन्तला, सत्यवती, दमयन्ती, सभी व्यस्कावस्था में ही विवाहित हुई थीं।

रामायण में ही विवाह के पश्चात् सीता के साथ राम का एकान्त रमण का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि विवाह के समय सीता युवती थी। रामायण में ही एक दूसरे स्थान पर सीता अनसूया से कहती है कि विवाह के पूर्व 'पतिसंयोगसुलभवय' को प्राप्त मुझे देखकर मेरे पिता को उतनी ही चिन्ता थी जितना निर्धन को अपने धन-नाश पर।[1] इससे यही सिद्ध होता है कि विवाह के समय सीता पूर्णयौवना थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्यों में बाल-विवाह के उदाहरण नहीं मिलते।

**स्त्री-शिक्षा**–दोनों महाकाव्य स्त्री-शिक्षा के ऊपर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। रामायण कौशल्या और तारा दोनों को ही 'मन्त्रि-विद्' कहती है।[2] इसी महाकाव्य में सीता संध्या करती हुई प्रदर्शित की गई है। इससे सिद्ध होता है कि वह मन्त्रविद् थी। रामायणकार अत्रेयी को वेदान्त का अध्ययन करते हुए प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार महाभारत का कथन है कि सुलभा आजीवन वेदान्त का अध्ययन करती रही थी। महाभारत में द्रौपदी को 'पण्डिता' कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्रियाँ बहुधा घर ही शिक्षा पाती थीं। सीता ने घर पर ही अपने माता-पिता से शिक्षा पाई थी। उत्तरा को अर्जुन ने उसके घर पर ही संगीत-नृत्य की शिक्षा दी थी। परन्तु उच्चशिक्षा के लिए कदाचित् पुत्रों की भाँति पुत्रियों को भी अन्य शिक्षा-केन्द्रों में जाना पड़ता था। उदाहरणार्थ, अत्रेयी वेदान्त के अध्ययन के लिए वाल्मीकि के आश्रम में रहती थी।

यत्र-तत्र सह-शिक्षा के भी उदाहरण मिलते है। रामायण के अनुसार वाल्मीकि के आश्रम से अत्रेयी लव-कुश के साथ अध्ययन करती थी। महाभारत अम्बा और शैखावत्य की सह-शिक्षा का उल्लेख करता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट होता है कि महाकाव्यों के अनुसार स्त्रियों को वैदिक एवं दार्शनिक शिक्षा के साथ-साथ संगीत, नृत्यादि ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थीं।

**विवाह की अनिवार्यता**–दोनों महाकाव्यकार समाज के लिए विवाह को अनिवार्य बताते हैं। रामायण के अनुसार पतिविहीन स्त्री का जीवन तन्त्रीविहीन वीणा तथा चक्रविहीन रथ के समान निरर्थक है।[3] महाभारत के अनुसार गृहिणी ही गृह है।[4]

1. रामा० 2.118.34.
2. रमा० 2.20.75. रामा० किष्किन्धा० 16-12.
3. रामा० 2.39.29.
4. महा० शान्ति० 144.66.

वह मनुष्य का अर्थ है, श्रेष्ठतम सखा है, त्रिवर्ग का मूल है और भवसागर से पार होने के लिए प्रमुख साधन है।[1] अपने कन्या का उचित वर के साथ विवाह न करने वाला मनुष्य ब्रह्मघाती है।[2]

**अन्तर्जातीय विवाह**—महाभारत अन्तर्जातीय विवाहों का भी उल्लेख करता है। ये विवाह प्रायः अनुलोम विवाह ही थे। उदाहरणार्थ, भीम ने हिडिम्बा राक्षसी के साथ विवाह किया था और विदुर ने पारसवी-कन्या के साथ। राजा शान्तनु और सत्यवती का विवाह भी अन्तर्जातीय अनुलोम विवाह था।

प्रतिलोम विवाह में महाभारत एकमात्र ययाति और देवयानी के विवाह का उल्लेख करता है। इससे प्रकट होता है कि समाज की दृष्टि में प्रतिलोम विवाह अति निन्दनीय थे और उनकी प्रतिष्ठा न थी।

**अष्ट प्रकार के विवाह**—महाभारत में भी आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं[3] इनमें (1) ब्राह्म (2) दैव (3) आर्ष और (4) प्राजापत्य धर्म्य तथा (5) गान्धर्व (6) असुर (7) राक्षस और (8) पैशाच अधर्म्य समझे जाते थे।

इनमें गान्धर्व-विवाह के विषय में व्यवस्थाकारों में मतभेद रहा है। कोई इसे धर्म्य और कोई अधर्म्य कहता है। महाभारतकार ने एक स्थान पर निश्चित रूप से इसे धर्म्य विवाह कहा है और इसे क्षत्रियों के लिए विशेष उपयुक्त बताया है।[4] यही नहीं, कहीं-कहीं उसे विवाहों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[5] महाभारत में गान्धर्व-विवाह का सबसे अधिक प्रसिद्ध उदाहरण दुष्यन्त और शकुन्तला का है।

सम्पूर्ण महाकाव्य की विचारधारा ब्राह्म विवाह को सम्मानित करने की है। रामायण का कथन है कि कन्या का विवाह-कार्य पिता का उत्तरदायित्व है।[6] रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण आदि राक्षसों के विवाह भी ब्राह्म-प्रणाली के अन्तर्गत हुए थे। स्वयं सीता की तीनों बहनों का विवाह भी उनके पिता जनक ने अपनी इच्छा से किया था। महाभारत के उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं। देवयानी के पिता की अनुमति के बिना ययाति ने उसके साथ विवाह करना अस्वीकार कर दिया था।[7]

---

1. महा० 1.74.41.,अर्धो भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
   भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तारिष्यसः।।
2. महा० 13.24.9.
3. महा० 1. 73. 4-13.
4. महा० 1. 73. 27.
5. महा० 1. 172. 15.- विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते।
6. रामा० 77. 26.
7. महा० 1. 81. 26.

राजा संवरण तपती नामक कन्या के साथ विवाह करना चाहता था, परन्तु उस कन्या ने यह कहकर राजा के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे पिता मेरे संरक्षक है। अतः आप उन्हीं से मेरे विवाह का प्रस्ताव कीजिए।[1] इस प्रकार गान्धर्व विवाह को हतोत्साहित करके व्यवस्थाकारों ने माता-पिता के संरक्षण में होने वाले ब्राह्म विवाह को ही प्रोत्साहित किया। इस प्रवृत्ति का एकमात्र ध्येय युवक-युवतियों की स्वेच्छाचारिता को मर्यादित करना था। महाकाव्यों में पैशाच विवाह का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।

गान्धर्व विवाह की भाँति राक्षस विवाह भी विशेषतया क्षत्रियों में प्रतिष्ठित था। इसे क्षात्र विवाह भी कहा गया है।[2] शूरकर्मा क्षत्रियों के लिए राक्षस विवाह में विशेष आकर्षण था। महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण इस विवाह प्रणाली की प्रशंसा करते हैं।[3] इस प्रथा के अन्तर्गत अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा का अपहरण किया था। उनके इस कार्य में श्रीकृष्ण की भी सहमति थी। भीष्म ने विचित्रवीर्य के विवाह के लिए काशीनरेश की पुत्री अम्बा का अपहरण किया था।

परन्तु महाभारत से ही प्रकट होता है कि समाज का एक वर्ग इस अपहरण-मूलक राक्षस विवाह का विरोधी था। वह असहाय एवं वशीभूत कन्याओं के साथ उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह पद्धति की निन्दा करता था।[4] शिशुपाल ने अम्बा के अपहरण के लिए भीष्म की कटु आलोचना की थी।[5]

महाकाव्यों में आसुर-विवाह के भी उदाहरण मिलते है। यह विवाह आर्ष विवाह का ही एक रूप था। अन्तर केवल इतना था कि जहाँ आर्ष विवाह में कन्या के पिता को एकमात्र गाय-बैल का एक जोड़ा मिलता था वहाँ आसुर विवाह में प्रचुर धन। रामायण के अनुसार कैकेयी के पिता ने अपनी कन्या के विवाह में विक्रय मूल्य लिया था। महाभारत में ऋचीक ने गाधि को धन देकर ही उसकी कन्या के साथ विवाह किया था। इसी महाकाव्य के अनुसार शल्य ने अपनी बहन माद्री का पाण्डू के साथ विवाह करने के पूर्व भीष्म से कन्या-मूल माँगा था उस संबंध में यह भी कहा था कि कन्या मूल लेना हमारे वंश की चिर-प्रतिष्ठित प्रथा रही है।[6]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि क्रय-विक्रय के सिद्धान्त पर आधारित आसुर-विवाह

1. महा० 1. 172. 20.
2. महा० 13. 44. 10.
3. महा० 1. 245. 5-6- क्षत्रियाणां तु वीर्येण प्रशास्तं हरणं बलात्।
4. महा० 13. 45. 22.
5. महा० 1. 64. 22.
6. महा० 1. 122. 9.

के प्रति विरोध बढ़ रहा था। महाभारत में स्वयं कहा गया है कि भार्या को न खरीदना चाहिए और न बेचना चाहिए।[1]

महाकाव्यों में देव-विवाह के उदाहरण नहीं मिलते। वैदिक यज्ञों की समाप्ति के साथ-साथ इस विवाह की भी समाप्ति हो गई थी।

रहा प्राजापत्य विवाह, तो उससे और ब्राह्म विवाह में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यही कारण है कि आपस्तम्ब और वसिष्ठ जैसे व्यवस्थाकारों ने ब्राह्म-विवाह का तो उल्लेख किया है, परन्तु प्राजापत्य विवाह का नाम तक नहीं लिया है।

देव, आर्ष और आसुर विवाह-प्रणालियों के विलोप का एक कारण यह भी है कि वस्तुतः तीनों ही क्रय-विक्रय के सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि महाकाव्यों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित विवाह-प्रणाली ब्राह्म ही थी।

**स्वयंवर**—शूरकर्मा क्षत्रियों को दान के रूप में प्रदत्त कन्या का पाणिग्रहण विवाह अधिक रुचिकर प्रतीत न होता था। अतः उनकी अभिरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए समाज ने एक ऐसी विवाह-प्रणाली को जन्म दिया जिसमें व्यक्तिगत शूरता और रोमांस का सम्मिश्रण तो रहे परन्तु उसे मर्यादित करने के लिए वर-वधू के पिता अथवा संरक्षक का निरीक्षण भी विद्यमान रहे। यह विवाह प्रणाली स्वयंवर के नाम से प्रख्यात हुई। यह राक्षस, गान्धर्व और ब्राह्म विवाह-प्रणालियों का सम्मिश्रण रूप था। वस्तुतः यह प्रणाली दीर्घकाल के क्रमिक विकास का परिणाम थी। महाकाव्य में इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा है। सीता, दमयन्ती, द्रोपदी, आदि के विवाह इसी प्रणाली के अनुसार हुए थे। इनमें दमयन्ती का विवाह वस्तुतः गान्धर्व प्रणाली पर ही आधरित था, परन्तु उसके लिए स्वयंवर प्रणाली के अनुरूप राजमण्डली तैयार की गई थी। सीता और द्रौपदी के स्वयंवर में न तो कन्या की इच्छा-अनिच्छा प्रधान थी और न उसके संरक्षकों की। इन स्वयंवरों में तो सर्वोच्च शूरता का वरण किया गया था। अतः यथार्थ में इन्हें स्वयंवर कहना उपयुक्त नहीं है।

**एकपत्नीकता**—सामान्यतया समाज में एकपत्नीकता प्रतिष्ठित थी। सीता वनवास देने के पश्चात् भी दूसरा विवाह न करके राम ने एकपत्नीकता के आदर्श की स्थापना की थी।[2] महाभारत के अनुसार भी अपनी धर्मविहित भार्या का अकारण त्याग निन्दनीय समझा जाता था।[3] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राजवंश में

1. महा० 13. 44. 46- न त्वेव भार्या क्रेतव्या न विक्रव्या कथंचन।
   महा० 1. 221. 4; 13. 45. 11.
2. रामा० 7. 977-सीतायाः परां भार्या वव्रे स रघुनन्दनः।
3. महा० 12. 278. 36; 12. 58. 13.

बहुपत्नीकता प्रचलित थी। दशरथ, पाण्डु, अर्जुन, भीम आदि बहुपत्नीक थे। इस प्रथा को धर्म्य घोषित करते हुए महाभारतकार ने कहा कि बहुविवाह अपराध नहीं है।[1]

**सती-प्रथा**—ऐसा प्रतीत होता है कि 300 ई० पू० के लगभग भारतवर्ष में सती-प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। ओनेसिक्रिटस की सूचना के आधार पर स्ट्रैबो ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय कठ जाति के बीच सती-प्रथा प्रचलित थी। परन्तु यह प्रथा सर्वत्र लोकमान्य न थी अन्यथा मेगास्थनीज, कौटिल्य अथवा अशोक के लेखों में इस प्रथा का अवश्य उल्लेख होता।

महाकाव्यों में सती-प्रथा के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। रामायण में ब्राह्मणी वेदवती की माता पज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हुई थी।[2] महाभारत में अपने मृतक पति पाण्डु के साथ माद्री और वसुदेव, के साथ देवकी भद्रा, रोहिणी और मदिरा के सती होने का उल्लेख है। परन्तु इन चार उदाहरणों से तत्कालीन समाज में सती-प्रथा की मान्यता सिद्ध नहीं होती। रामायण और महाभारत के अनुसार ही बहुसंख्यक नारियाँ अपने पति के मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रही थीं। इनमें कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, सत्यवती, कुन्ती, उत्तरा आदि विशेष उल्लेखनीय थीं।

**नियोग-प्रथा**—महाभारत का कथन है कि पति के अभाव में स्त्री अपने देवर को पतिरूप में स्वीकार कर सकती है।[3] कुन्ती और माद्री ने नियोग द्वारा क्रमशः 3 और 2 पुत्र प्राप्त किये थे। नियोग के द्वारा राजा व्युषिताश्व ने 7 पुत्र और राजा बलि ने 17 पुत्र प्राप्त किये थे।

**विधवा-विवाह अथवा पुनर्विवाह**—महाकाव्यों से प्रकट होता है कि समाज में विधवा-विवाह अथवा अन्यान्य कारणों से नारी के पुनर्विवाह की प्रथा थी। बालि के मृत्यु पर उसकी विधवा पत्नी तारा ने सुग्रीव के साथ विवाह कर लिया था। रामायण में ही एक स्थान पर सीता ने लक्ष्मण पर अपना क्रोध प्रकट करते हुए यह कहा था कि तुम राम की रक्षा के लिए इसीलिए नहीं जाना चाहते कि जिससे उसकी मृत्यु के पश्चात् तुम मुझे अपनी स्त्री बना सको।[4] इस कथन से प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह की प्रथा थी। महाभारत में दमयन्ती के द्वितीय स्वयंवर की घोषणा से प्रकट होता है कि अपने पति के दीर्घकालीन अनुपस्थिति से भी स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। इरावत की पुत्र-वधु इरावती ने अर्जुन के साथ पुनर्विवाह किया था।[5]

---

1. महा० 14. 80. 14-15-नापराधो भवेत्येव नराणां बहुभर्तृता।
2. रामा० 7. 17. 33.
3. महा० 13. 12. 19-नारी तु पत्यभावे वै देवरं कृणुते पतिम्।
4. रामा० 3. 45. 5-7.
5. महा० 600. 7-10.

परन्तु यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए के समाज का एक वर्ग विधवा-विवाह अथवा नारी के पुनर्विवाह को निन्दनीय समझता था। महाभारत में सावित्री ने नारद से कहा कि कन्या-दान केवल एक बार ही होता है।[1] इसी प्रकार दीर्घतमा ने पुनर्विवाह का घोर विरोध करते हुए कहा था कि नारी का एक ही पति होता है। उसने स्पष्ट कहा था कि एक स्त्री के अनेक पति कहीं नहीं सुने गये। यह लोकवेद विरुद्ध है।[2]

**पर्दा**–महाकाव्यों के कुछ उद्धरणों को लेकर कतिपय विद्वानों ने उससे पर्दा प्रथा सिद्ध करने की चेष्टा की है। वन-गमन के अवसर पर रामायणकार का कथन है कि जिस सीता को आकाश के पक्षी भी न देखे सकते थे उसी को आज राजमार्ग पर चलते हुए सामान्य जन देख रहे हैं।[3] इसी प्रकार महाभारत में धृतराष्ट्र के साथ वन को जाने वाली स्त्रियों के विषय में महाभारतकार ने कहा है कि जिन स्त्रियों को सूर्य और चन्द्रमा ने भी न देखा था वही आज राजमार्ग पर चल रही है।[4] परंतु इन उद्धरणों से पर्दा-प्रथा सिद्ध नहीं होती। इनमें महाकाव्यकारों ने नारियों की सुकुमारता और अभिजातता को प्रकृष्टरूप देकर पाठकों की दुःखानुभूति को तीव्रतर करने की चेष्टा की है।

साधारणतया महाकाव्यों में पर्दा-प्रथा नहीं मिलती। रामायण में राम स्वयं कहते हैं कि स्त्री के लिए गृह, वस्त्र, प्राकार और पार्थक्य निरर्थक हैं। उसका चरित्र ही आवरण है।[5] चित्रकूट में राम से मिलने के लिए जब उनकी माताएँ गई थीं तो उनके मुख पर भी किसी प्रकार का अवगुण्ठन न था। महाभारत में कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी आदि महिलाओं के मुख पर भी कभी कोई आवरण नहीं देखा गया।

**वेश्या-वृत्ति**–समाज में वेश्या-वृत्ति प्रतिष्ठित थी। गर्भवती गान्धारी की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए एक वेश्या नियुक्त की गई थी।[6] एक स्थान पर उल्लेख है कि शान्तिवार्ता के लिए आये हुए श्रीकृष्ण का स्वागत वेश्याओं ने किया था।[7] युद्ध में जाने वाली पाण्डवों की सेनाओं में भी वेश्याएँ थी।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि बहुसंख्यक वेश्याएँ सेवा-सुश्रूषा, परिचर्या, संगीत, नृत्य आदि कलाओं में निपुण होती थीं और इन कार्यो के लिए अनेक अवसरों पर वे नियोजित की जाती थीं।

---

1. महा० 3. 294. 2.5.
2. महा० 1. 195. 27-29.
3. रामा० 2. 33. 8.
4. महा० 15. 16. 13.
5. रामा० 6. 17. 32.
6. महा० 1. 1118. 5.9.
7. महा० अद्योग० 51. 64.
8. महा० अद्योग० 151. 58.

**एकपतित्व**–द्रौपदी के अतिरिक्त महाकाव्यों में कोई भी स्त्री बहुपतिक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवों ने अपने पारस्परिक भ्रातृ-भाव को अविच्छिन्न रखने के लिए ही यह अधर्म्य कर्म किया था। युद्ध-काल में शूरकर्मा पाण्डवों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की उत्कण्ठा से ही द्रुपद ने भी पाण्डवों के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था, परन्तु उनके इस प्रस्ताव को सुनकर द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने घोर विरोध किया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रथा प्रचलित नहीं थी। पति की मृत्यु के पश्चात् भी नारी को द्वितीय पति नहीं ग्रहण करना चाहिए,[1] ऐसी धारणा थी।

**नारी की उच्चता**–महाकाव्यों में नारी समाज की स्थिति सन्तोषजनक थी। पत्नी के रूप में वह पुरुष का अनन्यरूप थी।[2] वह उसका अर्धभाग और श्रेष्ठतम सखा थी।[3] माता के रूप में वह भूमि से भी अधिक गुरु थी।[4] वह परम गुरु थी।[5] माता के क्लेश देने वाले व्यक्ति का कहीं भी त्राण नहीं है।[6]

स्त्री की महत्ता इसी बात से परिलक्षित होती है कि महाभारतकार ने उसे अवध्य बताया है।[7] स्त्री होने के कारण सीता का रावण ने वध नहीं किया था।[8] नारी के प्रति नितान्त उदात्त भावना को प्रकाशित करते हुए ही महाभारतकार ने घोषित किया था कि आदर सत्कार करने पर स्त्री साक्षात् लक्ष्मी बन जाती है।[9]

**शिक्षा**–महाकाव्य शिक्षा के ऊपर भी विशेष प्रकाश डालते हैं।[10] रामायण में शिक्षा के जिन विषयों का उल्लेख मिलता है उनसे प्रकट होता है कि शिक्षा का क्षेत्र कितना व्यापक होता था। ये विषय हैं[11] दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, इतिहास, अथर्ववेद, यजुर्वेद, अर्थशास्त्र पौराणिक उपाख्यान, तैत्तिरीय, काठक, मानव, आंगिरस, कौशिक तथा लोकायतिक सिद्धान्त। विद्या ही मनुष्य का सबसे बड़ा नेत्र है।[12] महाभारत के अनुसार 6 अंगों सहित वेद और 10 अंगों के सहित धनुर्वेद पढ़ाया

---

1. महा० 1. 104. 34. 37.
2. रामा० 4. 24. 35- अनन्यरूपा पुरुषस्य दारा।
3. महा० 1. 74. 40.
4. महा० 4. 313. 70.-माता गुरुतरा भूमेः।
5. महा० 1. 196. 15- गुरुणा चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः।
6. महा० 1. 37. 4.
7. महा० 1. 185. 32.
8. रामा० 6. 93. 60.
9. महा० 13. 81. 15.
10. महा० 5. 39. 77.
11. रामा० 2. 100. 38. 39.
12. महा० 12. 339. 6-नास्ति विद्यासमं चक्षुः।

जाता था।[1] अन्य स्थलों पर पाठ्य विषयों के नाम भी मिलते हैं, यथा उपनिषद् सांख्य, योग, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा आदि।[2]

शिखण्डी चित्र-कला में निपुण था।[3] कच और अर्जुन संगीत और नृत्य के विशेषज्ञ थे।[4] युधिष्ठिर की दासियाँ चाक्सठ कलाओं में पारंगत थीं।[5] राम, सीता और तारा निमित्त-विद्या के ज्ञाता थे।[6] अर्जुन चक्षुषी विद्या जानते थे।[7]

शिक्षा दो प्रकार से होती थी -गुरुकुलों में अथवा घर पर रखे गये आचार्यों द्वारा। भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रमों का रामायण में उल्लेख है।[8] महाभारत में मारकण्डेय और कण्व के प्रसिद्ध आश्रमों का वर्णन है।[9] इन आश्रमों में बहुसंख्यक शिष्य रहते थे जो अपने गुरु के सम्पर्क, सम्बन्ध और निरीक्षण में अपनी आध्यात्मिकता एवं बौद्धिक उन्नति करते थे। महाभारत का वर्णन है कि जब ऋषि दुर्वासा कुरु-नरेश से मिलने गये थे तो उनके साथ 10 हजार शिष्य थे।

आश्रम का ऋषि आचार्य कुलपति कहलाता था। महाभारत में कहा गया है कि वास्तव में यह उसका नवीन जन्म होता था।[10] कालान्तर में विद्यार्थी अपने आचार्य के नाम से ही अपनी परम्परा चलाने लगे।[11] यह परम्परा ब्रह्मवंश के नाम से प्रख्यात हुई।[12] ऋषियों के द्वारा अध्यापित ज्ञानार्थी शिष्य ब्रह्मवंशीय हो गये। जाति के बन्धनो को तोड़कर विशुद्ध ज्ञान के आधार पर निर्मित समाज का यह नवीन समुदाय अपना विशेष महत्व रखता था।

महाकाव्यों में गुरुकुलों में अध्यापित अनेक व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। लव-कुश और आत्रेयी वाल्मीकि के गुरुकुल में पढ़ते थे। द्रोण और द्रुपद ने भारद्वाज के आश्रम में रहकर शिक्षा पाई थी।

दूसरी शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत धनी-मानी व्यक्ति अपने संरक्षितों को शिक्षा

---

1. महा० 7.7.1; 1. 100. 35.39; 9.6. 14.
2. महा० 9.6.14, 3. 168.66-68, 12. 104.146.1.7.112.341.9,रामा० 1. 49. 6-8.
3. महा० 5. 189. 1-2.
4. महा० 1. 76. 24. 7. 11. 12.
5. महा० 2. 61. 9-10.
6. महा० 6. 106. 36. 3. 280, 19. 3. 52. 9.
7. महा० 1. 172. 43-46.
8. रामा० 6. 123. 51; 2. 55. 9-11.
9. महा० 3. 271. 48; 1. 70, 18.
10. महा० 5. 46. 6.
11. महा० 12. 108. 20.
12. महा० 12. 11. 19.

देने के लिए प्रख्यात आचार्यों को नियोजित करते थे। अर्जुन ने विराट की राजपुत्री उत्तरा को उसके घर पर ही संगीत-नृत्य की शिक्षा दी थी। द्रोणाचार्य हस्तिनापुर में रहकर कौरव और पाण्डव राजकुमारों को धनुर्विद्या सिखाते थे। सामान्यतया छात्र का संरक्षक आचार्य समस्त सुविधाओं की पूर्ति के निमित्त सारा प्रबन्ध कर देता था। भीष्म ने कौरवों और पाण्डवों के लिए द्रोण को अध्यापक नियुक्त करते हुए उन्हें धन-धान्य से पूर्ण एक घर दे दिया था।[1]

तीसरी परन्तु अधिक क्लेश साध्य तथा कम प्रचलित शिक्षा प्रणाली स्वाध्याय की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि साधन-विहीन मनुष्य विवशतावश एकमात्र अपने पुरुषार्थ का अवलम्ब लेकर स्वाध्याय करते थे। इस दिशा में एकलव्य का उदाहरण सर्वविदित है। महाभारत में 'स्वाध्यायी' का उल्लेख आदर के साथ किया गया है।[2]

साधारणतया शूद्र समुदाय को शिक्षा का अधिकार न था। इसीलिए द्रोण ने निषाद एकलव्य को धनुर्विद्या सिखाना अस्वीकार कर दिया था। महाकाव्यों में वैदिक शिक्षा का विशेष महत्व था। वेदों का अध्ययन किये बिना ब्राह्मण का कर्त्तव्य पूर्ण न होता था।[3] वेद-पाठ की शुद्धता को संरक्षित रखने के लिए महाकाव्यों में वैदिक शिक्षा मौखिक ही थी। इसी से महाभारत में वेद के विक्रेता, लेखक आदि की निन्दा की गई है।[4] इसी आशय से महाभारतकार ने घर पर वेदों का अध्ययन करने वाले की निन्दा की है।[5] एक वर्ष तक अपने समीप रहने वाले शिष्य को भी जो आचार्य-शिक्षा-दान नहीं करता वह शिष्य के सारे पापों का भागी बनता है।[6]

महाभारतकार ने आचार्य की सच्चरित्रता पर विशेष जोर दिया है। यदि वह अभिमानी, उचित-अनुचित के प्रति निरपेक्ष तथा कुमार्गी हो तो शिष्य को चाहिए कि उसका परित्याग कर दे।[7]

महाभारतकार के अनुसार छोटे अपने बड़ों को नाम लेकर नहीं पुकार सकते हैं और न उन्हें 'तुम' ही कह सकते हैं।[8] निश्चित ही यह नियम आचार्यों के प्रति भी प्रयुक्त होता था। शिष्य को असत्य, गर्व, त्वरा, और आत्म-प्रशंसा से बचना चाहिए।[9]

---

1. महा० आदि० 133. 2.3.
2. महा० 5. 40. 25.
3. महा० शान्ति० 239. 13.
4. महा० 15. 016. 92.
5. महा० अनु० 36. 15.
6. महा० द्रोण० 50. 21.
7. महा० अद्योग० 178. 48.
8 महा० शान्ति० 193. 25.
9. महा० 6. 40. 3.

यदि कोई शिष्य अपने गुरु के प्रति अशिष्टता अथवा दुराग्रह करता है तो वह ब्रह्म-हत्या के पाप का भागी होता है।[1] अपने गुरु का तिरस्कार करने वाला छात्र मृत्यु के पश्चात् घोर यन्त्रणा पाता है।[2]

आचार्य-पुत्री छात्र की बहन के समान होती थी। इसी सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर कच ने देवयानी के साथ विवाह करना अस्वीकार कर दिया था।[3] निश्चय ही आचार्य की दृष्टि में शिष्य पुत्र के समान था। द्रोणाचार्य ने दुर्योधन की धृष्टता यह कहते हुए क्षमा कर दी थी कि तुम मेरे लिए अश्वत्थ (द्रोण के पुत्र) के समान हो। इससे मैं तुम्हारे दुर्वचन पर ध्यान नहीं देता।[4]

कदाचित् उपनयन-संस्कार के पश्चात् ही विद्यारम्भ होता था।[5] महाभारत में दो स्थलों पर उपनयन-संस्कार का सम्पादित होना लिखा है- एक बार युधिष्ठिर के पुरोहित धौम्य द्वारा द्रौपदी के पुत्रों का उपनयन और दूसरी बार व्यास द्वारा अपने पुत्र शुक का उपनयन। व्यास ने अपने पुत्र शुक का उपनयन तो उत्पन्न होते ही कर दिया था और उसी समय से उसका विद्यारम्भ हो गया था। इसी प्रकार भीष्म, द्रोण और युधिष्ठिर आदि यज्ञोपवीत धारण किये हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[6] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपनयन संस्कार की न कोई निश्चित आयु थी और न विद्यारम्भ की। यह व्यक्ति विशेष की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता था।

**रामायणकालीन आर्येतर संस्कृति**—रामायण में आर्य संस्कृति का जैसा आदर्श प्राप्त होता है अन्य ग्रन्थ में अत्यल्प है। रामायण में आर्य संस्कृति एवं अनार्य संस्कृति के बीच संतुलन दिखाई पड़ता है। विशेष रूप से, वानर संस्कृति और आर्य संस्कृति के बीच अद्भुत तालमेल रामायण की कथाओं में दीख पड़ता है। रामायण में यक्षों, गन्धर्वों सिद्धों, नागों तथा चारणों का भी उल्लेख मिलता है जो रामायण काल तक देव योनियों में स्वीकार कर लिए गए थे। इनसे पृथक् गृध्रों का भी उल्लेख रामायण में है। जटायु एवं सम्पाति का प्रसङ्ग रामायण की कथाओं में इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं, किन्तु, इनकी चर्चा या इनकी संस्कृति का अत्यल्प ज्ञान यहाँ प्राप्त होता है। रामायण में विस्तार से वानर संस्कृति एवं आर्य विरोधी राक्षस संस्कृति का परिचय मिलता है। अतएव हम यहाँ क्रमशः वानर संस्कृति एवं राक्षस संस्कृति की चर्चा करेंगे। इस चर्चा से पूर्व इनके भौगोलिक स्थिति की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

1. महा० 5. 40. 3.
2. महा० 12. 321. 29.
3. महा० 1. 77. 14.
4. महा० 7. 94. 19.
5. महा० 1. 134. 19.
6. महा० 1. 221. 88.

अयोध्या नरेश दशरथ एवं रघुकुलवंशी राम उत्तर भारतीय थे तथा जनकपुत्री सीता भी उत्तर-भारतीय थीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में आर्यों का वर्चस्व था। बहुत वर्षों तक आर्यों ने स्वयं को दक्षिण भारत से दूर ही रखा। रामायणकाल में भी दक्षिण भारत में अनार्यों का ही प्रभुत्व था। प्राचीन आख्यानों से स्पष्ट होता है कि अगस्त्य मुनि ने सर्वप्रथम विन्ध्य पर्वत पार कर दक्षिण भारत में आश्रम स्थापित किया था, जिसकारण बहुत दिनों तक आर्यों एवं अनार्यो के बीच संघर्ष चलता रहा था। आर्य एवं अनार्य दोनों जातियों ने एक-दूसरे पर प्रभुत्व स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया था। जिसमें कुछ अनार्यों ने (वानरों ने जो राक्षसों से आक्रान्त थे) आर्यों का साथ दिया था, जिसके सहारे आर्य, अनार्य राक्षसों पर विजयी हो पाये थे। वाल्मीकि रचित रामायण भी इन्हीं पारम्परिक युद्ध की कड़ियों की एक उत्कृष्ट कथा है।

**वानर संस्कृति**–वानर आर्येतर जनजाति थी, जो दक्षिण-भारतीय जंगलों में निवास करती थी। ये जातियाँ विशेष रूप से पर्वतीय जंगलों में रहना पसंद करती थीं। पर्वत एवं जंगलों में रहने के कारण इन आदिम जातियों का शारीरिक गठन अत्यन्त सुदृढ़ एवं गठीला था। परिश्रम वाले कार्यों में ये वानर थकते नहीं थे। ये पूर्णतया जंगली एवं पहाड़ी जातियाँ थी जो कृषि कार्यों से अनभिज्ञ थीं, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि यह जाति आखेट नहीं करती थी, क्योंकि यह शाकाहारी जाति थी। इनका भोजन मूल रूप से जंगलों में प्राप्त होनेवाला कन्द-मूल तथा फल था। जंगली क्षेत्रों के निवासी होने के कारण तथा कृषि की कला से अनभिज्ञ होने के कारण अन्न से इनका संबंध प्राप्त नहीं होता। हाँ! जंगलों में प्राप्त होने वाले मधु के छत्ते से मधु निकाल कर चखना इन्हें अत्यन्त रुचिकर था। इसके लिए इनलोगों ने मधुवन को अपना आश्रय बनाया हुआ था। अत्यधिक मधु का पान इनके पाचन-क्रिया पर विपरीत प्रभाव भी डालता था। वानरों के लिए **'नारिकेल्यशमाः'** शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि वानरों को नारियल भी पसंद था।

ये वानर अपनी सुरक्षा हेतु समूह में ही रहते थे तथा जंगलों या पर्वतीय क्षेत्रों में पूरे समुदाय के साथ भ्रमण किया करते थे। इनकी संख्या बहुल थी क्योंकि वाल्मीकि ने इनके लिए लाख, करोड़, पद्म, शंखादि का प्रयोग किया है। अपने समुदाय की रक्षा हेतु इनकी अपनी सेना भी थी, जो पदातियों की सेना थी। सेनाएँ पृथक्-पृथक् यूथों में विभक्त थीं, जिसका सेनापति 'यूथप' कहलाता था। सेना में अनेक संगठन था। अनेक 'यूथपों' को मिलकार 'महायूथप' होता था। इन वानर सेना का मुख्य नायक राजा था जो सेनाओं में सर्वोपरि था। राजा वही हुआ करता था जो वानरों में बलशाली होता था तथा अपने समुदाय की रक्षा करने का दावा कर सकता था। वैसे वानरों में भी राजवंश की व्यवस्था दीख पड़ती है क्योंकि सुग्रीव

अपनी कथा बताते हुए कहता है कि वानरराज ऋक्षरजा की मृत्यु पर्यन्त बाली को किष्किन्धा का राजा बनाया गया क्योंकि वह ज्येष्ठ पुत्र था (**पितर्युपरते तस्मिन् ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः** IV 9/12)। पुनः यह भी दर्शाया गया है कि जब मायावी का पीछा करते हुए बाली कई वर्षों तक मायावी की गुफा से बाहर नहीं आया तो वानरों ने उसके पुत्र अङ्गद को राजा न बनाकर सुग्रीव का राज्याभिषेक कर दिया। वैसी क्या परिस्थितियाँ थीं कि परम्परा के विरुद्ध सुग्रीव को राज्य का भार सौंपा गया, यह स्पष्ट नहीं है।

वानरों का अस्त्र उनके लम्बे नाखून एवं तीखे दांत थे तथा शस्त्र के नाम पर पत्थर एवं पेड़ों के डंडे। इन वानरों की युद्ध प्रवृत्ति जनजातियों वाली थी। कभी किसी शत्रु को नाखून एवं तीखे दांतों के प्रहार से वानर घायल कर देते थे या डंडों एवं पत्थरों के प्रहार से शत्रुओं को पूरी तरह कुचल देते थे। इनका ताकतवर शरीर भी शत्रु को कुचलने में सहायता करता था। घूसों तथा पैरों से ये मार-मार कर शत्रुओं को पस्त कर दते थे।[1] पहाड़ों या शिखरों या वृक्षों को उखाड़ फेंकना आदि कवि वाल्मीकि की काव्यगत अतिशयोक्ति है। वानर अपनी स्वाभावित प्रवृत्ति क परिचय देते हुए उनके हाथ जो भी होता उसे शत्रुओं पर फेंक कर वार करते थे शत्रु यदि बाण एवं भाले का प्रयोग करते थे, तो ये बानर पुनः उसे फेंककर शत्रु पर वार करते थे। वानरों में स्फूर्त्ति थी एवं वे शरीर से बलशाली थे। इसकारण शत्रुओं द्वारा ये जल्द कब्जे में नहीं आते थे। हनुमान के लिए 'पवन-पुत्र' कहा जाना संभवतः उनके अत्यन्त स्फूर्त्तिवान् होने का परिचायक है। हनुमान शारीरिक रूप से इतने बलशाली एवं पराक्रमी थे कि उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण श्रीलंका में तहलका मचा दिया था और हनुमान के जोरदार थप्पड़ से रावण भी चक्कर खाकर गिर गया था।[2] तथा इन्द्रजित् सदृश योद्धा भी अपने अस्त्र कौशल के बल पर हनुमान को वश में नहीं कर सका।[3] वानरों की पैदल सेनाएँ ही हुआ करती थीं जो मल्लयुद्ध में कुशल थीं।

वानर जातियाँ चूंकि कंद-मूल एवं फलों पर निर्भर थीं। अतएव वे इनकी खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान जाया करती थीं। भिन्न-भिन्न समूहों में रहने के कारण ये कबिलाई जातियाँ थीं जो आर्यों के सन्सर्ग से सभ्य होती जा रही थीं। बाली,

---

1. वाल्मीकि रामायण, V 45/12-13 तलेनाभिहनत् कश्चित् पदैः कश्चित् परन्तपः।
   मुष्टिभिश्चाहनत् कश्चिन्नखैः कश्चिद् व्यदारयत्।
   प्रमभाघोरसा कश्चिदुरुम्भ्या मपरानपि।
   केचित्तरस्योग्रनादेन तथैव पतिता भुवि।।
2. वही, V 59/62-63; ततः स तेनाभिहतो वानरेण महात्मना दशग्रीवाः समाधूतो यथा भूमितलेऽचलः।
3. वाल्मीकि राम., VI 59/ 62-63; शरणामन्तरेष्वाशु व्यावर्तत महाकपिः हरिस्तस्याभिर्लक्ष्यस्य मोक्षं सल्लक्ष्यसंग्रहम्। शरणामग्रतस्तस्य पुनः समाभिवर्तत'

हनुमान आर्यों के सम्पर्क में आने पर आर्यों के प्रति संवेदनशील हो गये थे। यही नहीं, बाली मन्त्रोच्चारण द्वारा सन्ध्योपासना करता था तो हनुमान वेदों एवं संस्कृत का शुद्ध उच्चारण करते थे। इन्होंने आर्यों से राजनीति एवं कूटनीति भी सीख ली थी। फिर भी, वानर जातियाँ राक्षसों एवं आर्यों से पिछड़ी हुई थीं। फिर भी बाली का अन्त्येष्टि संस्कार किया जाना तथा सुग्रीव का राज्याभिषेक में दधि, लाजा, अक्षत आदि का प्रयोग तथा अग्नि, हवि एवं वैदिक मंत्रों का प्रयोग पूर्णतया आर्यों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक रीति-रिवाजों का प्रतीक है। अतएव स्पष्ट है कि वानरों का आर्यों के साथ सम्पर्क बढ़ता जा रहा था। आर्य राक्षस जैसी अनार्य जातियों पर विजय प्राप्त करने के लिए इन वानरों का सहारा ले रहे थे। वहीं वानर भी अपने आपसी कलह को निपटाने में आर्यों की सहायता लेते थे। जैसा कि सुग्रीव एवं बाली के आपसी संघर्ष से भी प्रतीत होता है।

वानर जातियों ने आर्यों के सम्पर्क में आकर वस्त्र पहनना भी शुरु कर दिया था विशेष तौर पर वानर स्त्रियाँ तो निश्चित ही वस्त्रों का प्रयोग करने लगी थीं।[1] नर वानर भी वस्त्रों का प्रयोग करने लगे थे क्योंकि बाली एवं सुग्रीव के युद्ध में सुग्रीव से युद्ध की तैयारी करते हुए बाली ने अपने वस्त्र को कसकर बाँध लिया था।[2] सुग्रीव ने राम से यह कहा था कि बाली ने उसे एक वस्त्र में ही निष्कासित कर दिया था।[3] इन वानरों का वस्त्र सिला हुआ नहीं होता था। नर वानर सामान्यतः अधोवस्त्र धारण करते थे। वैसे वानरों में भी दो प्रकार के वस्त्र थे -उत्तरीय एवं अधोवस्त्र। ऐसा प्रतीत होता है कि ये वानर कभी वस्त्र ग्रहण करते थे और कभी निर्वस्त्र भी रह जाते थे क्योंकि हनुमान को श्वेतवस्त्रधारी[4] बताया गया है। तो अन्यत्र समुद्र पार करते समय उन्हें निर्वस्त्र[5] बताया गया है। वाल्मीकि ने समुद्र के ऊपर उड़ते हुए हनुमान के शरीर का वर्णन करते हुए अत्यधिक लाल नितम्ब भाग वाले हनुमान ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों फटा गेरु वाला कोई विशाल पर्वत हो।

वाल्मीकि वानरों के वर्णों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि इनके शरीर का रंग भूरा है। यद्यपि ऋक्ष काले थे। इन्हें जातीय चिह्न वानर के रूप में आर्यों ने नामकरण कर डाला था। वाल्मीकि ने इन्हें कपि एवं प्लवङ्ग भी कहा है। इनकी भाषा को 'किलकिला' बताया गया है। ये वानर स्वभाव से चंचल थे। आर्यों से भिन्न जाति का होना बाली के कथन से सिद्ध होता है। बाली जब मरणासन्न है तब श्री

1. वाल्मीकि राम., IV 66/12; तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम्।
2. वही, IV. 16/16, गाढ़ं परिदधे वासः।
3. वही, IV 10/26, एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणेकेन वानरः। तदा निर्वासयामास...।
4. वही, वेष्टितार्जुनं वस्त्रम्
5. वही, V 1/63, स्फिग्देशेनातिताम्रेण रराज स महाकपिः, महता दारितेनैव गिरिगैरिक धातुना।

राम से कहता है-**वयं वनेचरा राम मृगा मूलफलाशिनः। एषा प्रकृतिः अस्माकं पुरुषत्वं नरेश्वर** पृ. 17/30। 'वनौकस', 'वनेचर' एवं 'मृग' शब्द का प्रयोग इन्हें आर्य जाति से पृथक् एक वन्य मानव जाति सिद्ध करता है बन्दर नहीं। बन्दर की भाँति वानरों के पूँछ की कल्पना वाल्मीकि के मन की ऊपज है। वाल्मीकि ने राम कथा में रोचकता लाने के लिए ही सम्भवतः वानरों को बन्दरों के रूप में दर्शाने का प्रयास किया है।

इन वानरों ने आपद् काल के लिए गुफाओं (गिरिगुहा) में अपना घर बना लिया था। सुग्रीव भी अपने निर्वासन की अवधि में ऋष्यमूक पर्वत पर बिना कोई कुटी, आश्रम या भवन बनाये ही रह रहे थे। संभवतः उस अवधि में ये पहाड़ी गुफाओं में ही निवास कर रहे थे। अतएव यह आश्चर्य दिख पड़ता है कि लक्ष्मण ने किस प्रकार सुग्रीव के सोने के बने हुए तोरणद्वार एवं सात कमरों से युक्त, धन-धान्य सम्पन्न सशस्त्र बलवान् से रक्षित,किष्किन्धा के राजमहल को देखा।[1] निश्चय ही इन वानरों ने अपने राजप्रासाद हेतु गिरिगुहा को ही सुसज्जित कर महल का रूप दे दिया होगा या आर्य सम्पर्क में रहने के कारण सभ्य आर्यों की भाँति रहने की कला सीख ली होगी।

वानर समाज में स्त्री-पुरुषों के बीच के संबंध को वाल्मीकि ने मर्यादित रूप में दर्शाया है। वाल्मीकि रामायण में वायु से स्पर्श की जाती हुई अञ्जना कहती है- "**एकपतिव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति**" (66/44) अर्थात् एक पतिव्रता इस स्त्री को कौन अपवित्र करना चाहता है। वाल्मीकि ने वानर पति-पत्नियों के लिए भर्ता और भार्या शब्द का प्रयोग किया है जो आर्य संस्कृति के समान दिख पड़ता है। परन्तु, यह विचारणीय विषय है कि क्या वानर जातियाँ विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं को स्वीकार करती थीं ? सम्पूर्ण रामायण के अवलोकन से कुछ विरोधाभासी बातें दीख पड़ती हैं। वानरों की तारा के प्रति एक उक्ति है-अभार्या। सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः। लुब्धेभ्यो विप्रलम्भम्यश्तेभ्यो नः सुमहद्भयम् (19.16) अर्थात् विजयी सुग्रीव के साथ सभी नर पत्नी के साथ या बिना पत्नी के नगर में प्रवेश करने वाले हैं, जिनसे हमें बहुत डर है क्योंकि पूर्व काल में बिना पत्नी वाले वानर उनकी पत्नियों के अपहरण से ठग लिये गये थे और जो पत्नी वाले हैं वो हमारी पत्नियों को अपने वश में कर लेंगे।" उपर्युक्त कथनों से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि वानर समाज में विवाह जैसी मर्यादित संस्था नहीं थी एवं काम के प्रति वानर जातियाँ संयमित नहीं थी। काम तृप्ति के लिए वानर जातियाँ वानर स्त्रियों पर बल प्रयोग भी करते थे। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि तारा एवं

1. वाल्मीकि रामा., IV 33/4-19

रुमा क्रमशः बाली एवं सुग्रीव की पत्नी थीं। किन्तु, जब असुरों न बाली को वर्षों तक बिल में शिला द्वार से बन्द कर कैद रखा तब किष्किंधा पहुँचे सुग्रीव ने राज्याभिषेक तो किया ही, बाली की पत्नी को भी अपने कब्जे में कर लिया **( राज्यमादाय सुमहत्तारां च रुमया सह। मित्रैः परिवृतः सर्वैर्विहरामि गतज्वरः )**। पुनः जब बाली स्वतंत्र होकर लौटा तो उसने सुग्रीव को निर्वासित कर उसकी पत्नी रुमा को कब्जे में कर लिया (हृतदाराश्च)। पुनः सुग्रीव ने बाली का वध कर रुमा एवं तारा को अपनी पत्नी बना लिया। इस प्रकार वानर स्त्रियों पर कब्जा करना या अपहरण करना इस जनजाति की स्वाभाविक एवं सामान्य प्रवृत्ति थी। बाली ने कहा- **''सुषेजदुहिता चेयम्** ........22/13।

इस संदर्भ की एक द्रष्टव्य बात यह भी है कि हनुमान (पवनसुत) की उत्पत्ति पवन देव के द्वारा हुई थी, सुग्रीव को सूर्य पुत्र एवं बाली को इन्द्र से उत्पन्न बताया गया है। इस प्रकार वानर स्त्रियों का संबंध देवताओं के साथ भी दिख पड़ता है। देवों से उत्पन्न वानर संततियों एवं उनकी माताओं को हीन भावना से न देखकर सामाजिक प्रतिष्ठा मिली हुई थी। साथ ही, यदि देवों या आर्य सम्पर्क से उत्पन्न संतान यदि बलशाली एवं गुणवान् होता तो इसका राजनैतिक लाभ भी उनको प्राप्त होता था। इन वानर स्त्रियों पर देवताओं द्वारा गन्धर्वों, किन्नरों की भाँति प्रभाव दिख पड़ता है। वानरजाति की उत्पत्ति भी वाल्मीकि ने वानरादि की स्त्रियों में देवों के द्वारा उत्पन्न की गयी संतान से दिखायी है।[1]

इस प्रकार वानर संस्कृति पूर्णतया आर्येतर संस्कृति थी, जिसमें आर्यों के सम्पर्क से थोड़ा सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान दिख पड़ता है। वानर राक्षसों की अपेक्षा आर्यों के सम्पर्क में अधिक थे और आर्यों के धार्मिक आस्था के प्रति सहज स्वीकृति इन जातियों में भी दीख पड़ती है। यह वानर जाति यद्यपि आर्यों एवं राक्षसों की तुलना में पिछड़ी हुई थी, किन्तु प्राकृतिक औषधि की इन्हें जानकारी थी। फिर भी, यह एक जंगली, घुमंतु जाति थी, जिनमें पराक्रम के आधार पर राजतंत्रीय राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था थी।

**रामायणकालीन राक्षस संस्कृति** -रामायण की कथा आर्यों एवं राक्षसों के बीच परस्पर युद्ध की कथा है। राक्षस संस्कृति की महत्वपूर्ण एवं पूर्ण जानकारी रामायण से नहीं मिल पाती फिर भी राक्षस संस्कृति की जो पारम्परिक अवधारणा

---

1. बाल्मीकि रामायण I 17/5-6, अप्सरस्सु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च,
   यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्ष विद्याधरीषु च।
   किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां च तनुषु च,
   सृजध्वं हरिरुपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्।।

आर्यों में है, उसी के अनुसार हम रामायण का उद्धरण लेते हुए राक्षस संस्कृति की चर्चा करेंगे –

रामायण में वर्णित राक्षस लंका में निवास करते थे। लंका दक्षिण भारत स्थित एक समुद्री द्वीप था। समुद्र से चारों दिशाओं से घिरा होने के कारण लंका अत्यन्त सुरक्षित नगरी थी। रावण और उसके भाइयों ने घोर तपस्या द्वारा ब्रह्म से वरदान प्राप्त कर यक्षों को परास्त कर लंका नगरी में अपना सुरक्षित नगर बसाया। उत्तरकाण्ड में वर्णित कथा के अनुसार लंका में राक्षस सुकेश के तीन पुत्र हुए- माल्यवान्, सुमाली एवं माली। इन तीनों भाइयों की ओजस्विता से राक्षस उन्नति एवं पराक्रम के शिखर पर थे। विश्वकर्मा ने लंका नामक इस द्वीप का निर्माण किया था, किन्तु देवता-गण किस प्रकार इस नगरी से बाहर चले गये या राक्षसों ने किस प्रकार देवताओं पर विजय प्राप्त कर लंका में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली, इसकी कथा कहीं भी नहीं है। राक्षसों की शक्ति लंका में अत्यन्त बढ़ गयी। इन राक्षसों ने आस-पास के देशों में अत्याचार करना शुरू कर दिया। देवताओं तक को इन राक्षसों ने नहीं छोड़ा। यद्यपि विष्णु के नेतृत्व में देवगणों को राक्षसों पर विजय की प्राप्ति हुई और राक्षसी को लंका छोड़कर भागना पड़ा जिसे पुनः राक्षसों कैकसी एवं महर्षि पुलस्त्य के चार सन्तानों रावण, कुंभकर्ण, विभीषण एवं शूर्पनखा ने अपने अधिकार में कर लिया

रावण कुशल राजनीतिज्ञ, प्रकाण्ड विद्वान् एवं पराक्रमी था। इसने राक्षसों के राजनैतिक उथल-पुथल को कुछ दिनों के लिए शांत कर दिया। इसने अपने पराक्रम एवं आतंक से देवताओं, गन्धर्वों, यज्ञों एवं वानरों सभी को आतंकित किया। यह कूटनीतिज्ञ भी था। अतएव इसने वानरों के राजा बाली को अपनी ओर मिला लिया, जिससे आर्यों के संकट को कम किया जा सके।

इसने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए एक शक्तिशाली सेना बना ली थी। खरदूषण के नेतृत्ववाली राक्षसों की चौदह हजार की संख्या वाली सेना का वर्णन मिलता है जिसमें स्त्री सेना एवं पुरुष सेना दोनों ही थी। इन सेनाओं के बल पर राक्षसों ने धन-धान्य एवं ऐश्वर्य की अत्यन्त वृद्धि कर ली। राक्षसों की सेनाएँ आर्यों की तुलना में अधिक सशक्त एवं आग्नेयास्त्रों से युक्त थी। अपनी सशक्त सेना के बल पर राक्षसों ने अनेक आर्य-राज्यों को आतंकित किया। उत्तर भारत के अयोध्या नगरी तक इसके पराक्रम का प्रभाव दीख पड़ता था, जहाँ के राजा दशरथ थे।[1] इसने अपने छल बल पर सीता का हरण कर डाला था। इस प्रकार पराक्रम द्वारा राक्षसों ने अपनी राजनैतिक स्थिति अत्यन्त सशक्त बना ली थी।

---

1. वाल्मीकि रामायण, I 20/23, दशरथ का रावण के प्रति विश्वामित्र को कथन है–
 "स तु वीर्यवतां वीर्यमादत्तं युधि रावणः।
 तेन चाहं न शक्तोऽस्मि संयोद्धुं तस्य वा बलैः।।"

लंका में एक ही जाति निवास करती थी, वह राक्षस जाति थी। लंका एक छोटी किन्तु सम्पन्न नगरी थी, जिसमें राजतंत्र था। लंका में राक्षसों का राजा रावण था जिसके अधीन सारी सेनाएँ थी। छोटे-छोटे सामंतों या श्रेणियों की कोई भी अपनी सेना नहीं थी। इससे प्रतीत होता है कि सेना का केन्द्रीय नियंत्रण था। सेना का टुकड़ियों में विभाजन भी नहीं था। युद्ध के अवसर पर ही घोड़े हाथी रथी, अश्वारोहियों की अस्थाई व्यवस्था की जाती थी। राजा को परामर्श देने के लिए मंत्री परिषद् भी था किन्तु अंतिम निर्णय राक्षसों के स्वामी अर्थात् राजा का होता था। यद्यपि मंत्री परिषद् या राक्षस प्रतिनिधियों के परामर्श की अवहेलना नहीं की जाती थी। राक्षस सेना का नेतृत्व राजपरिवार के सदस्यों पर ही रहता था। किसी भी समस्या के समाधान के लिए कुलवृद्धों की सभा होती थी। प्रत्येक कुल के वयोवृद्ध सभाओं में प्रतिनिधि के रूप में आकर परामर्श रखते थे।

राक्षस समाज वर्णों या जाति में विभक्त समाज नहीं था। संभवतः राक्षस भी कबिलाई जाति थी। सबों की सामाजिक स्थिति समान थी। हाँ! रामायण में राक्षस के लिए दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है - ब्रह्मराक्षस एवं यातुधान। ब्रह्मराक्षस वे थे जो धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन जानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि को राक्षस संस्कृति की समुचित जानकारी नहीं थी। यही कारण कि उन्होंने राक्षस संस्कृति में आर्य संस्कृति का आरोपण किया है। वाल्मीकि ने रावण को वेद-वेदान्तों एवं व्याकरण का ज्ञाता बताया है जबकि राक्षस पूर्णतया आर्य विरोधी थे। अतएव राक्षसों पर आर्य संस्कृति का आरोपण तार्किक प्रतीत नहीं होता। संभवतः राक्षसों की अपनी धार्मिक पद्धति एवं यज्ञ-प्रक्रिया थी। राक्षसों की भाषा भी आर्य-भाषा से भिन्न थी। वाल्मीकि पर आर्य संस्कृति का प्रभाव होने से ही संभवतः इन्होंने विद्वान् राक्षसों को ब्रह्मराक्षस एवं यातुधान बताया है। वाल्मीकि ने ब्रह्मराक्षस का परिचय देते हुए कहा है -**''षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम् शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विराजे ब्रह्मरक्षसाम्''** V18/2 तथा यातुधान के विषय में बताया है कि'' **शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ( 4/13 )**। अर्थात् ब्रह्मराक्षस यज्ञों का सम्पादन करते थे तथा सुशिक्षित थे जबकि यातुधान राक्षस मन्त्रों का जाप करने वाले थे तथा जादू-टोना आदि क्रियाएँ करते थे। इनको सामाजिक रूप से अच्छा नहीं समझा जाता था। राक्षस जादू-टोना करने में प्रवीण तथा अत्यन्त मायावी थे। ये साक्षात् युद्ध की अपेक्षा गोरिल्ला युद्ध किया करते थे। अतः वाल्मीकि ने इन्हें कूट योद्धा कहा है। साथ ही राक्षस मायावी रूप धारण कर युद्ध किया करते थे। इनके अस्त्र-शस्त्र एवं आयुध भी मायावी थे। ये कभी मंत्रों का प्रयोग कर कुशाओं को ही अस्त्र बना लेते थे, तो कभी अग्निकुण्ड को आयुध के रूप में प्रयोग करते थे (**दर्भमुष्टिप्रहरणानाग्निकुण्डायुधां स्तथा कूटयुद्धरपाणीश्च...**-V 4/16)।

राक्षस जाति घोर तपस्वी थी। यज्ञ और तप द्वारा शक्ति तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति इनका प्रधान लक्ष्य था। यही कारण था कि ये राक्षस अन्य राक्षसेतर लोगों को याज्ञिक क्रिया सम्पन्न करते देख सशङ्कित हो जाते थे। सशङ्कित होकर वे आर्यों के धार्मिक कार्यों में विघ्न उत्पन्न करते थे। यद्यपि आर्यों द्वारा याज का सम्पादन ऐश्वर्य प्राप्ति के उद्देश्य से भी होता था, तथापि शक्ति-सम्पन्न होने के लिए ब्राह्मण यज्ञ नहीं करते थे। यद्यपि राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों का प्रचलन सामरिक महत्व का था तथापि ये यज्ञ परवर्ती काल के प्रतीत होते हैं। रामायण में भी उत्तरकाण्ड में अश्वमेध यज्ञ की चर्चा है जो अंश संभवतः प्रक्षिप्त कहा जा सकता है। राक्षसों द्वारा यज्ञ में विघ्न पैदा करने के कारण ही राक्षसों में 'यज्ञघ्न' 'क्रतुक्रियाणां प्रशमङ्करा', 'तपस्वीकंटक', 'ऋषिकण्टक' 'मुनिघ्न' आदि कहा गया है। आर्यों के लिए राक्षस विघ्नकारी समझे जाते थे और यज्ञ द्वारा उनके वध की कामना भी आर्यों द्वारा की जाती थी **( चिन्त्यते हि वधोपायः सर्पिसंघैः सुरैस्तव ( VII 13/33 )**।

राक्षस संस्कृति में धर्म भोग का साधन था। राक्षस 'काम' भाव से ही धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे। वे काम को त्रिवर्ग का मूल मानते थे **( धर्मकामफल विद्धि .... एतन्मूलं त्रिवर्गस्य )**। आर्यों ने जहाँ चतुर्वर्ग फल प्राप्ति को जीवन का उद्देश्य माना है वहीं राक्षस संस्कृति 'मोक्ष' की परिकल्पना नहीं करती। इन्द्रियों की तृप्ति मात्र ही राक्षसों का उद्देश्य था **( इन्द्रियार्थोपभोगो हि कामः सत्यपराक्रम। शब्दगन्धरसस्पर्शरूपाणि विविधानि च... V 87/4-5 )** राक्षसों की सोच यह थी कि कर्मों को करने के लिए 'काम' ही उद्यत करता है:-

**''काम एव हि सर्वेषां कारणानां प्रयोजनं श्रेयः पापीयसां चात्र फलं भवति कर्मणात्॥**

**निःश्रेयसफलत्वे च धर्मार्थावितरावपि इह धर्मार्थयोः प्राप्तिः फलं च प्रेत्यभाविकम्॥**

**इहलौकिकपारत्रं कर्म पुंभिनिषेव्यते कर्मणात्र तु कल्याणं लभते काममास्थितः।**
—वा. VI रा. 43/79

राक्षस संस्कृति में परलोक की कल्पना नहीं थी। उनकी पूर्ण भोगवादी संस्कृति शुभाशुभ कर्मों में विश्वास नहीं करती थी। भोगवादी संस्कृति के कारण ही राक्षस दूसरों की सुन्दर स्त्रियों का अपहरण कर लेते थे **( रक्षसां चाभावन् कन्यास्तस्य कामवंशगताः 9/68 )**। यही कारण था कि रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिया गया। पर स्त्री के अपहरण के पीछे रावण की सोंच उसकी सीता से कही गयी इस उक्ति से दीख पड़ती है –

**'स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः।**
**गमनं ना परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा॥ वा. रा. 20/5**

राक्षस कन्याएँ स्वयं भी कामवशात् दूसरे पुरुष के पास चली जाती थीं-**''रक्षसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवंशगताः।''** (9/68) राक्षस स्त्रियाँ अपने काम भाव की तुष्टि हेतु कोई भी संकोच नहीं करती थीं। उनकी सोंच थी कि यौवन चिरस्थाई नहीं है –**"जानीमहे यथा भीरु स्त्रीणां यौवनमध्रुवम्। यावन्न ते व्यतिक्रामेत्तावत् सुखमवाप्नुहि।।"** (V 24 /34-35)

आर्य एवं राक्षस संस्कृति परस्पर विरोधी संस्कृति थी, क्योंकि जीवन शैली से संबंधित दोनों की अवधारणा भी पृथक्-पृथक् थी। आर्य जहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय को महत्त्व देते थे, तो वे राक्षस अर्थ एवं काम को। राक्षसों में शक्ति का मद था जिससे वे आर्य जन की अवज्ञा करते थे और धन और भोग के लिए (शारीरिक एवं मायावी) शक्ति को प्राथमिकता देते थे। आर्य सात्त्विक प्रवृत्ति के थे। जबकि राक्षस तामसिक प्रवृत्ति के थे। राक्षस आर्यों को हीन दृष्टि से देखते थे। आर्य और राक्षस का भेद राक्षसियों के इन वचनों से द्योतित होता है-

**''मानुषी मानुषस्यैव भार्यात्वं बहु मन्यसे'' V 24/3**

**''परितुष्टामि भद्रं ते मानुषस्ते कृतोविधिः'' V 24/22**

**''मानुषं कृपणं रामं त्यक्त्वा रावणमाश्रय V 24/24**

रूप, रंग एवं शारीरिक बनावट से ही राक्षस आर्यों से भिन्न थे। राक्षसों के लिए रामायण में '**माषराशिप्रतीकाशं**', '**नीलजीमूतवर्णाभ**' (नीले बादल के रंग वाले) '**अञ्जनाचलवर्चस**' (काले काजल के पर्वत के रंग के) आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि राक्षसों का शरीरिक रंग काला या नीला था। राक्षसों के शरीर की बनाबट भी असामान्य थी। रामायण में इन राक्षसों के लिए 'महाग्रीव', 'महादंस्ट्र', 'महास्य' (बड़े मुँहवाले), ''महाकायं'' भीमकाय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनके बहुत सारे अङ्ग वन्य प्राणियों की भांति थे जैसा कि अशोक वाटिका में सीता की रखवाली करनेवाली महिलाओं के विषय में वाल्मीकि कहते हैं कि इन राक्षसियों का मुख गीदड़ सुअर, हिरण, भैंस आदि की भाँति था और कुछ का ऊँट, घोड़ों के समान। ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि इन राक्षसों को कुरूप एवं अजीबोगरीब संरचना वाला बताना चाहते थे। इनके पैरों की भी बनावट जानवरों की भाँति मनुष्यों से भिन्न थी। राक्षसों के लिए कबन्ध की भाँति छाती में सिर वाला भी बताया गया है - **''बराहमृगशार्दूलमहिषाजशियामुखाः। ओष्ट्रहयपादाश्च निरवाताशेरसोऽपराः''** 17/10। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्यों एवं राक्षसों में शारीरिक जातिगत एवं गुणसूत्रगत भेद था। यह अन्तर राक्षसियों के कथन से भी सिद्ध होता है-**'मानुषी मानुषस्यैव भार्यात्वं बहुमन्यसे।** (V 24.2)

राक्षसों के भोजन भी आर्यों से भिन्न थे। रामायण में आर्यों को शाकाहारी

दर्शाया गया है जबकि राक्षस पूर्ण तामसी भोजन मदिरा एवं मांस के आदि थे। हनुमान ने रावण की नगरी में अनेक प्रकार के पशु–पक्षियाँ के पके हुए मांस को देखकर **''मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च...मांसानिपानभूमौ ददर्श सः।** कुंभकर्ण के जागने पर ही राक्षस उनकी भूख शांत करने के लिए मृग, भैंस, वराह आदि को इन्हें समर्पित कर देते थे। मांसों को कुशलतापूर्वक पका कर परोसा जाता था ( **बहुप्रकारैर्विविधैर्वरसंस्कारसंस्कृतैः। मांसैः कुशल संयुक्तै...V 11/21-22** )। राक्षसों को नरभक्षी भी दर्शाया गया है। ये कच्चे मांस का भी सेवन करते थे। शोणित (रक्त) एवं मेदा (चर्बी) का भी सेवन करते थे।[1]

राक्षस मदिरा के प्रेमी थे। ये अनेक प्रकार की मदिरा का पान करते थे। एक विशेष प्रकार के वृक्ष से निकलने वाले रस को नशा हेतु प्रयोग में लाते थे। वृक्षों से प्राप्त होने वाले नशीले आसव के साथ–साथ कृत्रिम मदिरा भी बनाते एवं पीते थे।[2] इनको स्वादिष्ट बनाने के लिए सुगन्धित पदार्थों को मिलाते थे।[3] ये राक्षस भी सुरा को गम भुलाने में सहायक मानते थे।[4] उत्सवों में राक्षस एवं राक्षसियाँ मद्यपान से चूर होकर गिर पड़ती थीं।[5]

राक्षस संस्कृति आर्य संस्कृति से एक अन्य कारण से भी भिन्न दिख पड़ती है। आर्य संस्कृति पितृप्रधान थी तो राक्षस संस्कृति मातृप्रधान। रावण के पिता महर्षि पुलस्त्य थे तथा माता राक्षसी कैकसी। फिर भी रावण को राक्षस ही कहा गया है। वैसे भी रामायण में राक्षसों के सम्बन्धों को दर्शाते हुए 'मातामह, दुहितुः, दुहिता, मातृष्वसेय आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है किन्तु पितृष्वसेय, पितामह, पितृष्वसा आदि शब्दों का नहीं। यह इस बात का द्योतक है कि राक्षस समाज मातृसत्तात्मक था। रावण ने अप्सरा रंभा को उपभोग हेतु पकड़ा था, किन्तु रंभा द्वारा स्वयं को रावण का पुत्रवधू बताए जाने पर भी रावण द्वारा मुक्त नहीं की गयी क्योंकि रंभा रावण के सौतेले भाई कुबेर की पुत्रवधू थी और राक्षस समाज में कुबेर एवं उसके पुत्र के साथ संबंध पिता से बनता था, माता से नहीं। अतएव रावण ने बलपूर्वक रंभा का उपभोग किया। इस प्रकार राक्षसों की सामाजिक संरचना भिन्न होने के कारण

---

1. वा. राम. V 17/17, 'मांसशोणित भोजनाः'
   वही, VI 60/ 33, 'शोणित कुंभ'
2. वा. रामा. V 11/22, ''दिव्याप्रसन्न विविधाः सुराः कृतसुरा अपि''
3. वही, V 11/23; ''शर्करासवमाध्वीकाः पुष्पासवफलासवाः वासचूर्णैश्च विविधैभृष्टास् तस्तैः पृथक्–पृथक्...।
4. वा. रामा., V 24/46; ''सुरा चानीयतां क्षिप्रं सर्वशोकविनाशिनीम्''
5. वही, V 9/34; परिवृत्तऽध्ररात्रे तु पानं निद्रावंशगतम्' अपि च
   वही, V 10/ 11, पीत्वाप्युपरतम्।

इनके लिए नैतिकता की परिभाषा भी भिन्न थी। इनके आचार एवं नैतिकता की परिभाषा भिन्न होने के कारण ही इन्हें व्यभिचारी एवं अनिष्टकारी कार्यों में निरत दर्शाया गया है। ये लंका के 'निकुंभिला' नामक वन में अपनी वासनाएँ या आभिचारिक साधनाएँ पूर्ण किया करते थे। 'निकुंभिला' वस्तुतः एक वन में रासक्षों की इष्ट देवी थी। जो नरबलि से प्रसन्न होती थी तथा इसकी आराधना में मांस एवं मदिरा का सेवन भी होता था। मदिरा पान कर लोग सामूहिक नृत्य भी किया करते थे **( मानुषं मासमादाय नृत्यामोऽथ निकुंभिलाम्। V 24/17 )**।

राक्षस संभवतः शिव की पूजा किया करते थे। रावण को भी शिव का उपासक बताया गया है। रावण के विषय में उक्ति है -

**''यत्र-यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।**

**जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते। VIII 31/42**

लिङ्ग पूजा एवं स्त्री देवी की पूजा भारत में आर्यों के पूर्व भी प्रचलित था, जिसका पुरातात्त्विक प्रमाण भी मिलता है। राक्षसों में वेद-मंत्रों का चलन नहीं था, न ही वैदिक प्रथाओं को राक्षस मानते थे। रामायण में राक्षसों के बीच अन्त्येष्टि संस्कार को दिखाना राक्षसों के बीच आर्य संस्कृति के प्रवाह को आगे बढ़ाना था। वाल्मीकि ने रावण के लिए 'वेदविद्याव्रतस्नातं' शब्द प्रयुक्त किया है। संभव है रावण ने राक्षसों का शासक होने के कारण कूटनीति आदि विद्या में पारंगत होने के लिए तथा आर्य संस्कृति को जानने के लिए वेदों का अध्ययन किया हो।

वाल्मीकि राक्षसों के धन-धान्य एवं ऐश्वर्य से पूर्णतया अचंभित थे। उन्होंने लंका को सोने की नगरी कह कर सम्बोधित किया है।[1] राक्षसों के पास सुख एवं सुविधा के सभी साधन उपलब्ध थे। राक्षसों के महल में मनोरञ्जन हेतु चन्द्रशालाएँ, चैत्यगृह, अनुत्तम निशागृह, क्रीडागृह, गृहातिगृह, भूमिगृह, दिव्यमणिगृह, कामगृह थे। जिनमें राक्षस-राक्षसियाँ भ्रमण किया करते थे। ये राक्षस आभूषणों एवं स्वर्णजड़ित वस्त्रों का उपयोग करते थे। राक्षसों को नृत्य एवं संगीत में भी रुचि थी। ये सुन्दर बर्तनों एवं कशीदाकारी किए हुए कालीनों का प्रयोग करते थे।

रावण के पास सोना, चाँदी एवं रत्नों का विपुल भंडार था। वाल्मीकि ने रत्नों में प्रवाल, वैदूर्य, महानील, इद्रनील, व्रज, विद्रुम, स्फटिक, मुक्ता एवं हाथी दांत का

---

1. वा. रामा. V/2/51-54,
प्रासादमालाविततां स्तंभैः काञ्चनसंनिभैः शातकुंभविभैर्जालैर्गन्धर्वनगरोपमाम्।।
सप्त भौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम् तलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः।।
वैदूर्यमणिचित्रैश्च मुक्ताजाल विभूषितैः, तैस्तैः शुशुभिरं तानि भवनान्यत्र रक्षसाम्।।
काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम्, लंकामुओतयामासुः सर्वतः समलंकृताम्।।

वर्णन किया है। रावण के महलों के अन्दर के ऐशो-आराम को देख हनुमान् अचम्भित हो गये थे – **''स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत्। सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः।''** V 9/30 हनुमान ने जब सोने एवं मणियों से निर्मित कृत्रिम वृक्ष, पक्षियों आदि से युक्त अशोक वाटिका का भ्रमण किया तो उन्हें लंका में सबकुछ स्वर्ण निर्मित ही प्रतीत हुआ।[1] राक्षस नगरी की यह सुख-सुविधा किसी अत्यन्त भाग्यशाली को ईश्वरीय कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। अतएव अन्तःपुर की स्त्रियों का क्या कहना। ये तो पुण्यात्माएँ ही थी जिन्हें अन्तःपुर की यह सुख-सुविधा प्राप्त है। (V. 9/42)

इस प्रकार रामायण में वर्णित राक्षस संस्कृति पूर्ण भोगवादी संस्कृति प्रतीत होती है। जहाँ कर्म एवं धर्म का उद्देश्य भौतिक सुखों की प्राप्ति था। आर्य संस्कृति से भिन्न एवं विपरीत यह संस्कृति 'काम' को ही सार तत्त्व मानते थे।



1. वा. रा. V/ 14/39, 'काञ्चनोऽस्मीति सर्वतः......'

# अध्याय-10

# पुराणकालीन संस्कृति

## पुराणों की उपादेयता

भारतीय सामाजिक परम्पराओं का अवलोकन पुराणों के अनुशीलन बिना संभव नहीं है। 'पुराण' शब्द का अर्थ है-पुरातन, पुराना। पुराण भारतीय जीवन-साहित्य के रत्ननिर्मित अमूल्य श्रृङ्गार हैं तथा अतीत को वर्तमान के साथ जोड़नेवाली स्वर्णमयी श्रृङ्खला भी हैं। अठारह पुराणों का अक्षय भण्डार भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। पुराणों को वेद से भी पूर्व का कहा गया है-

**पुराणां सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**

**अनन्तरं च वक्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता।। अ.पु.द. उपो.पृ.11**

बृहदारण्यक उपनिषद् (2.4.10) में पुराण को वेदों की भांति अपौरुषेय माना गया है.....**अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि।''** पुराणों की प्राचीनता पर विचार करते हुए अथर्ववेद में हम पाते हैं कि 'पुराणों में अष्टादश पुराणों की नामावली प्राप्त होती है। जो सभी पुराणों में क्रमानुसार एक समान हैं। पुराण के अन्तिम स्थल पर एक विवरण उपलब्ध होता है। मैत्रेय से पराशर का कथन है कि पूर्वकाल में कमलोद्भव ब्रह्मा ने यह आर्ष पुराण सर्वप्रथम ऋभु को सुनाया था और ऋभु ने प्रियव्रत को। इस प्रकार क्रमागत रूप से ब्रह्मा से बीसवीं पीढ़ी में जातुकर्ण के पश्चात् मैंने तुम्हें यथावत् रूप से सुना दिया है। तुम भी कलियुग के अन्त में इसे शिनीक को सुनाना।[1] इस प्रकार पुराण प्रारम्भ से ही पुराने इतिहास तथा पुरानी परम्पराओं का संग्रह करनेवाली रचना रही है, इसीलिए इसे बहुधा पुराणसंहिता कहा जाता है। पुराणों में केवल धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष वाले पुरुषार्थों के उपदेशों से संवलित आख्यान[2] ही अंकित नहीं हैं, अपितु इनमें समाजशास्त्रीय महनीय सिद्धान्त पूर्णतया चित्रित हैं। महाभारत के अनुसार पुराण मनोहर कथाओं एवं मनीषियों के चरितों की गाथा है-

---

1. तु. क. 6/8/43-50
2. विष्णु पु., श्रीधरी टीका:; आर्यादिव्याख्यातं देवर्षिचरिताश्रयम्।
   इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्यादद्भुतधर्मभाक्।।

**पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।**
**कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव।।** 1/5/2

'पद्मपुराण' का कथन है – 'पुरा परम्परा वष्टि पुराण तेन वै स्मृतम्' (अर्थात् पुरानी परम्परा को चाहने, पसन्द करने के कारण (ये रचनाएँ) पुराण कही जाती हैं। वस्तुतः पुराण प्राचीन-परम्पराओं को व्यक्त करती कथाओं, आख्यानों, इतिहासों का वह समादृत सम्मिश्रण है जिससे सहस्र काल की गतिशील एवं परिवर्तनशील संस्कृति का आधार तैयार होता है। वस्तुतः पुराण पुराने आख्यानों का संग्रह है –'पुराणम् आख्यानम्।' परवर्त्ती काल में उपाख्यान, गाथा तथा कल्पजोक्ति भी पुराण के अंग बन गये। आख्यान आखें देखी घटनाएँ कहलायीं तथा उपाख्यान सुनी-सुनायी घटनाओं के वर्णन थे (**स्वयं दृष्टवाय कथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः। श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते**)। पूर्वजों के यशोगान से संबंधित विषय सामग्री को गाथा कहा गया। भिन्न-भिन्न कल्पों में उत्पन्न होनेवाले विषयों अथवा पदार्थों का वर्णन कल्पजोक्ति कहलाता है। पुराणों में इन चार प्रकार के वर्णनों को दूसरे रूप में भी देखा गया–

**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।**
**वंश्यानुचरितं चैव पुराण पञ्चलक्षणम्।।**

अर्थात् सृष्टिक्रम (सर्ग), प्रलय का वर्णन (प्रतिसर्ग), ऋषियों के वंशज का वर्णन (वंश), विभिन्न मन्वन्तर के अन्तर्गत आनेवाले मनु, देव, इन्द्र, सप्तर्षि तथा ईश्वर के विभिन्न अवतारों का वर्णन (मन्वन्तर) तथा पूर्वजों या पूर्ववर्त्ती राजाओं के वंशावली का वर्णन (वंश्यानुचरित) ये पुराण के पाँच लक्षण माने गये हैं। पुनः पुराण के अन्य पञ्च लक्षण भी बताये गये हैं –

**सृष्टिप्रवृत्तिसंहारधर्ममोक्षप्रयोजनम्।**
**ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्च लक्षणम्।।**

उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों में इतिहास पर बल कम दिया गया है एवं धर्म को प्रश्रय अधिक दिया गया है। भागवत् पुराण (II. 10/17) में पुराण के दस लक्षण बताये गये हैं – (1) सर्गः (2) विसर्गः (3) 'स्थान' (4) 'पोषण' (5) 'भूति' (6)'मन्वन्तर' (7) 'ईशानुकथा' (8) 'निरोध' (9) मुक्ति एवं (10) आश्रय।[1] वस्तुतः वैष्णव प्रभाव के कारण पुराण के पूर्व बताये गये पञ्च लक्षण दस लक्षणों में परिवर्तित हो गये। इनमें 'सर्ग' की उत्पत्ति भूत, तन्मात्रा,

---

1. गत सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणभूतयः।
   मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।

इन्द्रिय, बुद्धि आदि से मानी गयी है। पुरुष द्वारा आगे की सृष्टि 'विसर्ग' बतायी गयी है। 'स्थिति' शब्द से ईश्वर या भगवान् की विजय और 'पोषण' शब्द से भगवान् का अनुग्रह विवक्षित है। 'भूति' शब्द कर्मों की वासना को द्योतित करता है। 'मन्वन्तर' शब्द से मन्वन्तरों के धर्म विवक्षित हैं। 'ईशानुकथा' से अवतार और उनके अनुगामियों की कथा विवक्षित है। 'निरोध' शब्द से प्रलय इंगित होता है, जिसमें भगवान् अपनी शक्तियों के साथ शयन करते हैं। 'मुक्ति' शब्द से जीव का विकृतभाव छोड़कर स्वरूप में अवस्थान कहा गया है। 'आश्रय' शब्द बन्ध, मुक्ति आदि सभी का कारण रूप परब्रह्म का द्योतक है। पुनः बारहवें स्कन्द में पुराण के भिन्न लक्षण बताये गये हैं-

**'सर्गीऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।**

**वंशोवंशानुचरित्रं संस्था हे तुरयाश्रयः।**

**दंशर्भिलक्षणैः उक्तं पुराणं ताद्धदो विदुः।। XIII/7/9-10**

इसमें पाँच लक्षणपूर्व वाले हैं एवं पाँच अन्य लक्षणों को जोड़ा गया है जो निश्चय ही भारतीय संस्कृति पर वैष्णव प्रभावों को द्योतित करते हैं। मत्स्य-पुराण में पुरुषार्थों को भी पुराण के लक्षणों में समन्वित कर लिया गया है (**धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवाय कीर्णते**। 53/66)। ब्रह्मवैवर्तपुराण में यह कहा गया है कि 1. सर्ग, 2. प्रतिसर्ग, 3. वंश, 4. मन्वन्तर, 5. वंशानुचरित ये उपपुराणों के विषय हैं और महापुराणों के विषय हैं- 1. सृष्टि, 2. विसृष्टि, 3. स्थिति, 4. पालन, 5. कर्मों की वासना, 6. मनुओं की वार्त्ता, 7. प्रलयों का वर्णन, 8. मोक्ष का निरूपण, 9. हरि का कीर्त्तन, 10. वेदों का विभाजन ये दस हैं।[1] इसप्रकार विभिन्न पुराणों में एक-दो लक्षणों का भेद या शब्दों में अन्तर पाया जाता है।

पुराण-साहित्य विपुल है, जिसमें विभिन्न विषय समाहित हैं। कहीं सृष्टि प्रक्रिया की चर्चा है, तो कहीं जीव के संसार चक्र की। कोई अविद्या, कर्म आदि तत्त्वों का अन्वेषण करता है तो कोई विभिन्न कालों का सर्वेक्षण करता है। पुराण में विभिन्न भगवान् एवं उनके अवतारों के अवतरण को दर्शाया गया है। साथ ही, भक्तों के वंशजों को भी भगवद्कृपा के साथ वर्णित किया गया है। पुराण में विभिन्न ऋषियों एवं राजाओं की वंशावली भी प्राप्त होती है, जिसमें भारतीय-मूल्यों के अनुरूप विभिन्न चरित्रों को उद्घाटित किया गया है। कहीं समाजिक जीवन का चित्रांकन मिलता है तो कहीं भौगोलिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। साथ ही, विभिन्न भौगोलिक परिदृश्यों के बीच सांस्कृतिक परिवर्तनों का भी पता चलता है।

वस्तुतः वर्तमान समय में पुराण सनातन धर्म के धार्मिक ग्रंथ के रूप में जाना

1. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, कृष्ण खण्ड, अ. 123, श्लो. 6-12

जाता है क्योंकि पुराण भक्ति के विकास को दर्शाने वाले अनुपम श्रोत है जिसमें भगवती की तीन गुणों के अनुसार तीन महाशक्तियाँ बतायी गयी हैं–सात्विकगुणप्रधाना महालक्ष्मी, राजसगुणप्रधाना महासरस्वती और तामसगुणप्रधाना महाकाली। इन तीन महाशक्तियों द्वारा सृष्टि के प्रवर्त्तन और विस्तार के लिए जो स्वरूप धारण किया जाता है उसको शास्त्र विशारदों ने सर्ग का प्रथम रूप माना है। तदनन्तर विष्णु, ब्रह्मा और रूद्र की उत्पत्ति संसार की उत्पत्ति, पालन एवं संहार के लिए हुई है, ऐसा बताया गया है। इसे ही प्रतिसर्ग बताया गया है। इसके उपरांत पुराणों में चन्द्रवंशी एवं सूर्यवंशी राजाओं के वंशों का कथन है। तदनन्तर, हिरण्यकशिपु आदि के वंशों का विवरण एवं स्वायम्भुव आदि मनुओं का वर्णन है। इन सब घटनाओं में लगने वाले कालक्रम का वर्णन भी 'मन्वन्तर–प्रकरण' में किया गया है। देव, ऋषि और मानवों के वंश में उत्पन्न हुए व्यवहार और घटनाओं का इतिहास वंशानुचरित में कहा गया है और अन्त में यह कहा गया है कि इस प्रकार पुराणों के पाँच लक्षण होते है।'' यहाँ प्रधान जो चेतना शक्ति है, उसके अंश रूप महालक्ष्मी आदि का आविर्भाव 'सर्ग' शब्द से कहा गया है। उन शक्तियों से शक्तिमान् जो ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र हैं, उनका आविर्भाव प्रतिसर्ग शब्द से कहा गया है। यह पद्धति भी देवी भागवत् की अपनी है। इन विषयों को भी पुराणों का सामान्य लक्षण नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अन्यत्र वर्णन की यह प्रक्रिया नहीं दिखाई देती। इसीप्रकार, स्कन्द–पुराण के प्रभासखण्ड में यह कहा गया है कि ब्रह्म, विष्णु, सूर्य, रूद्र, भुवन का महात्म्य और संहार का वर्णन ये पुराणों के पाँच लक्षण हैं[1] ये भी स्कन्दपुराण के अपने ही लक्षण कहे जा सकते हैं। इन पाँचों का भी पूर्वोक्त पाँच लक्षणों में ही समावेश हो जाता है। इस प्रकार, हमने देखा कि पुराणों का सामान्य लक्षण सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पाँच ही हैं। उनमें सर्ग ही प्रधान है। शेष लक्षण सृष्टि के ही स्वरूप के प्रतिपादक तथा उसके शेष अंश को पुष्ट करनेवाले हैं। इसीलिए बृहदाण्यक उपनिषद् के भाष्य में 'पुराण' शब्द की व्याख्या करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है कि 'पुराण असद् वा इदं अगु आसीत्' इत्यादि। इससे उन्होंने भी यही सिद्ध किया है कि सृष्टि ही पुराण का मुख्य लक्षण है, परन्तु उनमें भी लोकोपयोगी होने के कारण चार विषयों का विशेष रूप से संग्रह किया गया है। वे विषय हैं- 1.आख्यान, 2. उपाख्यान, 3. गाथा और 4. कल्पशुद्धि।

**आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः।**

**पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥**

(विष्णुपुराण, अंश 3, अध्याय 6-15)

---

1. स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड, 2.94-95

इसकी व्याख्या विष्णुपुराण की टीका में श्रीधराचार्य ने किया है –

अर्थात्, स्वयं देखी हुई बात को कहना आख्यान कहा गया है और सुनी हुई बात को कहना उपाख्यान। जिन चरित्रों का कथन वंशक्रम से हो, वे वंशानुचरित नाम के प्रधान लक्षण में आ जाते हैं तथा जिन चरित्रों का वर्णन तत्तत् स्थलों में आदर्श के रूप में वंश के क्रम को छोड़कर दृष्टान्त के रूप में किया गया है, उनको यहाँ 'आख्यान' और उपाख्यान नाम दिया गया है। जैसे महाभारत में नल का उपाख्यान ,सावित्री का उपाख्यान आदि है। 'मार्कण्डेयपुराण' में मदलासा का उपाख्यान इत्यादि ऐसे अनेक दृष्टान्त है। यह होने पर भी उपर्युक्त श्लोक में स्वयंदृष्ट कथन को आख्यान और सुनी हुई बात के कथन को उपाख्यान कहा गया है। कुछ विद्वानों ने 'आख्यान' और 'उपाख्यान' की व्यवस्था में यह कहा है कि वेदों में जो आख्यायिकाएँ संकेत-रूप से आई हैं, उनका विस्तार पुराणों में किया गया है। उन्हें ही 'आख्यान' कहना चाहिए। 'उपाख्यान' वे है जो वेद या प्राचीन वाङ्मय में संकेतित नहीं हैं। पुराणकर्त्ता ने ही उनका संकलन किया है। नल आदि राजाओं के चरित्र ऐसे ही उपाख्यान है। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि 'वंश' और 'वंशानुचरित' ये दो लक्षण अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सर्वथा वैज्ञानिक हैं। मनुष्यविशेष राजाओं के जो चरित्र हैं, 'आख्यान ' हैं और प्रसंगागत जो चरित्र संगृहीत हुए हैं, वे 'उपाख्यान' हैं। अतिरिक्त विषयों में तीसरा स्थान 'गाथा' का है। 'गाथा' का स्वरूप यह है कि किसी महामहिमाशाली वर्तमान युग का युगान्तर में उत्पन्न होने वाले महापुरुष ने अपने अनुभवों का जिन शब्दों में प्रकाशन किया और शिष्ट पुरुषों ने जिन्हें सादर स्वीकार कर लिया, उन्हें 'गाथा' कहा जाता है। महाभारत में अपने पुत्र के यौवन को ग्रहण करके भी अतृप्त रहनेवाले राजा ययाति का निम्नलिखित गाथा में प्रकाशन किया गया है –

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।**
**हविषाः कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥**

अर्थात्, 'कामनाओं के उपभोग से कभी काम शान्त नहीं होता, अपितु वह उसी प्रकार बढ़ जाता है, जिस प्रकार आहुति डालने पर अग्नि।' ये गाथाएँ उपदेश के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती हैं, इसलिए पुराणों में स्थान-स्थान पर इस प्रकार की गाथाओं का संग्रह मिलता है। यदि सभी पुराणों से इस प्रकार की गाथाओं को अलग करके संकलन किया जाय, तो संसार का बड़ा उपकार हो। कल्पशुद्धि से कल्पों की गाथा करने का अभिप्राय कुछ विद्वानों ने माना है। यह कल्पशुद्धि तो पुराणों के मुख्य लक्षणों में ही आ जाती है, इसलिए इन अतिरिक्त विषयों में जो कल्पशुद्धि पद आया है, उसका अर्थ धर्मशास्त्र के कल्पसूत्रों में जो कर्मकाण्डों के

विधान आते है और धर्मशास्त्रों में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की शुद्धियों के विचार मिलते हैं, उनका ही यहाँ कल्पशुद्धि पद से ग्रहण करना उचित होगा। इसप्रकार, संक्षेप में हमने इस प्रकरण में पुराणों के विविध लक्षणों की चर्चा की है।

वेद के समान पुराण भी पहले एक रूप ही था। अनादि पुराण विद्या का संबंध देवता, अवतार या ऋषि-मुनियों से है जिनमें समय-समय पर परस्पर संवाद या प्रवचन होते थे। वे सब एक जगह संगृहीत थे। इस संग्रह का बहुत बड़ा विस्तार था। व्यास देव ने इसपर भी हाथ डाला और उसके अट्ठारह विभाग कर दिये। वेद में तो इन्होंने किसी प्रकार का परिर्वतन नहीं किया था, किन्तु पुराण में संक्षेप और भाषा का परिवर्तन भी किया। बालक, स्त्री, अपठित, शूद्र आदि को भी जिससे बहुत बातों का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसी सरल भाषा में उन अनादि गम्भीर अर्थो को निबद्ध कर दिया। सबको समझाने के लिए कई जगह अति गम्भीर विषयों को रूपक के साँचे में ढाल दिया। जिससे की कथा कहानी के रूप में अशिक्षित जनता भी उन्हें सीख सके और अपना कौतुहल मिटा सके और आगे थोड़ा-सा संकेत देने पर ही उन गम्भीर अर्थो का ठीक आशय समझने में सबकी क्षमता हो जाय। उदाहरण के लिए, यों समझिए कि शिक्षित, अशिक्षित सभी के मन में यह जिज्ञासा होती है कि ये सूर्य, चन्द्रमा कैसे बने ? किसने पैदा किये? सर्वसाधारण की इस जिज्ञासा को मिटाने के लिए अंलकार-रूप में एक कथा बता दी गई कि कश्यप ने अदिति के गर्भ से सूर्य को पैदा किया और अत्रि ऋषि के नेत्र से चन्द्रमा पैदा हुआ। इससे विचारशक्तिहीन साधारण की जिज्ञासा शान्त हो जाती है। अब जिनकी विचारशक्ति जाग उठी है उन्हें समझाने के लिए दूसरी जगह संकेत कर दिया गया कि वैज्ञानिक भाषा में कश्यप, अदिति या अत्रि का क्या अर्थ है। उसके संकेत का मनन करने पर बुद्धिमान् लोगों को सूर्य, चन्द्र आदि की उत्पत्ति का ठीक-ठीक रहस्य विदित हो जाता है इसी प्रकार सबके मन में यह प्रश्न उठता है कि यह पृथ्वी का गोला किस आधार पर रखा है उसका समाधान एक रूपक -कल्पना से कर दिया कि हजारों फनों का एक महासर्प शेषनाग नाम का है। उसके एक फन पर यह पृथ्वी रखी है। सामान्य अशिक्षित जनता इतने से ही सन्तुष्ट हो जाती है और विवेक बुद्धिवालों को आगे दूसरे स्थान पर संकेत दे दिया जाता है कि शेष नाम का सर्प क्या वस्तु है। इससे उन्हें उस गम्भीर विज्ञान के जानने में सहायता मिल जाती है।

सामान्य जनता प्रायः अपने जैसे हाथ-पैर, कान, नाकवाले मनुष्य रूप की कथाओं से ही सन्तुष्ट होते हैं। इसलिए, प्रायः मनुष्याकार में ही वैज्ञानिक अर्थो की कल्पना की गई है। यह सब संसार कैसे बना और किसने बनाया, इत्यादि जिज्ञासा भी सबके हृदय में स्वभावतया उठती है। कभी-कभी किसी-किसी पुरुष को ऐसी जिज्ञासाएँ शान्त न होने तक बड़े कष्ट का अनुभव होने लगता है। चित्त में एक

प्रकार का क्षोभ उठने लगता है, साथ ही वैज्ञानिक गम्भीर अर्थों को अशिक्षित या अर्धशिक्षित समाज नहीं समझ सकता। इसलिए, उनको सफलता से समझा देने के लिए पुराणों में भगवान् व्यास ने एक प्रकार का चित्र खींचा कि क्षीरसमुद्र में शेषनाग पर भगवान् विष्णु सोये हुए हैं, उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न होता है उस काल से चारों ओर मुखवाले एक पुरुषाकारधारी ब्रह्मा प्रादुर्भूत होते हैं। वे ब्रह्म ही देव, असुर, मनुष्य, पशु, जिर्यक् आदि सब प्राणियों की सृष्टि करते हैं। किन्तु, वैज्ञानिक अर्थ पूर्ण रूप से बिना समझे भी इस चित्र में बुद्धि-प्रवेश कराकर युक्तियुक्त कल्पना इससे निकाली जा सकती है। जैसा कि सभी मनुष्य-प्राणियों की उत्पत्ति नाभि-कमल से ही होती है। गर्भाशय का स्थान नाभि के समीप ही है इसलिए, सबके उत्पादक मनुष्याकारधारी ब्रह्मा भी नाभि-कमल से ही उत्पन्न हुए बतलाए गये। साथ ही भगवान् विष्णु जो सबके पालक कहें जाते है, उनका क्षीरसागर में सोना भी उचित ही है, क्योंकि उत्पन्न होते ही पालन के लिए सब प्राणियों को दुग्ध की आवश्यकता होती है और पालन करनेवाले भगवान् विष्णु सब प्राणियों की माताओं के स्तनों में बालक के उत्पन्न होते ही दुग्ध भेज देते हैं। अनन्त प्राणियों को दुग्ध देने के लिए दुग्ध का समुद्र ही चाहिए, अन्यथा इतना दुग्ध कहाँ से मिले। साथ ही उनको खतरे से बचाने के लिए मुख्य खतरेवाले सर्प को अपने नीचे दबाकर सोना भी पालन के लिए अत्यावश्यक है इत्यादि अवान्तर कल्पनाओं से भी बहुत-से अर्धशिक्षितों के चित में शान्ति प्राप्त हो जाती है। पूर्ण शिक्षित पुरुष तो इन सबका वैज्ञानिक अर्थ समझकर ही सन्तुष्ट होते हैं उन वैज्ञानिक अर्थों के संकेत भी स्थान-स्थान पर पुराणों में ही दे दिए गये हैं, मूलतत्त्व के आगे भी सृष्टिप्रक्रिया में जो-जो तत्त्व आते हैं, उनका वर्णन ·भी पुराणों में मनुष्याकारधारी चेतन के रूप में किया गया है जिससे कि जनसाधारण की बुद्धि में अनायास बैठ सके। विज्ञानप्रेमियों के लिए स्थान-स्थान पर उनके वैज्ञानिक संकेत दे दिए हैं, जैसा कि वायुपुराण में निर्देश मिलता है- प्राणो दक्षस्तु विज्ञेयः संकल्पो मनुरुच्यते।

अर्थात् दक्ष प्राणरूप है और मनु संकल्प रूप है। पुराण-ग्रन्थ आज हमें पूरे प्राप्त नहीं हैं बहुत-से अंश उनके कालवश लुप्त हो गये हैं। यह भी एक कारण सबके विवरण न मिलने का उपस्थित हुआ है। भगवान् व्यास, साहित्यिक क्षेत्र की भाँति, सामाजिक और राजनीनिक क्षेत्रों गें भी एक प्रमुख थे और इन दिशाओं में उनके कृतित्व बहुमूल्य है।

उस युग में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन नामों से प्रसिद्ध द्विजमात्र को था। शूद्र और स्त्री-वर्ग वेदाध्ययन में अधिकृत नहीं थे। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों में भी जिनका नियम समय पर या विधि-पूर्वक उपनयन-संस्कार न हुआ हो वे वेदाध्ययन के अधिकार से बहिष्कृत कर दिए जाते थे। यह

सामाजिक-नियम समाज एवं व्यक्तियों के हित के लिए ही था, द्वेषमूकता इस नियम में नहीं थी, जैसा कि आजकल समझा जाता है। गम्भीर विद्या आदि अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता के हाथ में दी जाय, तो वह उससे काई लाभ नहीं उठा सकती। उसके समय की हानि तो होगी ही, बुद्धि पर अनुचित और अधिक दबाव पड़ने से बुद्धि के और अधिक बिगड़ जाने का भी खतरा रहता है। वैसे ही, जैसे मन्दाग्निवाला अधिक दुर्जर अन्न नहीं पचा सकता, और ऐसा अन्न खा लेने पर लाभ के स्थान में अधिक हानि ही उठाता है, अथवा जैसे दुर्बल पुरुष यदि अधिक व्यायाम करने लगे, तो उसके शरीर की पुष्टि न होकर उल्टे क्षीणता आने लगती है। इस प्रकार, अल्प बुद्धिवालों को गम्भीर विषयों के चिन्तन से बचाना भी उन्हीं के हित में है, द्वेष का इससे लेशमात्र भी स्थान नहीं।

फिर भी, इस नियम का यह परिणाम तो हुआ ही कि जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय ज्ञान से वंचित रह गया। यह बात भगवान् व्यास के अन्तःकरण में बहुत खटकती थी। गम्भीर ज्ञान को भी सरल रूप देकर समस्त वर्गों में उसका अधिकाधिक प्रचार वह निरन्तर चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने महाभारत और पुराणों की रचना में स्पष्ट लिखा है -

**स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।**
**इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।।**

अर्थात् , स्त्री, शूद्र और यथाविधि उपनयन -संस्कार से रहित द्विज लोग वेद को पढ़-सुन नहीं सकते थे, इसलिए व्यास मुनि ने कृपा कर महाभारत की रचना की है।

महाभारत और पुराण भी उन्होंने ऐसे ही एक व्यक्ति को पढ़ाये, जो वेद का अधिकार नहीं रखता था। इससे भी उनका उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वह वेद के अधिकार से शून्य जातियों में भी ज्ञान का प्रसार चाहते थे और किसी-न-किसी तरह उन जातियों के योग्य व्यक्तियों को भी उचित सम्मान दिलाना चाहते थे। उसका प्रतिफल भी खूब प्रकट हुआ। सूत जाति के रोमहर्षण और उग्रश्रवा ने वह सम्मान पाया, जो बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी दुर्लभ था।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उस समय धार्मिक असहिष्णुता समाज में बढ़ रही थी। भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न मतों का प्रचार हो जाने से उनके अनुयायी अलग-अलग समूहों में बह रहे थे तथा कर्म, उपासना और ज्ञान भी पृथक्-पृथक् पन्थ बनकर समाज में भेद-भाव फैला रहे थे। ज्ञानी उपासकों की निन्दा करते, उपासक कर्मकण्डियों को छोटा समझते तथा कर्मकाण्डी और उपासक ज्ञानियों को ढोंगी कहते थे। अति होने पर यह विभिन्नता भी समाज के लिए घातक सिद्ध होगी, यह खतरा भगवान् वेदव्यास की गम्भीर दृष्टि से बचा नहीं था। इस खतरे को मिटाने का उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में अत्यन्त प्रयत्न किया है।

महाभारत-युद्ध में भगवान् कृष्ण का अर्जुन के प्रति जो गीतोपदेश था, उसे व्यासदेव ने ऐसा सजाकर महाभारत में रखा है कि सम्पूर्ण वाङ्मय उससे देदीप्यमान हो गया। कर्म, उपासना और ज्ञान की ऐसी एक लड़ी बाँधी गई है कि उनके परस्पर विरोध का कोई स्थान ही नहीं रहता। सब एक सूत्र में बँध गये हैं।

इसी प्रकार, ब्रह्मसूत्र में अपना अलग-अलग राग अलापने वालों को ऐसी फटकार दी गई है कि भिन्नता लेकर वे खड़े ही नहीं हो सकते। व्यासजी का उद्देश्य यही था, कि सब मार्ग एक सूत्र में बँधे रहें, परस्पर विरोधी रूप से कोई खड़ा न हो।

कथन है कि उपनिषदों का जो तत्त्व-निरूपण है, वही परमार्थ है। केवल शुष्क तर्क से अटकल लगानेवाले दर्शन-तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते।

व्यास भगवान् ने धर्म के ऐसे अंगों पर भी विशेष जोर दिया है, जिनमें वर्ण-जाति का भेद रुकावट न डाले, मनुष्य-मात्र का समान रूप से जिन पर अधिकार रहे। भगवद्भक्ति, नाम-संकीर्त्तन, तीर्थ, व्रतोपवास आदि का ही विस्तृत संग्रह उन्होंने पुराणों में किया है।

**पुराणकालीन संस्कृति**

वर्तमान समय में भागवत् कथा के वाचन का उद्देश्य पौराणिक कथाओं द्वारा जन-मानस को भारतीय सनातन धर्म एवं संस्कृति से जोड़ना है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय, ज्ञान, अज्ञान एवं विज्ञान का समन्वय, आमा-परमात्मा का मिलन, मोक्ष एवं बंधन, सांस्कृतिक एकता एवं अनेकता का परिचय नानाविध पौराणिक कथाओं के माध्यम से ही रुचिपूर्ण ढ़ंग से संभव हो पाता है। आज के भौतिकवादी युग में भी हमारी सनातन धर्म के प्रति आस्था पुराण, रामायण एवं महाभारत सदृश कथाओं के कारण ही है।

प्राचीन भारतीय जीवन-शैली का परिचय महाकाव्यों के पश्चात् पुराणों से ही मिल पाता है। पुराण में इतिहासों की विशदता प्राचीन आख्यानों के माध्यम से देखने को मिलती है। पुराण महाकाव्यों एवं गुप्तकाल के बीच के काल-खण्ड के सामाजिक, आर्थिक, दर्शनिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं से अवगत होने का सुन्दर माध्यम है। पुराणों द्वारा वैदिक, धार्मिक एवं कर्मकाण्डीय तत्त्वों का ज्ञान सुगमतापूर्वक संभव है।

भारतीय संस्कृति में मानव के व्यक्तित्व को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाले संस्कारों में अनेक संस्कारों की चर्चा आख्यानों में प्रसङ्गतः आयी है। पुरुष सन्तान की उत्पत्ति की कामना पूर्ववत् पुराणकाल में भी रही है। अग्नि पुराण 153/2 के उत्तरार्द्ध में वर्णित है-**गर्भस्य स्पष्टता जाने सवनं स्पन्दनात् पुरा।**

इसी का समर्थन गरुड़ पुराण (1/93/11) में भी प्राप्त होता है-**पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा।** गर्भस्थ स्त्री के द्वितीय या तृतीय महीने में यह संस्कार करने का निर्देश है। पुनः इन दोनों पुराणों में छठे एवं आठवें महीने में अमङ्गलकारी शक्तियों से गर्भिणी को बचाने के लिए सीमान्तोनयन संस्कार का निर्देश है-

**षष्ठेऽष्टमे वा सीमान्तं पुत्रीयं नामकं शुभम्।** -अग्नि पुराण 153/3 का उत्तरार्द्ध **षष्ठेऽष्टमे वा सीमान्तः।** -गरुड पुराण 1/93/11 का उत्तरार्द्ध। विष्णु पुराण (3.13.6) में गृहस्थ को प्रयत्नशील होकर नान्दीमुख नामक पितरों की पूजा सीमान्तोनयन संस्कार में करने का परामर्श है :-

**सीमान्तोनयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने।**
**नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्पयतो गृही॥**

पुराण काल में भी बच्चे के जन्मोत्सव के रूप में जातकर्म संस्कार होता था। गरुड़ पुराण (1.93.11) में कहा गया है **प्रसवो जातकर्म च।** कहीं-कहीं प्रसव के बाद नाल काटने से पूर्व भी इस संस्कार का विधान प्राप्त होता है। अग्निपुराण (153.3) में वर्णित है -**अच्छिननाड्यां कर्त्तव्यं जातकर्म विचक्षणैः।**

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इस संस्कार से पूर्व शुभ मुहूर्त्त में प्रसव हेतु सूतिका गृह का निर्माण सुन्दर एवं रम्य स्थल पर करने का आग्रह है-

**सुभूमौ निर्मितं मयं वास्तुविद्याविशारदैः।**
**प्राग्द्वारमुत्तरमथवा सुदृढ़ं शुभम्॥**

साथ ही, सूतिका गृह में नवजात शिशु के रक्षार्थ तूर्यन्ति नामक पौधे को पहले से ही रखने का परामर्श दिया गया है -

**सा जातहारिणी नाम सुधोरा पिशिताशना।**
**तस्मात् संरक्षणं कार्यं यत्नतः सूतिका गृहे॥** -मार्कण्डेय पुराण

ब्रह्मपुराण में पुत्रजन्म के पश्चात् पिता को प्रसूतिगृह में जाकर नालछेदनादि कार्य के बाद स्नान करके नान्दी श्राद्ध करने के उपरांत जातकर्म संस्कार करने का निर्देश है-

**जातं कुमारं स्व दृष्ट्वा स्नात्वाऽऽनीय गुरुन् पिता।**
**नान्दीश्राद्धावसाने तु जातकर्म समाचरेत्॥**

यह संस्कार शिशु के सर्वविध कल्याण तथा शिशु को पालने का सामर्थ्य ईश्वर द्वारा प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता था। नाम की आवश्यकता को ध्यान में रखकर नवजात शिशु का नामकरण संस्कार किया जाता था। इस संस्कार को भी धार्मिक विधि-विधानों से सम्बद्ध कर दिया गया था। यह संस्कार प्रसव के बाद शुद्ध होकर अर्थात् प्रसूतिगृह से निकलने के बाद सम्पन्न किया जा सकता था-

**अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।** -अग्निपुराण, 153.4 का पूर्वार्द्ध

जबकि गरुडपुराण (1.93.12) में जन्म से ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार कराने का परामर्श है - **अहन्येकादशे नाम।** इस काल तक वर्णों का स्पष्ट विभाजन हो चुका था, क्योंकि विष्णुपुराण (3.10) में भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों को नाम के साथ संयुक्त करने को कहा गया है। ब्राह्मण के लिए शर्मा, क्षत्रिय के लिए वर्मन्, वैश्य के नाम में गुप्ता तथा शूद्र के नाम में दास शब्द संयुक्त करने का परामर्श है -

**शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्।**
**गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः।।**

इस संस्कार के साथ शिशु को सार्थक नाम देकर उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए आशीर्वचन दिए जाते थे। नामकरण संस्कार के बाद शुभमुहूर्त्त देखकर बच्चे को घर से बाहर धार्मिक विधि-विधान के साथ लाया जाता था, जिसे निष्क्रमण संस्कार कहते हैं। गरुड़पुराण के अनुसार बच्चे को चार माह बाद ही घर से बाहर निकालना चाहिए -

**चतुर्थे मासि निष्क्रमः।।** 1.93.12

शङ्खादि मङ्गल ध्वनियों के साथ आभूषणों से अलङ्कृत होकर धातृ शिशु को गोद में बाहर लाती थी -

**ततस्त्वलङ्कृता धातृ बालमादाय पूजितम्।**
**बहिर्निष्कासयेद् गेहात् शङ्खपुण्याहनिः स्वनैः।।**-विष्णुधर्मोत्तर पुराण

शिशु को बाहर लाने पर पिता पुत्र के कुशल मङ्गल हेतु सभी देवताओं का आह्वान करता था -

**चन्द्रार्कयोर्दिगीशानां दिशां च गगनस्य च।**
**निक्षेपार्थमिममदभिर्ते मे रक्षन्तु बालकम्।**
**अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवारात्रावथापि वा।**
**रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगसाः।।** -विष्णुधर्मोत्तरपुराण

इसप्रकार शिशु का बाह्य जगत् से परिचय कराते समय निष्क्रमण संस्कार होता था। तदनन्तर छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार द्वारा बच्चे को घृत और मधु को मिश्रित कर चटाया जाता था तथा माता का दूध पिलाया जाता था-

**षष्ठेअन्नप्राशनं मासि।** -गरुडपुराण, 1.93.12

चूडाकरण या केशान्त संस्कार वैदिक काल से लेकर आज तक प्रचलित है जो शिशु के दीर्घायु एवं सौन्दर्य को ध्यान में रखकर किया जाता था। यह संस्कार अपने

कुल की परम्परा के अनुसार होता था (**यथा कुलन्तु चूडाकृद्। - अग्निपुराण,** 153.7)।[1] कर्णवेध संस्कार क्षत्रियों में ही अधिकांश रूप से प्रचलित था। वैदिक समाज में उपनयन संस्कार का अत्यधिक महत्त्व था जो पुराण काल में भी उसी महत्ता के साथ सम्पन्न होता था। उपनयन के लिए विभिन्न वर्णों के लिए अलग-अलग आयु सीमा निर्धारित थी।[2]

**गर्भाष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनयनम्।**

**रज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्।।** - गरुडपुराण, 1.94.1

इसकाल में भी शिक्षा-प्रारम्भ करने से पूर्व उपनयन अनिवार्य था। ब्रह्माण्ड पुराण (3.53.31.14) में वर्णित है कि शिवदत्त ने अपने पुत्रों का उपवीत सम्पन्न करने के पश्चात् सांगोपांग वेदाध्ययन प्रारंभ कराया था (**उपनीयक्रमात्सर्वाञ्छिवदत्तो महायशाः। वेदानध्यापयामास सांगाश्च सरहस्यकान्।।**)। शिक्षा-समाप्ति पर्यन्त समावर्त्तन संस्कार होता था। गरुड पुराण (95/1) में कहा गया है-**गुरवे च धनं दत्वा स्नात्वा च तदनुज्ञया**। इसी कथन का समर्थन अग्निपुराण (153.17) भी करता है -**वेदस्वीकरणं कृत्वा स्नायाद्वै दत्तदक्षिणः**। अर्थात् गुरु-दक्षिणा देकर एवं स्नान करके गुरु की आज्ञा प्राप्त कर घर जाना ही समावर्त्तन था।

ब्रह्मचर्य-आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह-संस्कार से होता था-

**समापितब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।**

**अनन्यपूर्विकान्तामसपिण्डां यवीयसीम्।।**

विवाह के आठ प्रकार इस काल में भी मान्य थे। ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ माना जाता था। इस विवाह में कन्या को यथाशक्ति अलंकृत कर दान किया जाता था-

**ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता।**

**तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम्।।** गरुडपुराण 1.95.7

वर वधू के कुल एवं शील का परीक्षण कर ही कन्या को दान दिया जाता था-

**आहूय दानं ब्राह्मः स्यात् कुलशील युताय तु।**

**पुरुषांस्तारयेत्तज्जो नित्यं कन्याप्रदानतः।।** अग्निपुराण 154/9

गरुड़ पुराण (1.95.7) में ब्राह्म-विवाह की श्रेष्ठता 21 पीढ़ियों को पवित्र करनेवाली बतायी गयी है –

---

1. गरुडपुराण, 1.93.12; चूडां कुर्य्याद्यथाकुलम्।
2. अग्निपुराण, 1537-8, ब्राह्मणस्योपनयनं गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे गर्भादेकादशे नृपे।
   गर्भात्तु द्वादशे वैश्ये षोडशाब्दादितो न हि।।

**दशपूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविंशम्।**
**ब्राह्मोपुत्रः सुकृतकृन्मोचयत्येन सः पितृन्॥**

पौरोहित्य कार्य करने वालों की जाँच कर कन्या का दान करना देव-विवाह माना जाता था- **यज्ञस्थायर्त्विजे दैवम्॥** गरुड पुराण, 1.95.8 का पूर्वार्द्ध

गरुडपुराण (1/95/8) में गाय के जोड़े लेकर कन्या दान करना आर्ष विवाह माना गया है- **'आदायार्षस्तु गोमिथुनम्।**[1] इस विवाह में ऋषि को कन्या दान दी जाती थी। प्राजापत्य विवाह के अन्तर्गत वर का पूजन कर सन्तानोत्पत्ति हेतु कन्या का दान किया जाता था। अग्निपुराण (154/10) में प्राजापत्य-विवाह का वर्णन करते हुए कहा गया है-**प्रार्थिता दीयते यस्य प्राजापत्यः स धर्म्मकृत्।**[2]

इन विवाह की चार पद्धतियों को समाज में श्रेष्ठ माना गया था। इनके अतिरिक्त अन्य चार पद्धतियाँ यथा-आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच विवाह हीन माने गये थे क्योंकि इन चार विवाह पद्धतियों में धर्म से अधिक धन की महत्ता थी (**आसुरो द्रविणादानाद्।** -गरुण पु.1.95.10)। (1).असुर विवाह में, जहाँ धन की प्रधानता थी, वही गान्धर्व-विवाह पारस्परिक प्रणय के वशीभूत किया जाने वाला विवाह था (**गान्धर्वो वरणान्मिथः।** -अग्नि पु. 153.11)। राक्षस-विवाह भी कन्या का बलपूर्वक अपहरण करके किया जाने वाला विवाह था (**राक्षसो युद्धहरणात्।** अग्नि पु. 154.11)। पैशाच-विवाह भी निन्द्य था, क्योंकि यह छल द्वारा कन्या से किया जानेवाला विवाह था। गरुडपुराण 1.95.10 में कहा गया है- **पैशाचः कन्यकाच्छलात्।**

इस प्रकार विवाह की इन आठ पद्धतियों में ब्राह्म, देव तथा प्राजापत्य ये तीन विवाह ही अनिन्द्य थे। शेष पाँच पद्धतियाँ कन्या-पक्ष द्वारा शुल्क ग्रहण करने के कारण या वर द्वारा छल, बल की सहायता लेने के कारण या धार्मिक विधि-विधानों से रहित होने के कारण निन्दित थीं।

विवाह हेतु शुभ-मूहूर्त्त की भी पुराणों में चर्चा है। अग्निपुराण (154/13-14) में बताया गया है -

**प्रसुप्ते केशवे नैव विवाहः कार्य एव हि।**
**पौषे चैत्रे कुजदिने रिक्ताविशिष्टतिंथौ न च॥**
**न शुक्रजीवेऽस्तमिते न शशांके ग्रहार्दिते।**
**अर्कार्कि भौमयुते भे व्यतीतपातहते न हि॥**

अर्थात् हरिशायिनी एकादशी से हरिप्रबोधिनी एकादशी के बीच के चार महीने

---

1. अग्निपुराण - 154/10 का पूर्वार्द्ध-तथा गोमिथुनादानाद्विवाहस्त्वार्ष उच्यते।
2. गरुडपुराण, 1/95/9 - इत्युक्त्वा चरतां धर्मं या दीयतेऽर्थिने। सकायः ...।

में विवाह नहीं होना चाहिए। मंगल, रिक्ततिथि, शुक्र के अस्त होने, चन्द्रग्रहण होने पर भी विवाह नहीं करना चाहिए।

पुराणों में भी अन्त्येष्टि को अनिवार्य एवं अंतिम संस्कार माना गया है। व्यक्ति के मरणासन्न होने पर उसे भूमि पर लिटाकर उसके मुख में गंगा जल, तुलसीदल तथा सोना डालकर सामवेद के सूक्तों का पाठ करना चाहिए, जिससे मृत व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त हो सके। गरुण पुराण (2/5/6-8) उपर्युक्त बातों की पुष्टि करता है-

**कर्मयोगात्तदा देवी मुञ्चन्त्यत्र निजं वपुः।**
**तदाभूमिगतं कुर्याद् गोमयेनोपलिप्य च॥**
**तिलान्दर्भान् विकीर्य्याथ मुखे स्वर्णं विनिक्षिपेत्।**
**तुलसी सन्निधो कृत्वा शालग्रामशिलां तथा।**
**एवं सामादिसूक्तेश्च मरणं मुक्तिदायकम्।**
**शलाकास्वर्णविक्षेपः प्रेंतप्राणगृहेषु च॥**

साथ ही, मृत व्यक्ति के पुत्र, सगे-संबंधी, ब्राह्मण, नगरवासी आदि के कर्त्तव्यों को भी बताया गया है कि उन्हें किस प्रकार मृत व्यक्ति को कन्धे पर रखकर श्मशान ले जाकर उत्तर दिशा में रखना चाहिए :-

**पुत्रस्तु बान्धवैः सार्द्धं विप्रसन्तु पुरवासिभिः।**
**पितुः प्रेतगतं पुत्रः स्कन्धमारोप्य बान्धवैः॥**
**गत्वाश्मशानदेशे तं प्राङ्मुखञ्चोत्तरामुखम्।**

— गरुडपुराण, 2/5/12-13 का पूर्वार्द्ध

श्मशान की भूमि किस प्रकार की हो, यह गरुड पुराण (2/5/13-14) में वर्णित है- **अदग्धपूर्वा या भूमिश्चितां तत्रैव कारयेत्।**
**श्रीखण्डतुलसीकाष्ठसमित्पलाशसम्भवाम्॥**
**संमृज्य लोपलिप्याथ उल्लिख्योद्धृत्य वेदिकाम्।**
**अभ्युक्षीय समाधाय वह्निं तत्र विधानतः॥**

दाह-कर्म के लिए गरुड-पुराण (2/5/49) में पुत्र को यह बताया गया है कि वह पिता को तिलमिश्रित घी की आहुति मन्त्रोच्चारण पूर्वक देते हुए दाह संस्कार करें-

**एवमाज्याहुतिं दत्त्वा तिलमिश्रां समन्त्रकाम्।**
**ततो दाहः प्रकर्त्तव्यः पुत्रेण किल निश्चितम्॥**

दाह-संस्कार के बाद श्मशानाग्नि को बुझा देना चाहिए, जिससे यमदूत को मृतात्मा को ले जाने में सुविधा हो सके -

**प्रेतपिण्डं प्रदद्याच्च दाहार्तिशमनं खग।**

**तेन दूताः प्रतीक्षन्ते तं प्रेतं बान्धवार्थिनम्।।** - गरुड पुराण 2/5/5

गरुड पुराण में ही मृतक के लिए इस अवसर पर छः पिण्ड-दान करने का भी निर्देश है - **उच्चैर्हाहेति विलपन्नीयते यमकिङ्करैः।।**

**मृतस्योत्क्रान्तिसमयात्षट् पिण्डान् क्रमतो ददेत्।।** 2/5/29

पुराणों की यह मान्यता है कि पिण्डदान से यमदूत, गृहवस्तुदेवता, भूत-प्रेत आदि मृतक को महायात्रा में बाधा नहीं पहुँचाते। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोगों की भूत-प्रेत आदि अंध-विश्वासों में आस्था थी। शव-दाह के पश्चात् अस्थि संचयन का निर्देश है, तथा जलाञ्जलि देने का विधान है-

**चतुर्थे सञ्चयः कार्यः सर्वैस्तु सह गोत्रजैः।**

**ततः सञ्चयनादूर्ध्वं गङ्गास्पर्शो विधीयते।।**

**द्वितीये च तृतीये च चतुर्थे वापि साग्निकैः।**

**अस्थिसंचयनादूर्ध्वं दद्यादाद्यजलाञ्जलिम्।।**

-गरुड पुराण, 2/24/15-16

शवदाह के पश्चात् घर के दक्षिण कोण में मृतक के लिए एक दीप जलाने का भी निर्देश इस पुराण के 2/5/58-60 श्लोक में है। साथ ही प्रेतात्मा को सन्तुष्ट करने के लिए तीन दिन तक एक मिट्टी के पात्र में दुग्ध एवं जल सूर्यास्त होने पर रखने का भी विधान बताया गया है। गरुड-पुराण के द्वितीय-भाग के तृतीय-अध्याय के अनुसार विधिपूर्वक श्राद्ध-कर्म करनेवाले व्यक्ति को विष्णुलोक की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार पुराणों में भी सोलह संस्कारों का प्रावधान मानव के व्यक्तित्व निर्माण के सहायक के रूप में हुआ है।

आध्यात्मिक उत्कर्ष को ध्यान में रखकर जिस पुरुषार्थ चतुष्टय की कल्पना की गयी थी, उस आध्यात्मिक उत्कर्ष की मनोकामना से पुराणों ने भी इसे स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवत में पुरुषार्थ की प्राप्ति भगवान द्वारा पुरुष की इच्छा के अनुरूप बताया गया है -

**पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।**

**श्रेयो दिशत्यभिमतं यद् धर्मादिषु देहिनाम्।।** 4.8.60

पुरुष की ही इच्छा (पुरुष + अर्थ) इसकारण बतायी गयी क्योंकि विवेकी मनुष्य ही इन्द्रिशक्ति, मनःशक्ति आदि के आश्रयभूत मुझ आत्म तत्त्व का पूर्णतः साक्षात्कार कर सकते हैं-

**पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्य-योग-विशारदाः।**

**आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपवृंहितम्।।** 11.7.21

भागवत-पुराण (4.22.34) में यहाँ तक कहा गया है कि पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्पादन करना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। अतएव जो भी पुरुषार्थों के विघातक हैं, उनपर लोगों की आसक्ति नहीं होनी चाहिए –

**न हि कुर्यात् कर्हिचित् सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः।**

**धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम्।।**

चारों पुरुषार्थ की सिद्धि में भगवत्कृपा को भागवत-पुराण में आवश्यक बताया गया है – **धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।**

**एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्।।** 4.8.30

पुरुषार्थ के प्रथम सोपान धर्म की प्राप्ति का फल भी श्रीमद्भागवत के अनुसार, भगवद्भक्ति के बिना अधूरा है –

**धर्म सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।**

**मद्भक्तयापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि।।**

– श्रीमद्भागवत. 11-14-22

पुनः

**अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम विभागशः।**

**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।।**

– श्रीमद्भागवत-1.2.13

श्रीमद्भागवत. (4.8.60) में यहाँ तक कहा गया है कि भगवान् निश्छल भाव से, भली-भांति भजनेवाले लोगों के भाव को बढ़ाते हैं और उन्हें उनकी इच्छानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल प्रदान करते हैं –

**पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।**

**श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम्।।**

विष्णु पुरांण का कथन है कि परिश्रम द्वारा प्राप्त अर्थ प्राप्त करना चाहिए। महर्षि पराशर का कथन है –

**परपत्नी-परद्रव्य-परहिंसासु यो मतिम्।**

**न करोति पुमान् भूपतोष्यते तेन केशवः।** – विष्णु पु. 3.8.14

अर्थात् परस्त्री, परार्थ और परहिंसा में जिसकी बुद्धि नहीं है, उसपर ईश्वर, उतने से ही, अतीव संतुष्ट हो जाते हैं। परिश्रम से प्राप्त धन ही वस्तुतः शुद्ध अर्थ है, अन्य

प्रकार से अर्थ की प्राप्ति मलिन माना गया है। शुद्ध अर्थ से सुख-शान्ति प्राप्त होती है और अशुद्ध से क्लेश और अशांति बढ़ती है। इसी तथ्य को स्कन्द पुराण में भी व्यक्त किया गया है -

**द्विविधं धनमित्याहुः पण्डिताः पारदर्शिनः।**

**एकं बन्धाय पापानाम् अपरं मोक्षसाधनम्।।**

**काम्यं विषयभोगार्थमिहामुत्र प्रयुज्यते।**

**मोक्षाय सुकृतं तद्धि ब्रह्मार्पणधिया कृतम्।।** -स्कं. पु., का., र. 33.4,6

पुरुषार्थ के तृतीय सोपान काम के प्रति चित्त का आकर्षण स्वाभाविक है क्योंकि काम की प्राप्ति का मुख्य साधन अर्थ ही है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से अर्थ का प्रधान-फल धर्म और गौणफल काम ही है। अर्थ की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति प्रायः उसे काम का ही मुख्य साधन समझकर होती है, न कि धर्म का मुख्य साधन समझ कर। इसी कारण भागवत-पुराण (11.21.24) में कहा गया है-

**उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।**

**आसक्तो-मनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु।।**

यद्यपि ये काम आत्मोन्नति में बाधक एवं अनर्थ का कारण होती है। अतएव तत्त्वज्ञान एवं स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर ही काम के सेवन का निर्देश दिया गया है-

**कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो, जीवते यावता।**

**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नाथो यश्चेह कर्मभिः।।** -भागवत पु. 1.2.10

इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य को इन्द्रियों की स्वेच्छामयी-उच्छृङ्खल प्रवृत्ति को आत्मा की ओर मोड़कर अपने हृदयस्थ काम को परमेश्वर के साथ जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर से कहा है -

**यतो यतो निःसति मनः कामहतं भ्रमत्।**

**ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः।।** - श्रीमद्भाग. 7.15.33

वस्तुतः चित्त का निरोध समस्त इन्द्रियों को अपने-आप ही निरुद्ध कर देता है जिससे परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सरल हो जाती है, क्योंकि श्रीमद्भागवत 2.10 के अनुसार परमात्म स्वरूप में स्थित हो जाना ही 'मुक्ति' कहलाता है-

**'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितः'।**

सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष कहा गया है किन्तु भक्तिप्रद परतंत्रता क्लेश को जन्म नहीं देती है। भक्ति के बिना आत्म-तत्व का अवबोध भी नहीं होता-

**यस्यदैवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**

**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।**

वस्तुतः भारतीय परम्परा में कर्म-ज्ञान तथा भक्ति मोक्ष-प्राप्ति के प्रमुख उपाय बताये गये हैं। भक्ति की भावना वेदों में भी विभिन्न देवताओं के सूक्तों में दिख पड़ती है, किन्तु भक्ति-भावना का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार पुराणों में ही दृष्टिगोचर होता है। भक्ति, भाव पर आश्रित है। हिन्दू धर्म का चरमोत्कर्ष पुराण काल में दिख पड़ता है। ये पुराण अलग-अलग सम्प्रदायों द्वारा लिखे गये। शैव भक्तों ने अपने उपास्य देव शिव की शैव-पुराण में भगवान विष्णु को जगत् का तारण-हार स्वीकार किया। इन्होंने अपने-अपने आराध्य की अतिशय सुन्दर मूर्त्तियों की कल्पना की। आराध्य का अनुकरण करने वाले उपासकों ने देवताओं को पृथ्वी पर लाकर विभिन्न लीलाओं को करता हुआ दर्शाया। अब भक्त शरणागति एवं भगवान् के अनुग्रह को कल्याणकारी मानने लगे। वे अपने प्रत्येक हाव-भाव एवं क्रियाओं को अपने आराध्य देव से जोड़कर देखने लगे। भगवद् चरणों में अनुयायियों ने स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर दिया। भक्ति की ऐसी धारा का सहस्र प्रवाह प्रारम्भ हुआ, जिससे पुराणों की संख्या में वृद्धि एवं पौराणिक कथाओं का निर्माण होता चला गया।

पुराणों में वर्णित भक्ति का स्वरूप उपनिषदों में प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म नहीं था, क्योंकि बिना रूप अर्थात् आश्रय के भक्ति (आलम्बन) संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि सामान्य जन को अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म में चित्त लगाने में अत्यधिक क्लेश होता है (**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्**-गीता)। अतः सामान्य जन के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग ही श्रेयस्कर है।

पुराण-काल में भक्ति का प्रवाह ऐसा था, जिसमें भक्तों ने अपने-अपने अत्यन्त सुन्दर बनाने का प्रयास किया एवं आराध्य देव को भक्तों ने एक मात्र सर्वशक्तिमान् देव के रूप में स्थापित कर देखना प्रारंभ किया। शनैः शनैः अपने-अपने आराध्य देवताओं को सर्वशक्तिमान् स्थापित करते हुए तद्-तद् देवभक्तों का पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय बनने लगा। पुराणों में भक्ति के विभिन्न चरणों एवं प्रकार का उल्लेख होने लगा। इसप्रकार पुराण साम्प्रदायिक रचना बन गये। पद्मपुराण में कहा गया है - **'रजः सत्वं तमश्चेति पुरुषं त्रिगुणात्मकं, वदन्ति केचिद् ब्रह्माणं विष्णुं केचिद् शङ्करम्।** स्कन्द-पुराण में भी वर्णित है-**यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।** विष्णुपुराण के अनुसार-**सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्माविष्णु-शिवात्मिकाम्।** नारदपुराण ने तो यह भी कहा है कि जो इसप्रकार का भेद करते हैं उनकी स्थिति नारकीय होती है- **हरिशङ्करयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि वा नरः। भेदं करोति सोऽभ्येति नरकं भृशदारुणम्।''**

इन पुराणों में भक्ति के साथ-साथ कर्म सिद्धान्त पर भी बल दिया गया। निष्काम कर्म द्वारा फल अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया गया। निष्काम कर्म

के प्रति प्रेरणा ने 'अवतारवाद' को जन्म दिया। यद्यपि अवतारवाद की अवधारणा वैदिक-काल में भी थी। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में वर्णित है कि इन्द्र ने अपनी माया द्वारा अनेक रूप धारण किए थे। शतपथ-ब्राह्मण में प्रजापति द्वारा मत्स्य, कूर्म तथा वराह के रूप में अवतार ग्रहण करने की बात आयी है। अवतारवाद का विकास महाकाव्य-काल एवं पुराण-काल में सर्वाधिक हुआ। अवतार का अर्थ है- अवतरण अर्थात् ऊँचे स्थान से नीचे आना। पाणिनि का भी ऐसा ही मानना है **''अवे तृस्त्रोर्घञ्।''** (3/120) ये अवतार प्रयोजन की सिद्धि हेतु अवतरित होते थे। ब्रह्मपुराण में वर्णित है- **'यदा यदा त्वधर्मस्य वृद्धिर्भवति भो द्विजाः। धर्मश्च ह्रासमभ्येति तदा देवो जनार्दनः॥ अवतारं करोत्यत्र द्विधाकृत्वात्मनस्तनुम्। सर्वदैव जगत्यर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः। स्वल्पांशेनावतीर्योर्व्यां धर्मस्य कुरुते स्थितिम्॥** पुराणों के उपर्युक्त व्यक्तव्य से यह स्पष्ट है कि अवतारों का अवतरण अधर्म के विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिए होता था। इन देवों का एक अंश ही मनुष्यों के बीच अवतरित होता था! उस अराध्य देव का मुख्यांश बैकुण्ठ द्वारा जगत् की लीलाओं का अवलोकन करता रहता था। मत्स्य-पुराण इस बात की पुष्टि भी करता है -

**'त्यक्त्वा दिव्यां तनुं विष्णुर्मानुषेष्विहजायते।**
**युगेत्पथ परावृत्ते काले प्रशिथिले प्रभुः॥**

भागवत पुराण के अनुसार भगवद् लीला का मुख्य प्रयोजन भक्तों पर कृपा करना था- **'अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहं स्थितम्।**
**भजते तादृशी कृडयाः श्रुत्वा तत्परो भवते॥'**

पुराणों में अवतार की संख्या को लेकर मतभेद है। नारायणीय अध्याय में छः अवतारों का उल्लेख है - वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम तथा कृष्ण। वहीं पद्म-पुराण में दशावतार निर्दिष्ट हैं-

**मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोत्थ वामनः।**
**बलरामो रामश्च कृष्णाश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश॥**

दशावतार के इतर हंस एवं सात्त्वत का भी उल्लेख अवतारों के नाम में किया जाता है। भक्ति का चरम विकास भागवत-पुराण में दिख पड़ता है। इस पुराण में बाईस अवतारों की गणना की गयी है। ये सभी अवतार विष्णु के बताए गए हैं। वामन-पुराण, वायुपुराण, नारद-पुराण, पद्म-पुराण, कूर्म-पुराण, वराह-पुराण आदि सभी के सभी में विष्णु के अवतारों की विभिन्न लीलाओं का वर्णन है।

पुराणों में भक्ति-भावना को भगवद्-प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ साधन बताया गया है। भागवत पुराण में भी कहा गया है -

**मार्गास्त्रयो में विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप।**
**कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥**
**त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति।**
**सर्वथा सुलभत्वान्मानसत्त्वात् कामर्चित्ताद्यपीडनात्॥**

पुराण–काल में भक्ति–भावना का इतना अधिक विकास हुआ, जिसका सुखद परिणाम भारतीय समाज में दिख पड़ा। इस काल में भक्ति मार्ग द्वारा सभी वर्णों के लिए मोक्ष का मार्ग सुलभ हो गया। पुराणों में स्थान–स्थान पर स्त्री, वैश्यों की ऐसी कथाएँ बहुतायत पायी जाती हैं, जिनमें उन्हें शरणागति के कारण भगवद्–अनुग्रह प्राप्त हुआ है। यहाँ तक कि शूद्र, चाण्डाल, पातक, पशु, पक्षी आदि सभी भगवद् अनुग्रह के पात्र बन गये। भक्ति का यह मार्ग सभी वर्ण, आयु, लिङ्ग तथा श्रेणी के लिए सुलभ था।

वैदिक मंत्र जो पूर्व या समकाल में मात्र द्विजों के लिए ही विहित था, जिसका ज्ञान अन्य प्राप्त नहीं कर सकते थे, जबकि मोक्ष प्राप्ति हेतु इन वैदिक मंत्रों का ज्ञान आवश्यक बताया गया था। पुराणों की कथाओं का प्रचार–प्रसार सभी वर्ग एवं वर्ण में हो रहा था। ये कथाएँ लोक-कथाओं के सन्निकट थीं, जिसकारण लोग इन पौराणिक कथाओं की ओर अत्यधिक आकर्षित हुए। भक्ति से ओत–प्रोत इन कथाओं द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुराण–काल हिन्दू धर्म के चरमोत्कर्ष का काल था।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्विजेतर जातियाँ वैदिक–कर्मकाण्डों के प्रति उदासीन होती जा रही थीं और उनकी वैदिक धर्म के प्रति आस्था पूर्णतया समाप्त हो रही थी। सामाजिक तनाव बढ़ता जा रहा था। श्रेष्ठ एवं निम्न जातियों के बीच दूरियाँ बढ़ती जा रही थीं। इनके बीच समन्वय स्थापित करना श्रेष्ठ जातियों के लिए आवश्यक हो गया था। ये श्रेष्ठ जातियाँ द्विजेतर जातियों को वैदिक कर्म–काण्डों में हिस्सेदारी देने को तैयार नहीं थीं। साथ ही, द्विजेतर जातियाँ के बिखरने का खतरा भी उन्हें सता रहा था, क्योंकि यदि ये जातियाँ श्रेष्ठ वर्णों द्वारा बनाये गये नियमों से अलग हो जातीं, तो दैनिक आवश्यकताओं को पूरा कर पाना इन श्रेष्ठ वर्णों के वश में नहीं था, क्योंकि अब तक कृषि, पशुपालन एवं शिल्पकारी जैसी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली वस्तुओं पर द्विजेतर वर्णों का अधिपत्य हो चुका था, ऐसे समय में द्विज वर्णों ने पौराणिक आख्यानों के द्वारा भक्ति को इन द्विजेतर वर्णों के लिए सुलभ बनाया। पौराणिक कथाओं के प्रचार–प्रसार से द्विज वर्ण के दो उद्देश्यों की पूर्त्ति हुई। प्रथम तो यह कि सभी द्विजेतर जातियों में भक्ति का पूर्ण प्रभाव दिखने लगा। सनातन धर्म के प्रति इन द्विजेतर जातियों की आस्था उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और वे हिन्दू धर्म से जुड़े रहे। दूसरा उद्देश्य यह पूरा हुआ कि सामाजिक

एवं सांस्कृतिक आधार को दृढ़ बनाये रखने में अत्यधिक सहायक अर्थ (धन) पर भी अपरोक्ष इनकी पकड़ बन गयी। दान-कर्म को पुण्य एवं धर्म से जोड़कर दिखाया गया, जिसका प्रभाव परवर्त्ती काल के स्वर्णिम इतिहास के रूप में देखा जा सकता है। इसप्रकार पुराण-कालीन संस्कृति हिन्दू-धर्म को समन्वित एवं विस्तारित करने का काल था। हिन्दू संस्कृति के समन्वय में पुराणों का एक योगदान यह भी था कि भक्ति के साथ ही साथ, पुराणों ने अनार्य जातियों के बीच प्रचलित पेड़, पौधों, पशु-पक्षियों की पूजा को भी धार्मिक आस्था में समायोजित कर पूजनीय रखा। ये अनार्य या द्विजेतर जातियाँ जो पुराण युग से पूर्व आर्य संस्कृति के अनधिकृत अंग बन गये थे, पौराणिक भक्ति से प्रभावित होकर आर्य-संस्कृति के तीव्र विद्रोही न होकर इससे जुड़ गये। नास्तिक धर्मों (जो वैदिक कर्म-काण्डों में विश्वास नहीं करते थे) एवं विचारधाराओं का जो आन्दोलन उग्र हो पड़ा था, उसके प्रभाव को कम करने में पुराणों में वर्णित, भक्ति-भावना अत्यन्त सफल रही। आज की आधुनिक हिन्दू संस्कृति पुराण-कालीन संस्कृति के धरोहर को समाविष्ट किए हुए है, जिसमें अभी भी तीर्थ, व्रत-उपधारा, दान, चैत्य तथा पशु-पक्षी के पूजन आदि का उतना ही महत्त्व है जितना पुराण काल में था। आज भी सभी तीर्थ पुराणों में वर्णित देव स्थानों के रूप में समादृत हैं। अग्निपुराण में तीर्थ की महिमा बताते हुए कहा गया है –

**यस्य हस्तौ च पादौ च मनस्चैव सुसंयतम्।**
**विद्या तपश्च कीर्तिश्च सतीर्थफलमश्नुते।।**
**प्रतिग्रहादुपात्त्तो लब्ध्वा हारो जितेन्द्रियः।**
**निष्पापः तीर्थयात्री तु सर्वयज्ञफलं लभेत्।।**

ये तीर्थ साधुओं के निरन्तर समागम के कारण अत्यन्त कल्याणकारी थे। कूर्म पुराण में वर्णित है –

**साधुसङ्गाद्भवेद्विप्र शास्त्राणां श्रवणं सदा।**
**हरिभक्तिर्भवेत्तस्मात्ततो ज्ञानं ततो मतिः।।**

किन्तु इन तीर्थाटनों का लाभ तभी संभव था जब मनुष्य तन एवं मन से शुद्ध हो, क्योंकि धार्मिक क्रियाएँ तभी सार्थक होती हैं जब वे नैतिक आधार से पुष्ट हों। पद्म-पुराण में भी इसी बात को अन्य प्रकार से बताया गया है-

**सत्यं तीर्थं दयातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहम्।**
**वर्णाश्रमाणां गेहेऽपि तीर्थं शम उदाहृतम्।।**

पुराणों में यह भी दर्शाया गया कि तीर्थाटन साधन सम्पन्नता एवं समस्त जटिल कर्म-काण्डों से परे है। मत्स्य पुराण में वर्णित है-

**बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः।**

**प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्॥**

**यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।**

**ऋषिणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम्॥**

**तीर्थानुगमनं पुण्यं यज्ञेभ्योऽपि विशिष्यते॥**

किन्तु कालान्तर में ये तीर्थ भी जटिल कर्म-काण्डों के स्थल बन गये, जिससे एक बार फिर हिन्दू संस्कृति में विखण्डन प्रारम्भ हो गया। देव स्थलों में देव-दासी प्रथा ने हिन्दू नारियों की अस्मिता को मिटा दिया। पुनः इन तीर्थ-स्थलों में द्विजेतर जातियाँ प्रवेश से वंचित होने लगीं, क्योंकि तीर्थ स्थलों पर होनेवाले कर्म-काण्डों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित नहीं की गयी थी। इन निम्न जातियों के लिए समस्त धार्मिक-काण्ड निषिद्ध कर दिए गये थे। इस प्रकार पुराणों में वर्णित देव-स्थलों का महात्म्य कालान्तर में मात्र श्रेष्ठ वर्णों के लिए रह गया और निम्नजातियाँ पुनः ब्राह्मणवादी कर्म-काण्डीय व्यवस्था के कारण स्वयं को इससे दूर रहने के लिए बाध्य हो गयीं।

पुनः पुराणों में वर्णित व्रत, उपवास तथा नियमों को शरीर एवं मन की शुद्धता एवं अनुशासन से अनिवार्य रूप से जोड़ दिया गया। शरीर एवं मन की शुद्धता एवं अनुशासन के लिए पुनः अनेक जटिल कर्म-काण्ड की रचनाएँ हुईं, जिससे परवर्त्ती काल में ये व्रत एवं उपवास उच्च जाति विशेष तक ही सीमित रह गये। यद्यपि इन व्रत एवं उपवासों का प्रचार-प्रसार धार्मिक रूप में हुआ, किन्तु परवर्ती-काल में इनका संबंध कर्मकाण्डों के साथ हो जाने के कारण हिन्दू समाज में विभाजन की दरारें स्पष्ट दिखने लगीं।

पुराण काल में भी मानव जीवन के चार पड़ावों (आश्रम-चतुष्टय) का पालन होता था। इनका उद्देश्य मनुष्य को सामाजिक नियमों में आबद्ध कर व्यक्तिगत उन्नति के लिए सम्बद्ध कर्त्तव्यों का पालन करना था।[1] विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचारी के लिए गुरु की सेवा एवं भिक्षा अनिवार्य कर्त्तव्य थे, क्योंकि गुरु सेवा से प्रसन्न होकर गुरु शिष्य को आध्यात्मिक रहस्य की बातें अपने सन्निकट रखकर बताते थे तथा भिक्षा माँगने से किसी भी ब्रह्मचारी में अभिमान भी समाप्त हो जाता था। ब्रह्माण्ड-पुराण (1.2.7.262) में वर्णित है -**''गुरु शुश्रूषां भैक्ष्यं विद्यार्थी ब्रह्मचारिणः।** ब्रह्मचर्य जीवन के उपरांत शुभ लक्षणों वाली स्त्री का वहन करते हुए गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने का परामर्श है। गरुड-पुराण (95/2) में वर्णित है - **''समापितब्रह्मचर्यो**

---

1. विष्णु पु.- ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रयी।
   परिव्राड्या चतुर्थोऽत्र पंचमो नोपपद्यते॥

**लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।।''** गृहस्थाश्रम में प्रवेश के बाद सन्तानोत्पत्ति प्रमुख कर्त्तव्य था (**तस्माद् वत्स कुरुष्व त्वं विधिवद् दारसंग्रहम्।** - मार्कण्डेय पुराण, 95/23)। गृहस्थों के अन्य कर्त्तव्यों का वर्णन ब्रह्माण्ड-पुराण (2.7.174) में हुआ है-

**दाराग्नयश्चातिथ्य इष्टाः श्राद्धक्रियाः प्रजाः।**

**इत्यैष वै गृहस्थस्य समासाद्धर्मसंग्रहः।।**

समस्त धार्मिक क्रियाएँ दम्पती के लिए साथ-साथ करना शुभ माना जाता था। यह आश्रम पुराण काल में भी पूर्व की भांति ही श्रेष्ठ माना गया था-

**चतुर्वर्णात्मकः पूर्वं गृहस्थस्याश्रमः स्थिति।** - ब्रह्माण्ड पु. 1.2.7.172

**तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्।** - विष्णु पु. 3.9.11

पौराणिक ग्रन्थ वानप्रस्थियों के प्रति मनुस्मृति की भांति ही बताते हुए कहते है:- **वनमूलफलौषधैः चीरपत्राजिनानि स्यु।।**

**उभे संध्येऽश्वगाहश्चहोमश्चारण्यवासिनाम्।।**

ब्रह्माण्ड पु .1.2.7.176 वानप्रस्थ के प्रमुख कर्त्तव्यों का वर्णन अग्नि पुराण के अध्याय -160 में विस्तार से प्राप्त होता है-

**वानप्रास्थयतीनाञ्च धर्मं वक्ष्येऽधुना शृणु।**
**जटित्वमग्निहोत्रित्वं भूशय्याजिनधारणम्।।**
**वने वासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता।**
**प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिःस्नानं ब्रह्मचारिता।।**
**देवातिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिनः।**
**गृही ह्यपत्यापत्यश्च दृष्ट्वारण्यं समाश्रयेत्।।**
**तृतीयमायुषो भागमेकाकी वा सभार्य्यक :।**
**ग्रीष्मे पञ्च तपा नित्यं वर्षास्वभ्रावकाशिक :।।**
**आर्द्र वासाश्च हेमन्ते तपश्चोग्रञ्चरेद्बली।**
**अपरावृत्तिमास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मग :।।**

इससे स्पष्ट होता है कि वानप्रस्थियों का जीवन अपने परिवार के लिए नहीं था, अपितु दीर्घकालीन अनुभवों द्वारा समाज के अन्य लोगों को दिग्दर्शित करने के लिए था और यह कार्य तभी संभव है जब वानप्रस्थी सादगीपूर्ण-जीवन का निर्वाह करते हुए बौद्धिक अभ्युत्थान करें। वानप्रस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए जिसने ब्रह्म को समझ लिया है वह स्वयं में अग्नि रखकर गृह से निकल पड़े-

**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।**
**आत्मन्यग्नीन् समारोप्य प्रव्रजेद् ब्राह्मणो गृहात्।।**

- अग्नि पु., 161.2

गरुड-पुराण (103.1-2) में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है -

**वनान्निवृत्य कृत्वेष्टिं सर्ववेदप्रदक्षिणम्।**

**प्राजापत्यं तदन्तेऽपि अग्निमारोप्य चात्मनि॥**

अग्नि पुराण (161.3) में संन्यासियों को परमपुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु अकेले ही आत्मनिष्ठ होकर अग्रसर होने को कहा गया है -

**एक एव चरेन्नित्यं ग्राममर्थमाश्रयेत्।**

और भी,

**एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।** -भागवत पुराण, 13.3

सन्यासियों के बाह्य स्वरूपों पर भी पुराणों में चर्चा हुई है -

**सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डीकमण्डलु।**

**सर्वायासं परित्यज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत्॥** गरुड-पुराण ,103.2

ये सन्यासी त्रिदण्ड एवं कमण्डल मात्र धारण कर सभी प्राणियों के कल्याण के लिए जीवन -यापन करते थे तथा मात्र भिक्षा प्राप्त करने के लिए ही गाँवों पर आश्रित रहते थे। अग्निपुराण (161.4) में कहा गया है कि ये सन्यासी कपालिक थे तथा वृक्ष की जड़ पहनने के लिए वृक्ष की छाल (वल्कल वस्त्र) पर आश्रित रहते थे। धन संचय की भावना से रहित ये ज्ञान के समन्वय हेतु प्रयास रत रहते थे।

**उपेक्षकोऽसंचायिको मुनिर्ज्ञानसमन्वितः।**

**कपालं वृक्षमूलञ्च कुचेलमसहायता ॥**

संन्यासियों का स्वभाव प्रत्येक परिस्थितियों में समान रहता था -

**समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्।**

**नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवनम्॥** -अग्नि पु., 161.5

और भी,

**नाभिनन्देत् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्यजीवितम्।**

**कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम्॥**

संन्यासियों के सद-चरित्रता पर बल देते हुए अग्निपुराण (161.6) में कहा गया है कि इन संन्यासियों को दिन के प्रकाश में भली-भांति देखकर चलना चाहिए, वस्त्र से पानी छानकर पीना चाहिए। सत्य वचन बोलना चाहिए तथा मन का पूर्ण-परीक्षण कर आचरण करना चाहिए -

**दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।**

**सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥**

संन्यासियों द्वारा अज्ञानवश जीव-जन्तुओं के वध हो जाने पर प्रायश्चित हेतु स्नानोपरांत प्राणायाम करें-

**अह्नि रात्र्याञ्च यान् जन्तून् हिनस्तज्ञानतो यति :।**

**तेषां स्नात्वा विशूद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत्।।** -अग्नि पु., 161.14

मत्स्य पुराण (40.5) में संन्यासियों के व्यवहार अथवा आचरण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि संन्यासी शिल्पकला को जीवन-निर्वाह का साधन न बनाये, अपने अन्दर गुणों का आधान करता हुआ इन्द्रियों पर विजय पाये तथा सबों से अलग मुक्त जीवन व्यतीत करे। गृहस्थों के घर पर निवास न करे। बिना किसी इच्छा के आचरण करते हुए एक वस्त्र-धारी हो -

**अशिल्पीजीवी विगृहश्च नित्यं जितेन्द्रियः सर्वतोविप्रमुक्तः।**

**अनोकशायी लघु लिप्समानश्चरन् देशानेकाम्बरः स भिक्षुः।।**

श्रीमद्भागवत-पुराण (13.7-8) में संन्यासियों के अन्य कर्त्तव्यों को बताया गया है - **वादवादांस्त्यजेत् तर्कान्पक्षं कं च न संश्रयेत्।**

**न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून् ।**

**न व्याख्यानमुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्।।**

अर्थात् संन्यासी को सांसारिकों की भांति व्यर्थ के मत-भेद में नहीं पड़ना चाहिए, किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए, ग्रन्थों का अत्यधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए, व्याख्यान तथा बड़े कार्यों का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। अग्नि (161.18) में संन्यासियों के चार प्रकार की श्रेणियाँ निर्दिष्ट हैं -

**चतुर्विधं भैक्षवस्तु कुटीचकबहूदके।**

**हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः।।**

प्रथम कुटीचक संन्यासी (पुत्रों के घर के निकट बनी कुटिया में रहने वाला), दूसरा-बहूदक (त्रिदण्ड एवं कमण्डलु धारणकर्त्ता ), हंस (वन में रहकर मात्रभिक्षा हेतु गाँव में गमन करने वाला) तथा परमहंस(समद्रष्टा, निर्वस्त्र वृक्ष के नीचे या श्मशान में रहनेवाला)।

पुराणकालीन आश्रम-व्यवस्था श्रेष्ठ हिन्दू संस्कृति के निर्माण में सहायक हुई। इस व्यवस्था ने सम्यक्-चरित्र, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन से युक्त प्रेरणा दी। आश्रम व्यवस्था का उपयुक्त स्वरूप हिन्दू समाज में बदल रहा है।

पुराण-काल में आश्रम-व्यवस्था की भांति वर्ण-व्यवस्था भी सुदृढ़ थी। वैदिक काल में इस प्रकार की व्यवस्था का सर्वथा अभाव था, किन्तु उत्तर वैदिक काल में एक ऐसा अभिज्ञात्य वर्ग उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त शिक्षित था, तथा वह समाज

पर अपनी सुदृढ़ पकड़ बनाना चाहता था। समाज के कमजोर, पिछड़े-वर्गों तथा अनार्यों पर नियंत्रण के लिए धार्मिक-ग्रन्थों में सुनियोजित सामाजिक वर्गीकरण किए गये, जिससे आर्यों द्वारा पराजित वर्ग पर सामाजिक एवं बौद्धिक अंकुश बना रहे। यह कूटनीतिपूर्ण वर्गीकरण पराजित जन समुदायों (अनार्य एवं निम्न कमजोर वर्ग)से परिश्रम-पूर्ण कार्य लेने तथा साथ ही सम्पत्ति, शासन एवं समाज में उनकी भागीदारी समाप्त करने के लिए हुआ था। आर्य अपने को श्रेष्ठ मानते थे। अतः उनमें जो अत्यन्त शिक्षित थे, उन्होंने सामाजिक सम्मान के लिए ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित होकर पौरोहित्य कर्म करना श्रेयस्कर समझा, जो आर्य बलशाली योद्धा थे, उन्होंने भूमि पर अपना शासन रखने के लिए क्षत्रिय-धर्म में स्वयं को समायोजित कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के रूप में आर्य जातियाँ स्वयं को समाज के श्रेष्ठ वर्ग में बनाये रखने में समर्थ हुईं। आर्यों में ही जो कमजोर जन-सामान्य वर्ग था, उनको अनार्यों एवं आर्य श्रेष्ठ वर्गों के बीच समन्वय का कार्य मिला और ये शूद्र जातियों से सेवा लेकर उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच आर्थिक सन्तुलन बनाने का कार्य करने लगे और वैश्य कहलाए। इसप्रकार यह वर्ग सम्पत्ति का अधिकारी बन बैठा। हरिवंश पुराण (3.21.-11)भी उपर्युक्त व्यवस्था की पुष्टि करता है:-

**तव वक्त्राज्जगन्नाथ ब्राह्मणो लोकरक्षकः।**
**प्रादुरासीत् पुराणाष्मन् षट्कर्म निरतः सदा।।**
**राजन्यस्तु तथा बहवोरासीत् संरक्षणे रतः।**
**उर्वो वैश्यस्तथा विष्णो पादाच्छूद्र उदाहृत :।।**

भागवत पुराण में लोकरक्षक ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य अध्यापन बताया गया है इसीलिए ब्राह्मणों को समाज का मुख कहा गया है। भुजा का कार्य है- रक्षा। अतएव क्षत्रिय को समाज की भुजाएँ, वैश्य जो समाज का सम्पूर्ण भार वहन करनेवाले थे, उन्हें समाज की जंघाएँ कहा गया। शूद्रों का कर्त्तव्य श्रम बताया गया, अतः शूद्र समाज के पैर कहलाए पैरों का कार्य है शरीर की सेवा करना। इसे ही विभिन्न पुराणों में इस प्रकार कहा गया है -

**मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्य आश्रमै सह।**
**चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।।** भागवत पु. 11.5.2

और भी,

**आस्याद्वै ब्राह्मणा जाता बाहुभ्यां क्षत्रियाः स्मृताः।**
**उरूभ्यां तु विशः सृष्टाः शूद्रः पदभ्यामजायत्।।** गरुड पु. 1.4.34

यहाँ ब्राह्मणों को मुख की उपमा दी गयी मुख से तात्पर्य भोजन करना या लोभी

होना भी लोगों ने माना है कि किन्तु आगे इसे स्पष्ट करते हुए ब्राह्मणों से निम्न प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की गयी है –

**शमोदमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।**

**ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्।।** –भागवत पु., 7.11.21

पुराणकाल में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ श्रेणी में रखा गया था। ज्ञानवान् होने के साथ ही ब्राह्मणों को सबों का हितैषी भी माना गया था –

**वचोभिः मधुराभाषैः पञ्चेन्द्रियनिवासिभिः।**

**सर्वभूतप्रियकरैः सर्वभूत हितैषिभिः।**

**स्तूयमानश्च यज्ञान्ते पञ्चेन्द्रियसमाहितैः।।**

– हरिवंश पु. 3.25.3.4 का पूर्वार्द्ध।

निश्चय ही इसकाल में ब्राह्मण यज्ञ एवं अध्यापन कार्य करते थे, तथा इन कार्यों के लिए दक्षिणा स्वरूप दान-ग्रहण करते थे –

**यजनं याजनं दानं वेदाद्यध्यापनक्रिया।**

**प्रतिग्रहञ्चाध्ययनं विप्रकर्माणि निर्दिशेद्।।**

–अग्नि पु. 151.6 का उत्तरार्द्ध एवं 7 का पूर्वार्द्ध

अपि च,

**याजनाध्यापने ब्रह्म तथा दानप्रतिग्रहम्।** – ब्रह्माण्ड पु., 1.2.7.16

ब्राह्मणों की समाज में श्रेष्ठ स्थिति के कारण ही उन्हें अक्षम्य अपराध के लिए भी मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जा सकता था –

**वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा।**

**एवं हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योस्ति दैहिकः।।** –श्रीमद्भागवत् 1.7.57

पूर्वकाल की भांति इस काल में भी क्षत्रियों के लिए शौर्य, वीरता, धैर्य, तेजस्विता, त्याग, आत्मविजय, ब्राह्मणों के प्रति सदयता, सरलता एवं रक्षा करना अपेक्षित था –

**शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।**

**ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्।।** भागवत पुराण, 7.11.22

वैश्य कृषि, गौ- पालन तथा व्यापार पर निर्भर थे। इसकी पुष्टि अनेक पुराण-ग्रन्थों से होती है –

**वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।।**

– भागवत पु. 7.11.15 का पूर्वार्द्ध

अग्निपुराण (151.9) में भी कहा गया है - **कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यस्य परिकीर्तितम्।** वैश्य अपनी आजीविका के द्वारा सम्पूर्ण समाज के लिए आर्थिक मेरुदण्ड का कार्य कर रहे थे एवं राष्ट्र-समृद्धि में अपनी अहं भूमिका निभा रहे थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र द्विजों की सेवा के साथ-साथ सभी प्रकार के शिल्प-कार्य किया करते थे - शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाप्यथ। (अग्नि पु, 151.9 का उत्तरार्द्ध)। इन्हें अध्ययन-अध्यापन एवं धार्मिक कार्यों से दूर रखा गया था। व्यक्तित्व के विकास में सहायक समस्त संस्कारों से इन्हें उपेक्षित रखा गया था-

**ततो निर्माणसम्भूताः शूद्राः कर्मविवर्जिताः।**
**तस्मान्नार्हन्ति संस्कारं न ह्यत्र ब्रह्म विद्यते॥**

- हरिवंशपुराण, 3.21.15

लाभान्वित वर्णों (द्विज जातियों) को यह भय था कि कहीं ये श्रम करने वाली जातियाँ अपने कार्यों का त्याग कर श्रेष्ठ वर्णों को प्राप्त करने का प्रयास न करने लगें, यही कारण है कि इन्हें धार्मिक कार्यों से भी दूर रखा गया जिससे सामाजिक, बौद्धिक एवं मानसिक तौर पर दबे-कुचले रहें और द्विज सर्व लाभान्वित वर्ग बने रहें। शूद्रों को सर्वदा एक जाति बन कर रहना पड़ा, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ही द्विजाति हो सकती थीं क्योंकि उपनयन संस्कार द्वारा इन्हीं तीन जातियों का पुनर्जन्म (द्विजत्व) होता था।

इस प्रकार पुराण-काल में भी समाज की स्थिति-न्यूनाधिक स्मृति-काल की भांति ही बनी हुई थी। वर्ण-व्यवस्था जन्मगत होने के कारण इसमें परिवर्तन का प्रवाह रुक सा गया था। जन्मगत वर्ण-व्यवस्था ने शूद्रों को उत्क्रमित होने से सर्वदा के लिए वंचित कर दिया था। इससे न तो वे द्विज जातियों में प्रवेश पा सकते थे और (उपनयन संस्कार से वंचित होने के कारण) न ही शिक्षित हो सकते थे।

समाज का सबसे छोटा आधार स्तम्भ था परिवार। इस काल में परिवार संयुक्त हुआ करता था तथा पितृसत्तात्मक था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकाल तक पुरुषों ने महिलाओं पर मानसिक एवं शारीरिक रूप से विजय प्राप्त कर ली थी क्योंकि पुरुषों को पति के रूप में पत्नी के हित में विशेष निर्देश नहीं दिए गए हैं जबकि पत्नी के लिए निम्नलिखित कर्त्तव्य निर्दिष्ट हैं -

**सा भार्या गृहे दक्षा सा भार्या सा प्रियम्वदा।**
**सा भार्या या पति प्राण, सा भार्या या पतिव्रता॥** -गरुड पु., 108.18

पत्नी के लिए पतिव्रता होना एवं प्राण के समान पति को प्रिय मानना आवश्यक योग्यता थी। पुरुषों का स्त्रियों पर स्पष्ट वर्चस्व था। पुत्री की अपेक्षा पुत्रों का जन्म परिवार में सुखकर था -

**सर्वसौख्यप्रदः पुत्रः पित्रोः प्रीतिविवर्द्धनः।**

**आत्मा वै जायते पुत्र इति वेदेषु निश्चितम्॥** -गरुड पु. 2.14.21

पुत्र का जन्म पिता के लिए इस कारण भी सुखकर माना गया था, क्योंकि पिता की मृत्यु के बाद तर्पण पुत्र ही किया करते थे, जिससे पिता को स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त होना संभव था-

**कलिकलुषविमुक्तः पूजितः सिद्धसङ्घैः।**

**स्मरचमरमालावीज्यमानोऽप्सरोभिः॥**

**पितृशतमपि बन्धून् पुत्रपौत्रप्रपौत्रानपि।**

**नरकनिमग्नानुद्धरेदेक एव॥** --गरुड पु., 2.15.19

पुराण काल में दत्तक पुत्र या दत्तक पुत्री का भी विधान था। विष्णु-पुराण में वर्णित है कि राजा दशरथ ने अपनी पुत्री शान्ता को रोमपाद को निःसन्तान होने के कारण दे दिया था -

**''यस्मादजपुत्रो दशरथः शान्तां नाम कन्यामनपत्याय दुहितृत्वे युयोज।**

– विष्णु पु., 4.18

स्त्रियों की परिवार में तीन स्थितियाँ थीं पुत्री रूप, पत्नी रूप एवं मातृ रूप। पुत्री रूप में स्त्री सम्पूर्ण परिवार द्वारा तथा पत्नी रूप में पति द्वारा स्त्रियाँ संरक्षित थीं, जबकि माता को जननी एवं पोषण करनेवाली होने के कारण अत्यन्त सम्मान प्राप्त था -

**''तयोः शतगुणं माता पूज्या मान्या च वन्दिता।**

**गर्भधारणपोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी॥**

– ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश,40

अपि च,

**''गर्भधारण पोषाभ्यां तेन माता गरीयसी।'** – मत्स्य पु. 227.150

स्त्रियों को कार्य क्षेत्र परिवार या अपने घर तक ही सीमित था। स्त्रियों को सामान्य-तौर पर घरेलु शिक्षा ही दी जाती थी। सास, श्वसुर आदि के प्रति सेवा एवं आदर की भावना का आदर्श उपदेश उनकी शिक्षा या कर्त्तव्य के मुख्य तत्त्व थे-

**''श्वश्रूश्वसुरयोर्नित्यं शुश्रूषामभिरता सती।**

**किं तस्या व्रतकैः कार्यं किंवा स्यादुपवासकैः॥** हरिवंश पु 281.6

आज भी पुराण कालीन पत्नी का पतिव्रता स्वरूप ही विद्यमान है -

**भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवताः दैवतैः सह।**

**भर्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दनम्।।** - पद्म पुराण, भूमि; 4.75

पुराणकालीन स्त्रियों का मानना था कि पति के ही सन्तुष्ट होने पर सभी देवता एवं ऋषिगण भी सन्तुष्ट होते हैं -

**तुष्टे भर्तरि तस्यास्तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः।**

**तुष्टे भर्तरि तुष्यन्ति ऋषयो देवमानवाः।।** - पद्म पुराण, भूमिका

यहाँ तक कि पति यदि पतित हो, फिर भी उसका परित्याग स्त्री के लिए वर्जित था-

**व्याधितः पतितो कापि दीनो वापि कथञ्चन।**

**न त्यक्तव्यः स्त्रिया भर्ता एष धर्मःसनातनः।।** हरिवंश पुराण, 2.78.9

क्योंकि लोगों की यह मान्यता थी कि पातिव्रत्य आदि गुणों से पति को सन्तुष्ट कर ही स्त्री स्वर्ग पा सकती है।

यद्यपि पुराणों में स्त्रियों की परिवार में गरिमामयी उपस्थिति दिखाई गयी है, किन्तु भागवत-पुराण (1.4.25) के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकाल तक स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा दीन-हीन हो चुकी थी -

**स्त्रीशूद्रद्विजबंधुनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।**

**कर्मश्रेयसी मूढ़ानां श्रेय एव भवेदिह।।** - भागवत, 1.4.25

स्त्रियों को शूद्र के समान माना गया था। इस काल में माता-पिता द्वारा पुत्रियों को दान-दिए जाने की घटना का भी वर्णन प्राप्त होता है - **'अर्घ्यंभूतां ग्राह्यामास'** (विष्णु पु.)। स्त्रियों के लिए उपनयन का विधान न रहने से शिक्षा औपचारिक मात्र थी (**शास्त्रालोचन सामर्थ्यमुज्झित तासु वेधसा- मत्स्य पु.**)। बाल-विवाह की प्रथा का प्रारंभ हो जाने से शिक्षा अव्यवहारिक हो गयी थी। अधिकांश स्त्रियाँ सद्योद्वाहा थीं। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ अपवाद स्वरूप थीं जो आध्यात्मिक शिक्षा के प्रति रुचि रखती थीं।

पुराण-काल में शिक्षा भी धर्म से ही सम्बद्ध था। अतः स्त्रियाँ इस पुराण काल में धार्मिक कथाओं का ही श्रवण किया करती थीं। स्त्रियों की दृष्टि से पुराण काल का नकारात्मक पहलू वैधव्य एवं सतीत्व था। वैधव्य अत्यन्त असह्य था (**'असह्यदुःखवैध्वयम्' ब्रह्माण्डपुराण'**)। पुराणों में सती-प्रथा के भी प्रभूत प्रमाण मिलते हैं।

पुराणों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि पुराणों का निर्माण ज्ञान-काण्ड एवं कर्मकाण्ड को समन्वित करता हुआ कथापरक धार्मिक ग्रन्थ है जो समाज के सभी वर्गों को पठन-पाठन के लिए निर्मित हुआ था। वस्तुतः यह वैदिक कर्मकाण्ड की

जटिलता की प्रतिक्रिया स्वरूप रचा गया था। ऐसा स्पष्ट दिखा पड़ता है कि वैदिक कर्म काण्डों के विरुद्ध विरोध के स्वर उभरने लगे थे जिनको बौद्धिक स्तर पर दबाने का कार्य इन पुराणों की कथाओं के श्रवण एवं वाचन के माध्यम से हुआ था। इन पुराणों क़ा दूसरा पहलू यह भी था कि इन पुराणों की वैदिक परम्परा को जीवित रखने में भी महत्त्पूर्ण भूमिका थी क्योंकि, इनकी रचना का उद्देश्य ही वैदिक ज्ञान को सार्वजनीन बनाना था।

वैसे भारतीय-संस्कृति की अनेक अवधारणाएँ पुराणों के अध्ययन से हमें प्राप्त होती हैं। यथा - हिन्दू की सृष्टि निर्माण विषयक अवधारणाएँ, तत्कालीन विभिन्न राजवंशों एवं ऋषि कुलों का आहार-व्यवहार, हिन्दुओं का प्रकृति के प्रति लगाव एवं दृष्टिकोण, धर्मों के प्रति हिन्दुओं की आस्था, भक्ति, दान उपवास, तीर्थ आदि का हिन्दू धर्म में महत्त्व, हिन्दुओं का दार्शनिक-दृष्टिकोण आदि।



## अध्याय-11

# प्राचीन भारत में आध्यात्मिक एवं धार्मिक चेतना

किसी भी देश या काल की संस्कृति के अवलोकन में उस देश के धर्म या धार्मिक परम्पराओं का ज्ञान आवश्यक तत्त्व है। धर्म अध्यात्म से प्रभावित होता रहता है। धर्म बाह्यं तत्त्व है जबकि अध्यात्म आन्तरिक तत्त्व। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है। आध्यात्मिक-चेतना ही किसी व्यक्ति को उसके धर्म के प्रति प्रेरित करती है या पूर्व प्रतिष्ठित धर्मों के अनुसार आध्यात्मिक विचार-धारा में परिर्वतन होता रहता है और निरंतर प्रवाह में वहाँ की संस्कृति भी समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है।

आर्य संस्कृति प्रारम्भिक-काल से ही धर्म परायण है। अतः स्रष्टा के प्रति आस्था होने से नैतिक मूल्यों का सृजन हुआ, जिसने सुन्दर भारतीय समाज के सृजन में योगदान दिया। नैतिक मूल्यों और सत्कर्मों से प्रभावित होकर मानव धर्म-परायण हो गया। धर्म का अर्थ ही कर्त्तव्य का निर्वाह था, वह भी सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं या स्थापनाओं के अनुरूप। मानव का यही कर्त्तव्य-बोध आचार, व्यवहार, परम्परा-निर्वाह एवं संस्कृति के रूप में उभरकर आया। धर्म-परायण होने के कारण आर्यों के लिए धर्म का लौकिक महत्त्व ज्ञान एवं श्रद्धापूर्ण कर्त्तव्यों का पालन कर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होना था। यही आर्यों की धार्मिकता थी। प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मुख्य प्रेरक तत्त्व धर्म था, जिसमें बौद्धिकता, ज्ञानता, सदाचारिता एवं नैतिकता का बाहुल्य था। इसी के माध्यम से लौकिक व्यवहार के साथ ही दार्शनिक चेतना का उन्नयन हुआ। यही आर्यों के आध्यात्मिक उन्नयन का आधार था। आर्यों का यह आध्यात्मिक चिंतन ऋग्वेद में भी दीख पड़ता है, किन्तु इसका विकास एवं पराकाष्ठा विभिन्न उपनिषदों में देखी जी सकती है। वैदिक एवं उपनिषद् काल-खण्ड में बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रूप से विकसित जन-समूह ने समस्त धार्मिक आचार-विचारों एवं सिद्धान्तों को अपने अनुरूप बनाना शुरू किया। जन-समूह के बीच श्रेष्ठत्व स्थापित करने की इच्छा रखने वाला यह वर्ग 'ब्राह्मण' कहलाया। ब्राह्मणों ने धर्म को न केवल अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की, अपितु इन्होंने अनेक धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये। अब इन ब्राह्मणों को धार्मिक कर्म-काण्डों के क्रियान्वयन या सम्पादन का विशेषाधिकार प्राप्त हो गया। इन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों में धार्मिक कर्म-काण्डों की विशद चर्चा की है। इनके द्वारा बनाये गये धार्मिक विधि-विधान इनके विशेषाधिकारों को

सुदृढ करने वाले थे तथा अन्य वर्णों के विरुद्ध थे। इन धार्मिक विशेषाधिकारों को बनाये रखकर यह वर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से अत्यन्त समुन्नत हो गया।

ब्राह्मणों के इन कृत्यों के परिणाम-स्वरूप समाज के अन्य बुद्धिजीवी एवं बलशाली जन समुदाय ब्राह्मणों के इन धार्मिक कर्म-काण्डों का विरोध करने लगे और इन लोगों के विरोध का ही परिणाम था कि जैन एवं बौद्ध जैसे धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ, जो ब्राह्मणों द्वारा बनाये गये वैदिक कर्म-काण्डों का विरोध करने लगे। चूँकि ये कर्म-काण्ड वैदिक मंत्रों द्वारा ही सम्पादित होते थे, अतएव बौद्ध एवं जैन मतावलम्बियों ने वेद को भी प्रमाण नहीं माना। बौद्ध एवं जैन धर्म का उत्तरोत्तर प्रचार एवं प्रसार विश्व के अनेक देशों में हुआ। बौद्ध धर्मावलम्बियों की पकड़ जितनी बाहर के देशों में बनी उतना भारत में नहीं हो सकी। जैन-धर्म भी वैश्य समुदायों के बीच तक ही सिमट कर रह गया। इस प्रकार भारतीय समाज पर पुनः ब्राह्मणों का प्रभाव बना रहा। ब्राह्मण अपने परम्परागत पौरोहित्य कर्म से जुड़े रहे, जिससे इन्हें प्रचुर धन दान-स्वरूप प्राप्त हुआ। इस-प्रकार ब्राह्मण सदियों तक अपना प्रभुत्व एवं प्रभाव बनाये रखने में सफल रहे।

## वैदिक धर्म एवं चिंतन

वेद मंत्र द्रष्टाओं द्वारा अनुभूत देवता एवं स्रष्टा विषयक आध्यात्मिक चिंतन की विशाल राशि हैं, जिसका भारत में निवास करने वाले आर्यों ने अनुगमन किया। वेद के प्रति आर्यों की आस्था थी, अतएव ये आस्तिक कहलाए और जिन लोगों ने वेदों में अनास्था रखी, वे नास्तिक कहलाए-

**योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।**
**स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥** - मनु. 2.11

वेदों में प्रकृति और सृष्टि के दिव्य एवं अलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति है। इसके प्रति श्रद्धा, आस्था या अनुभूति ही हिन्दू समाज का धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतन है। इसीलिए वैदिक धर्म में वेद को प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया गया है।

**प्रत्यक्षेणानुमित्या वा वास्तुपायो न बुध्यते।**
**एवं विन्दति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥**

-तैत्तिरीय संहिता, भाष्योपोद्घात, पृ०2

उपर्युक्त मंत्र में स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा अगम्य या अबोध्य तत्त्वों का सुगमता पूर्वक बोध कराना ही वेद का वेदान्त है। अलौकिक तत्त्वों का साक्षात्कार अनुभूतियों द्वारा होता है, इन अनुभूतियों की प्रमाणिकता वेदों से सिद्ध

होती है- ऐसा मीमांसकों की मान्यता है। वैदिक-चिंतन जगत् और जीवन के वैविध्य और दुर्गम्यता का बोध कराता हुआ नवीन दार्शनिक दृष्टि प्रदान करता है, जिसके अन्तर्गत प्रकृति एवं नियति के परिवर्तनीय पक्ष भी समाहित हैं। प्रकृति एवं नियति से संबंधित सभी पक्ष या समस्याओं का निदान सर्वव्यापी सत्ता द्वारा स्वीकार किया गया है। वह सर्वव्यापी सत्ता एक है –

**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।**
**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**

–यजुर्वेद, अ० 13 म० 4

अर्थात् जो प्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश देने वाले सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके उन्हें धारण किया हुआ है, जो उत्पन्न किए हुए सम्पूर्ण-जगत् का प्रसिद्ध चेतनस्वरूप है तथा एक मात्र स्वामी है, जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था, जो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है, हम लोग उस परमात्मा के प्रति हवि प्रदान करें।

इस प्रकार जगत् के एक मात्र स्रष्टा के रूप में परमात्मा की दिव्य शक्ति स्वीकार की गयी है-

**य आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।**
**यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**

–यजु. अ. 25, मं. 23

अर्थात् जो आत्मज्ञान का दाता, शरीर, आत्मा एवं समाज को बल देने वाला है, जिसकी सभी विद्वान् लोग उपासना करते हैं जिसके प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को सभी मानते हैं जिसका आश्रय ही मोक्ष देने वाला है, जिसका मानना अर्थात् भक्ति न करना (मृत्यु आदि) दुःख का हेतु है, उस परमात्मस्वरूप देवता की आज्ञा पालन में तत्पर रहें।

इस दिव्यशक्ति स्वरूप परमात्मा को समस्त सृष्टि का नियन्ता माना गया-

**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्व स्तभिंत येन नाकः।**
**योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**

अर्थात् जिस परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाववाले सूर्यादि और भूमि को धारण किया हुआ है, जिस जगदीश्वर ने सुख एवं दुःख रहित मोक्ष को धारण किया हुआ है तथा यह ही आकाश मुक्त तीनों लोकों का निर्माता एवं भ्रमण कराने वाला है।

इस प्रकार समस्त सृष्टि का नियन्ता यह परमात्मा कोई अन्य नहीं है अर्थात् सृष्टि एवं स्रष्टा में कोई भी भिन्नता नहीं है –**"जीवो ब्रह्मैव नापरः।"** स्रष्टा सृष्टि

के रूप में व्याप्त है। इसीलिए सूक्तों में कहा गया है कि वह प्रकाश के रूप में ज्योतिर्मय आकाश में व्याप्त है, वसु के रूप में अन्तरिक्ष में निवास करता है और ऋत् अर्थात् विश्व के अनुशासक और कल्याणकारी के रूप में सर्व व्याप्त है। ''पुन: ऋग्वेद एवं तैतिरीय ब्राह्मण में वर्णित है कि'' अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है, वाक् हृदय में, हृदय मुझमें, मैं अमरत्व में और अमरत्व ब्रह्म में।[1] इससे स्पष्ट है कि विश्वात्मा,जीवात्मा एवं भौतिक जगत् एकान्वित होकर सामञ्जस्य स्थापित किए हुए है।

ऋग्वेद के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक देवता बहुदेववाद की ओर इंगित करते हैं क्योंकि प्रत्येक देवता जगत् के स्रष्टा एवं नियन्ता के रूप में वर्णित हैं तथा अन्य देवताओं की उत्पत्ति उनसे ही मानी गयी है। जगत् के स्रष्टा के रूप में 'प्रजापति की कल्पना एकेश्वरवाद का द्योतक है तथा इसे सर्वश्रेष्ठ रूप स्वीकार करना 'सर्वेश्वरवाद का प्रतीक है।[2] एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति' के साथ अद्वैतवाद की कल्पना की गयी है।[3] निरुक्त में यास्क ने कहा है कि सभी देवता एक ही आत्मा के प्रत्यय रूप हैं और उसी आत्मा का विभिन्न प्रकार से पूजन होता है।[4] यह आत्मा ही सर्वव्यापी 'ब्रह्म' है। 'अदिति' देवताओं की जननी या समष्टि है तथा सृष्टि का मूल आधार है[5] आदित्य इनके पुत्र हैं जिनमें मित्र, वरुण, विष्णु और इन्द्र प्रधान हैं। परंतु ये सभी देवता सूर्य के ही रूप है तथा तीनों लोकों में व्याप्त हैं और विश्वात्मा के अंग हैं।

सम्पूर्ण ऋग्वेद देवताओं के सामर्थ्य एवं शक्ति का वर्णन करता है तथा इनके अमरत्व की घोषणा करता हुआ इनके आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रूप को दर्शाता है। ब्रह्म को 'ऋत' रूप में दर्शाया गया है। 'ऋत्' का अर्थ है- जगत् का नियन्ता। इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि सदृश अनेक देवताओं को जगन्नियन्ता का प्रतिनिधि बनाया गया है जो एक ही सत्तावान् की ओर इंगित करते हैं।

वैदिक चिन्तन की एक विशेषता मानव में देवत्व की अभिव्यक्ति करना भी है। वेदों में मानववाद की उच्च एवं गौरवमयी अनुभूति करायी गयी है। इसका ही परिणाम है कि देवताओं की संख्या क्रमश: बढ़ती गयी। ऋग्वेद (3.9.9)में ही उल्लिखित है कि तैंतीस देवता तीन हजार तीन सौ उन्तालिस हो गये जो कालान्तर में आकर तैंतीस करोड़ हो गये। इन तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की दिव्यता से तथा प्रकृति की अभिरामता से समस्त भूत जगत् अभिव्यंजित होता रहा है। प्रकृति की शक्तियों पर इन कोटि देवताओं का पूर्ण नियंत्रण था।

1. ऋग्वेद, 10.40.5 तथा तैत्तिरीय ब्रा. 3.10.8.4
2. ऋग्वेद, पुरुष सूक्त, 10.90.2, पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
3. हॉपकिन्स, द रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 396. 496.
4. निरुक्त, 7.4.8.9, एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यंगानि भवन्ति।। उत्तरार्द्ध
5. ऋग्वेद, 1.89.17।

आर्यों की वैदिक देवताओं से समीपता देखी जा सकती है क्योंकि आर्यों का देवताओं के प्रति यह विश्वास था कि युद्ध में इन देवताओं की सहायता से विजय सुनिश्चित है। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि " हे अग्नि! जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए आसन्नवर्ती होता है, उसी प्रकार आप मेरे लिए हों।"[1] वस्तुत: आर्यों द्वारा वैदिक देवताओं की स्तुति स्व रक्षार्थ एवं कल्याणार्थ होती थी। आर्यों ने इन्द्र को विशिष्ट देवता का स्थान दिया था। इन्द्र दस्युओं का विजेता एवं आर्यों का सर्वश्रेष्ठ देवता था।

देवता अपने वास स्थान के आधार पर तीन भागों में विभक्त किए गये हैं- 1. द्युस्थानीय 2. अन्तरिक्ष-स्थानीय और 3. पृथिवी-स्थानीय। द्युस्थानीय देवताओं में सविता, विष्णु, वरुण, मित्र, सूर्य, अश्विन् तथा उषा प्रमुख हैं, अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में इन्द्र, अपान्पात्, पर्जन्य एवं रूद्र मुख्य हैं एवं पृथिवी स्थानीय देवताओं में अग्नि, बृहस्पति और सोम विख्यात हैं।

जैसा कि पूर्व में भी उल्लेख किया गया है कि **इन्द्र** असीम शक्ति सम्पन्न वज्र जैसे आयुद्ध से युक्त देवता था। इन्द्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विजय वृत्र पर थी, जिसे उसने अपने वज्र से ध्वस्त कर मेघ एवं जल को मुक्त कराया था। इन्द्र के उपरान्त **वरुण** का उल्लेख जगत् के नियन्ता, देवताओं के पोषक ऋतु के अधिपति के रूप में हुआ है। सूर्य के प्रति आर्यों की आस्था स्वाभाविक थी, क्योंकि यह अपने प्रकाश एवं तेज से समस्त जगत् एवं जीवों को आलोकित करता था। इसे मित्र, वरुण एवं द्यौस का चक्षु माना गया है। **'सवितृ'** सूर्य की प्रेरक शक्ति के रूप में हैं जिसकी स्तुति गायत्री-मंत्र के उच्चारण से होती है। **'पुषन्'** वनस्पति एवं औषधि संवर्द्धन का देवता था। **'विष्णु'** विशाल डगों को भरने के कारण 'उपक्रम एवं उरुगाय' शब्दों से अभिहित था। उसने अपने तीन डगों से समस्त जगत् को माप लिया था। उसी वैदिक आधार पर विष्णु को वामन अवतार के रूप में पुराणों में स्वीकार किया गया है। **'रुद्र'** को उग्र देवता के रूप में दर्शाया गया है। रूद्र का सौम्य रूप शिव था, क्योंकि वह जगत् का मंगलकारी देवता था। पशुओं का कल्याण करने वाला होने के कारण उसे 'पशुपति' भी कहा गया है। ऋग्वैदिक काल में रूद्र की महत्ता विष्णु से कम थी।

ऋग्वैदिक काल में **'अग्नि'** देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था, जिसकी सात जिह्वाएं थीं। लौकिक एवं अलौकिक कार्यों के सम्पादन में अग्नि की आवश्यकता पड़ती थी एवं समस्त याज्ञिक कार्य अग्नि के माध्यम से सम्पन्न होते थे। दैवी अग्नि के साथ-साथ भौतिक रूप में अग्नि उत्पन्न की जाती थी। जल से

---

1. ऋग्वेद, 1.1.9

उत्पन्न होने वाली अग्नि 'आपां-नपात्' कहलाती थी। यज्ञ के लिए अग्नि आवश्यक थी, क्योंकि यह ही देवताओं का आह्वान करता था। इन्द्र, वरुण एवं मरुत् जैसे देवताओं को इसी के माध्यम से होता बुलाता था और उनके प्रति हवि अर्पित करता था। अग्नि को **'जातवेदस्'** भी कहते थे क्योंकि यह चर-अचर का ज्ञाता था। इसके अन्य नाम भी थे। यथा-'भुवनचक्षु: ऋतुगोपा गृहपति आदि। व्यावहारिक उपयोग के कारण इसकी महत्ता थी। अग्नि का अन्य उपयोग यज्ञ के माध्यम से देवताओं तक हव्य को पहुँचाना एवं शव का दाह करना।

'सोम' जो देवताओं का प्रिय पेय था, वह आर्यों के प्रफुल्लता तथा आनन्द का देवता बन गया। इन्द्र का सोम प्रियतम पेय था। वस्तुत: आर्य सोम रस को अमरत्व, शक्ति, प्रेरणा एवं अह्लाद का प्रतीक मान कर पान करते थे। ऋग्वेद में इसकी उत्पत्ति सूर्य एवं विद्युत से मानी गयी है। आकाश के सभी नक्षत्र उसकी पत्नियाँ मानी गयीं, यद्यपि सोम रोहिणी को ही पत्नी स्वीकार करता था। इन्द्र के साहचर्य से सोम का पराक्रम एवं महत्त्व बढ़ गया था।

ऋग्वैदिक देवताओं में अश्विन् भी प्रमुख था। वह स्वरूप से युग्म था। उसकी तुलना प्राय: पैरों, नेत्रों, हाथों और युगल-पशुओं से की जाती थी। उसकी दृष्टि मधुमय थी। यह आरोग्य, यौवन एवं अमरता भी प्रदान करता था। यह मानव का शुभ-चिन्तक था। उसकी कृपा से सन्तान रहित औरतें संतान युक्त हो जाती थीं।

ऋग्वैदिक देवताओं में कुछ अन्य देवताओं के सूक्त भी हैं जो अपेक्षाकृत कम महत्त्व के देवता थे। मरुत, पर्जन्य, बृहस्पति, यम, विवस्वान् आदि इसी कोटि में रखे जा सकते हैं।

ऋग्वेद में देवताओं की भांति देवियों की भी अभ्यर्थना प्राप्त होती है जिसमें **'उषा'** सर्वाधिक उल्लिखित हैं। उषा का आकर्षक एवं रमणीय वर्णन है। वह हिरण्यवर्णा के रूप में विवृत की गयी है। उषा के बाद देवियों में **'अदिति'** की भी चर्चा है जो वसुओं की पुत्री एवं सूर्य की माता थी। **'सरस्वती'** को भी देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आकाशचारी देवयोनियाँ, अप्सराएँ और गन्धर्व भी कनिष्ठ देवता स्वीकार कर लिए गये। कुछ प्राकृतिक रूपों यथा ऋतुवन-वृक्ष, पर्वत, नक्षत्र, काल, औषधि आदि भी देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित कर लिए गये। वस्तुत: ये सभी देवी-देवता मनुष्य को साहस उत्साह, आशा, विश्वास एवं शक्ति प्रदान करने वाले थे।

आर्य अन्तरिक्ष की विशालता, पृथिवी के रहस्य, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाओं से भयभीत थे क्योंकि इनकी अद्भूत शक्तियाँ आर्यों के ज्ञान एवं सोच्र से परे थी। अतएव द्यावा, पृथिवी, उषा, सूर्य आदि शक्तियाँ देव तुल्य हो

गयीं। इन शक्तियों से अपने हित की अपेक्षा के लिए ये आर्य इन शक्तियों के अभ्यर्थन में जुड़ गये। बाह्य शक्तियों के साथ-साथ बुद्धि की प्रतीक सरस्वती जैसे अन्तःशक्तिमान् देवी-देवताओं की भी पूजा अर्चना होने लगी।

आर्यों के श्रद्धा एवं भावना से जुड़ी एक विशेषता यह भी थी कि इन आर्यों ने इन प्राकृतिक शक्तियों का देव रूप में मानवीकरण कर लिया था। मनुष्यों में पाये जाने वाले सम्पूर्ण सद्‌गुणों एवं सदाचारों का आरोपण उन देवताओं में कर लिया गया। ये देवता मानवीय दुर्गणों एवं दुर्बलताओं से परे अत्यन्त शक्तिशाली, सहायता के प्रति उत्कट इच्छा रखने वाले, अमर एवं सर्वव्यापी थे। वे उदात्त गुणों से युक्त अपनी प्रेरणाओं से मानव को बल एवं सहायता प्रदान करते थे। सभी आर्य देव-कृपा के अभिलाषी थे।

वैदिक साहित्य में ज्यों-ज्यों देवताओं का विस्तार होता गया। इन देवताओं के प्रति श्रद्धा भी विभक्त होने लगी। आर्यों में अपने-अपने उपास्य देवता को श्रेष्ठ बनाने की होड़ लग गयी। आर्यों ने धीरे-धीरे देवताओं को कई कोटियों में विभाजित कर दिया। द्यावा पृथिवी, उषा, रात्रि, मित्र, वरुण की भांति देवताओं की कोटि हो गयी। इन्द्र के उदय होने के साथ ही वरुण की महत्ता कम होती गयी। कालान्तर में इन्द्र की महत्ता पशुपति के समक्ष क्षीण होने लगी। ऋग्वैदिक-काल में ही आर्यों ने देवताओं की श्रेष्ठता को उनके कर्म-क्षेत्रों एवं कृपा पूर्ण वरदानों के आधार पर बाँट दिया। अतएव उस काल के मनीषियों ने परम-पुरुष की कल्पना की जो सर्व-श्रेष्ठ सत्ता से सम्पन्न था। उस सर्वश्रेष्ठ सत्ता को परम-सत् के रूप प्रदर्शित किया गया तथा उसे ही हिरण्यगर्भा, मातरिश्वा आदि नामों से सम्बोधित किया गया।

**हिरण्यगर्भा समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।**
**सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।**

– यजु० अ० 13 मं० 4

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' से ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं की श्रेष्ठता पर प्रश्न-चिन्ह लगने लगा था। फिर भी, वैदिक ऋषि की धार्मिक भावना में कोई परिर्वतन नहीं आया। अभी भी आर्य ऋषि निज कल्याण की दृष्टि से अभ्यर्थना तो करते थे, किन्तु देवताओं का स्थान अब एक मात्र परम शक्ति ने ले लिया था। लोग परम-शक्ति की उपासना वासना पूर्त्ति एवं भय से त्राण के लिए किया करते थे। इसप्रकार के वैदिक उपासना ने एकेश्वरवाद को बढ़ावा दिया। 'नासदीय सूक्त' एवं वाक्-सूक्त ने अद्वैत की कल्पना का प्रदर्शन किया।

आर्यों का जीवन के प्रति विशेष अनुराग था। वे सन्यासी जीवन व्यतीत करने से श्रेष्ठ गृहस्थ-जीवन को मानते थे। वे निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग का

अनुसरण अनुशासन पूर्वक करना श्रेयस्कर मानते थे। यही कारण है कि इनकी पूजा करने की मंगल कामना अभ्यर्थन का मूल प्रयोजन हुआ करता था। आर्य मंगलमय एवं संतुलित पारिवारिक जीवन के अभिलाषी थे।

## वैदिक अभ्यर्थना

वैदिक अभ्यर्थना की मुख्य दो पद्धतियाँ थी-1. स्तुति एवं 2. यज्ञ। आर्य देव अभ्यर्थन में 'शतं जीवेत् सुखं जीवेत्' की कामना करते थे। वैदिक काल में मंदिर एवं पूजा का सर्वथा अभाव था। आर्य देवों की आध्यात्मिक उपासना करते थे। यास्क ने भी निरुक्त (1.18) में यह माना है कि वेद के अर्थ को बुद्धि से समझकर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जिससे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। वेदों की व्याख्या में बौद्धिक प्रधानता देखी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि आर्यों की अभ्यर्थना का मूल आधार बौद्धिक या आध्यात्मिक था।

'स्तुति' पूजा का सबसे सरल माध्यम थी। वेदों की ऋचाएँ तथा सूक्त प्रायः स्तुतियाँ ही है, जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थनाएँ की गयी थीं। इन्द्र देवता की स्तुति में ही 250 ऋचाएँ ऋग्वेद में प्राप्त होती हैं। स्तुति लौकिक सुखों की कामना का आधार था। स्तुति के साथ ही वैदिक यज्ञों की भी अतीव महत्ता थी। अग्नि को प्रत्यक्ष रखकर उपासना की जाती थी। अग्नि को साक्षी बनाने के पीछे धारणा यह थी कि अग्नि का गुण है उर्ध्व-दिशा की ओर जाना। अतः अग्नि ही एक मात्र साधन माना गया, जो पवित्रता पूर्वक देव आह्वान को देवताओं तक पहुँचा सकता था। यज्ञों पर विशेष रूप से चर्चा पृथक्-अध्याय में की जाएगी।

यज्ञों में बढ़ते कर्म-काण्ड के कारण यज्ञों के प्रति उदासीनता उत्पन्न होने लगी। वास्तविक ज्ञान और आध्यात्मिक उत्कर्ष की महत्ता स्वीकार की गयी। ज्ञान को महत्त्व दिया जाने लगा और दार्शनिक विचार एवं चिन्तन-धारा का सृजन हुआ, जिसका अत्यन्त सुन्दर निदर्शन उपनिषदों में प्राप्त होता है। आत्म ज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान के प्रति मनीषियों का झुकाव बढ़ने लगा।

वैदिक-कालीन भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि जहाँ एक ओर निष्काम-कर्म को श्रेयस्कर माना गया, वहीं कर्म (सत्कर्म) का भी प्रभाव देखा गया। आर्यों का यह सोचना था कि अच्छे कर्मों से पुण्य और सुख की प्राप्ति होती है तथा बुरे कर्मों से पाप एवं दुःख की। इन्हीं पाप-पुण्य की धारणाओं के फलस्वरूप पुनर्जन्म की अवधारणा आर्यों के बौद्धिक-पटल पर आयी। शुभाशुभ की धारणाओं को **'शुभस्पतिः' विश्वचर्षणि, 'विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता'** आदि शब्द दर्शाते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ऋग्वैदिककालीन मीमांसा परवर्त्ती-काल में आध्यात्मिक चिंतन एवं परम-ज्ञान की ओर उन्मुख हो गया जिससे उपनिषदों के एकत्ववादी धारणा के लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई।

## औपनिषदिक चिंतन-धारा

भारत की समस्त चिंतन-धाराओं का मूल उपनिषद् ही है। यद्यपि ये अध्यात्म-पूर्ण चिंतन धाराएँ वेदों से निःसृत हैं तथापि इसका पल्लवन एवं पुष्पन उपनिषदों में ही प्राप्त होता है। श्रुति-साहित्य का पवित्र सार रूप यह उपनिषद् है। भारतीय-परम्परा में अपौरुषेय मानी जाने वाली श्रुति की अंतिम, किन्तु सबसे सारगर्भित कड़ी है उपनिषद्। इसे वेदान्त भी कहा जाता है।

उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है- 'समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना'। ज्ञान का अर्थ यहाँ तत्त्व-ज्ञान से है। शिष्य अथवा जिज्ञासु गुरु के सानिध्य में तत्त्वज्ञान की बातें सीखते थे। व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द 'उप' एवं नि'पूर्वक षद्लृ धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगकर बना है (उप+नि+षद्लृ+क्विप्)। षद्लृ धातु से विशरण, गति एवं अवसादन ये तीन अर्थ हैं। अर्थात् वह विद्या जिसके अनुशीलन से अविद्या का नाश(विशरण) और दुःखों का शिथलीकरण (अवसादन) हो जाता है। उपनिषदों में तर्क के माध्यम से पारम्परिक रूप में परम-ब्रह्म परमात्मा का चिंतन किया जाता है। भारत की समस्त आध्यात्मिक-धाराएँ उपनिषद् से ही निःसृत हैं। वस्तुतः इन आध्यात्मिक ज्ञान के लिए जिज्ञासु का अधिकारी होना आवश्यक है क्योंकि उपनिषद्-रहस्य गूढ़-विद्या अथवा गुह्य-ज्ञान को बताते हैं। ''उपनिषद् शब्द का विवेचन करते हुए शंकराचार्य ने कठोपनिषद् पर अपने भाष्य की भूमिका में कहा है–

**''मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाण लक्षणां विद्यामुपसद्योगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषाम-विद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युत्यते।....... मुमुक्षून्वापरं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्।''** यहाँ शंकराचार्य ने स्पष्ट किया है कि उपनिषद् शब्द का वाच्यार्थ ब्रह्मविद्या है।[1] मोक्ष का अभिलाषी व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक विषयों से विरक्त होकर इस विद्या की प्राप्ति के हेतु गुरु के समीप जाकर, निष्ठापूर्वक इसका परिशीलन करते हैं, उनके अविद्या आदि संसार के बीच का विशरण या हिंसन करने से यह विद्या ही उपनिषद् कही जाती है। शंकराचार्य ने लक्षणा द्वारा भी ब्रह्म-विद्या से अभिप्रेत उपनिषद् शब्द की व्याख्या की है। यहाँ हमारा विषय उपनिषद् शब्द की व्याख्या करना नहीं है।

---

1. ईशावास्य., शाङ्कर-भाष्य; उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारण भूतामविद्यां च शिथिलयति ब्रह्म च गमयति।

अतः उपनिषदों की भारतीय जीवन-दर्शन के प्रति उपादेयता पर हम विशिष्ट बल देते हुए चर्चा को आगे बढ़ाना चाहेंगे।

उपनिषदों की संख्या 108 बतायी गयी है जिनमें से दस उपनिषदों पर शंकराचार्य के भाष्य प्राप्त होते हैं अतएव ये उपनिषद् अन्य उपनिषदों से अधिक महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। उपनिषदों का काल भी निश्चित नहीं है। यद्यपि सभी प्रमुख उपनिषद् बुद्ध के पूर्ववर्त्ती हैं।

उपनिषदों के विषय को लेकर एक अन्य बात यहाँ यह रखना आवश्यक है कि जहाँ वेदों में कर्म-काण्ड एवं ज्ञानकाण्ड दोनों की प्रधानता है वहीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में मात्र कर्म-काण्ड की तथा उपनिषदों में ज्ञान-काण्ड की।

उपनिषदों का विषय आध्यात्मिक होने से यह परम-तत्त्व अर्थात् परमात्मा एवं जीवात्मा से सम्बद्ध है। ब्रह्म (बृह् धातु से निष्पन्न) शब्द का अर्थ बृहद् अर्थात् विशालता से है। ब्रह्म के असीम विस्तार को पूर्णतया बताने में प्राचीन मनीषी अक्षम थे। अतः अधिकांश उपनिषदों में इस परमतत्त्व की अनिर्वचनीयता को दर्शाया गया है।[1] ऋषियों ने भौतिक जगत् के पीछे छिपे हुए परमतत्त्व का अन्वेषण करने के क्रम में अनेक दार्शनिक विषयों की मीमांसा की है। उनमें ब्रह्म और आत्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् का निरूपण हुआ है। ब्रह्म-तत्त्व के विषय में उपनिषदों का सार है कि संसार की सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म है जिससे प्रत्येक वस्तु की परिणति होती है। कहा गया है -'**सर्वखल्विदं ब्रह्म**' (वस्तुतः यह सब कुछ ब्रह्म ही है)।[2] इसी उपनिषद् में वर्णित है- **एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंवितास्मीति** (यह मेरी आत्मा मेरे अन्तर्हृदय में ब्रह्म है, जब मैं इस संसार से जाऊँगा तब उससे एक रूप हो जाऊँगा)।[3] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा गया है- **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातान्ति जीवन्ति, यत् प्रयन्तभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।**

उपनिषद् ब्रह्म को **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** बताता है। यहाँ ब्रह्म के दो रूप दर्शाये गये हैं- सगुण एवं निर्गुण। सगुण ब्रह्म 'अपर ब्रह्म' है, यही विश्व का सर्जक, पालक एवं संहारक है। निर्गुण-ब्रह्म को 'परब्रह्म' की संज्ञा दी गयी है। वह सच्चिदानन्द, मन एवं वाणी से अगोचर और निरुपाधि है। अक्षर, अजर, अमर आदि के रूप में यही परब्रह्म है।

उपनिषदों में आत्म-विवेचन भी है जिसे अजर, अमर बताया गया है तथा

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.3.1
2. छान्दोग्य. 3.14.1
3. वही, 3.14.4

अतिसूक्ष्म और महत्परिणाम से व्यापक बताया गया है (**अणोरणीयान् महतो महीयान्**) जो सभी प्राणियों के अन्तस्थ में स्थिर है फिर भी मेधा या प्रवचनों जैसे बाह्य साधनों से आत्मा को जानने का प्रयास भ्रम उत्पन्न करता है। वस्तुतः इसे परमेश्वर की कृपा से ही जाना जा सकता है (**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**) छान्दोग्य उपनिषद् में इनके गुणों को वर्णित करते हुए कहा गया है:-

**य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासिव्यः।**

माण्डुक्योपनिषद् (मंत्र 2) में '**अयमात्मा ब्रह्म**' (यह आत्मा ही ब्रह्म है) कहकर इसकी चार-अवस्थाएँ बतायी गयी है:- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति (प्राज्ञ) तथा तुरीय (**प्रज्ञानधन आत्मा**)। उपनिषदों में ब्रह्म का आत्मा के साथ ऐक्य भी दर्शाया गया है। ऋषि आरुणि ने श्वेतकेतु को विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा 'तत्त्वमसि' का उपदेश दिया था (छान्दोग्य., अध्याय 6)। उपनिषदों में 'प्राण' शब्द का प्रयोग भी आत्मा के लिए मिलता है। उपनिषदों ने सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का भी पुष्पन् किया है। सृष्टि के मूल में ऐसी कोई वस्तु है जो समस्त परिवर्तनों में अक्षुण्ण रहती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को जानने का उपदेश है जिससे समस्त सृष्टि जन्म लेती है, यह सबकी सत्ता का आधार है और अन्ततः सब कुछ उसी में विलीन हो जाता है। अन्यत्र कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में 'जल' था, जल ने सत्य की सृष्टि की, सत्य ने ब्रह्म की, ब्रह्म ने प्रजापति की और प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। इसी से देवगण सत्य की उपासना करते हैं। उधर छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि रैक्व मानते हैं कि 'वायु' समस्त वस्तुओं का मूल है, सबका लय वायु में हो जाता है। इसी प्रकार अग्नि (कठोपनिषद्) तथा आकाश (छान्दोग्य. 1.9.1) को भी मूलतत्त्व माना गया है। कहीं-कहीं असत् से सत् की परिणति मानते हुए, सत् के एक विशाल अण्डे के रूप में परिवर्तित होने पर, अण्डे के रजत-स्वर्ण में विभाजन, रजत से पृथ्वी और स्वर्ण से आकाश की उत्त्पति की चर्चा है (छान्दोग्य. 3.11.1-3)। इस प्रसङ्ग में प्राण को भी जीवनाधायक तत्त्व मानकर प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से मूलतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। प्राण ही आयु है, वही अजरअमर आत्मा है (**आयुः प्राणः, प्राणो वा आयुः - कौषीतक्युपनिषद्** 3.2)।

बृहदारण्यकोपनिषद् (1.4.1-4) में आत्मा से स्त्री-पुरुष की रोचक सृष्टिकथा दी गयी है-एकाकी जीवन से असन्तुष्ट आत्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया और स्वयं पति-पत्नी का रूप धारण किया। उसने पुनः समस्त मिथुन-प्राणियों की सृष्टि की (**आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः...स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्** (1.1-3) में सृष्टि-विज्ञान का सर्वाधिक पूर्ण विवेचन है।

आत्मा ने सृष्टि की इच्छा की; उसने चार लोकों की सृष्टि की-जनलोक, स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताललोक। पुनः उसने विराट् पुरुष को उत्पन्न किया जिस प्राण (श्वास) भर दिया। पुरुष की इन्द्रियों को, उनके व्यापारों को और उनके लोकपालों (अविष्ठाता देवताओं) को भी क्रमशः उसने उत्पन्न किया...। मुण्डकोपनिषद् (2. 1.2-9) में अमृत पुरुष से और श्वेताश्वतर. (6.2) में परमेश्वर से सृष्टि का वर्णन है।

उपनिषदों ने निरन्तर सत्कर्म का उपेदश दिया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य सत्कर्म से पुण्यात्मा और पापकर्म से पापी बनता है। पुरुष को 'काममय' कहते हुए याज्ञवल्क्य पुनः बताते हैं कि पुरुष को जिस प्रकार का काम (राग) होगा, वह वैसा ही संकल्प करेगा, संकल्प के अनुरूप ही वह कर्म करता है, कर्म के अनुसार फल (गति) पाता है-**''अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति; स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति; यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।''** (बृहदारण्यक. 4.4.5)।

छान्दोग्योपनिषद् (5.10.1-8) में विभिन्न कर्मों का फल-भेद बताया गया है। श्रद्धा और तप में लीन व्यक्ति शरीरत्याग के अनन्तर देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता। इष्टापूर्त (यज्ञ, सरोवर-निर्माण आदि) कर्म में रत सदाचारी व्यक्ति पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में जाते हैं, पुण्यकर्मों का क्षय होने पर वहाँ से लौटकर पुरातन शुभाशुभ कार्मों के अनुसार शुभाशुभ योगियों में जन्म लेते हैं। यह देवयान उत्तरमार्ग है, पितृयान दक्षिणमार्ग है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त पुनर्जन्म और मोक्ष की भी व्याख्या करता है। कुछ कर्म अपुनर्भव (मुक्ति) प्रदान करते हैं तो अधिकांश से पुनर्जन्म होता है। ईशोपनिषद् (मन्त्र-2) में कहा गया है कि सत्यकर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहने की कामना करे (**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**)। कर्म के निष्काम-भाव से सम्पादन का भी संकेत मिलता है जिससे कर्म मनुष्य से लिप्त नहीं हो सके (**न कर्म लिप्यते नरे**)।

उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्त शाश्वत शान्ति या परम कल्याण की दिशा में उन्मुख हैं। उत्कृष्ट कर्म वही है जो इन लक्ष्यों की पूर्ति कर सकें। कठोपनिषद् में (1.2.1-2) इस प्रसङ्ग में श्रेय और प्रेय का अन्तर दिखाया गया है। आपाततः आकर्षक पुत्र, भवन, धन आदि सुखों को 'प्रेय' कहा गया है जो मनुष्यों को बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में डालते हैं। दूसरी ओर वास्तविक सुख प्रदान करने वाले एवं इस चक्र से मुक्त करने वाले ज्ञान, वैराग्य आदि 'श्रेय' हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति श्रेय का वरण करते हैं और मूर्ख लोग जीविका (योग-क्षेम) की दृष्टि से प्रेय को ही चुनते हैं, स्पष्टतः श्रेय को वरणीय कहा गया है। अपने कर्म के चुनाव के विषय

में श्रेष्ठ जनों की सहायता लेनी चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् (1.11) में आचार्य अपने स्नातक शिष्य को उपदेश देते है-**'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** इत्यादि। कर्म के विषय में सन्देह होने पर अपने क्षेत्र के दक्ष, विचारशील, सौम्य एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों के आचरण के अनुसार कर्म करने का वे आदेश देते हैं।[1]

छान्दोग्योपनिषद् (3.17.4) में जीवन को यज्ञ का रूप देकर कहा गया है कि तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन उस यज्ञ की दक्षिणा है अर्थात् जीवन में इनको ग्रहण करना चाहिए क्योंकि दक्षिणा के अभाव में यज्ञ नष्ट हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में (5.2) प्रजापति के द्वारा देवताओं, मनुष्यों और असुरों को क्रमशः दाम्यत (इन्द्रियों का दमन करो), दत्त (दान करो) और दयध्वम् (दया करो) का उपेदश दिया गया है; तीनों में 'द' अक्षर है। तीनों ने अपने-अपने ढंग से आवश्यकता के अनुसार उपदेश ग्रहण किया। सुखजीवी देवताओं को इन्द्रिय दमन का, धन का स्वार्थ में उपयोग करने वाले मनुष्यों को दान का तथा क्रूर राक्षसों को दया का समुचित उपेदश मिला। इसी भावना से ईशोपनिषद् (मन्त्र-1) में **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।'** यह कथन मिलता है।

औपनिषद्-युग में दार्शनिकों के दो वर्ग थे, एक गृहस्थ और दूसरा तपस्वी अथवा संन्यासी वर्ग। गृहस्थ वर्ग के लोंग समाज में बहुत पहले से थे जो गृहस्थ जीवन में रहते हुए दार्शनिक चर्चाओं में सम्मिलित हुआ करते थे। इनमें कुछ शासक थे और कुछ साधारण लोग। गृहस्थ जीवन में निवास करते हुए भी इन चिंतकों का जीवन अत्यन्त आचारित और तपःनिष्ठ था। तपस्वी अथवा संन्यासी वर्ग के दार्शनिक अरण्य जैसे एकान्त स्थानों में रहा करते थे। ये तपस्वी ब्राह्मणेतर वर्ग के भी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों ने जहाँ कर्म-काण्ड को प्रधानता दी और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की, वहीं ब्राह्मणेतर जातियों के संन्यासियों द्वारा उपनिषदों की रचना की गयी, क्योंकि क्षत्रिय राजाओं (जनक), राजकुमारों (हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रः - प्रश्नो० 4.1) स्त्रियों **(सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृतां स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति-** बृहदा०4.5-6) तथा दासीपुत्र (सत्यकाम जाबाल) ने एकान्त वास में तत्त्व-जिज्ञासा प्रकार की।

इस प्रकार उपनिषदों का सर्वाधिक महत्त्व दार्शनिक दृष्टि से है। वेदों में निहित ज्ञान की परम सीमा उपनिषदों में ही है। परवर्त्ती समस्त दार्शनिक चिंतन का उत्स उपनिषदों के वाक्यों में है। ब्रह्मसूत्र और गीता जैसे ग्रन्थ तो स्पष्टतः इन्हीं पर आश्रित हैं। भागवत पुराण जैसा वैष्णव पुराण भी अपने सिद्धान्तों के लिए उपनिषदों पर आश्रित है। उपनिषदों ने हमें भौतिक जीवन से दूर रहने का परामर्श देते हुए इनकी

---

1. गीता, 9/39, न मे भक्तः प्रणश्यति।

क्षणभंगुरता के प्रति सचेत किया। साथ ही, भौतिक जीवन को प्रमुखता दिए जाने के कुपरिणामों से भी अवगत कराया है। ज्ञान को प्रमुखता देते हुए जीवन में ज्ञान के महत्त्व को दर्शाया गया है। उपनिषद् जीवन के क्रिया-कलापों को श्रेय तथा प्रेय में, निष्काम और सकाम में विभक्त करके स्पष्टतः हमें भोग में त्याग का उपदेश देते हैं (**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**) तथा सत्सङ्ग पर बल देते हैं (**प्राप्य वरान्निबोधत**)। इस प्रकार उपनिषद् सभी लोगों के हृदय एवं बुद्धि दोनों के लिए उपादेय हैं।

उपनिषदों के पूर्व विवेचित प्रतिपाद्य विषयों से ऐसा प्रतीत होता है उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान की अन्यतम शेवधि हैं। यह वह ज्ञान है जो साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की उच्चतम मनीषा की देन है। यह वह प्रकाश स्तम्भ है जिसने अनादिकाल से मानव के पथ को सतत आलोकित किया है। यह वह ज्ञान है जिसने सदियों से ग्रीक, यूरोपीय, इस्लामी विद्वानों, संतों और सूफियों की चेतना को उद्वेलित एवं प्रभावित किया है। यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिससे जीवन रस प्राप्त कर भारतीय संस्कृति सदैव हरी-भरी रही है। यह वह जीवन-दर्शन है जिसने मानव को मनुष्यत्व, ऋषित्व, देवत्व और अमरत्व प्रदान किया है। यह वह जीवन-रथ है जिसके चक्र की नाभि-केन्द्र 'मनुष्य' रहा है।

मानव सृष्टि की सर्वोत्तम एवं सुन्दर रचना है। मनुष्य जन्म दुर्लभ है - 'दुर्लभ मनुष्यत्वम्' लाखों ऊँची-नीची योनियां पारकर मनुष्य जन्म मिलता है। मनुष्य योनि में मात्र जन्म लेने से मुनष्य मनुष्य नहीं बनता, अपितु सतत मननशील होने से मनुष्य बनता है। इसीलिए वेद का आदेश है 'मनुर्भव' (ऋ. 10.5.36) अर्थात् मनुष्य बनो। क्यों? क्योंकि जो शक्तियाँ मनुष्य को प्राप्त हैं, वे अन्य जीवों को प्राप्त नहीं हैं। मानवेतर योनियाँ मात्र भोग योनियाँ हैं। **'जायस्व म्रियस्व'** (छा. 34.5.1.8) जन्म लो, भोगो और मरो, यही उनकी नियति है। दूसरी ओर मनुष्य योनि भोगयोनि तो है ही, परन्तु कर्मयोनि भी है। वह मननशील, चिंतनशील और विवेकशील है। भौतिक उन्नति और आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त करना केवल मानव के लिए ही संभव है। मनुष्य समाज की वह इकाई है जिसकी उन्नति-अवनति उत्कर्ष-अपकर्ष से समाज की प्रगति निर्धारित होती है। कारण, व्यष्टि का समन्वित रूप ही समष्टि है। मनुष्य ही 'संगच्छध्वं' की भावना को आत्मसात् कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मूर्तरूप प्रदान कर सकता है।

मनुष्य देह परमात्मा की सुन्दर रचना है। सभी देवताओं ने इन्द्रियों के रूप में शरीर में प्रवेश किया था। इसीलिए इसे 'देवपुरी' और ब्रह्मपुरी' (अथर्ववेद. 10.2. 31-32) कहा गया। परम तत्त्व ब्रह्म ने मूर्धा- ब्रह्मरन्ध्र को चीरकर इस शरीर में प्रवेश किया। यही आत्मा चेतनतत्त्व के शरीर में प्रविष्ट होने पर जीवात्मा संज्ञा वाला

हो जाता है। वह चेतनतत्त्व की इस मानव शरीर रूपी रथ का स्वामी है। उसी ने इस रथ में इन्द्रिय रूपी अश्वों को जोत दिया दिया। मनरूपी लगाम को बुद्धिरूपी सारथि को सौंप दिया। (कठोपनिषद् 1.3.4)

इस मानवजीवन रथ के दो चक्रम हैं। पहला है भौतिक उन्नति और दूसरा है आध्यात्मिक उन्नति। हम सभी इन इन्द्रियों के द्वारा सांसारिक भोगों और ऐश्वर्यों को भोगते हैं और आनन्दित होते हैं। इन क्षणिक सुखों को ही असली सुख मान लेते हैं। परन्तु ये सुख जल के बुलबुले के समान होते हैं जो जल्दी ही हमसे छिन जाते हैं। हम पुनः उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इन्द्रियाँ भी हमें सांसारिक वस्तुओं की ओर ले जाती हैं। क्यों ? क्योंकि स्वयं परमात्मा ने इन इन्द्रियों को बाहर की ओर बनाया है। हमारे शरीर में श्रोत्रेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय सभी बाहर की ओर ही तो हैं। इसीलिए वे सदैव बाहरी विषयों को ही देखती, सुनती और ग्रहण करती हैं (कठ. 2.1.1)। परन्तु प्रश्न उठता है कि परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि है, भोगने के एक से एक बढ़कर एक सुन्दर भौतिक पदार्थ हैं, भोगने का साधन इन्द्रियाँ भी हैं तो फिर भोगने का विरोध क्यों है ? यह तो वैसी ही बात हुई कि छप्पन प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों से भरपूर थाली सामने रखी हो, 'भोजन करो' यह भी कहा जाए और 'त्याग करो' यह आदेश भी दे दिया जाये, परन्तु बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। भोगने का विरोध नहीं है, अपितु भोगने की पद्धति का विरोध है। असीमित भोग विनाशकारी है इसीलिए ऋषियों ने **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** अर्थात् 'त्यागपूर्वक भोग करो, इस प्रकार भोगों को सीमित कर दिया, भोग करो परन्तु उसी में डूबे रहो यह ठीक नहीं, यही त्यागपूर्ण भोग है।

भौतिक उन्नति, हिरण्यमयी जगमगाती वस्तुओं का चाकचिक्य और अलौकिक चकाचौंध मनुष्य को प्रतिदिन मृगमरीचिका की भाँति आकर्षित करते हैं और इन्द्रियरूपी मृगों को लुभाते हैं। आज मनुष्य इन भौतिक सुखों को परमसुख मानकर इन्हीं में डूब गया है। वह अपनी इन्द्रियों का दास, गुलाम हो गया है। वह उन्हें पाने की लालसा में दिन-रात डूबा रहता है। भौतिक सुखों को अपने जीवन का लक्ष्य मानने लगा है और भूल गया है कि पराश्रयता दुःखों की जननी है- पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं। मनुष्य को इन्द्रियों का स्वामी होना चाहिए परन्तु आज वह उनका दास बन गया है। ऐसे व्यक्ति को क्या सुख मिल सकता है? आत्मनिर्भरता में ही सुख है - **'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।'** क्योंकि निरंकुश भोग भोगने से हम भोगों को नहीं भोगते अपितु हम ही भोगे जाते हैं- **'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।'** भोगों की तृष्णा कभी क्षीण नहीं होती, हम ही जीर्ण हो जाते हैं **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'**।

मानव को अपना जीवन श्रेष्ठ बनाने के लिए, उसमें गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए सर्वप्रथम 'मन' को संयमित और नियंत्रित करना चाहिए। मन अन्तरिन्द्रिय है। इसकी निर्मिति अन्न से होती है **'अन्नमयं हि सोम्य मनः'**। (छा. उप. 6.6.5) हमारे द्वारा खाया हुआ भोजन तीन भागों में बँट ज़ाता है। खाए हुए अन्न के स्थूलतम अंश से मल, मध्यम भाग से शरीर में धातु और सूक्ष्मतम अंश से ही मन बनता है- **योऽणिष्ठो तन्मनः'** (छा. 6.5.1)। मनुष्य जैसा अन्न, खाता है, वैसा ही मन होता है, जैसे दही का सारभाग मक्खन होता है, वैसे ही अन्न का सार मन है।

मनुष्य को प्रिय लगने वाला भोजन तीन प्रकार का होता है- सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाला, मधुर, स्निग्ध, स्थिर आहार सात्त्विक होता है। कटु, अम्ल, नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीक्ष्ण, रूखे और जलन उत्पन्न करने वाले आहार राजसी स्वभाव वालों को प्रिय लगते हैं। उनसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं।

बहुत पहले बना हुआ, स्वादहीन, जिसमें फफूंद लग गई हो, जो बासी हो, जो झूठा हो, वह भोजन तामसी है (गीता, 17.8.9.10)। हमें सर्वप्रथम अन्न की पवित्रता पर ध्यान देना चाहिए आहारशुद्धि से सत्त्व-मन की शुद्धि होती है। अन्तःकरण के पवित्र होने पर ध्रुवास्मृति होती है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः'** (छां. उप. 7.26.2)।

मानव देह अन्नमूलक है। (छां. उप. 6.8.4) वटादि वृक्ष के अंकुर के समान शरीर भी समूल है। शरीर का मूल अन्न है क्योंकि जल द्वारा द्रवीभूत होकर जठराग्नि के द्वारा पचाये जाने पर, खाया हुआ अन्न रस रूप में परिणत होता है। वह क्रमशः रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्यरूप में परिणाम होता है। इसी प्रकार स्त्री द्वार भुक्त अन्नरसादि के क्रम से परिणत होकर 'रज' बनता है। अतः अन्न से परिपुष्ट हुए वीर्य और रज से मुत्तिका के पिण्ड के भीत के समान पुष्ट होकर यह अन्नमूलक देहरूप अंकुर निष्पन्न होता है। अन्न से ही वीर्य की उत्पत्ति होती है- **'अन्नाद्वीर्यम्'** (प्रश्न उप. 6.4)। अतः स्वस्थ, निरोगी और श्रेष्ठ संतान प्राप्त करने हेतु भी आहार-शुद्धि नितान्त आवश्यक है।

प्राण भी अन्न पर आश्रित है। अन्न का जो सूक्ष्मतम अंश रस है वह नाभि के ऊपर हृद्देश में आकर, हृदय में प्रसारित नाड़ियों में प्रवेश कर स्थूणा संज्ञक (प्राण ही स्थूणा है) बल को उत्पन्न करके जो शिशुसंज्ञक इन्द्रियसंघात रूप लिङ्ग शरीर है, उस शरीर में स्थित करता है। इसीलिए अन्न से उर्जा प्राप्त कर प्राण प्राणन क्रिया करता है। क्यों ? अन्न को प्राण का मूल्य यानि बंधन माना गया है। शरीर रूपी

शकट का प्राण अश्व है। अन्न से प्रतिष्ठित होता है। मन भी अन्नमय है। इसलिए अन्न अन्न में प्रतिष्ठित है, ऐसा कहा गया है-**'अन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्' ( तैत्ति. उप. भृगुवल्ली सप्तम अनु. )**। दूसरे समान प्राण ही अन्न के रास को समभाव से संपूर्ण शरीर में पहुँचाता है। उदान वायु अन्न से ऊर्जा ग्रहण कर शरीर को ऊष्मा या गर्मी प्रदान करता है। इसीलिए 'अन्नमौषधम्' कहा गया। अत: मानव के अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और मनोमय कोश, तीनों ही अन्न पर आधृत हैं। अत: अन्नशुद्धि, आहारशुद्धि करनी चाहिए।

मन वायु की भाँति चञ्चल और दुर्निग्रह है। जैसे वायु को बाँधना कठिन है, वैसे ही मन को। परन्तु केवल निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्य से इसे नियंत्रित और संयमित करना चाहिए। बुद्धि रूपी सारथि को, मन रूपी लगाम द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों को अपने वश में रखना चाहिए। हम जीवन में जो कोई भी कार्य जब कभी भी करें पूरे मन से करना चाहिए। भले ही हम खेले, पढ़ें, दूरदर्शन देखें या संगीत सुनें, उस समय हमारा ध्यान उस कार्य में ऐसे लग जाना चाहिए जैसे बाण चलाते समय अर्जुन का ध्यान पेड़ पर लटकी हुई चिड़िया की आँख पर लग गया था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करते हुए मनुष्य को ऐसे उसमें तल्लीन-तन्मय हो जाना चाहिए जैसे-बाण अपने लक्ष्य को वेधकर तन्मय हो जाता है - **'शरवत् तन्मयो भवेत्'** (मुं उप. 2.3.4)। तब सफलता हमारे कदम चूमेगी। अन्यथा आधे-अधूरे मन से किया गया कार्य हमें असफलता की ओर ढकेल देता है। फलस्वरूप क्षोभ, क्रोध, आवेग आदि मानसिक विकार हमें घेर लेते हैं जिनसे हम विक्षिप्तता के शिकार हो जाने हैं। अत: जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए मन की एकता आवश्यक है, यही सफलता का रहस्य है।

मन की एकाग्रता का सरलतम उपाय है- परमात्मा के नाम का स्मरण। परमात्मा का नाम क्या है ? ओ३म्। ओंकार अक्षर है, परमात्मा भी अक्षर है। ओंकार संपूर्ण वाक् का प्रतीक है। 'अ' से वाणी प्रारंभ होती है और 'म्' पर समाप्त। यह सम्पूर्ण वक्त्रीतन्त्र का प्रतीक है। ओंकार का उच्चारण उच्च स्वर में बिना अंतराल के अर्थात् लगातार करना चाहिए। इसीलिए साधना करते समय या ध्यान लगाते समय किसी बंद कमरे में जोर-जोर से ओंकार का उच्चारण करना चाहिए। तब ध्वनि उस कमरे की दीवारों से टकराकर हमारे शरीर पर प्रतिध्वनि के रूप में आती है। इस प्रकार जोर-जोर से उच्चारण करने पर हमारे प्राण ऊपर की ओर उठते हैं। कुछ समय बाद हमें मौन रहकर ओंकार का मानसिक रूप से, बिना अन्तराल के उच्चारण करना चाहिए। तब वह ध्वनि मानो हमारे शरीर रूपी दीवारों से टकराकर आत्मा में प्रतिध्वनित होती है। तब आत्मा में अन्हदनाद' उत्पन्न होता है। मन संयमित और नियंत्रित हो जाता है। अत: किसी भी कार्य को ओंकार पूर्वक करने से सफलता

अवश्य मिलती है। इसीलिए अनादिकाल से प्रत्येक कार्य का प्रारंभ ओंकार पूर्वक किये जाने की परम्परा विद्यमान है। यही ओंकार जब उच्च स्वर में गाया जाता है तो उद्‌गीथ = उत् + गी + थ' इस संज्ञा को प्राप्त करता है और जब इससे देवता की स्तुति की जाती है तो 'प्रणव' (**प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेन इति**) कहलाता है।

आधुनिक युग में **'सर्वे गुणाः काञ्चममाश्रयन्ते'** (भर्तृहरि) अर्थात् सारे गुण कांचन, स्वर्ण, धन में ही आश्रित होते हैं – यह व्यंग्योक्ति अक्षरशः सत्य चरितार्थ हो रही है। भौतिक उपलब्धियों की आपाधापी के इस युग में, अर्थप्रधान संस्कृति के दौर में अधिकाधिक धन प्राप्ति के लोभ में मनुष्य निन्यानवे के चक्कर में बुरी तरह से धँसता चला जा रहा है। मानव जीवन में धन का महत्त्वपूर्ण स्थान था, है, और रहेगा। तत्त्वज्ञ, ज्ञाननिष्ठ याज्ञवल्क्य भी गोकामी थे क्योंकि उस समय गो ही सर्वोत्तम धन मानी जाती थी। परन्तु धन सुपथ से प्राप्त हो, ऐसी कामना की जाती थी – **'ओं अग्ने नय सुपथा राये'** (ईश. 18)।

इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य जब जनक के दरबार में जाते हैं तो राजा पूछते हैं कि कैसे पधारें ? क्या आपको पशु चाहिए या आप सूक्ष्म विषयों का विवेचन करेंगे? **'किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति।'** याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, हे सम्राट् ! दोनों चाहिए- **'उभयमेव सम्राडिति होवाच'** (बृह. उप. 4.1.1)। यद्यपि राजा जनक याज्ञवल्क्य को जितनी चाहे गौएं दान कर सकते थे। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते थे, पिता का यह आदेश है कि जब तक मैं शिष्य को पूरा उपदेश न दे दूँ, तब तक कोई भेंट न लेना (वही. 4.1.2)। अतः याज्ञवल्क्य गोकामी, अर्थकामी होने पर भी सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन किये बिना गौए स्वीकार नहीं करते थे। अतः ऋषियों की अर्थकामना धर्म द्वारा मर्यादित थी। इसीलिए ऋषियों ने **'मा गृधः'** (ईश. 1) अर्थात् लालच मत करो यह आदेश दिया। क्योंकि उन्हें यह ज्ञान था कि धन किसी भी व्यक्ति के पास स्थाई रूप से नहीं रह सकता **'कस्य स्विद् धनम्'** (ईश. 1)। दूसरे, धन से कोई मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता- **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'** (कठ. उप. 1.27)। धन से मनुष्य की भौतिक इच्छायें तो तृप्त हो सकती हैं परन्तु धन से संपूर्ण पृथ्वी भी मनुष्य को शाश्वत ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं करा सकती। भौतिक, समृद्धि, ऐश्वर्य और पारलौकिक सुख दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे परस्पर बाधक न होकर साधक हैं। यही ऋषियों ने अपने जीवन में व्यावहारिक रूप से चरितार्थ कर एक अद्‌भुत विलक्षण आदर्श उपस्थित किया। विदेहराज जनक राजा भी थे और महान् तत्त्ववेत्ता भी। महर्षि याज्ञवल्क्य महान् तत्त्ववेत्ता भी थे और महाशाल भी। उनके जीवन में 'अभ्युदय' और 'निश्रेयस्' का अद्‌भुत समन्वय था। विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति, श्रेयस् ओर प्रेयस् दोनों का समन्वय जीवन

में अपेक्षित है। एकान्तिक भौतिकता और एकान्तिक आध्यात्मिकता में डूबे रहने से मनुष्य की गति **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** (कठ. उप. 2.5) जैसी हो जाती है। केवल भौतिक शरीर में या भौतिकता में रमण करने वाले मानो आत्मघाती हैं। 'नर' शब्द का भी यही अभिप्राय है- नर वही है जो रमा न रहे। 'न और 'र' अर्थात् रमण न करने वाला। अतः त्यागपूर्वक भोग, निःसंगता-निष्कामता से कर्म करना जीवन दृष्टि है।

कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। भोग और कर्म में क्या अंतर है। एकबार गुरु ने अपने शिष्यों से कहा 'आज तुम सबको भोजनालय में पढ़ाया जाएगा, सारे शिष्य मुस्कराने लगे। भोजन कक्ष में भोजन परोसा गया। देव और असुर भोजन करने के लिए व्यग्र थे। परन्तु उसी समय गुरुजी ने घोषणा की कि सभी शिष्यों के हाथ पर लकड़ी लगाकर पट्टी बाँध दी जाय, जिससे हाथ न मुड़ सके। गुरु के आदेश का पालन हुआ। सबके हाथों पर लकड़ियाँ बाँध दी गई। पुनः भोजन करने का आदेश हुआ। असुरों ने पहले भोजन प्रारंभ किया। सभी ने एक-एक थाल उठा लिया, वे भोजन करने लगे। भोजन उनके कपड़ों पर, फर्श पर, गिर गया। थोड़ा बहुत मुंह में भी चला गया। परन्तु पेट न भर सका। अब बारी थी देवताओं की। वे पंक्तिबद्ध होकर आमने-सामने बैठ गये। सबने एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक भोजन कराया। भोजन कर सब संतुष्ट एवं आनन्दित हुए। गुरु की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गए। असुरों का कर्म पशुओं की भाँति भोग मात्र था। जबकि देवताओं का भोग तो था ही, कर्म भी था। क्योंकि उन्होंने केवल अपने भोजन की ही नहीं, अपितु परस्पर सभी के भोजन की चिन्ता की थी। आजकल हम भी असुरों की भाँति आत्मकेन्द्रित हो, स्वार्थी होते जा रहे हैं। हमें भी देवों की भाँति कर्म करते हुए जीना चाहिए।

देवों की भाँति कर्म करते हुए मनुष्य कैसे जीवित रह सकता है ? जब वह दूसरों के सुख को अपना सुख और दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानेगा और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझेगा। जब उसके 'स्व' या अपनेपन का दायरा संकुचित न होकर विशाल हो जाएगा, जब वह अपने आपको सबमें और सबमें अपने आप को देखने लग जाएगा। तब उसके जीवन में शोक और मोह नष्ट हो जाएंगे। ब्रह्मानन्द का सागर उसके हृदय में हिलोरें मारने लगेगा -

**यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।**

**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥** (ईश.7)

वस्तुतः कहने में तो यह बात बहुत अच्छी लगती है और सरल भी। परन्तु व्यवहार में यह क्षुरे की धार पर चलने के समान कठिन है। क्यों ? क्योंकि जीव

के दुःखों का कारण तो हम लोगों का परस्पर द्वेष-ईर्ष्या और अजनबीपन ही है। हम केवल परस्पर मैत्री और प्रेम द्वारा इस खाई को पाटने में समर्थ हो सकते हैं। यह तेरा है, यह मेरा है, यह उसका है - इस त्रिकोण को एक गोल बिन्दु में समेटना है। यह कैसे संभव हो ? यह तभी संभव है जब हमारे हृदयों में प्राणिमात्र के प्रति करुणा का, दया का भाव रहेगा। यह दया का भाव तभी होगा जब हम अपने मन को संयमित करेंगे, अपने मन को शुद्ध करेंगे और उसमें क्षुद्र विचारों एवं भावों को नहीं आने देंगे। इसीलिए प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपेदश दिया। 'द' का एक अर्थ है 'दाम्यत' - इन्द्रियों का दमन करो। दूसरा 'दयध्वं' अर्थात् दया करो। प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है, इसीलिए सबके प्रति करुण का भाव रखो। करुण वह शस्त्र है जिसके सामने मानवनिर्मित सारे शस्त्र निष्फल हैं। करुणा और दया से संपूर्ण द्वेष भाव नष्ट हो जाते हैं। परस्पर हिंसा का भाव समाप्त हो मैत्रीभाव का विस्तार होता है। आधुनिक युग की मृतप्राय मानवता की सांस में संजीवनी फूँकने का अब केवल करुण ही विकल्प बचा है जिससे दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई हिंसा पर काबू पाया जा सकता है। एक ही परमात्मा, सर्वत्र व्याप्त है **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** (ईशा.-1)। तो फिर उस तक पहुँचने के विभिन्न मार्गों के अनुयायियों में परस्पर वैमनस्य कैसा? आज मनुष्य में हिंसा और विध्वंस की भावना व्याप्त है, इसका मूल कारण स्वार्थपरता और भौतिकवादी सोच ही है। वह प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने के लिए न केवल लालायित रहता है अपितु उन्हें प्राप्त करने के लिए हिंसक मार्गों को अपनाता है। वह भूल जाता है कि सच्चा सुख भौतिक वस्तुओं की उपलब्धियों में न होकर मानव मात्र के प्रेम, मैत्री और सौहार्द में है, इसीलिए प्राणीमात्र पर दया-करुणा का भाव रख कर अहिंसा के मार्ग को अपनाना चाहिए।

दया और श्रद्धा मानवधर्म की आधारशिला है। इसे 'दान' द्वारा सुदृढ़ किया जा सकता है। इसीलिए 'द' शब्द का तीसरा अर्थ है 'दत्त' (बृह. उप. 5.31)। परन्तु दान कैसे करें ? **'श्रद्धया देयम्'**। श्रद्धापूर्वक दान करें, यह सर्वोत्तम है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारी दान करने की सामर्थ्य तो होती है परन्तु हमारी उस काम में श्रद्धा नहीं होती जबकि सामाजिक दृष्टि से वह कार्य श्रेयस्कर होता है। ऐसे में ऋषि ने आदेश दिया कि 'अश्रद्धया देयम्'। सामाजिक कल्याण होता हो तो व्यक्तिगत श्रद्धा-अश्रद्धा को छोड़कर भी दान करना चाहिए। 'श्रिया देयम्'। मनुष्य के पास जब 'श्री' लक्ष्मी हो तो उसे अवश्य दान करना चाहिए। समाज में हम बहुत से ऐसे धनाढ्य लोगों को देखते हैं जो केवल अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक कार्यों में, सुखों में, भोग विलास में तो असीमित खर्चा करते हैं परन्तु दान देने में कजूंस होते हैं। उस समय हमें यह याद रखना चाहिए कि,

**जो जल बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।**
**दोनों हाथ उलीचिए यही सयानो काम।**

अन्यथा नाव में जब पानी भर जाएगा तो वह डूब जाएगी और घर में यदि असीम लक्ष्मी आ जाए और उसका दान न किया जाये तो वह घर भी एक-दो पीढ़ी बाद नष्ट हो जाएगा। क्योंकि धन से मानव सब कुछ खरीद सकता है, परन्तु गुण नहीं, अतः परिवार में यदि धन-की वृद्धि हो, तो भी हमें दान करते रहना चाहिए। परन्तु यदि दुर्भाग्यवश श्री-वृद्धि न हो रही हो तो क्या करे ? तब 'ह्रिया देयम्' अर्थात् लोकलाज के कारण दान करना चाहिए। जो कुछ भी है उसे मिलबाँटकर खाना चाहिए, व्यवहार में उपयोग करना चाहिए, क्योंकि 'केवलादी' पाप को ही खाता है। परलोक के भय से देना चाहिए। दान से पुण्य की प्राप्ति होती है और शुभकर्मों से श्रेष्ठयोनि प्राप्त होती है। परस्पर मैत्री और प्रेमभाव से भी दान करना चाहिए। **'संविदा देयम्'** (तै. उप. शिक्षावल्ली 3)। संपूर्ण विवेचन का तात्पर्य यह है कि आत्मभाव का विस्तार करने के लिए, अपने पराये का भेद मिटाने के लिए, परस्पर करुणा और मैत्री-भाव स्थापित करने के लिए 'दान' देना चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रम से मनुष्य जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है तो मानो वह यथार्थ के धरातल से व्यावहारिक धरातल पर अवतरित होता है। उस समय अनेकानेक ऐसे क्षण आते हैं ज़ब उसने जो पढ़ा होता है, जो जाना होता है, उसमें और व्यवहार में इतनी भिन्नता होती है कि वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इसीलिए ऋषि आदेश देते हैं कि ऐसी विकट घड़ियों में उसे स्वाध्याय को नहीं छोड़ना चाहिए। यद्यपि स्वाध्याय से यहाँ वेदों का अध्ययन ही अभिप्रेत है। परन्तु आधुनिक युग में मनुष्य का मन जिस साहित्य को, जीवन गाथा को, यात्रासंस्मरण को, कथा साहित्य को पढ़कर शाँत हो सकता हो, वही पढ़ना चाहिए। क्योंकि पुस्तकें मनुष्य की सबसे श्रेष्ठ मित्र हैं। कभी-कभी उन्हें पढ़कर उसे अपने जीवन की पहेलियों को, उलझनों को सुलझानें में भी सहायता मिल जाती है और ये उसका मार्ग प्रशस्त कर देती हैं। दूसरा, हमें यह भी आत्मविश्वास हो जाता है कि यह जो कुछ भी हमारे साथ घट रहा है, वह मात्र हमारे साथ ही नहीं हो रहा, यह सदियों से औरों के साथ भी होता रहा है और इसका निदान भी है। इससे एक और लाभ भी है कि हम उतने समय श्रेष्ठ मानवों की संगति में रहते है। अतः जीवन में स्वाध्याय आवश्यक है, हमें उससे प्रमाद नहीं करना चाहिए - **''स्वाध्यायात् मा प्रमदः'** (वही)। गृहस्थ जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब मनुष्य सोचता है कि थोड़ा सा झूठ बोलने से वह बहुत सारे झंझटों से बच सकता है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। एक झूठ को बचाने के लिए कभी-कभी सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। झूठ और सच परस्पर सापेक्ष हैं। अतः जीवन में जहाँ तक हो सके, सच के मार्ग को अपनाना चाहिए- **'सत्यमेव जयते'**

सत्य की ही सदैव जीत होती है। सत्य से ही धर्म की प्रतिष्ठा होती है। जो झूठ बोलता है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिए सत्य बोलने में प्रमाद नहीं करना चाहिए- **'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'** (तै. उप. शिक्षा. व 1.1)। आज के सांस्कृतिक प्रदूषण के युग में ये बातें व्यर्थ की प्रतीत हो सकती हैं। आज जो सांस्कृतिक संकट है, संभवतः उन व्यक्तियों के लिए अधिक है जो ईमानदार, आदर्शवादी, सत्यवादी या श्रेष्ठ हैं, न कि उनके लिए जो भौतिकवाद में आंकठ डूबे हुए हैं और येन केन प्रकारेण हर क्षेत्र में उन्नति और समृद्धि को प्राप्त करना चाहते हैं। दोनों को एक दूसरे की बातें समझ नहीं आती। परन्तु यदि मनुष्य सचमुच में मनुष्य है और पशुओं की भोगयोनि से स्वयं को श्रेष्ठ मानता है तो उसे ऋषियों के द्वारा प्रदत्त इन आदेशों को जीवन में व्यावहारिक रूप से अपनाना होगा, भले ही इस की गति धीमी हो।

संसार में, समाज में, परिवार में जो हमसे आयु में ज्येष्ठ हैं, गुणों में श्रेष्ठ हैं उनकी सेवा करना मानव मात्र का धर्म है जिससे आज का तथाकथित पढ़ा-लिखा, सुसभ्य व्यक्ति बहुत हद तक विमुख है। माता, पिता, गुरु, अतिथि को मान-सम्मान देना चाहिए - **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** (वही)। ऋषि ने यह आदेश क्यों दिया ? क्योंकि वे जानते थे कि जब बालक ब्रह्मचर्य से युवा के रूप में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा तो यह स्वाभाविक है कि अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों के कारण माता-पिता की थोड़ी उपेक्षा अवश्य होगी। इसीलिए ऋषि ने आदेश दिया कि जैसे देवता को हम अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाते है, वैसे ही परिवार में माता-पिता और गुरु को श्रद्धापूर्वक सम्मान देना चाहिए क्योंकि उसके व्यक्तित्व एवं चारित्रिक विकास में उन्हीं का अभूतपूर्व योगदान है।

जीवन में अनेक बार ऐसे क्षण आते हैं, जब मनुष्य यह निश्चय करने में असमर्थ हो जाता है कि वह कौन से कर्म करें ? वह कैसा व्यवहार करें ? अथवा धर्माचार और लोकाचार के विषय में संदेह उत्पन्न हो जाये और समझ न आये कि क्या करे, क्या न करे ? उस समय विद्वान् जैसा कहें, वैसा करना चाहिए- **'महाजनो येन गतः सः पन्था'** का अनुसरण करना चाहिए। उस समय अपने अंतःकरण को प्रमाण नहीं मानना चाहिए। जबकि आज हम न तो श्रुति को प्रमाण मानते हैं, न स्मृति को। बुजुर्गों को, वृद्धों को, ज्ञानवृद्धों को हम अपने नौसिखिया ज्ञान के अभिमान में कुछ नहीं समझते - **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणवृत्तयः' (अभिज्ञानशाकुंतलम् अंक.1)**। संदेहास्पद स्थलों पर अन्तःकरण को ही प्रमाण मानकर निर्णय लेते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार लिए हुए निर्णय सदैव गलत ही होते हैं। परन्तु वे ठीक ही होंगे, यह भी जरूरी नहीं है। हमारे ज्ञान का यदि वयोवृद्धों के अनुभव से सामंजस्य हो जाए जो वह सोने पर सुहागा के समान होगा। ज्ञान और अनुभव का मेल आज आवश्यक है।

मनुष्य को इस सतत परिवर्तनशील जगत् के भौतिक सुखों को भोगते हुए आनन्दित होते हुए भी सदैव यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह अमृत के दिव्य गुणों को धारण करे – **'अमृतस्य देव धारणे भूयासम्' (तै. उप. शिक्षावल्ली चतुर्थ अनुवाक.** 1)। शरीर धर्म करने का, कोई भी कर्म करने का प्रथम साधन है– **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** (कालिदास, कुमारसंभव, 5 वाँ सर्ग)। इसीलिए वह कामना करता है कि 'मेरा शरीर बलवान् हो।'- **शरीरं मे विचर्षणम्** (वही) क्योंकि बलिष्ठ शरीर ही निरोगी हो सकता है। परस्पर बातचीत करने में कठोर, शुष्क, तीखे व्यंग्यात्मकबाणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इससे परस्पर मनमुटाव, अलगाव, ईर्ष्या, द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिए कि जब भी बोलूं प्रिय बोलूं। मेरी जिह्वा मधु में सनी हो अर्थात् मैं शहद से भी मीठा बोलूं– **'जिह्वा मे मधुमत्ता'** (वही)। कभी अपशब्द न कहूँ और न सुनूं। मीठा बोलने से पराये भी अपने हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मभाव एवं, प्रीति का विस्तार होता है। कानों से भी मैं सदैव अच्छी, प्रीतिकर बातें सुनूं- **'कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्'** (वही)।

मनुष्य जीवन यज्ञमय है। यज्ञ के पाँच अंग होते हैं (1) दीक्षा, (2) उपसद (3) स्तुतशस्त्र, (4) दक्षिणा, (5) अवभृथ। मनुष्य जीवन भी पाँच प्रकार का है। (1) जो व्यक्ति खाता है, पीता है, परन्तु इसमें रम नहीं जाता, उसका जीवन मानों दीक्षा का जीवन है। (2) जो व्यक्ति खाता है पीता है और उसमें ही रमा रहता है, उसका जीवन मानो 'उपसद' का जीवन है।

(3) जो व्यक्ति खूब हँसता है, खूब खाता है और मैथुन करता है उसका जीवन मानो 'स्तुत शस्त्र' का अर्थात् आम लोगों द्वारा प्रशंसित उपकरणों का जीवन है।

(4) जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता-सरलता, अहिंसा और सत्य वचन में जीवन व्यतीत करता है, तब उसका जीवन मानो 'दक्षिणा' का जीवन है।

(5) जब सोमयाग में सोम निचोड़ने लगते हैं, तब **'सोष्यति'** शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् वह सोमरस को निचोड़ेगा, जब निचोड़ चुकते हैं तब **'असोष्ट'** शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् वह सोमरस को निचोड़ चुका। 'सू' धातु के दो अर्थ हैं रस निचोड़ना और जन्म देना। 'सोष्यति' और 'असोष्ट' शब्द के यज्ञ में 'रस निचोड़ेगा' और 'रस निचोड़ा' ये दो अर्थ होता है। वहाँ मनुष्य के संबंध में 'सोष्यति' का अर्थ होगा 'जन्म देगा' और मनुष्य रूप में पुनर्जन्म ही 'सोष्यति' का अर्थ होगा 'जन्म देगा' और मनुष्य रूप में पुनर्जन्म ही 'सोष्यति' तथा 'असोष्ट' है, अर्थात् मनुष्य का दुर्लभ जन्म लेना मानो सोमरस का चू पड़ना है। 'सोष्यति' और 'असोष्ट' के अतिरिक्त मनुष्य का मर जाना मानो 'अवभृथ' है (छां. उप. 3.17.1-5)।

आज के अर्थप्रधान संस्कृति के युग में मनुष्य का नाता अध्यात्म से लगभग टूट

चुका है। यज्ञादि में उसकी आस्था लुप्तप्राय सी है। परन्तु यज्ञ न केवल वैयक्तिक तथा सामाजिक वायुमंडल को शुद्ध करता है, अपितु पर्यावरण संरक्षण कर वायुमंडल को कृमिमुक्त कर पवित्र कर देता है। आज पर्यावरण-संरक्षण की समस्या सुरसा की तरह वर्द्धमान है। यज्ञ में आहुत किये गए सुगंधित द्रव्य और वनस्पतियाँ अग्नि द्वारा सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो वायुमण्डल में फैल जाती हैं। अग्नि स्थूल को सूक्ष्म बनाकर परिमाणात्मक परिवर्तन तो करती ही है, उसमें गुणात्मक परिवर्तन भी कर देती है। अग्नि में डालने से हवि सूक्ष्म होकर सूर्य तक फैल जाती है- **''अग्नो हुतं हविः सम्यक् आदित्यं उपतिष्ठति''** (मनु)। अतः यज्ञ से वायुमंडल पवित्र, रोगजीवाणु-मुक्त हो जाता है। यज्ञ मंत्रोच्चारपूर्वक किया जाता है। मंत्रोच्चार से स्वर लहरियाँ वायुमंडल में प्रसारित हो जाती हैं जिनसे रोग निवारण होता है। आधुनिक युग का 'अल्ट्रासोनिक' या 'सुपरसोनिक वेव ट्रीटमेंट' इसी का ही प्रतिरूप है। यदि अल्ट्रासोनिक वेव्स' से रोग दूर किया जा सकता है तो वेदमंत्रों के उच्चारण से भी संभव है क्योंकि मंत्रोच्चारण से ऐसी स्वरलहरियां उत्पन्न होती हैं जिनसे रोग निवारण होता था। अतः पर्यावरण संरक्षण की भीषण समस्याओं का निराकरण यज्ञ से संभव है।

उपनिषदों के अनुसार मानव शरीर विनाशशील है, आत्मा अमर और अजर है। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है, जो मर गया है उसका जन्म निश्चित है। मानव शरीर भस्मान्त होने तक रहता है। इसीलिए हे कर्म करने वाले मनुष्य! प्रतिदिन सोने से पूर्व अपने किए हुए कर्मों को याद कर, जिससे उनमें सुधार कर सके। परम परमेश्वर को याद कर और जो कुटिल पापमार्ग हैं उनसे स्वयं को पृथक् कर, सुपथ पर चल और श्रेष्ठ मानव बन! यही उपनिषद् का संदेह है - **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**। तमस् से ज्योति की ओर ले चलो। **'मृत्योर्मा अमृतं गमय'** (बृह. उप. 1.3.2.8)। मृत्यु से अमर की ओर ले चलो। उपनिषदों का यह आलोक अनन्त काल से मानव पथ को आलोकित करता रहा है और करता रहेगा।

## गीता-दर्शन

भारतीयों के लिए महाभारत सांस्कृतिक महत्त्व का ग्रन्थ है। पुरुषार्थ चतुष्टय के प्रतिपादन में यह ग्रन्थ व्यापक विवेचन प्रस्तुत करता है। 'मोक्ष' तो महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य ही है, अन्य पुरुषार्थ अङ्ग मात्र हैं। वैराग्य, संन्यास, धार्मिक जीवन इत्यादि का लक्ष्य मोक्ष ही है जिसमें आत्मता की संसारिक बन्धनों से आत्यन्तिक निवृति हो जाती है, वह अपने रूप में अवस्थित हो जाता है। मोक्ष की प्रतिष्ठा के लिए इस ग्रन्थ में अनेक गीताओं का निवेश किया गया है जैसे-भगवद्गीता (भीष्मपर्व), परासरगीता (शान्ति पर्व), हंसगीता (शांति पर्व), अनुगीता (आश्वमेधिक),

ब्राह्मण गीता (आश्वमेधिक) इत्यादि। इन सभी में भगवद्गीता संस्कृत भाषा की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। यह सभी उपनिषदों का सार है। इसमें उपदेशों की श्रंखला इस प्रकार चलती है कि जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए आध्यात्मिक जीवन का उत्कर्ष दिख पड़ता है। जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का समन्वय होता है। यहाँ यह बताया गया है कि ये तीनों मार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं अपितु परस्पर पूरक हैं। इसीलिए इन्हें योग कहा गया है जहाँ दृष्टि के समता और कर्म की कुशलता रहती है (**समत्वं योगः कर्मसु कौशलमः।** -गीता 2/48, 50)। गीता में सभी सम्प्रदायों के उच्च आदर्शों एवं पवित्रता का समाहार है। यहाँ प्रवृति एवं निवृत्ति दोनों भागों को मोक्ष साधन के रूप में दर्शाया गया है।

गीता की एक विशेषता यह है कि यह विश्राम के स्थान पर श्रम का उपदेश देता है, योग का प्रवर्तन एवं वियोग का निवारण इसका प्रतिपाद्य है। इसीकारण इसका प्रत्येक अध्याय पृथक्-पृथक् योग के नाम से अभिहित है - अर्जुनविषादयोग, सांख्य-योग, कर्मयोग, ज्ञानविभागयोग इत्यादि। निष्काम कर्म को जीवन का विशिष्ट मार्ग दर्शाया गया है - **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।** - 2/47। इसे ही स्थायी शांति का मार्ग बताया गया है।

गीता अनुपम दार्शनिक प्रकर्ष प्रदान करता है। निष्काम-कर्म के साथ ही गीता में एकान्तिक धर्म का भी प्रवर्तन है। यहाँ आत्मा एवं परमात्मा, कर्म एवं योग तथा जन्म और मृत्यु जैसे दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन है। गीता में सभी सम्प्रदायों तथा उनकी दृष्टियों का समन्वय है। गीता वस्तुतः उपनिषदों से प्रेरित है। इसका आत्मा एवं परमात्मा पर विचार का आधार उपनिषदों के समान है। यहाँ शरीर को जर एवं आत्मा को अजर माना गया है - **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।** मृत्यु को अवश्वयम्भावी बताया गया है अतः उससे भय न खाने का परामर्श दिया गया है। यह स्पष्ट बताया गया है कि मात्र आत्मा ही अमर है जिसका विनाश असंभव है। वह एक मात्र सत् है (**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥** गीता 2)।

निष्काम कर्म की महत्ता को दर्शाते हुए यह बताया गया है कि कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान संभव नहीं हैं। निष्काम कर्म के लिए ज्ञान की महत्ता भी बतायी गयी है। अहंकार का परित्याग ही निष्काम कर्म की ओर प्रेरित कर सकता है। साथ ही, किसी भी कर्म को बुद्धि एवं विवेक के साथ करने का परामर्श यहाँ प्राप्त होता है। बिना फल की इच्छा किए कार्य करनेवाले को भी परमानन्द की प्राप्ति होती है। कर्म को कर्त्तव्य मानकर करना चाहिए (**नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अतत्त्वार्थवदल्प च तत्तमसमुदाहृतम्॥** 2/27)। मनुष्य का लक्षण ही कर्म है। अतएव निष्काम कर्म

कर्त्तव्य समझकर करने से परमानन्द की अनुभूति होती है। कर्म का न करना ही मृत्यु है। मन के उत्साह से ही व्यक्ति कर्म की ओर प्रवृत्त होता है और महान् बनता है।

कर्म के साथ ही भक्ति भी परमानन्द का साधन है (**पुरुषः सः परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं तत्॥** गीता 8/22)। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि जो भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, उनके हृदय में मैं और वे मेरे हृदय में निवास करते हैं। (गीता 9/34) गीता के उपदेश का प्रारम्भ ही प्रपत्ति या शरणागति से होता है, जब अर्जुन धर्म के विषय में मोहग्रस्त होकर भगवान् श्री कृष्ण से प्रार्थना करता है कि मैं आपका शिष्य हूँ अर्थात् आपकी शरण में आया हूँ। गीता के नवम अध्याय में भक्ति को 'राजयोग' बताकर भक्ति की महिमा प्रदर्शित की गयी है (गीता 9/34)। गीता का पर्यवसान भी शरणागति में ही हुआ है। जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्तिम अष्टादश अध्याय के अन्त में अपने उपदेश का समापन यह कहकर किया है- हे अर्जुन ! अब तू मेरे सर्वाधिक गोपनीय परम रहस्यमय इस वचन को सुन कि तू सब कुछ छोड़कर मेरी अनन्य शरण में आ जा, तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा (**मामेकं शरणं व्रज।** गीता 18/64)।

भक्त भगवद् वचनों से आश्वस्त होकर ही भक्ति में तल्लीन रहता है।[1] गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि यदि कोई दुराचारी भी उनकी भक्ति में रहे, तो वह धर्मात्मा हो जाता है।[2] भक्त जन्म-मरण के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।[3]

गीता की भक्ति अंध भक्ति नहीं है अपितु यह ज्ञान और कर्म से अनुप्राणित है। भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का भेद लोक-व्यवहार का विषय है, क्योंकि अपनी चरमावस्था में सभी अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं। भक्ति का सामान्य अर्थ भगवान का भजन, सेवा, स्मरण है और यह भी भक्त और भगवान् के भेद पर निर्भर है, किन्तु पराभक्ति में अखण्ड ज्ञानानन्द रूप भगवत्स्वरूप में भक्त और भगवान् एकाकार हो जाते हैं। लौकिक कर्म कामना युक्त होती है और निष्काम-कर्म कामनारहित और यह कर्तृत्वाभिमानशून्य होने की स्थिति में जीवनमुक्ति की अद्वैत स्थिति का द्योतक है।

भक्ति, उपासना है जिसमें तैलधारावत् भगवद् स्मरण किया जाता है। अखण्डचिदानन्द की अपरोक्षानुभूति में भक्त का भगवान् से एकीकार हो जाता है। इस प्रकार पराभक्ति और परज्ञान में कोई भेद नहीं रहता। गीता में बारम्बार भक्ति एवं ज्ञान के परस्पर समन्वय का प्रतिपादन हुआ है।

---

1. गीता, 9/39, न मे भक्तः प्रणश्यति।
2. वही, 9/30
3. वही, 12/7; तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युंसंसारसागरात्।

कालत्रयी 'गीता' अपनी ज्ञान संपदा के कारण प्राचीन चिंतकों (शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य जैसे विभिन्न वेदान्तियों) तथा अर्वाचीन भारतीय सांस्कृतिक महापुरुषों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनी, जिसे भारतीयों ने अपनी जीवन-दृष्टि के रूप में ग्रहण किया है।

पूर्व की चर्चा से यह स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति, जिसे बौद्धों, जैनों आदि ने भले ही निर्ग्रंथ रूप में भी समृद्ध किया हो, मूलतः जिस तानाबाना पर आधारित है, वह 'वेद' है। 'वेद' साधारणतया चार मंत्रसंहिताओं का सामूहिक नाम है परंतु वास्तव में इससे अभिप्रेत है 'ज्ञान' - लौकिक और अलौकिक अनुभवों और अनुभूतियों का अनंत भंडार। चार संहिताएँ तो उसका संकलित एक भव्य रूप मात्र हैं। वेद 'श्रुति' है - सुनी गयी दिव्यवाणी और यह ज्ञानियों, भक्तों, योगियों आदि के द्वारा अनादिकाल से सुनी जा रही है और अनंत काल तक सुनी जाने वाली दिव्य वाणी ही साधना-जन्य और दर्शन-प्रसादी व्याख्या के रूप में 'उपनिषद्' कही गई है। उपनिषदों की सहस्रों दुग्धधाराओं का अमृत ही 'गीता-अमृत' है-**दुग्धं गीतामृतं महत्**। गीता के इस अमृत तत्त्व के प्रति सफलता या सिद्धि प्राप्त साधक का मन श्रद्धा को अभिव्यक्त करता हुआ कहता रहता है-**'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः'** इत्यादि।

गीता अनेक दृष्टि से विशिष्ट है-क्योंकि गीता केवल 'मोक्षशास्त्र' नहीं है, वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्ग-दर्शन करने वाला 'धर्मशास्त्र' भी है। यह भारी भ्रम है कि गीता को वृद्धावस्था में मोक्षलाभ के लिए पढ़ना चाहिए। गीता तो शैशव, बाल्यावस्था और युवावस्था में जीवन-संघर्ष के विजयी योद्धा बनने के लिए पठनीय है, मननीय है, आचरणीय है-अंग गलितं पलितं मुंडम्' वाली स्थिति में गीता पढ़ने का मन बनाना तो अवसर चूकने पर पछताते रहने के समान ही है। कारण वह है कि गीता एक महान् योद्धा का दूसरे महान् योद्धा को युद्ध क्षेत्र में दिये गये जीवन को पूर्ण दृष्टि देने वाला ज्ञान है। दुर्बल शरीर और दुर्बल मन से गीता को नहीं समझा जा सकता। निर्भर और सार्थक जीवन जीने की कला सिखाती है गीता। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में - ''बलवान् शरीर और शक्तिशाली मांसपेशियों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में ताजा रक्त होने से तुम श्रीकृष्ण की महान् प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे''।

श्रीकृष्ण धर्म-चक्र-प्रवर्तक थे तथा श्रीकृष्ण अपने समय के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों में अग्रगण्य, महान् योद्धा और युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में लाखों श्रेष्ठजनों के बीच में सचमुच 'जगद्गुरु' के रूप में पूजित महापुरुष थे (आजकल के महंतों की 'जगद्गुरु' उपाधि तो एक आडंबर या दंभ ही है)। उनके सखा अर्जुन भी उत्कृष्ट युगपुरुष थे- ज्ञानी, योद्धा और सरलता उनका स्वभाव था (यथा नाम तथा गुण)।

दोनों असामान्य युगपुरुष थे नर-नारायण की जोड़ी जैसे। तभी तो कृष्ण ने कर्त्तव्यपालन में लड़खड़ाते अर्जुन को माध्यम बनाकर उस महान् राजविद्या को प्रकट किया जो अत्यंत प्राचीन थी, मनु आदि राजर्षियों का निर्माण करती रही थी, बीच में लुप्त हो गयी थी। जनक और राम जैसे लोकसंग्रही महापुरुषों के जीवन में वह अभिव्यक्त हुई थी। योगेश्वर कृष्ण ने उस प्राचीन ज्ञान को फिर सार्वजनिक किया।

श्रीकृष्ण ऐसे महापुरुष हैं। जिन्हें कभी-कभी 'अवतार' भी कहा जाता है परन्तु उन्हें सामान्य मनुष्य के समान ही विपत्तियों से संघर्ष करते हुए और काम-क्रोध-लोभ-मोह पर विजय प्राप्त करने के लिए लगातार प्रयत्न करते हुए 'नर से नारायण' बनने की दिशा में बढ़ना होता है। वे पराक्रमी योद्धा बनकर, पूर्ण आत्मविश्वास और परमात्मा के प्रति अखंडश्रद्धा से युक्त होकर, लोकसंग्रह करते हुए जीवन की आहुति देते हैं। उनकी जीवन-यात्रा फूल बिछे मार्ग पर नहीं, काँटों भरी राह पर होती है। परंतु ये जीवनव्रती महान् मानव अंततः सफलता प्राप्त करते हैं। ध्येयपूर्ति के बाद कालांतर में संसार उन्हें सिर झुकाता है- उनके जीवनकाल में उनकी उपेक्षा या उनका विरोध करने वाला विशाल मानव समुदाय (उनके सहयोगियों की संख्या तो बहुत कम होती है) लगभग शत-प्रतिशत उनके प्रशंसकों या भक्तों में बदल जाता है। वे विभूति के रूप में पूजे जाते हैं परंतु जीवनकाल में इन ध्येयनिष्ठ महापुरुषों को कम ही लोग पहचानते और सहयोग देते हैं। यह कितनी बड़ी विडंबना है।

गीता में धर्म-संस्थापना का अर्थ है ऐसे ध्येयनिष्ठ महापुरुष जो युग में पृथ्वी पर आते हैं उनका उद्देश्य धर्म की ग्लानि और अधर्म की उन्नति के विरुद्ध संघर्ष करके 'धर्म-संस्थापना' की जा सके। गीता कहती है-

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।**
**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।** (4.7.8)

'धर्म की ग्लानि' अर्थात् अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने की व्यापक सामाजिक प्रवृत्ति। अधर्म की उन्नति अर्थात् व्यापक भ्रष्टाचार, पापों में लिप्तता। सत्पुरुषों, देशभक्तों, मानवता-प्रेमियों की दुर्दशा और दुष्टों का समाज, शासन, व्यापार आदि पर अधिकार तथा हिंसा, घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, बेईमानी इत्यादि का बोलबाला। चरित्रभ्रष्टता से ऐश्वर्य-प्राप्ति होती हो तो उसके लिए सहर्ष तैयार होने की प्रवृत्ति। ऐसी परिस्थिति में धर्म-संस्थापना के लिए प्रयत्न करते हैं ध्येयनिष्ठ ईश्वर विश्वासी, सदाचारी, जुझारू लोग। वर्तमान भारत में भी यह धर्म-ग्लानि देखी जा सकती है जो

'धर्म-संस्थापना' के लिए प्रयत्नशील ध्येयनिष्ठ, जीवनव्रती हैं। धर्म-चक्र-प्रवर्तन की उपेक्षा करनेवाला या विरोध करने वाला असुर-वर्ग भी विशाल है। कौन हैं ये आसुरी प्रवृत्ति के लोग? उन्हें लक्षणों से पहचाना जा सकता है। कृष्ण बताते हैं - उनमें अपवित्रता, श्रेष्ठ आचरण का अभाव, असत्य बोलने का दुर्गुण, दंभ-मान-मद-युक्तता, अनंत चिंताओं का बोझ, कामोपभोग तत्परता, काम-क्रोध-परायणता, अन्यायपूर्वक धन-संचय की प्रवृत्ति, अहंकार, लोभ की अधिकता इत्यादि लक्षण तो सरलता से पहचाने जा सकते हैं। ये पापाचारी, क्रूरकर्मी असुर, ऐश्वर्यशाली, भोगी, धन-मद से युक्त होते हैं और यज्ञ करने तथा दान देने में भी आगे होते हैं अर्थात् अपने धार्मिक होने का आभास भी देते हैं। (गीता, 16.7-18)

इस आसुरी संपदा से भिन्न दैवी संपदा वाले होते हैं। उनके भी लक्षणों क कृष्ण ने सुंदर वर्णन किया है। 'अभय' उनमें सर्वप्रथम है। मन की शुद्धता दानशीलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, प्राणियों पर दया, कोमलता, धैर्य, व्यर्थ चेष्टाओं का या चापल्य का अभाव, पवित्रता, द्रोहहीनता इत्यादि तो उनके गुण हैं ही, क्षमा, अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव और तेजस्विता भी उनके विशेष गुण हैं। अपने इन गुणों के आधार पर ही वे असुर-शक्तियों पर विजय प्राप्त करते हुए धर्मसंस्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

आवश्यकता है कि हम वर्तमान भारतीय आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने देवत्व या असुरत्व को पहचानें और कृष्ण के वास्तविक अनुयायी बनने के लिए दैवी संपदा को धारण करें। असुरों का अंततः नाश ही होना है - यह श्रीकृष्ण के जीवन से स्पष्ट ही है, भले ही संख्या में वे 11 अक्षौहिणी हों और धर्मपक्ष 7 अक्षौहिणी ही हो। विश्व में अंततः धर्म ही जीतेगा, अधर्म नहीं। विजय राम की ही होगी, स्वर्णमयी लंका के स्वामी रावण की नहीं **'रामवत् वर्तितव्यं न च रावणादिवत्'** के समान ही हर युग में **'कृष्णावत् वर्तितव्यं न च दुर्योधनादिवत्'** जैसे सूत्र इतिहास देता रहेगा।

आवश्यकता है अपने समय की विभूतियों को पहचानने की। गीता का दसवाँ अध्याय 'विभूति-योग' कहा जाता है। इसमें हमारा एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सूत्र छिपा हुआ है। मनुष्य समाज में सामान्यतः आत्मा या परमात्मा की महिमा को विलक्षण शक्ति या विभूति के रूप में ही प्रकट करती है।

गीता बताती है कि गुणियों के गुणों में विभूतियों को जानना भी आवश्यक है। ऐसे ही अध्यात्मविद्या विद्याओं में श्रेष्ठ है, जपयज्ञ यज्ञों में श्रेष्ठ है, मंत्रों में गायत्री श्रेष्ठ है, ध्वनियों में अकार श्रेष्ठ है, नदियों में गंगा श्रेष्ठ है, स्थावरों में हिमालय श्रेष्ठ है-यह सब जो कृष्ण बताते हैं, वह अत्यंत अर्थपूर्ण है और जीवनोपयोगी है।

उसी प्रकार जब वे दैत्यों में प्रह्लाद, नागों में अनंत, देवर्षियों में नारद, महर्षियों में भृगु, सिद्धों में कपिल, सेनापतियों में स्कन्द, आदित्यों में विष्णु और धनुर्धरों में राम के विभूतिमत्त्व का स्मरण कराते हैं, तब इतिहास के महत्त्वपूर्ण अध्यायों को साकार कराने का प्रयत्न करते हैं और स्वयं गीता के अपने युग की विभूतियाँ भी स्मरणीय हैं, ध्यान देने योग्य हैं, वंदनीय हैं। यथा-वृष्णियों में वायुदेव कृष्ण, पांडवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास इत्यादि। ईश्वरीय विभूतियों को गीता अनंत बताती है और 'विभूति' को पहचानने के लिए उसका व्यापक लक्षण और कारण बताती है-

**यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।** (10.41)

विभूतितत्त्व विश्वव्यापी है और अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अतीत की विभूतियों को जानना और उनकी वंदना करना तथा अपने युग की विभूति को पहचानना और सहयोग करना-इतिहास बोध और इतिहास-निर्माण के दो किनारे हैं जिनके बीच इतिहास-धारा बहती रहती है।

गीता के योगेश्वर और धनुर्धर दो विशिष्ट प्रतीक हैं। उत्कृष्ट इतिहास के निर्माण या इतिहास की धारा को ठीक दिशा में मोड़ने का काम जो सांस्कृतिक शक्ति करती है, उसके दो प्रतीक 'योगेश्वर कृष्ण' और 'धनुर्धर पार्थ' के रूप में संजय की वाणी में व्यक्त हुए हैं - गीता के अंतिम श्लोक (18.18) में -

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**
**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।**

चाहिए एक उत्कृष्ट मार्गदर्शक और उसका अनन्य अनुयायी। ये 'कृष्ण और अर्जुन' ही कभी 'राम और हनुमान', कभी 'समर्थ रामदास और शिवाजी', कभी 'विरजानंद और दयानंद' आदि रूपों में और कभी समष्टिरूपों में गौरवमय इतिहास बनाते हैं। इतिहास बाह्य नाम-रूप के नाम को देखता है, आध्यात्मिक दृष्टि उनके तात्त्विक रूप को देखती है-दोनों में यही अंतर है। 'इतिहास स्वयं को दोहराता है' और 'युग-युग में अलग-अलग अवतार होते हैं'-एक ही बात की दो अभिव्यक्तियाँ हैं।

गुरु शिष्य परम्परा का उत्कृष्ट नमूना है गीता। शिष्य को सच्चा गुरु चाहिए, गुरु को सच्चा शिष्य; ज्ञान-धारा के प्रवाह के लिए यह आवश्यक है। धन या फीस से शिक्षा की दुकानें चल सकती हैं, ज्ञान-गंगा नहीं बह सकती। शिष्य अपने श्रद्धा से भरे पवित्र हृदय और खुले मस्तिष्क से गुरु के पास जाए तभी उत्कृष्ट ज्ञान पा सकेगा।

भरे मस्तिष्कों में दयानंद, विवेकानंद, अरविंद इत्यादि भी कुछ ज्ञान नहीं भर सकते क्योंकि वहाँ तो रुपयों की चिंता, ईर्ष्या, कपट, लोभ, ममता आदि ने पहले

ही सारी जगह घेर रखी है। वादों, विवादों से भरे मस्तिष्क में उत्कृष्ट ज्ञान कोई सँजोएगा ही कैसे ? गीताचार्य कृष्ण तो आज भी ज्ञान देने को तैयार हैं, परन्तु ग्रहण करने वाला अरविंद घोष जैसा खुले मस्तिष्क और श्रद्धालु हृदय वाला शिष्य हो - तब तो कारागार जैसे स्थान में गीता की पाठशाला चल सकती है और रूपांतरित अरविंद के समान ही 'वासुदेवः सर्वमिति' के गीता-तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शिष्य में ज्ञान प्राप्त करने के लिए शरणागति की भावना, सच्चा जिज्ञासु-भाव होने पर ही गुरु को अपने ज्ञान-रत्नों की पेटी खोलने की इच्छा होनी चाहिए- यह भारतीय संस्कृति की दृष्टि है। गीता के प्रथम व द्वितीय अध्याय में वर्णित है अर्जुन की तर्कपूर्ण और मोह-विह्वल ज्ञानाभासी वाणी, परन्तु कृष्ण उसकी किसी बात का उत्तर देते नहीं दिखाई देते। अंततः अर्जुन कहता है-इस समय मेरा चित्त मोहित है, अपना कर्तव्य निश्चित कर पाने में मैं असमर्थ हूँ- 'धर्मसंमूढ़चेता' हूँ, मैं आपका शिष्य हूँ- 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (गीता 2/7)। तब कृष्ण इसे अपना कर्तव्य मानते हैं कि वह ऐसे शिष्य को श्रेष्ठ ज्ञान दें। अर्जुन के दिए गए तर्कों में कोरा बुद्धिवाद या आभासी प्रज्ञावादिता थी। अतः कुछ हँसते हुए से 'प्रहसन्निव' कृष्ण शोकयुक्त (विषीदन्तम्) अर्जुन को (गीता 2/11)मार्गदर्शन प्रारंभ करते हैं। इसके पहले भी उन्होंने अश्रुपूर्ण और व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन को, प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया था, और यह उद्बोधन निराश हृदयों को आज भी उत्साहित करने में उतना ही तीक्ष्ण और समर्थ है- क्लैब्य को त्यागो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है, हृदय की दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए उठो -

**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपद्यते।**
**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥**

यहाँ शिष्य ज्ञान प्राप्त करते समय, अपने संशयों को प्रस्तुत करता है, तर्कपूर्वक-वाणी **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'** में भी यही उद्बोधन है जिसे स्वामी विवेकानन्द ने 'उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति तक बढ़ते रहो' में विकसित किया था।

जब शिष्य ज्ञान प्राप्त करते समय, अपने संशयों को प्रस्तुत करता है, तर्कपूर्वक अपनी बात करता है, आँख मूँद कर गुरु की हर बात को मान नहीं लेता, तभी योग्य शिष्य है। संशयों और तर्कों के प्रस्तुत करने पर ही शिष्य की ओर संशयों और तर्कों का समाधान करने पर ही गुरु की परीक्षा होती है। तत्त्वदर्शी महापुरुष से ज्ञान प्राप्त करने की विधि बताते हुए कृष्ण ने कहा था-प्रणिपात, सेवा और विवेकपूर्वक प्रश्न करने से तत्त्वदर्शी महानुभाव ज्ञान उपदेश करेंगे-

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**

**उपदेश्यति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।** (4/34)

गीता बताती है कि तत्त्वज्ञान की अनंत महिमा है। ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर मनुष्य को पूर्णतः पवित्र बना देती है। जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् शिष्य ही इस ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जब तक संशय रहता है, मनुष्य की शक्ति घटती रहती है। तत्त्वज्ञान से संशय मिट जाने पर परम शांति मिल जाती है। ज्ञानप्राप्त, ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी को 'बुद्ध' भी कहा जाता है। वही 'स्थितप्रज्ञ' है-स्थिर बुद्धिवाला। प्रत्येक मनुष्य 'बुद्ध' बन सकता है, परंतु केवल तत्त्वज्ञान सुनकर नहीं, आत्मसाक्षात्कार करके। आत्मसाक्षात्कारी ज्ञानी ही 'बुद्ध' कहलाता है, पहले तो वह 'बोधिसत्त्व' रहकर ही अनेक जन्मों में आत्मविकास करता रहता है- महात्मा बुद्ध की यह स्थापना गीता द्वारा समर्थित है (द्र० 6/41-45)।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए 'श्रद्धा' आवश्यक है। 'श्रद्धा' का अर्थ है 'श्रत्' अर्थात् 'सत्य' को धारण करने का गुण। मनुष्य श्रद्धामय है; सबकी श्रद्धा अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होती है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है- **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।**

**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रुद्धः स एव सः।।** (17/3)

इसीलिए कृष्ण सावधान करते हैं- ज्ञानियों को चाहिए कि किसी की श्रद्धा भंग न करें, ज्ञान को विकसित करना तो चाहिए परंतु कम ज्ञान वालों में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिए। सबको प्रेम या अत्याचार से जैसे भी हो ईसाई या मुसलमान बनाने वाले मदांध मतवादियों जैसों को भारतीय संस्कृति अधम कर्म मानती है- इसके पीछे पूर्ण तत्त्वज्ञानी कृष्ण जैसों का ही उपदेश है क्योंकि हर साधना-मार्ग परमात्मा तक पहुँचा सकता है, महत्त्व 'साधना' का है।

भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है-विचार की स्वतंत्रता। तत्त्वज्ञानी शिष्य को ज्ञान देता है, परंतु उसका विचार- स्वातंत्र्य नहीं छीनता। यहाँ किसी पैगम्बर की बात पर तर्क-वितर्क करना प्राणदंड योग्य अपराध तो है ही नहीं, अपराध भी नहीं है। विचार-नियंत्रण ईरान से स्पेन तक फैले विस्तृत भूखंड की ही बीमारी है। कृष्ण ने भी अर्जुन से अपनी बात कहने के बाद यही कहा था- ज्ञान तो तुम्हें दे दिया, इस पर पूर्ण विचार कर फिर जैसा चाहो वैसा करो- **''विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु''**। (18/63)

गीता में उपासना पर विशेष बल दिया गया है भारतीय संस्कृति मनुष्य की पात्रता या अधिकार-भेद को मानती है, और उपासना-मार्गों की विविधता और उन्हें चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता को मान्य करती है। ज्ञानयोग, भक्तियोग या ध्यानयोग इत्यादि

अथवा निवृत्तिमार्ग या प्रवृत्तिमार्ग अथवा किसी इष्टदेव आदि की पूजा-सब कुछ यहाँ स्वीकृत है। इस पूर्ण दृष्टि में किसी भी देवता के प्रति नमस्कार एक परमात्मा के लिए ही नमस्कार है-**सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति।** और, छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए की गई विविध देवी-देवताओं की पूजा को भी कृष्ण 'अविधिपूर्वक की गयी ब्रह्मपूजा' (9/23) ही घोषित करते हैं।

गीता में व्यक्ति और समाज दोनों की हितकारी पद्धति के रूप में 'कर्मयोग' का महत्त्व प्रतिष्ठित है। गीता जीवन की कला को 'कर्मयोग' कहती है और गीता 'कर्मयोग' का प्रमुख शास्त्र है। कर्मयोग के सूत्रों को कृष्ण ने इस प्रकार बताया है- 1. कर्मो में तुम्हारा अधिकार है परंतु उनके फल में नहीं, 2. अतः कर्मों के फलों की वासना मत रखो; 3. और, कर्म न करने वाले भी मत बनो-

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।** (2/47)

निष्काम भावना से, निःस्वार्थ भाव से, कर्त्तव्य मात्र समझकर लोकहित के सभी कार्यों को करने में प्रवृत होना ही 'कर्मयोग' है। महात्मा गांधी और लोकमान्य तिलक तो कर्मयोगी थे ही, गीता को 'कर्मयोग' का नहीं, 'ज्ञानयोग' का शास्त्र माननेवाले आदि शंकराचार्य भी 'कर्मयोगी' थे। गीता को 'भक्तियोग' का शास्त्र बतानेवाले रामानुजाचार्य भी 'कर्मयोगी' थे। हर निःस्वार्थ समाजसेवी महापुरुष 'कर्मयोगी' होता ही है।

गीता 'लोकसंग्रह' का बहुत महत्त्वपूर्ण संदेश देती है। ऊँची श्रेणी के अनुकरणीय महापुरुषों को भी लोक-कल्याण के लिए सामान्यजन के समान ही उपासना, यज्ञ, दान, तप आदि कार्य उत्तम रीति से करते रहना चाहिए। स्वयं योगेश्वर होने पर भी कृष्ण प्रातः - सायं नियमपूर्वक उपासना करते थे। इसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों को भी वह सब करना चाहिए जिसकी वह समाज में अपेक्षा करते हैं। कृष्ण कहते हैं-श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष उस-उस के समान ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण बना देता है, लोग भी उसके अनुसार व्यवहार करते हैं-

**यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।**
**स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।** (3/21)

अपने परिवार के बालक-बालिकाओं के चरित्र और स्वभाव को ढालने में यह सूत्र बहुत उपयोगी हो सकता है।

'यज्ञ', 'दान' और 'तप' भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पारिभाषित शब्द हैं। कृष्ण ने यज्ञ, दान और तप को प्रत्येक व्यक्ति के लिए, हर अवस्था में, आचरणीय बताया है क्योंकि वे मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं-**पावनानि मनीषिणाम्।**

कृष्ण इनके सात्त्विक रूप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसी प्रकार वे सात्त्विक आहार को भी सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और अति से रहित 'युक्त' आहार-विहार का उपेदश करते हैं। मिथ्याचार, आडंबर और दंभ के वे विरोधी हैं। कृष्ण की दृष्टि कितनी समाजोपयोगी और सूक्ष्म है परंतु भाषा कितनी सरल है- यह उनके द्वारा 'दान' के विवेचन में देखा जा सकता है। वे कहते हैं- दान देना ही कर्त्तव्य है, ऐसे भाव से देश, काल और पात्र की उचितता देखते हुए और प्रत्युपकार न करने वाले के लिए जो दान दिया जाता है, वही सात्त्विक दान है। इसी प्रकार वे कहते हैं - जो दान बिना सत्कार किए या तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश और काल में तथा कुपात्रों को दिया जाता है, वह तामस दान है-

> **दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।**
> **देश काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥**
> **अदेशकाले यद्दानमापात्रेभ्यश्च दीयते।**
> **असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥** (17/20,22)

दरिद्रनारायण की उपासना भारतीय संस्कृति की विशेषता है। तत्त्वदर्शी समदर्शी होता है। ऊँच-नीच, गोरा-काला, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित आदि की दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर तो होते हैं, परंतु भेद-भावना या स्थायी भेद मानने का विष भारतीय संस्कृति को स्वीकार नहीं है। यहाँ तो ब्रह्म-प्राप्ति करनेवाले 'ब्राह्मण' का सर्वोच्च महत्त्व है, चाहे वह वसिष्ठ हों या ऋषभदेव, महावीर, गौतम बुद्ध आदि। ऐसे तत्त्वदर्शी महापुरुष सबके लिए वदंनीय है; और ऐसे तत्त्वदर्शियों के लिए विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चांडाल में भी समभाव वाली दृष्टि होती है (गीता, 5/18)। सभी में चैतन्य, आत्मा, परमात्मा को देखने की तात्त्विक दृष्टि ही समदृष्टि है। समाज के सभी मानवों के सुख-दु:ख के साथ सुख-दुख को अनुभव करने वाली 'सह-अनुभूति' या सहानुभूति हमारे तत्त्वज्ञान पर ही आधारित संस्कृति-सूत्र है। कथनी और करनी या तत्त्व और व्यवहार में यह अंतर कम होकर मिट जाए इसी के लिए 'दरिद्रनारायण' की उपासना रामकृष्ण, विवेकानंद, गांधी, दीनदयाल उपाध्याय, विनोबाभावे आदि की परंपरा से होती हुई उन वर्तमान सांस्कृतिक महापुरुषों के माध्यम से संपन्न हो रही है, जो अरुणाचल, मेघालय, ग्रामों, जंगलों, झोंपड़पट्टियों आदि में सेवाव्रती होकर जुटे हैं। 'दरिद्रनारायण' में 'दरिद्रता' पर नहीं 'नारायणत्व' पर ध्यान देने से ही सेवा-कार्य का स्वरूप सात्त्विक और आध्यात्मिक हो जाता है। कृष्ण ने 'सर्वभूतहिते रता:' साधकों को बार-बार अपना प्रिय बताया है।

गीता में वर्ण-व्यवस्था को 'गुण-कर्म-विभागश:' कहा गया है। हमारी समाज-रचना

के तत्त्व को समझना विदेशी बौद्धिकों के वश की बात तो है ही नहीं, चपलतायुक्त और पाश्चात्यों के बौद्धिक अनुकर्ता भारतीय व्याख्याकारों आदि के लिए भी दुरूह है। 'वर्ण-व्यवस्था' तो वर्णों के साथ ही कब की जा चुकी है, उसे हराकर आई जाति-व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था मानना तो घोर नासमझी होगी। परंतु, कृष्ण जो महत्त्वपूर्ण बात कहते है- 'स्वकर्म से परमात्मा की पूजा', वह इतनी प्रेरक है कि सभी कामों को (सभी जातियों या वर्णों के) समाज-पुरुष को, परमात्मा को, पूजा के पुष्पों के रूप में बदल देती है। गीता कहती है-जिस परमात्मा से सब प्राणियों की उत्पत्ति हुई और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उस परमात्मा को 'स्वकर्म' से पूजकर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है-

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।।**(18/46)

इसी प्रकार अपने कर्तव्य अर्थात् 'स्वधर्म' को भी गीता महत्त्वपूर्ण मानती हैं। स्वधर्म स्वाभाविक या परिस्थितिगत होता है। उसी से व्यक्ति और समाज का विकास संभव है। गीता 'स्वधर्म' को श्रेयस्कर मानती है और 'परधर्म' के आकर्षण में स्वधर्म छोड़ने को हानिकर एवं भयावह-

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।**
**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।** (3/35)

गीता जिस उत्कृष्ट मानव को गढ़ने का प्रयत्न करती है, उसमें किन गुणों को होना चाहिए- यह जानने के अनेक स्थल हैं। कर्मयोगी का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रसंग हो या स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताने का या भगवान् को कौन प्रिय है यह प्रसंग हो या दैवी-संपदा का विवरण; सर्वत्र मानव के शोभनीय गुणों की श्रेष्ठचर्चा है। गीता के अनुसार द्वेषहीनता, सबके प्रति मित्रता और करुणा, अहंकार का अभाव, लोक सेवा, क्षमाशीलता आदि महान् मानवीय गुण हैं।

गीता में दोषों से बचने के लिए यथास्थान जो संकेत मिलते हैं, उनमें क्रोध की चर्चा यहाँ उल्लेखनीय है। इस क्रोध का कारण और परिणाम ध्यान देने योग्य हैं (2/62-63)। मानव द्वारा विषयों का चिंतन →विषयों में आसक्ति या राग → विषयों की कामना→क्रोध→अविवेक→स्मरणशक्ति का विभ्रम→बुद्धिनाश→आत्मनाश।

समाज-सेवी कार्यकर्त्ता के लिए योगेश्वर कृष्ण का महान् आदर्श तो प्रेरक है ही, गीता का निम्नलिखित वचन भी महत्त्वपूर्ण दिशा दे सकता है- आसक्ति से रहित और अहंकार के वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त, कार्य की सिद्धि या असिद्धि में हर्ष, शोक आदि विकारों से रहित जो कर्ता होता है, वह 'सात्त्विक' कहा जाता है-

**मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।**
**सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।** (18/26)

**निष्कर्षतः**

गीता का तत्त्वज्ञान भारतीय जनमानस में जिस गहराई से प्रतिष्ठित है, उसका दर्शन कर्मयोगी भावना से अनुप्राणित भारतीय नारी में घर-घर देखा जा सकता है। कृष्ण ने कहा था-हे अर्जुन ! तपस्वी से भी योगी बड़ा है, ज्ञानियों से भी, सकाम कर्मियों से भी, अतः कर्मयोगी बनो (6/46)। भारतीय नारी ने इस संदेश को सबसे अधिक उत्तम रीति से अपनाया है।

निस्संदेह निष्काम कर्मयोग का संदेश देती गीता वर्तमान भारत की ही नहीं, विश्व की विविध समस्याओं में दिव्य-प्रकाश विकीर्ण कर सकती है।

## प्रमुख वैदिकेतर धर्मों का उद्‌भव एवं विकास

**पृष्ठभूमि**

वैदिकोत्तर काल में वैदिक धर्म एवं उपनिषदीय चिंतन-धारा में परिवर्तन होने लगा। ज्ञान-काण्ड के स्थान पर कर्म-काण्ड को प्रधानता मिलने लगी जो स्पष्ट रूप से ब्राह्मण धर्म था। इस ब्राह्मण धर्म के काण्ड एवं बाह्याडम्बर की बहुलता को भारतीय हिन्दू समाज के प्रतिक्रियावादियों ने ब्राह्मण-धर्म की विकृत परम्पराओं से अपने-आप को पृथक् कर लिया और जैन एवं बौद्ध को स्वीकार कर लिया। ये दोनों धर्म नास्तिक धर्म थे क्योंकि इनकी वैदिक रीतियों में आस्था नहीं थी। इन दोनों धर्मों में वैदिक-परम्परा के खण्डन अथवा दोषारोपण की प्रवृत्ति देखी गयी। वहीं दूसरी ओर पौराणिक धर्मों (वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त सम्प्रदाय आदि) ने जिन धार्मिक मान्यताओं की स्थापना की, उसकी पुष्टि वैदिक कथनों द्वारा ही कर दी। इस प्रकार पौराणिक धर्मों की आस्था वेदों के प्रति बनी रही। मात्र उपासना या अभ्यर्थना की पद्धति में परिवर्तन आ गया। पौराणिक धर्मों द्वारा वेदों के स्वतः प्रामाण्य होने के कथन को स्वीकार कर लिए जाने के कारण ये पौराणिक-धर्म आस्तिक धर्म कहलाए। पौराणिक धर्मों ने अपने-आप को वैदिक-परम्परा से सम्बद्ध रखा।

वेदों में जिन प्राकृतिक शक्तियों की देव रूप में उपासना करते हुए यज्ञीय-आहुति दी गयी थी, उन समस्त धार्मिक क्रियाओं के केन्द्र वैदिक यज्ञों में अनेक बाह्य तत्त्वों का समावेश होने से कर्म-काण्ड अत्यन्त विस्तृत हो गया। अतएव यज्ञ शनैः शनैः सामान्य जन के सामर्थ्य से दूर होता गया। वैदिक यज्ञ अनेक जटिल विधि-विधानों तथा निषेध-परक व्यवस्थाओं से ग्रस्त हो गया। पृथक्-पृथक् कामना से किए जाने वाले यज्ञ के विधि-विधान में पूर्ण परिवर्तन आ गया, यहाँ तक कि यज्ञ के अनुसार

वेदियों में भी परिवर्तन होने लगा (**या इष्टका यावतीर्वा यथा वा-कठोप.** 1/1/15)। प्रातःकालीन एवं सायंकालीन किए जाने वाले अग्निक्षेत्र में विहित आवसथ्य अग्नि के अतिरिक्त गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण और सभ्य नामक अनेक अग्नियों का नामकरण हुआ। यज्ञीय जटिलताओं के बीच यह धारणा बनायी गयी कि जटिल प्रक्रियाओं (पौर्वापर्य से परिपूर्ण) वाले यज्ञ में की गयी छोटी सी त्रुटि भी न केवल यज्ञ को निष्फल कर देगी, बल्कि यजमान को भी इसके बुरे परिणाम का प्रतिभागी बनना होगा। इस धारणा ने यज्ञ के लिए यजमानों को ऋत्विजों पर आश्रित कर दिया, क्योंकि यज्ञ की जटिल प्रक्रियाएँ सामान्य-जन द्वारा संभव नहीं थीं। अब सामान्य यजमानों ने ऋत्विजों की बहुल दक्षिणाओं की कामना से क्षुब्ध होकर यज्ञीय-कर्मकाण्डों की व्यर्थता को प्रदर्शित किया। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार यजमान, यजमान की पत्नी एवं सोलह ऋत्विज इन अठारह लोगों द्वारा किया जाने वाला यज्ञ रूप नाव जीवन-मरण के भव-सागर को पार करने में असमर्थ है, फिर भी जो इन यज्ञीय कर्म-काण्डों का सहारा लेते हैं वे जन्म-मरण के बन्धन में बँधे रहते हैं।[1] अन्यत्र भी वर्णित है-**''यद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते। एवममुष्मिन् पुण्यचितो लोकः क्षीयते।''** अर्थात् कर्मों द्वारा संचित लौकिक सुख की भांति यज्ञादि पुण्य कर्मों से अर्जित आमुष्मिक फल भी क्षीण पड़ जाते हैं।

यज्ञों में आहुति का सर्वाधिक महत्त्व था, जिसमें अग्नि को आहुति दी जाती थी। उत्तरवर्त्ती काल में आज्य एवं अन्न की आहुति के साथ-साथ पशु बलि भी दी जाने लगी। श्रुति विहित यज्ञों तथा स्मृति विहित संस्कारों दोनों में पशुबलि का प्रचलन बढ़ गया। ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' जैसी उक्तियाँ वैदिक विधि-विधानों में सम्मिलित कर ली गयीं। अहिंसक लोगों द्वारा धार्मिक कृत्यों में की जाने वाली वैदिक हिंसा का विरोध स्वाभाविक ही था।

चतुर्वण्य वाले भारतीय समाज में शूद्र अनार्य जातियाँ थी, जिन्हें आर्यों ने अपने समाज के सबसे निम्न श्रेणी में सम्मिलित कर तो लिया[2] किन्तु उपनयन जैसे स्मार्त संस्कारों से इन शूद्रों को वंचित रखा गया जिससे उन शूद्रों का सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक उन्नयन पूर्णतया अवरूद्ध हो गया। उपनयन से वंचित कर देने के कारण शूद्र न तो वेद का पठन-पाठन कर सकते थे और न ही धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित हो सकते थे। इस प्रकार छद्म रूप से भारतीय हिन्दू समाज एकीकृत था किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न थी। चार वर्णों में एकीकृत समाज वस्तुतः आर्य वर्णों

---

1. मुण्डकोपनिषद् 1.2.7, प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
   एतच्छ्रेयो यऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरा-मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।।
2. ऋग्वेद, 10.90.12, पदभ्यां शूद्रो अजायत।

में (प्रथम तीन वर्ण) तथा अनार्य वर्ण में विभक्त था। कालान्तर में चार सोपानों में गठित भारतीय समाज में वैश्यों की स्थिति निम्नतर होने लगी। उत्तरोत्तर क्षत्रियों की भी सामाजिक स्थिति ब्राह्मणों की तुलना में श्रेष्ठ नहीं रही।[1] ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के बीच श्रेष्ठता को लेकर विवाद चलता रहा। इस प्रतिद्विन्द्वता का ही परिणाम था कि क्षत्रिय राजकुमारों द्वारा अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए जैन एवं बौद्ध धर्म की स्थापना हुई। इन धर्मों को वैदिक धर्मों से पृथक् रखने का एक कारण यह भी था कि ब्राह्मणेतर जातियों को धार्मिक एवं सामाजिक पहचान मिले। प्रतिद्वन्द्विता से उत्पन्न इन धर्मों के प्रति ब्राह्मणों की दृष्टि उपेक्षापूर्ण रही। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार भारत के बाहर के राष्ट्रों में अत्यधिक हुआ जबकि जैन धर्म को आर्थिक रूप से सुदृढ़ वैश्यों का प्रबल समर्थन मिला जो ब्राह्मणवादी धार्मिक व्यवस्था के विरोध में सक्षम थे।

बौद्ध, जैन एवं अन्य पौराणिक धर्मों के विकास में आर्येतर जातियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व असुर, राक्षस, गन्धर्व, किरात, यक्ष, निषाद, नाग आदि जातियाँ थीं जिनका उल्लेख वेदों में भी प्राप्त है। इन अनार्य जातियों की अपनी सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराएँ थी। इन बहुसंख्य अनार्यों पर आर्य जातियों के विजय से इन दोनों के बीच परस्पर सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं का आदान-प्रदान हुआ। जब ये अनार्य जातियाँ आर्य जाति द्वारा शूद्र वर्ण में आत्मसात की गयीं तब इन जातियों की दबी हुई भावना क्षत्रियों एवं वैश्यों के नेतृत्व में उभर कर सामने आयीं। जिससे पौराणिक धर्मों को बल मिला, जिनमें वैदिक कर्मकाण्डों से हटकर व्रत, उपासना एवं भक्ति को प्राथमिकता दी गयी थी। डॉ. दाण्डेकर आर्य पूर्व जातियों की धार्मिक परम्पराओं को दो रूपों में देखते हैं- 1. मुनि यति सम्प्रदाय एवं 2. भक्ति सम्प्रदाय। आर्यों की धार्मिक परम्परा को डॉ. दाण्डेकर 'ऋषि-परम्परा' कहते हैं।[2] दाण्डेकर का मानना है कि औपनिषदिक शिक्षाएँ जो नगण्य या अल्प मनीषियों की चिंतन-धारा थीं, वह लोक-जीवन में सम्मिलित नहीं हो सकती थीं। अतएव इससे तीन विषम स्थितियाँ उत्पन्न हुईं। 'मुनि यति सम्प्रदाय' के अनुयायियों द्वारा बौद्ध एवं जैन धर्म जैसे वैदिक धर्म-विरोधी मान्यताओं में आस्था दिखाई गयी। ये वेदों के स्वत: प्रामाण्य होने की बात स्वीकार नहीं करते थे। द्वितीय समूह 'भक्ति सम्प्रदायियों का था जिन्होंने पौराणिक-धर्म (वैष्णव, शैव आदि) का प्रचार-प्रसार किया। ये धर्म वैदिक देवमण्डल एवं वेदेतर

---

1. कौ. ब्रा. 3.8, ब्रह्म वै पौर्णमासी क्षत्रमावस्या।
   ऐ. ब्रा. 8.1, ब्रह्म वै क्षत्रात् पूर्वम्।
2. आर. एन. दाण्डेकर, Insights into Hindusism, Pg. 196 & 204

देवताओं की पूजा एवं उपासाना के समर्थक थे। ये धर्म आंशिक रूप से वैदिक परम्परा के वशीभूत थे यद्यपि इन्होंने वैदिक धर्म के आदर्शों अथवा पूजा-पद्धतियों को आंशिक रूप से या नाम-मात्र का ही अपनाया।

भारतीय धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतन धारा का एक वैशिष्ट्य यह है कि आर्यों ने सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न जाति होने के कारण बाह्य संस्कृति को भी आत्मसात् किया। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की वैचारिक उदारता उनकी सांस्कृतिक चेतना का साक्षी है। इस उक्ति से एक बात और उभरकर आती है, वह यह है कि आर्य परम्परा में यद्यपि नये धर्मों के समावेश से विविधता दीख पड़ती है किन्तु मूल रूप से वह अपने पुराने रूप में ही है। आर्य धर्म में दीखने वाली विविधताएँ विरोधाभास भी उत्पन्न कर देती हैं। ऋग्वेद में जहाँ एक ओर द्यौ, पृथिवी, सूर्य आदि नाना-विध प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति दीख पड़ती है, वहीं विश्वदेवा:, हिरण्यगर्भ, प्रजापति और विराट् पुरुष के रूप में एकेश्वरवाद की भावना भी परिलक्षित होती है। आर्यों में इस प्रकार चिंतन की परम्परा निरंतर बनी रही, जिसमें एकेश्वरवाद एवं बहुदेववाद के तत्त्व आज भी चिंतन के विषय हैं।

इस अध्याय में आगे विभिन्न भारतीय-धर्मों की सांस्कृतिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर पृथक्-पृथक् चर्चा होगी :-

### पौराणिक धर्म

हिन्दू धर्म का उद्गम स्थल वैदिक धर्म है, जिसमें वैदिक देवतत्त्व एवं ज्ञानतत्त्व का समावेश है। हिन्दू धर्म की समस्त व्यवस्थाओं में ब्राह्मणों का अधिपत्य एवं निर्देशन रहा है, इसीलिए इसे ब्राह्मण धर्म के नाम से भी जाना गया। इस धार्मिक-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों ने अपनी उपस्थिति एवं श्रेष्ठता अनिवार्य रखी। इन ब्राह्मणों के बिना कोई भी धार्मिक-कार्य सफल नहीं माना जाता था। ब्राह्मण समाज ने विद्या पर अपना प्रभुत्व बना रखा था, जिससे वे समाज में श्रेष्ठ एवं आदरणीय बने हुए थे, हिन्दू धर्म का मुख्य आधार वर्णाश्रम व्यवस्था थी। वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए अनेक संस्कार सम्पन्न कराये जाते थे जिसका विधि-विधान ब्राह्मणों के बिना सम्भव नहीं था। समाज़ के पूजन, यज्ञ जैसे विभिन्न धार्मिक कार्य और तत्संबंधी कर्म-काण्ड ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न होते थे। वे ही सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण के साथ कराते थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना इन्हीं कर्म-काण्ड-निष्ठ ब्राह्मणों द्वारा होती थी। उत्तरवैदिक काल में 'ब्राह्मण' आरण्यक एवं 'सूत्र' ग्रन्थों के विशाल साहित्य ने ब्राह्मण-धर्म का प्रमाण्य बनकर ब्राह्मण धर्म की नींव को पूर्णतया सुदृढ़ कर दिया।

ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञों की श्रेष्ठता बनाये रखी। ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा इस बात की स्थापना की गयी कि यज्ञ के माध्यम से देवगण प्रसन्न होते है, तदनन्तर मनुष्य को अपेक्षित वर देते हैं। यज्ञ की सम्पन्नता ब्राह्मण पुरोहित से ही होती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भी कहा गया कि अगर पुरोहित यज्ञ न कराता, तो सूर्य उदय नहीं हो सकता था।[1] याज्ञिक कार्य भिन्न होने के कारण तथा पुरोहित के रुचि न लेने के कारण रात्रि अत्यन्त लम्बी हो सकती थी।[2]

इस युग तक ब्राह्मणों की आकांक्षा बढ़ने लगी थी। वह यज्ञ करने लगा था। जिससे उसे पारिश्रमिक भी प्राप्त होता था। किन्तु यज्ञ के फल में भी वह अपना हिस्सा चाहने लगा था। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों की अति महत्त्वाकांक्षा का विरोध होने लगा था। याज्ञवल्क्य का कथन है कि यज्ञ का फल यज्ञ करने वाले को मिलना चाहिए, न कि यज्ञ कराने वाले को, क्योंकि यज्ञ करानेवाला पारिश्रमिक प्राप्त करता है। अतएव यज्ञ कराने वाले द्वारा यज्ञ के फल में हिस्सा प्राप्त करने की इच्छा अनुचित तथा अन्यायपूर्ण है।[3] फिर भी परवर्त्ती काल में जिस हिन्दू-धर्म का विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों के रूप में विकास हुआ, उसमें भी ब्राह्मणों की ही प्रधानता थी और उन्हीं का वर्चस्व था। समस्त सामाजिक व्यवस्था को उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के कठोर नियमों से आबद्ध कर रखा था।

इस ब्राह्मणवादी-व्यवस्था के परिमाण स्वरूप समाज में धार्मिक-व्यवस्था दो रूपों में बँट गयी। प्रथम व्यवस्था के अन्तर्गत वे लोग आये, जिन्होंने इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था का पूर्ण विरोध किया, जिससे बौद्ध एवं जैन धर्म जैसे ब्राह्मण-विरोधी धर्मों का विकास हुआ। द्वितीय श्रेणी में वे हिन्दू धमविलम्बी थे जो इस व्यवस्था का विरोध करने का साहस नहीं कर पा रहे थे। अतएव इनलोगों के द्वारा ब्राह्मण-धर्म के समानान्तर व्यवस्था अपनायी गयी, जो सहज, कर्मकाण्ड रहित अभ्यर्थना अथवा उपासना पर आधारित भक्ति मार्ग था। भक्ति एवं उपासना के परिणाम स्वरूप विभिन्न अवतारों का हिन्दू धर्म में सत्य की विजय तथा असत्य की हानि के लिए अवतरण हुआ। भक्ति एवं उपासना की पराकाष्ठा पुराणों में मिलती है। इसमें विभिन्न देवी-देवताओं के आख्यान एवं उपाख्यान हैं। पुराण-साहित्य की परम्परा अत्यन्त पुरानी है तथा इसका उत्स वेदों से लिया गया है फिर भी परवर्त्ती पुराणों में आर्य एवं आर्येतर धार्मिक मान्यताओं का समन्वय प्राप्त होता है। वेद के अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष ब्रह्मा, विष्णु और महेश बन गये। वेद की दक्ष-अदिति विद्या पुराणों में दक्ष-यज्ञ के विध्वंस की कथा में परिणत हो गयी। इसी प्रकार

1. शतपथ ब्राह्मण, 2.3.1.5।
2. वही, 4.3.1.9-10।
3. वही, 1.3.1.16।

'अग्नि-चयन-विद्या' 'चित्र-शिशु-विद्या' क्रमशः कुमार-जन्य आख्यान तथा अष्टमूर्त्ति विद्या के रूप में परिवर्तित हो गये। पुराणों में वैदिक चिंतन-धारा के परिवर्तित रूप प्राप्त होने लगे। पितृविद्या, पशुविद्या, अग्नि-सोम विद्या, सावित्री विद्या, विराजधेनु विद्या, सोम विद्या, सावित्री विद्या आदि का निरूपण पुराणों में हुआ है। किन्तु इसका स्वरूप बदल गया। ये इन्द्रवृत्रोपाख्यान, समुद्रमन्थन, सावित्री-सत्यवान् कथा, पृथु-पृथ्वी-दोहन, सुकन्या च्यवन विवाह आदि रूपों में दीख पड़ते हैं। पौराणिक काल में वैदिक तत्त्वों के आधार में अधिक बाधा पड़ी तथा साधारण जन वेदों की दुरूहता और इसके कर्मकाण्डीय व्यवहारों से विमुख होकर सरल और बोधगम्य धर्म की ओर अग्रसर होने लगे। पुराणों के सरल एवं सुबोध वर्ण्य-विषयों के परिणाम स्वरूप साधारण जन के ज्ञान एवं बुद्धि में नवीन चिंतन-धारा के अनुरूप परिवर्तन हुआ। परम तत्त्व जैसे विषय को समझना जन-सामान्य के लिए अब सरल हो गया। पुराणों ने लोगों में हिन्दू-देवी-देवताओं के प्रति असीम भक्ति भावना को उत्पन्न किया। अत्यधिक कर्मकाण्ड के कारण हिन्दुओं में कमजोर पड़ती धार्मिक भावना एक बार पुनः नये रूप में जागृत हुई, जिससे टूटता हुआ हिन्दू समाज देवताओं की आस्था में पुनः अनुरक्त हो गया। पौराणिक युग में पूजन-कीर्तन एवं ईश्वरार्पण का प्रचार-प्रसार हुआ। कृपा प्रसाद एवं अनुग्रह के प्रति भक्त शरणागत हो गये। पुराणों ने हिन्दू समाज को भक्ति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। जप, मंत्र,-पाठ, उपवास, व्रत, नियम आदि गृहीत कर लिए गये, जिनमें ब्राह्मणों का निम्नतम हस्तक्षेप था। ब्राह्मण अब देवता एवं अभ्यर्थक के बीच का माध्यम नहीं था। उपवास व्रत, नियम, जप आदि व्यक्तिनिष्ठ देव-अभ्यर्थना थी, जिसे समाज ने सहजतापूर्वक आत्मसात कर लिया था। पद्म-पुराण में भक्ति का तीन प्रकार वर्णित है:- लौकिक, वैदिक एवं आध्यात्मिक! लौकिक-भक्ति नैवेद्य आराधना को कहते है जिसमें देवता के प्रति फल, फूल, दीप, चन्दन, धूप, घी आदि अर्पित किए जाते थे। वैदिक मंत्रों का जप मनन, संहिताओं का अध्यापन-अध्ययन वैदिक-भक्ति कहलाता था। योगाभ्यास, प्रकृति-पुरुष विमर्शादि आध्यात्मिक भक्ति थी। इससे पृथक् सात्त्विक, राजसी एवं तामसी अन्य तीन भक्ति का भी वर्णन मिलता है। सत् मार्ग द्वारा मोक्ष की अभीप्सा सात्विक-भक्ति थी। विषय में स्थिर रहते हुए यश एवं ऐश्वर्य की कामना राजसी-भक्ति थी तथा आडम्बर, अहंकार, मान आदि में रहकर की जाने वाली भक्ति तामसी भक्ति थी।

पुराण-काल में व्रतों की अधिकाधिक संख्या देख ऐसा प्रतीत होता है कि व्रतों का महत्त्व बढ़ गया था। ये व्रत साल के प्रत्येक महीने में हुआ करते थे। ऐसा माना जाता है कि व्रतों के पालन से शरीर एवं आत्मा दोनों शुद्ध हो जाते हैं। व्रतों द्वारा देव अभ्यर्थना अत्यन्त सादगी और कर्मकाण्ड रहित हुआ करता था, किन्तु कालान्तर

में व्रत के साथ पूजा-पाठ, यज्ञादि कर्म-काण्ड जुड़ते चले गये। उपवास तक सीमित व्रत के अन्तर्गत दान, ब्राह्मण-भोजन आदि विभिन्न प्रकार के विधि-विधान जुड़ते चले गये। यही नहीं, विष्णु, कृष्ण, राम, गणेश, शिव आदि विभिन्न देवी-देवताओं से सम्बन्धित व्रत प्रचलित होते गये।

पुराणों में सद्व्यवहार एवं सदाचार पर भी विशिष्ट बल दिया गया है। शान्ति, सादगी, मैत्री एवं उच्च आदर्श पुराणकालीन परिवार की विशेषताएँ थीं। माता-पिता, गुरु, अग्रज के प्रति आदर, पुराणों के निर्देश थे। पति-पत्नी के बीच पावन-प्रेम हुआ करता था। माता-पिता की सेवा, पति-व्रता नारी का आदर्श था जिनके द्वारा परिवार में सभी के प्रति समान व्यवहार अपेक्षित माना जाता था। सार्वजनिक कार्यों में सहभागिता प्रशंसनीय थी। जलाशय, उपवन, कूप, मन्दिर आदि निर्माण करना कल्याणकारी एवं पुण्य से जुड़ा कार्य माना जाता था। पुत्र-प्राप्ति हेतु वृक्षारोपण किया जाता था। सत्य एवं अहिंसा को पुराणों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। लोग अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेत रहते थे। व्रत, दान और प्रायश्चित जैसे कर्म स्वधर्म कहलाते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का संचालन वर्ण-गत आधार पर करता था। 'विष्णु-पुराण' (3.7.20) में कहा भी गया है क स्वयं यम ने अपने दूतों को निर्देश दिया था कि वर्णाश्रम धर्म के अनुयायियों को स्पर्श न करें। 'वायु-पुराण' (30. 218) में शिव को वर्णाश्रम का प्रवर्तक माना गया है जो व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करता, वह यमलोक की यातना सहन करता है, ऐसी पुराणों की मान्यता थी।

पुराण काल में विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य देवता जो वैदिक-काल में गौण थे, प्रमुख देवताओं में सम्मिलित हो गये। इन देवताओं के उपासक पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय के कहलाने लगे। जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुए। इन सम्प्रदायों के भी अनेक उपसम्प्रदाय हो गये। यथा-शैव, वैष्णव, शक्ति की पूजा करने वाले शाश्वत वैष्णव-सम्प्रदाय में भी भागवत-धर्म, नारायण-धर्म, पञ्चरात्र-मत जैसे अनेक उप-सम्प्रदाय हो गये जिनकी चर्चा वैष्णव-धर्म के विकास में होगी।

पौराणिक देवताओं यथा इन्द्र, अग्नि, वरुण, मरुत, बृहस्पति, ब्रह्म-प्रजापति आदि की लोकप्रियता शनैःशनैः कम होने लगी एवं ब्रह्मा एवं विष्णु की सशक्त स्थापना होने लगी। ब्रह्मा एवं विष्णु परस्पर सम्मिलित रूप से सृष्टि के विभिन्न कार्यों के सम्पादक बन गये। कालान्तर में शिव की महत्ता भी बढ़ने लगी और उन्हें भी सृष्टि के संहारक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) इन त्रिदेवों के बहुसंख्य आख्यान पुराणों में लिखे गये।

पौराणिक धर्म की चर्चा करते हुए अवतारवाद पर भी विवेचन समीचीन होगा।

पुराण काल में विभिन्न अवतारों की प्रतिष्ठा भी दृढ़ हो गयी थी।[1] अवतारों द्वारा पृथ्वी पर अवतीर्ण होने का प्रयोजन भी भागवत पुराणों में बताते हुए कहा गया है कि अल्पज्ञ जीव को देवताओं के विलक्षण सौन्दर्य, औदार्य तथा कारुण्य जैसे विशेष गुणों को दर्शाने के लिए अवतारों का अवतरण होता था। कृष्णावतार के समय जीव को ईश्वर की निखिल शक्ति का परिचय प्राप्त हुआ था।[2] कृष्ण (विष्णु के अवतार) के विरोधाभासी स्वरूप को विष्णु-पुराण में दर्शाया गया है।[3]

सगुण-ब्रह्म के रूप में अवतारवाद का विशिष्ट महत्त्व है। अवतारवाद से ब्रह्म का मानवीकरण कर विभिन्न देवताओं के रूप में अभ्यर्थना होने लगी। यद्यपि अवतारवाद के संकेत वेद में भी प्राप्त होते हैं।[4] अनेक वैदिक ग्रन्थों में अवतारों की कथा वर्णित है। 'शतपथ ब्राह्मण' में मत्स्यावतार का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] वैसे दस अवतार प्रमुख कहे गये हैं - वराह, मत्स्य, कूर्म, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। ये दशावतार विष्णु के विभिन्न रूप थे। रामायण एवं महाभारत द्वारा क्रमशः राम एवं कृष्ण की अवतार रूप में दृढ़ स्थापना हुई।[6] कालान्तर में अवतारवाद एवं उनका ज्ञान-तत्त्व पुराणों का मुख्य विषय बन गया जिससे देव तत्त्व एवं दर्शन-तत्त्व सुदृढ़ हो गये।

## वैष्णव-धर्म

विष्णु आर्यों के प्राचीन देवता हैं जिनकी स्तुति ऋग्वैदिक ऋचाओं में हुई है। इन्हें इन्द्र के साथ जगत्-नियन्ता के रूप में दर्शाया गया है।[7] विष्णु के परम-पद में मधु का उत्स होने से देवताओं की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को आनन्द की प्राप्ति होती है।[8] विष्णु वैदिक काल तक प्रथम श्रेणी के देवताओं में सम्मिलित नहीं थे। वेदों में विष्णु की अपेक्षा इन्द्र की स्तुति अत्यधिक हुई है।[9] वैदिक काल तक सभी

---

1. मत्स्य-पुराण, 43.12, कुर्त्तु धर्मस्य संस्थानमसुराणां प्रशासनम्।
2. भागवत पुराण, 10.21.40; नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृपः।
   अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।।
3. विष्णुपुराण 2.2.3; एकानेक स्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
   अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवः।।
4. ऋग्वेद, 1.154.1।
5. शतपथ ब्राह्मण, 2.8.1.1।
6. रामायण (बालकाण्ड), 15.15.16, एतस्मिन्नंतरे विष्णुरूपयातो महाद्युति।
   गीता (चतुर्थ अध्याय), यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
7. ऋग्वेद, 1.22.19 ; इन्द्रस्य युज्यः सखा।
8. वही, 1.154.5;....... नरो यत्र देवयवो मदन्ति।...... विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।।
9. वही, 1.25.19

देवता यज्ञ से ही सम्बन्धित थे। वरुण के साथ विष्णु यज्ञ की रक्षा में संलग्न रहते थे।[1] विष्णु को विशिष्ट देवता की श्रेणी में सम्मिलित करने का योगदान विष्णु के तृतीय चरण या परमपद के आख्यानों को जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु को विशिष्ट देवता के रूप में वर्णित किया गया है।[2] विष्णु को सर्वोच्च देव के रूप में पदस्थापित करने में सर्वाधिक योगदान शतपथ-ब्राह्मण का है जिसमें विष्णु के वामन रूप की कथा वर्णित है।[3] यहाँ विष्णु को पृथिवी पर लिटा कर रखा दिखाया गया है जिन्होंने लेटे हुए अवस्था में ही अपने शारीरिक विस्तार से सम्पूर्ण पृथिवी को आच्छादित कर लिया है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही विष्णु देवता की महत्ता बढ़ने लगी थी। कालान्तर में विष्णु का महत्त्व बढ़ता ही चला गया। उपनिषदों में भी विष्णु के परम पद के महत्त्व को दर्शाया गया है।[4] वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु के विशाल पगों की कथाओं का उत्तरोत्तर संवर्धन एवं विस्तार होने लगा। पुराण एवं महाकाव्य काल तक विष्णु परम पर आरूढ़ हो गये तथा परमात्मा रूप में पूजे जाने लगे।

**नारायण**

गुप्तकाल में वैष्णव धर्म के अन्तर्गत नर-नारायण का पूजन एवं मूर्ति निर्माण बहुत अधिक बढ़ गया था। इस युग के अधिकांश शासक वैष्णव थे। इस काल में वैष्णव स्थापत्य एवं साहित्य का अत्यधिक विकास हुआ। कालिदास ने भी नारायण को विष्णु के समान माना है। महाकाव्य एवं पुराण ग्रन्थ नारायण तथा विष्णु में कोई भेद नहीं करते। अर्जुन नर थे एवं कृष्ण नारायण। महाभारत में उपास्य देव को प्रायः नारायण नाम से ही अभिहित किया गया है। महाभारत के शांति-पर्व में नारायणीय खण्ड की कथा नारायण से सम्बद्ध है।

'विष्णु-पुराण' में नारायण की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि 'नर' (परम पुरुष) से उत्पन्न होने के कारण जल 'नार' कहलाता है। वह नार ही उनका प्रथम आवास (अयन) है, इसीकारण भगवान, विष्णु नारायण कहे जाते हैं (**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं यस्य ताः पूर्व तेन नारायणः स्मृतः॥** विष्णु पुराण 1.4.6)। अन्य कई पुराणों में नारायण को विष्णु बताया गया है।[5]

1. ऐतरेय ब्रा., 111.38
2. वही, 1.1, अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परम....।
3. शतपथ ब्रा., 1.2.5
4. कठोपनिषद्, 1.3.9, विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
   सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्।।
5. मत्स्य पु. 132.4; एष नारायणोभूत्वा हरिरसीत्सनातनः।
   वायु पु. 23.95; साध्यो नारायणश्चैव विष्णुरत्रिभुवनेश्वरः।
   ब्रह्म पु. 4.10.30; आदि नारायणः श्रीमान्मोहिनीरूपमादधे।

नारायण का प्रथम संकेत ऋग्वेद (10.82.56) में स्वयंभू नारायण के रूप में प्राप्त होता है। जिन्होंने समस्त जीवों को धारण कर रखा है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में नारायण नामक एक ऋषि का भी वर्णन है। तैत्तिरीय-आरण्यक एवं उपनिषदों में नारायण के उल्लिखित विशेषण प्रायः समान हैं। पुराणों में सृष्टि की रचना से सम्बद्ध नारायण का वर्णन मिलता है।

नारायण के दो स्वरूप दीख पड़ते है। प्रथम रूप का वर्णन शतपथ-ब्राह्मण में सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी नारायण के रूप में हैं जबकि दूसरे रूप में नारायण नर से सम्बद्ध हैं। महाभारत के नारायण कृष्ण हैं तो नर अर्जुन। महाभारत के विभिन्न पर्वों में नर (अर्जुन) एवं नारायण (कृष्ण) की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। महाभारत की समस्त कथाएँ नारायण को वासुदेव से तादात्म्य बनाकर व्यक्त की गयी हैं।

## वासुदेव

पाणिनि काल में वासुदेव की उपासना करने वाले 'वासुदेवक' कहे जाते थे।[1] देवकीपुत्र भगवान् वासुदेव कृष्ण की पूजा छठी शताब्दी ई० पू० में प्रारम्भ हो चुकी थी। इन्हीं की उपासना द्वारा भक्ति का मार्ग सम्भवतः प्रशस्त हुआ। पतञ्जलि के महाभाष्य में वासुदेव को दिव्य पुरुष बताया गया है और 'पूजार्ह' अर्थात् भगवान् की संज्ञा दी गयी है। पतञ्जलि ने वासुदेव को विष्णु का अवतार बताया है। महाभाष्य में कृष्ण के चतुर्व्यूह[2], कंस और वासुदेव संबंधी आख्यान[3] तथा श्री कृष्ण के राजप्रासाद एवं मंदिरों का दिव्य वर्णन मिलता है।[4] इन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि पाणिनि युग में वासुदेव की पूजा एवं भागवत-धर्म हिन्दुओं के बीच प्रचलित था।

वैष्णव धर्म के उपास्य देवता विष्णु जिनका मानना है कि विष्णु ही एक मात्र देवता हैं जो मुक्ति देनेवाले हैं।[5] वैष्णव धर्म में वैदिक सूक्तों के स्थान पर आख्यान को प्रधानता मिली है। इस धर्म में इष्ट देव के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जैसे गुणों पर बल देते हुए उपनिषदीय दार्शनिक तत्त्वों को जोड़ दिया गया है। यहाँ यज्ञीय-कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति एवं उपासना को प्राथमिकता दी गयी है। जगत् को विष्णु की कृति माना गया है तथा इनके अनेक अवतारों का अवतरण विभिन्न काल-खण्डों में दिखाया गया है[6] यद्यपि इनमें दशावतार ही प्रख्यात हुए। ये दस अवतार हैं -मत्स्य,

1. अष्टाध्यायी, 4.3.98, वासुदेवार्जुनाभ्याम् तुन्।
2. महाभाष्य, 6.3.5, जनार्दनस्त्वात्म चतुर्थ एव।
3. वही, 3.2.111, जघान कंसं किल वासुदेवः।
4. वही, 2.2.34, प्रासादे धनपति राम केशवानाम्।
5. विष्णुपुराण 2.2.3, एकानेक स्वरूपाय स्थलूसूक्ष्मात्मने नमः।
   अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे।।
6. भागवत पुराण 1.3.26, अवतारी हि संख्येय हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः।
   यथाऽविसादितः कुल्याः सरसः स्तु सहस्रशः।।

कच्छप, वराह, नृसिह, वामन,परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि। विष्णु को अत्यन्त दिव्य रूप में दिखाया गया है तथा इन्हें सृष्टि का पालक, सर्वान्तर्यामी मान कर इनकी अभ्यर्थना की गयी है। वासुदेव कृष्ण को इनका रूप कहा गया है। अतएव दशावतारों में इनकी गणना नहीं है तथा यही कारण है कि वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक रूप वासुदेव या भागवत धर्म के रूप में मिलता है।

भागवत पुराण में सच्चा भक्त उसे माना गया है जो भगवान् को अपने हृदय में अवस्थित रखता है। भागवत धर्म का विकास निश्चित रूप से बौद्ध के पूर्व हो चुका था, क्योंकि महाभारत के समय सबसे प्रमुख धर्म भागवत धर्म ही था। विष्णु-पुराण में 'वासुदेव' को विष्णु के नाम के रूप में स्वीकार किया गया हैं तथा उन्हें सर्वातिशायी होने के कारण वासुदेव कहा गया है-

**विष्णुं ग्रसिष्णु विश्वस्य स्थितौ सर्गे तथा प्रभुम्।**
**सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै मतः।**
**ततः स वासुदेवेति विद्वद्‌भिः परिपठ्यते।।** 1.2.7-12

वायुपुराण (96.193.94) में वासुदेव के जनक वसुदेव की तपस्या के फलस्वरूप देवकी के गर्भ से चतुर्बाहुवाले दिव्य भगवान् के जन्म का वर्णन है -

**देवकयां वसुदेवेन तपसा पुष्करेक्षणः।**
**चतुर्वाहुस्तु संजज्ञे दिव्यरूपः श्रियान्वितः।**
**प्रकाशो भगवान्योगी कृष्णो मानुषमागतः।।**

किन्तु विष्णु पुराण[1] के अनुसार वासुदेव एवं देवकी पुत्र दोनों ही भिन्न हैं। फिर भी, वैष्णव धर्म में वासुदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वासुदेव कृष्ण बलराम के भाई थे। महाभारत में वासुदेव कृष्ण को विष्णु के साथ तादात्म्य दिखाकर इन्हें विष्णु कहा गया है। महाभारत के भगवद्‌गीता एवं अनुगीता में कृष्ण का विराट् रूप देखने को मिलता है, जिसे वैष्णव रूप भी कहा गया है। भागवत धर्म को मानने वाले 'वासुदेव' शब्द की व्युत्पत्ति वसुदेव से करके 'वसु' धातु से करते हैं।[2] नारायणीय खण्ड में[3] श्री कृष्ण अपने विभिन्न नामों की व्याख्या करते हुए नर (अर्जुन)से कहते हैं कि मैं ही सूर्य रूप धारण करके अपनी किरणों से सम्पूर्ण जगत् को आच्छादित किए रहता हूँ तथा मुझ में ही सम्पूर्ण प्राणी अवस्थित हैं इसीलिए मेरा नाम वासुदेव है। यद्यपि महाभारत की कथाओं से प्रतीत होता है कि कृष्ण से पूर्व भी वासुदेव की आराधना की जाती थी। महाभारत के वन पर्व[4] पौण्ड्रक शाल नरेश की कथा है जो

1. विष्णु पु. 5.17.1
2. महाभारत 5.70.3; विष्णु पु. 1.2.12
3. महाभारत 12.34
4. वही, 3.14.8

स्वयं को वास्तविक वासुदेव घोषित करता था, जिसे कृष्ण ने मार डाला था। इससे स्पष्ट है कि वासुदेव की आराध्य देव रूप में पूर्व से पूजा होती थी, तभी पौण्ड्रक एवं कृष्ण दोनों ने इस उपाधि के लिए परस्पर युद्ध किया, किन्तु कालान्तर में कृष्ण ही वासुदेव के रूप में धीरे-धीरे जाने एवं पूजे गये।

## गोविन्द, गोपाल एवं कृष्ण

गोविन्द की व्युत्पत्ति है 'गां विन्दन्ति'[1] अर्थात् जल में पृथ्वी को धारण करना। महाभारत में कथन है कि हमने नष्ट हो गयी पृथ्वी को पुनः रसातल में वराह रूप धारण कर प्राप्त किया था, इसीलिए मैं देवताओं द्वारा 'गोविन्द' नाम से स्तुत्य हूँ।[2] वासुदेव कृष्ण के लिए एक और पर्यायवाचीशब्द है गोपाल। हरिवंश पुराण में कृष्ण की उक्ति है कि वे गोपालक हैं, वनों में घुमते हुए गायों पर अपना पोषण करते हैं।[3] आज भी गोपाल कृष्ण द्वारा किए गये गोवर्धन पूजा का प्रचलन गोपालकों अथवा ग्वालों में है। ग्वालों को 'अहीर'(आभीर का रूपान्तर) भी कहा जाता है क्योंकि ये गोपालक आभीर बस्तियों अर्थात् घोषों में रहते थे और कहीं भी अपनी बस्ती बसा लेते थे

वासुदेव को कृष्ण भी कहते हैं क्योंकि वे श्याम वर्ण के थे। महाभारत में वासुदेव का एक रोचक कथन है। वासुदेव अर्जुन से कहते हैं-

**कृषामि मेदिनी पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान्।**

**कृष्णो वर्णश्च में यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुनः॥** शांति पर्व, 342.79

अर्थात् हे अर्जुन ! मैं काले लोहे का विशाल फाल बनाकर इस पृथ्वी को जोतता हूँ तथा मेरे शरीर का रंग भी काला है, इसीलिए मैं 'कृष्ण' हूँ।

कृष्ण आज सभी हिन्दुओं के लिए पूजनीय देवता बन गये हैं। कन्हैया, वासुदेव, बाल-गोपाल, सुदर्शन, गोविन्द आदि अनेक नामों से ये जाने जाते हैं। यद्यपि ऋग्वैदिक कृष्ण को अनार्य बताते हुए इन्द्र द्वारा परास्त किए जाने की घटना का उल्लेख विरोधाभासी है।[4] छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक कृष्ण का उल्लेख है जो देवकी पुत्र हैं और जिन्होंने घोर आंगिरस से शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि के काल में कृष्ण देव रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। बाद के समय में कृष्ण का पूजन इतना बढ़ गया कि इनके चरित्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये - महाभारत, हरिवंश, श्रीमद्भागवद् आदि।

---

1. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 21
2. वही, शांति पर्व, 342.70, नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम्।
   गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिःभिष्टुतः॥
3. हरिवंश, श्लोक संख्या 3808
4. ऋग्वेद, 8.96.13-15

ऋग्वैदिक देवता विष्णु के साथ श्रीकृष्ण का तादात्म्य हो जाने से यह वैष्णव धर्म के साथ ही साथ आस्तिक धर्म भी बन गया। ज्यों-ज्यों कृष्ण-कथा का विकास हुआ, वैष्णव धर्म का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया है। निम्बार्क ने राधा-कृष्ण की श्रृंगारिक क्रीड़ाओं को दार्शनिक स्वरूप प्रदान कर कृष्ण को सर्वोच्च स्थान दिया है। उत्तरी भारत में फलता-फूलता वैष्णव-धर्म धीरे-धीरे दक्षिण-भारत में भी फैल गया। वैष्णव धर्म का भक्ति-रस अलवार सन्तों को अत्यन्त रुचिकर लगा। अलवारों ने तमिल वेद की रचना की जिसे द्रविड़ों में पर्याप्त ख्याति मिली। पुनः नाथ सम्प्रदायियों ने वैष्णव धर्म की दार्शनिक व्याख्या की। श्रीरंगपत्तनम् वैष्णव-धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया। जहाँ वैष्णव सिद्धांतों का अध्ययन अध्यापन होने लगा। रामानुजाचार्य ने यहीं विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना कर वैष्णव धर्म एवं भक्ति से दक्षिण भारत ही नहीं, उत्तरी भारत को भी जोड़ दिया। रामानुजाचार्य ने पञ्चरात्र संहिताओं को अपने ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये श्रीभाष्य में समाहित किया है।

भागवत धर्म या वैष्णव धर्म में पूजा की निम्न विधियाँ बतायी गयी है - (1) अभिगमन -मन, वचन एवं शरीर से भगवान् के प्रति पूर्ण रूप से उत्सर्जित होकर देव-मन्दिर में जाना। (2) उपादान- विभिन्न पूजा सामग्री यथा पुष्प, लकड़ी, चन्दन आदि एकत्रित करना, (3) इज्या- पूजा करना, (4) स्वाध्याय-भगवान् के मन्त्र का जाप करना और (5) योग- समाधि।

**भक्ति**–वैष्णव धर्म में भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्ति का अर्थ है ईश्वर का अंश (भाग) प्राप्त करने हेतु प्रयास। भक्ति के अनेक रूप हैं - (1) सख्य भाव, (2) दास्य भाव तथा (3) श्रवण (भगवान् की महिमा का कथन सुनना)। पूर्ण आत्म-निवेदन की स्थिति सख्य एवं दास्य भाव है। सखा भाव में राधा को सर्वोच्च नारी के रूप में स्वीकार किया गया है। उनके सखा भाव से प्रभावित होकर-भक्त गण कृष्ण से पूर्व राधा का नाम लेते हैं। यथा, राधे कृष्ण। मीरा को दास्य भाव के रूप में देखा जा सकता है। भक्ति की कुछ सामान्य विधियाँ भी हैं -(1) भगवान् का स्मरण, (2) भगवान् के नाम एवं महिमा का संकीर्तन (3) भगवान् का प्रणमन (4) भगवद् चरणार्विन्दम् (5) निरन्तर भगवद् पूजा (6) भगवान् के सम्मुख आत्म-निवेदन।[1]

भक्ति शुद्ध अनुराग एवं श्रद्धा है। यह लौकिक प्रेम से भिन्न अलौकिक प्रेम है जिसमें उपासक उपास्य के प्रति शुद्ध अन्तःकरण से भक्ति करते हैं और भगवान् ऐसे भक्तों के प्रति अपनी कृपा दर्शाते हैं।[2] गीता में भक्ति की स्पष्ट व्याख्या करते

1. श्रीमद्भागवत पुराण, 7.5.33; श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम्।
   अर्चनं वन्दनं दास्ये सख्यमात्मनिवेदनम्।।
2. वही, 9.4.63; अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विजः।
   साधुर्निग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।।

हुए कहा गया है – परमेश्वर विराट् एवं इन्द्रियातीत हैं किन्तु लौकिक विग्रह धारण करने वाले हैं। पुत्र का पिता के समान, सखि के लिए सखा के समान, प्रिया के लिए प्रियतम के समान भगवान् भक्त का ध्यान रखते हैं –

**तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।**
**पितेव पुत्रस्य सखेव प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।**

– श्रीमद्भगवद्गीता-11/44

भक्ति भगवद् साधना का एक ऐसा मार्ग है जिसमें धर्म, भक्ति एवं निष्काम कर्म तीनों का सुन्दर समन्वय है। वैष्णव धर्म का मुख्य आधार अवतारवाद है जिसकी विस्तृत चर्चा पूर्व ही की जा चुकी है। वैष्णवों के लिए भक्ति ही श्रेष्ठ मुक्ति का मार्ग है। वैष्णवों के लिए मूर्त्तिपूजा एवं मन्दिरों का विशिष्ट स्थान है। भगवान् की मूर्त्ति को श्रीविग्रह कहकर उसे ही भगवान् का प्रत्यक्ष रूप एवं प्रतीक माना जाता है जिसके प्रति सभी वैष्णव अपनी भक्ति दर्शाते हैं। पूजा के पूर्व वैष्णव तिलक चन्दनादि का प्रयोग करते हैं। त्योहारों पर धार्मिक उत्सव आयोजित किए जाते हैं। भजन, कीर्तन, लीला आदि का कार्यक्रम होता है। तीर्थाटन वैष्णवों की भक्ति का प्रमुख मार्ग है।

इस प्रकार वैष्णवों का भक्ति मार्ग ईश्वरीय-साधना का ऐसा मार्ग है जिससे अल्पज्ञ एवं सर्वसाधारण भी आत्मा, परमात्मा एवं अन्य सूक्ष्म बातों को समझ सकते है। यह भक्ति के साथ-साथ ज्ञान का भी मार्ग है। वैष्णवों ने सभी प्राणियों के प्रति समान दृष्टि रखी है। कमजोर प्राणियों के प्रति सदयता का भाव तथा सभी जातियों के भक्त के लिए भक्ति की स्वतंत्रता वैष्णव धर्म की प्रमुख विशेषता है। वैष्णव-धर्म, भागवत-धर्म एवं 'सात्वत धर्म' के नाम से भी कहा गया है। **'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय'** तथा **'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्'** ये दोनों उक्तियाँ वैष्णव भक्तों को प्रिय हैं।

## भारतीय आध्यात्मिक चेतना में वैष्णव साधना

भारतवर्ष में चार वैष्णव-सम्प्रदाय चार पृथक् धाराओं में वैष्णवधर्म का प्रचार करते आ रहे हैं। चारों पांचरात्र सिद्धान्त के अनुसरणकर्त्ता हैं। पहला **श्रीसम्प्रदाय** नाम से प्रसिद्ध है। इसकी आदि प्रवर्त्तिका श्री या लक्ष्मी है और दार्शनिक मत है विशिष्टाद्वैत। श्रीरामानुजाचार्य इसके प्रधान प्रचारक हैं। दूसरा सम्प्रदाय सनकादि-प्रवर्त्तित है, इसलिए **हंस-सम्प्रदाय** नाम से परिचित है। **इसका सिद्धान्त है द्वैताद्वैत और इसके प्रधान** प्रचारक हैं श्रीनिम्बार्काचार्य। तीसरा, ब्रह्मप्रवर्तित द्वैतमतावलम्बी ब्रह्म-सम्प्रदाय है। इस मत के प्रधान आचार्य हैं **श्रीमन्मध्वाचार्य**। चौथे सम्प्रदाय का नाम है **रुद्र सम्प्रदाय**। इसके आदि गुरु हैं रुद्रदेव, सिद्धान्त है शुद्धाद्वैत एवं प्रधान

प्रचारक **विष्णुस्वामी** तथा बाद **में बल्लभाचार्य** हैं। कहना नहीं होगा, चैतन्यदेव के नामानुसार, कोई स्वतंत्र वैष्णव-सम्प्रदाय नहीं है। साधारणतः माध्व-सम्प्रदाय में ही चैतन्यदेव के. गौडीय-सम्प्रदाय की गणना होती है। गुरु-परम्परा की अलोचना से भी यही ज्ञात होता है। चैतन्यदेव के संन्यास-गुरु **केशवभारती** माध्व सम्प्रदाय के सन्यासी थे। इनके दीक्षागुरु **ईश्वरपुरी** और सन्यासगुरु केशवभारती दोनों ही **श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी** के शिष्य थे। किन्तु, **मध्वाचार्य** के सिद्धान्त से श्रीचैतन्य के अभिमत दार्शनिक सिद्धान्त का ऐक्य नहीं है। यहाँ तक कि दोनों में उपासना प्रणाली और आदर्शगत भेद भी बहुत है।

गौडीय मत के मूल की खोज करने में बहुत स्थलों पर ही दृष्टि पड़ती है। गैडीयों ने पांचरात्रशास्त्र, शाक्ततन्त्र आदि बौद्ध साधन-प्रणालियों से ही बहुत से तत्त्व स्वकीय सिद्धान्त के अनुकूल रूप में ग्रहण किए हैं। ये सब आगम के ही अन्तर्गत हैं। अतएव, गौडीय सिद्धान्त के मूल में आगम की प्रधानता है, इसमें सन्देह नहीं। आगम से वेद का क्या संबंध है, इस पर अनेक प्रकार के मत हैं। यहा उन सबकी चर्चा की आवश्यकता नहीं। एक समय आगम की प्रामाणिकता एवं वैदिकता को लेकर देश में बड़ा आन्दोलन हुआ था। यहाँ इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि गौडीय आचार्यों ने अन्यान्य सम्प्रदायों की भाँति अपने को वैदिक या श्रौत सिद्धान्त कहकर ही प्रचारित किया है, एवं उपनिषद् तथा पुराण आदि की सहायता से अपने सिद्धान्त के समर्थन की चेष्टा की है, स्मार्त वैष्णवमत को शैवमत की भाँति अवैदिक कहकर साधारणतः उपेक्षा किया करते हैं।

गौडीय सम्प्रदाय पांचरात्र-मतभुक्त है, यह स्पष्ट ही समझ में आता है। पांचरात्र से भागवत-सम्प्रदाय भी समझना होगा। अवश्य, मूलतः पांचरात्र और भागवत-सम्प्रदाय में कुछ-कुछ वैलक्षण्य था। परन्तु, कालक्रम से दोनों सम्प्रदाय मिल गए।[1] भागवत-सम्प्रदाय विशेषतः 'श्रीमद्भागवत' पर प्रतिष्ठित था।[2] श्रीमद्जीवगोस्वामी ने

1. महाभारत के शान्तिपर्व, मोक्षधर्मपर्व और नारायणीय खण्ड (अध्याय 350) में भी पांचरात्रमत का उल्लेख है। इसके वक्ता हैं नारायण और श्रोता नारद। बहुतों का यह विश्वास है कि पाशुपत, सांख्य, योग आदि की भाँति यह अवैदिक सिद्धान्त है। हर्षचरित में पांचरात्र और भागवत का अलग उल्लेख है। ब्रहासूत्र के दो सूत्र, 2.2.42-43, शंकरमत से भागवतमत के विरुद्ध हैं। संशोधित रूप में यह अधिकरण रामानुज-मत से पांचरात्र-सिद्धान्त का समर्थक है। रामानुज का विश्वास था कि बादरायण पांचरात्र-विरोधी नहीं थे और पांचरात्र-मत अवैदिक नहीं है। यामुनाचार्य ने भी उनके पहले 'आगम-प्रामाण्य' रचकर पांचरात्र-सिद्धान्त के वैदिकत्व की स्थापना की चेष्टा की थी। महाभारत के नारायणीय मत से पांचरात्र सात्त्वतों का धर्म है, इसलिए कभी-कभी यह सात्वतधर्म के नाम से भी वर्णित होता है।
2. श्रीमद्भागवत का काल-निरूपण करना बड़ा कठिन है। लेकिन, यह तो नया ग्रन्थ है, या वोपदेव-रचित नहीं है।

उक्त ग्रन्थ की टीका में तथा स्वरचित 'षट्सन्दर्भ' नामक निबन्ध में भागवत-मत की अलोचना की है। उन्होंने भी पांचरात्र-मत से भागवत दिखाया है।

पांचरात्र या भागवत-धर्म भक्तिप्रधान है। वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा बहुत ही विरल है। वैदिक उपासना को यद्यपि बहुत-से लोग भक्ति का स्थानाभिषिक्त मानते हैं, और कुछ अंश में यह सत्य भी है, तथापि 'भक्ति' कहने से जो बोध होता है, ठीक वही चीज वैदिक कर्म या ज्ञान या उपासनाकाण्ड में नहीं मिलती। विभिन्न मतों से भक्ति का लक्षण विभिन्न रूपों में किया तो जा सकता है, किन्तु चरम अवस्था में भक्ति को चित्त का भावमय प्रकाश ही मानना पड़ता है। न्यायवैशेषिक आदि दर्शनशास्त्रों में भाव की अलोचना जैसे उपेक्षित हुई है, वैसे ही वैदिक साधन-पद्धति में भी भक्ति का कोई स्थान नहीं है। शाण्डिल्य और नारद भक्तिसूत्र के रचियता हैं। दोनों से ही, पांचरात्र-मत का घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। कहा जाता है, चारों वेदों में परम श्रेयस् नहीं पाकर शाण्डिल्य ऋषि ने पांचरात्र का आश्रय लेकर तृप्ति लाभ की थी। शाण्डिल्यसंहिता नामक एक पांचरात्रसंहिता का उल्लेख बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान और नारदपांचरात्र आदि की अलोचना से पता चलता है। कि नारद भी पांचरात्र-मतावलम्बी थे। छान्दोग्य उपनिषद् के नारद सनत्कुमार संवाद से भी नारद के मन्त्रविद्या-विरोध का अनुमान होता है। जिस प्रकार कर्मवादी कर्म से, उसी प्रकार ज्ञानवादी ज्ञान से निःश्रेयस्-लाभ होने की बात कहते हैं। न्यायवैशेषिक आदि दर्शनशास्त्र ज्ञानप्राधान्य-ख्यापक हैं। ज्ञान तथा उससे मिलने वाले अपवर्ग का लक्षण यद्यपि प्रत्येक दर्शन में ही विभिन्न रूपों से निरुक्त हुआ है, तथापि आत्मज्ञान हुए बिना मुक्ति नहीं होती यह सभी अंगीकार करते हैं। भक्तिशास्त्र प्रधानतया भक्ति का माहात्म्य-ख्यापक है। शाण्डिल्य और नारद के ग्रन्थों में भी स्वभावतः भक्ति की मुख्यताः ही गाई गई है। कहीं भक्ति को मुक्ति का साक्षात् कारणरूप, कहीं भक्ति का ही, अर्थात् पराभक्ति का साधक कहा गया है-मुक्ति को दोनों का अन्तरालवर्ती अवान्तर व्यापार कहकर उनकी उपेक्षा की गई है। भक्तिशास्त्र बहुत विस्तृत और अनेक प्रकार के मतों से समन्वित है। जिसकी विस्तृत चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

गौडीय सिद्धान्त के मर्म को समझने के लिए जितना आवश्यक है, उतने की संक्षेप में चर्चा करनी समीचीन होगी। पांचरात्रशास्त्र का मूलग्रन्थ 'संहिता' अथवा 'तन्त्र' आख्या-समन्वित आगम-साहित्य है। ग्रन्थों में साधारणतया अष्टोत्तरशत-संख्यक **'पांचरात्रसंहिता'** का उल्लेख मिलता है। किन्तु डॉक्टर श्रेडर ने दिखाया है कि यह संख्या-निर्देश ठीक नहीं है। कपिंजल, पाद्म, विष्णु तथा हयशीर्षसंहिता एवं अग्निपुराण से उन्होंने जो नामावली संग्रह करके प्रकाशित की है, उसमें 290 नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने और भी अनेक संहिताओं के नामों का उल्लेख किया

है। कहना व्यर्थ है इसके बाद भी नामावली पूरी हुई है, ऐसा नहीं लगता। क्योंकि, इन सभी नामों के अलावा और भी बहुत-से नाम प्रसंगत: प्राचीन साहित्य में मिलते हैं और बहुत बार एक ही नाम की बहुसंख्यक संहिताएँ भी देखने को मिलती हैं। यहाँ डॉक्टर श्रेडर ने लक्ष्य किया है। ऐसे विस्तृत साहित्य में सर्वत्र एक ही भाव अक्षुण्ण रूप में मिलेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। काश्मीरागम में जैसे अद्वैतवाद या द्वैतवाद, दोनों का ही सन्निवेश है, पांचरात्र-आगम में भी बहुत कुछ वैसा ही है। परन्तु वह अद्वैतवाद श्रीशंकराचार्य-प्रचारित निर्विशेषाद्वैतवाद से पृथक् है। स्पन्द और प्रत्यभिज्ञानदर्शन में अद्वैत या अद्वय से शिव-शक्ति के सामरस्य का तात्पर्य है। शिव-शक्ति का वैषम्य ही षट्त्रिंशततत्त्वात्मक द्वैत है और दोनों का साम्यभाव अद्वैत। पांचरात्र-मत भी प्राय: ऐसा ही है। पराशक्ति या लक्ष्मी जब परमेश्वर में विलीन रहती हैं, तब प्रलय-अवस्था है-यह शक्ति की निष्क्रिय दशा है। इसी को अद्वयावस्था कहकर वर्णित किया जाता है। शंकर-मत में शक्ति की वास्तविक सत्ता नहीं है- पारमार्थिक दृष्टि से शक्ति तुच्छ, विचार दृष्टि से अनिवर्चनीय या मिथ्या और व्यवहार दृष्टि से सत्य है। पारमार्थिक सत्ता एक मात्र ब्रह्म की ही है। अतएव, शंकर-प्रतिपादित अद्वैतवाद में शक्ति का स्थान नहीं। शक्ति की पारमार्थिकता को अस्वीकार करने के फलस्वरूप जीव और जगत्, मिथ्या के रूप में उपेक्षित हुए हैं। कर्म, उपासना, भक्ति आदि की वास्तविकता जाती रही, संबंध और सम्बधात्मक ज्ञान मायिक कहकर अनादृत हुआ। कहना नहीं होगा, भक्तिमार्ग में शक्ति की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। शक्ति के विशुद्ध और निर्मल स्वरूप को स्वीकार नहीं करने से ईश्वर, जीव और जगत् तथा उनका पारस्परिक संबंध, सब कुछ अज्ञान्कल्पित कहकर हेय हो पड़ते है; भक्ति, करुणा, कर्म आदि का उत्स सूख जाता है। शैव, वैष्णव या शक्ति आगम में जो अद्वैतवाद है, वह भक्ति-साधना या रसास्वादन का परिपन्थी नहीं; क्योंकि वह शक्तित्यागमूलक नहीं, शक्तिग्रहणमूलक है। महायान बौद्ध-सम्प्रदाय में भी इसीलिए प्रज्ञापारमिता की सत्ता को अस्वीकार करके बोधिसत्त्ववाद की नींव डाली गई। पांचरात्र-सम्प्रदाय का अद्वैतवाद शक्ति और शक्तिमान् का समन्वयमूलक है। दोनों का समवाय या अविनाभाव-संबंध स्थापित करके प्राचीन वैष्णवाचार्यों ने शक्ति की निष्क्रिय किंवा अव्यक्त अवस्था में सत्ता को मान लिया है, ऐसा देखा जाता है।

भगवान् के संकल्पवश उनमें विलीन महाशक्ति, मेघाच्छत्र आकाश में बिजली की कौंध की नाई उन्मेष-लाभ करती है। अव्यक्त दशा में शक्ति और शक्तिमान् में भेद रहते हुए भी उनकी प्रतीति नहीं रहती। उसे एक प्रकार की निर्वात स्पन्दन-रहित निर्वाणावस्था कही जाती है। जो संकल्पनिबन्धन प्रसुप्त महाशक्ति उद्‌बुद्ध होती है, वह भगवान् का अनिर्वचनीय स्वातन्त्र्य है। यह उनका स्वभाव है। उस उद्‌बोधन के

समय लेशमात्र शक्ति का ही उन्मेष होता है। बाकी समग्र शक्ति ही अव्यक्त रह जाती है। अभिव्यक्त-शक्ति क्रिया एवं भूतिभेद से दो प्रकार की है। क्रियाशक्ति को अहिर्बुध्न्यसंहिता में सौदर्शनी कला कहकर उसका निर्वचन किया गया है। यह निष्फल एवं प्राणात्मक है। भूतिशक्ति सकल तथा नाना प्रकार के भेदवाली क्रियाशक्ति की तुलना में बहुत क्षुद्र है। भूति के परिवर्तन आदि समस्त व्यापार ही क्रियासापेक्ष हैं। यह क्रियाशक्ति ही सृष्टि के समय मूला प्रकृति में परिणाम-सामर्थ्य, काल में कलन-सामर्थ्य और आत्मा में भोगसामर्थ्य का संचार करती है और संहारकाल में उन सामर्थ्यों का प्रत्याकर्षण करती है।

शक्ति का विकास और संकोच पर्याय-क्रम से होता है। इसीलिए, सृष्टि के बाद प्रलय और उसके बाद फिर से सृष्टि स्वभाव नियम से ही होती है। सृष्टि शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध-तीन प्रकार की है। काश्मीरागम और त्रिपुरा-साहित्य में भी इसी प्रकार त्रिविध अध्वा स्वीकृत हुई है। गुणोन्मेष-दशा शुद्ध सृष्टि का नामान्तर है। इस समय भगवान् के अप्राकृत षड्गुण का आविर्भाव होता है। इन सभी गुणों के सद्भाववश भगवान् प्राकृतिक गुणत्रय से रहित होते हुए भी, अर्थात् तथाकथित निर्गुणावस्था में भी नित्य सगुण हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य एवं तेज की समष्टि उनमें सदा वर्तमान होती है, इसीलिए वैष्णवागम में बहुत स्थानों पर उन्हें षाड्गुणविग्रह कहकर वर्णित किया जाता है। ज्ञान भगवान् का स्वरूप एवं धर्म है- अन्यान्य गुण केवल धर्म ही है, स्वरूप नहीं। इच्छाशक्ति ही ऐश्वर्य है। अबाधित इच्छा का नाम इच्छाशक्ति है। भगवदिच्छा का प्रतिबंधन नहीं हो सकता, इसीलिए वह ऐश्वर्यमय या ईश्वर हैं। जगत् के प्रकृतिभाव या उपादान को शक्ति कहते हैं। भगवत्-सृष्टि बाह्य-उपादानसापेक्ष नहीं। भगवान् जगत् के निमित्त और उपादान -एक ही साथ दोनों हैं। बल श्रम अभाव है और वीर्य विकार-राहित्य। साधारणतया, देखा जाता है कि दूध दही में बदलकर विकार प्राप्त होता है- प्रकृति विकृत हुए विना परिणाम-लाभ नहीं कर सकती। परंतु, भगवत्सामर्थ्य अचिन्त्य है - वह जगत् का प्रसव करके भी निर्विकार भाव से ही वर्तमान रहते हैं। तेज सहकारिनिरपेक्षता है। इन छह गुणों का ज्ञान आदि प्रथम तीन विश्रामभूमि और बल आदि तीन श्रमभूमि कहे जाते हैं। इन गुणों का मिश्रित रूप ही भगवान् और लक्ष्मी की मूर्त्ति है। परव्योम या वैकुण्ठ निवासी मुक्त आत्माएँ सदा इसी रूप का दर्शन किया करती हैं।

षाड्गुण्ययुक्त, किन्तु शक्ति से पृथक्-भूत भगवान् ही वासुदेव हैं। वासुदेव से संकर्षण आदि तीन व्यूहों का क्रमशः आविर्भाव होता है। एक प्रदीप से दूसरा प्रदीप जैसे प्रज्वलित होता है, एक व्यूह से दूसरा एक व्यूह भी वैसे ही अभिव्यक्त होता है। उनमें ज्ञान और बल संकर्षण में, ऐश्वर्य और वीर्य प्रद्युम्न में, शक्ति और तेज अनिरुद्ध में प्रधान रूप से प्रकाशित होता है। अन्यान्य गुण गौण भाव से रहते हैं।

संकर्षण से अनिरुद्ध तक व्यूह के आविर्भाव-काल को शुद्ध सृष्टि का काल माना जा सकता है। शुद्ध सृष्टि के प्रलयकाल को भी उसी परिणाम में समझना होगा।[1]

संकर्षण से ही हमारा विश्व प्रकट होता है। कहा गया है, संकर्षण की देह में समग्र विश्व तिलकालकवत् बीजभूत होकर एक छोटे से अंश में वर्तमान है। संकर्षण अनन्त भुवनसमूह के आधार बलदेव का स्वरूप है। प्रद्युम्न से पुरुष और प्रकृति का भेद अभिव्यक्त होता है। ये ऐश्वर्य-योग से मानव-सर्ग और विद्या-सर्ग का विस्तार करते हैं। समष्टि पुरुष, मूला प्रकृति और सूक्ष्म काल इसी व्यूह से ही प्रकाशित होते हैं। अनिरुद्ध से व्यक्त जगत् स्थूल काल एवं मिश्र सृष्टि उद्भूत होती है। वह अपनी शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड-समूह और उसके अन्तर्गत विषयराजि नियमित करते हैं। व्यूह आदि कार्य प्रभृत के विषय में बहुत मतभेद है।

उनकी शक्ति है लक्ष्मी। अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि किसी पांचरात्र-ग्रन्थ में पराशक्ति का यही रूप ही स्वीकृत हुआ है। किसी-किसी ग्रन्थ में श्री एवं भू-इन दो शक्तियों की बात मिलती है। पाद्मतन्त्र, परमेश्वरसंहिता आदि इसी मत का अवलम्बन करते है। विहगेन्द्रसंहिता आदि संहिताओं के अनुसार भक्ति तीन प्रकार के हैं -श्री, भू, और लीला (या नीला)। सीतोपनिषद् में यह विभाग गृहीत हुआ है। शक्तित्रयवादी कहते हैं कि श्री कल्याणवाचक एवं इच्छाशक्ति-स्वरूप, भू प्रभावद्योतक और क्रियाशक्तिरूप तथा लीला चन्द्रसूर्याग्निमयी साक्षात् शक्तिस्वरूपा है।

परव्योम में नित्य एवं मुक्त-इन दो प्रकार के जीवों का आवास है। नित्यजीव सदा मुक्त है, इन्हें संसार का स्पर्श कभी नहीं हुआ। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों

---

1. व्यूहशक्ति की सृष्टि-प्रणाली महासनत्कुमारसंहिता में इस प्रकार है:
वासुदेव
|
श्वेतवर्णा शान्तिदेवी (भगवान् की मनोजन्या)
= संकर्षण (दोनों को एकत्र शिवतत्त्व कहते हैं)
|
रक्तवर्णा श्री (संकर्षण की वामपार्श्वजाता)
= प्रद्युम्न (या ब्रह्मा)
|
गीता सरस्वती
= अनिरुद्ध (दोनों एकत्र पुरुषोत्तम)
|
कृष्णवर्णा रति। ये त्रिविध मायाकोष हैं।
यह सृष्टि बहिरण्डज है, अतएव ब्रह्माण्ड-संसृष्ट शिव आदि से यह शिव, ब्रह्मा और विष्णु पृथक् तत्त्व हैं।

में 'सूरि' शब्द में इन्हें संकेतित किया गया है। ये सर्वज्ञ और भगवान् के सेवक हैं। इनके सेवाधिकार का वैशिष्ट्य भगवान् के नित्य इच्छानुसार अनादिकाल से व्यवस्थित है। इनमें चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र आदि वैकुण्ठ के द्वार-रक्षक हैं; कुमुद, कुमुदाक्ष पुण्डरीक, वामन आदि नगरपाल, अनन्त या शेष भगवान की शय्या, गरुड उनका वाहन और विष्वक्सेन मन्त्रणासहायक है। भगवान् के पार्षद नित्यजीव-श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं। ये जगत् में यथेष्ट (इच्छानुसार) अवतीर्ण होते हैं। मुक्त जीव ज्ञानानन्दमय है, कोटिरश्मिविभूषित त्रसरेणु की भाँति परव्योम में विराजते हैं। ये भगवान् के पार्षद या अधिकारी-मण्डल से अलग हैं। मुक्तों के प्राकृत देह तो नहीं है, परन्तु जगत् के किसी भी मामले में दखल देने का अधिकार उन्हें नहीं है। भगवत्सेवा ही उनका एकमात्र लक्ष्य है।

वैकुण्डठधाम, जो प्रकृति के ऊपर अवस्थित है, विशुद्धसत्त्वमय, शक्तिसमन्वित परमपुरुष की क्रीडाभूमि है, यह निम्नांकित पांचरात्र-वचन से स्पष्ट प्रमाणित होता है:

**लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यं षाड्गुण्यसंयुतम्।**
**अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्॥**
**नित्यमुक्तैः समाकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः।**
**सभाप्रमोदसंयुक्तैर्वनैश्चोपवनैः शुभैः॥**
**वापीकूपतडागैश्च वृक्षखण्डैश्च मण्डितम्।**
**अप्राकृतसुरैर्वन्द्यमयुताकर्मसमप्रभम्॥**
**प्रकृष्टसत्त्वराशिं त्वां कदा द्रक्ष्यामि चक्षुषा॥**
**क्रीडन्तं रमया सार्द्धं लीलाभूमिषु केशव॥**

रामानुजाचार्य ने अपने गद्यत्रयान्तर्गत 'श्रीवैकुण्ठगद्य' नामक निबन्ध में वैकुण्ठ का अपूर्व मनोहर वर्णन प्रस्तुत किया है।

हमने बहुत ही संक्षेप में, पांचरात्र-सम्प्रदाय के व्यूह और शुद्धसृष्टि की प्रणाली के बारे में दो-एक बातें कहीं। अब सम्प्रदाय-चतुष्टय के सिद्धान्त के सम्बन्ध में छोटी-मोटी कुछ चर्चा करेंगे। वैष्णव-सम्प्रदायों में श्री और ब्रह्म-सम्प्रदाय ने शक्ति और शक्तिमान् को विष्णु और लक्ष्मी के रूप में ग्रहण किया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय राधा-कृष्ण का उपासक है-विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय भी वही है। श्रीचैतन्यदेव यद्यपि माध्वीय गुरु के शिष्य थे, तथापि वह राधा-कृष्ण के ही प्राधान्य का प्रचार कर गये हैं। पांचरात्र में साधारणतः विष्णु-लक्ष्मी की उपासना ही कीर्त्तित हुई। परन्तु राधा-कृष्ण की प्रधानता या वृन्दावन-लीला का महत्त्व बिलकुल है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नारद-पांचरात्र में राधा की चर्चा मिलती है। उक्त ग्रन्थ का

'ज्ञानामृतसार' अंश प्रकाशित हुआ है। डॉक्टर भण्डारकर एवं उनके अनुसरण से डॉक्टर श्रेडर ने यद्यपि नारद-पांचरात्र की प्राचीनता के बारे में सन्देह प्रकट किया है, तथापि यह ख्याल करने का विशेष कोई हेतु नहीं है कि वह ग्रन्थ अत्यन्त अर्वाचीन है। चैतन्यदेव ने दक्षिण से जो 'ब्रह्मसंहिता' ग्रन्थ मँगवाया था, वह प्राचीन और प्रामाणिक है यह निःसंशय है। उसमें भी प्रधान रूप से वृन्दावन-तत्त्व ही अंगीकृत मिलता है। काशी-संस्कृत-कॉलेज में 'सनत्कुमारसंहिता' की जो पोथी है, वह पांचरात्रसंहिता तो है, पर राधाकृष्ण-तत्त्वप्रतिपादक। इसलिए, पांचरात्र सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का स्थान नहीं है, सर्वथा यह नहीं कहा जा सकता। मेरा विश्वास है, प्राचीन काल में भागवत-सम्प्रदाय ने राधा-कृष्ण एवं वृन्दावन की महिमा का विशेष रूप से प्रचार किया था। जब उक्त सम्प्रदाय पांचरात्र से मिल गया, तभी से इस सांकर्य का आविर्भाव हुआ। तत्त्व या रस की दिशा को छोड़ भी दिया जाय, तो भी देवकीनन्दन कृष्णवासुदेव एवं यशोदानन्दन कृष्णगोपाल की आध्यापिका में साम्प्रदायिक या ऐतिहासिक रहस्य निहित है।

## शैव धर्म

भगवान् शिव के उपासकों को शैव कहा जाता है और शिव की प्रधानता के कारण यह धर्म 'शैव-धर्म' के नाम से अभिहित है। शिव उत्तरवैदिककालीन देवता हैं। इनकी समानता ऋग्वैदिक देवता रुद्र से है।[1] वैसे शिव की उपासना प्रागैतिहासिक काल से मानी गयी है। भूमि की उर्वरता के लिए लिंग-पूजा होती थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी 'पशुपति'[2] की पूजा होती थी जो शिव के समान ही दिख पड़ते हैं। सांडो (शिव की सवारी) की भी पूजा सिन्धु घाटी में होती थी। अतएव शिव के प्रति आस्था भारत-भूमि पर आर्यों के आगमन से पूर्व भी मानी जा सकती है। ऋग्वैदिक काल में शिव रुद्र नाम से जाने गये, जो अपने कठोर एवं रौद्र रूप के लिए प्रसिद्ध हुए जो अपनी भंयकर शक्ति से मानव एवं पशु दोनों का नाश कर देते थे। धीरे-धीरे रुद्र की व्यापकता बढ़ती गयी तथा समाज में उनका विस्तार होता गया। इन्हें 'कपर्दिन' (ऐसी ज्वाला जो कपर्दों की तरह है) कहा गया और उग्र भाव के शांत होने पर 'शिव', 'शंकर' या 'शंभु' नाम से पुकारा गया। इन्हें चर्म-परिधान पहने हुए दिखाया गया है। यह संभव है कि शिव प्रारम्भ में निषाद जैसी अनार्य जातियों से सम्बद्ध हों और अनार्यों के इस देवता को आर्यों ने कल्याण के उद्देश्य से या भय से आत्मसात् कर लिया हो। अनार्यों के शिव एवं आर्यों के रुद्र का सम्मिलित रूप आज के शिव में दिख पड़ता है। अथर्ववेद के अनुसार देवताओं के

---

1. ऋग्वेद, 1.114.9 तथा 7.46.2
2. वा. सं., 16.1; पशूनां पतये नमः।

देव 'महादेव' को विभिन्न दिशाओं के व्रात्यों का स्वामी नियुक्त किया गया है। शतपथ ब्रा. (9.1.1.6) के अनुसार शिव 'सहस्राक्ष' हैं (**रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा।**) इन्हें सहस्र औषधि से युक्त कहा गया है जो सभी रोगों के निवारक हैं। पर्वतवासी होने के कारण इन्हें 'गिरित्र' या 'गिरिश' भी कहा गया है।[1] इन्हें 'भूतपति' एवं 'पशुपति' भी कहा गया है।[2] वे सभी दिशाओं में उपस्थित हैं। इन्हें पूर्व-दिशा में रहने के कारण 'भव' दक्षिण दिशा में रहने के कारण शर्व कहा गया है। ये 'पशुपति' के रूप में पश्चिम में, उग्र के रूप में उत्तर में, 'रुद्र' के रूप में भूतल में, ईशान के रूप में अन्तरिक्ष के रूप में ऊपर स्थित रहते हैं। इन्हें सर्वदा शुभ का प्रतीक मानने के कारण 'सदाशिव भी कहते है।[3] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि रुद्र के आठ नाम थे जिनमें भव, पशुपति, महादेव एवं ईशान ये चार शिव के कल्याणकारी नाम थे जबकि रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम विध्वंसकारी थे। इनकी रुद्रता सभी देवताओं को भयाक्रान्त बनाये हुए थी।[4] रुद्र के इन आठ नामों में अशनि को छोड़ सूत्र-ग्रन्थों में पाँच अन्य अतिरिक्त नाम संयुक्त हो गये-हर, मृड, शिव, भीम एवं शंकर। इन नामों के साथ इनकी चार पत्नियाँ इन्द्राणी, शवार्णि, रुद्राणि, एवं भवानी भी जुड़ गयीं। अनजान या सुनसान मार्गों पर लोग रुद्र का नाम लेकर ही यात्रा करते थे, जिससे किसी भी प्रकार की अनहोनी न हो।

श्वेताश्वतर उपनिषद् 'शिव' शब्द के सन्निकट है। तैतिरीय संहिता (4.5.1)में रुद्र एवं शिव की एकता दिखाई गयी है। पार्वती का नाम शिव के साथ उपनिषदों में अनुपलब्ध है। 'उमा' का वर्णन केन उपनिषद् में मिलता है जिन्हें 'हैमवती' अर्थात् हिम की पुत्री बताया गया है। आर्ष-महाकाव्यों में शिव को सर्वोच्च देवता के रूप में स्थापित किया गया है। एक ओर रामायण में रावण शिव भक्त था तो महाभारत में पाशुपत अस्त्र पाने के लिए अर्जुन को शिव के समीप हिमालय-पर्वत पर जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्जुन को किरात के रूप में शिव की प्राप्ति हो जाती है।[5]

जहाँ तक शिश्न पूजा की बात है ऋग्वेद में जिस लिंग पूजा का वर्णन है उसमें शिश्न पूजक घृणित थे तथा अनार्य प्रभाव के कारण आर्यों ने ऋग्वेद काल में इसे नहीं स्वीकार किया था और न इसका शैव-धर्म से संबंध था। सर्वप्रथम कुषाण शासकों के सिक्कों में नन्दी और त्रिशुलधारी एवं चर्मधारी (कृर्तिवासनः)शिव की

---

1. वा.सं. 16.1; याते......गिरिशन्ताभित्ताकशीहीति।
2. अथर्ववेद, 11.2.1
3. वही, 11.6.9
4. शतपथ ब्रा., 9.1.1.1; एषोऽत्र रुद्रो देवता.....तस्माद्देवा अविभयुः।
5. महाभारत, वन पर्व, 38.40

प्रवृत्ति अंकित है तथा हुविष्क के सिक्कों पर शिव लिंग अंकित है। शक शासकों की मुद्राओं पर भी त्रिशुलधारी शिव का चित्र प्राप्त होता है। यह-धर्म का अति प्रारम्भिक काल था। कुषाण एवं शक शासकों ने शिव की उपासना को संरक्षण प्रदान किया था।

गुप्त काल में जितना प्रचार-प्रसार वैष्णव धर्म का हुआ, उतना ही शैव धर्म का भी। किन्तु सातवाहन के काल में शैव धर्म अपने उत्कर्ष पर था। अनेक शैव-मंदिरों का निर्माण हुआ एवं शैव-ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ। माहेश्वर सूत्रों के बिना तो संस्कृत व्याकरण का ज्ञान ही असंभव था। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी इन सूत्रों पर आधारित है। कालिदास के 'कुमारसंभवम्' ने शैव धर्म की प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन्होंने शिव की महिमा का उल्लेख विभिन्न नामों से किया- पिनाकी, भूतेश्वर, महाकाल, शंभु, गिरीश, नीललोहित, नीलकण्ठ, स्थाणु; त्रिनेत्र, शूलभृत, पशुपति, त्र्यंबक आदि। कालिदास के काल तक उज्जैन के महाकाल ज्योतिर्लिंग, काशी का विश्वनाथ मंदिर तथा गोकर्ण के शिव ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

पुराणों में भी वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म की भी महिमा वर्णित है। वायु पुराण, स्कन्द पुराण, मत्स्य पुराण, शिव पुराण आदि में शिव एवं उनकी महिमा से संबंधी अनेक आख्यान एवं उपाख्यान हैं। पुराणों में पूर्व वर्णित नामों के अतिरिक्त नीलग्रीव शितिकण्ठ, वृषभध्वज, अतिभैरव, नीललोहित आदि अनेक नामों से जाना जाता है। विष का पान करने के कारण ही इन्हें नीलग्रीव, नीललोहित आदि नामों से अभिहित किया जाता था। शिवलिंग पूजा को आर्य-जगत् ने अत्यन्त परवर्त्ती काल में स्वीकार किया।

शिव के साथ पार्वती की भी उपासना होने लगी थी तथा दोनों की मूर्त्तियाँ मंदिरों में निर्मित हो रही थीं। प्रायः सभी पुराणों में शिव एवं पार्वती के लम्बे-लम्बे स्तोत्र मिलते हैं। शिव का नृत्य अत्यन्त प्रसिद्ध था जिसे ताण्डव नृत्य कहते थे जो अत्यन्त प्रलयकारी माना जाता था। ताण्डव नृत्य करती हुई शिव की प्रतिमा भयवश स्तुत्य होती गयी और नटराज की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। शिव की पूजा अनेक रूपों में होती थी - अर्द्धनारीश्वर के रूप में या तो कभी उमा-महेश्वर के रूप में। अधिकांश शैव अनुयायी योगी थे जो बाहर जंगलों या पहाड़ियों में रहते थे तथा शैव मठों में ठहरा करते थे।

भगवान् शङ्कर को इष्ट देव मानने वाले अनुयायियों के पूजा करने की पद्धति एवं चिंतन में जैसे-जैसे परिवर्तन हुए, वैसे-वैसे इस धर्म में सम्प्रदाय बनते चले गये। शैव सम्प्रदायों की संख्या चार हैं जो शैव आगमों में इस प्रकार वर्णित हैं- (1) शैव (2) पाशुपत (3) कापालिक एवं (4) कालामुख।

## शैव सम्प्रदाय

इनके अनुसार शिव के पाँच मुख हैं - सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान। भगवान् शंकर ने अपने इन पाँच मुखों से कायिक, योगज, सूक्ष्मादि **28** प्रकार का उपदेश देकर भक्तों का उद्धार किसा, ऐसा शैव सम्प्रदाय का मानना है। इन्होंने सृष्टि के तीन रत्न बताए हैं - शिव, शक्ति एवं बिन्दु। इनमें कर्त्ता शिव, करण शक्ति एवं उपादान बिन्दु हैं। ये तीनों रत्न ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते हैं। इस सम्प्रदाय में तीन तत्त्व माने गये हैं - पति, पशु और पाश। पति का तात्पर्य शिव से है जो सर्वज्ञ, स्वतंत्र, सर्वशक्ति-सम्पन्न तथा जगत् के स्वामी हैं। उनका शरीर कर्मफलरहित शक्ति रूप (मंत्र रूप) है। शिव के पाँच कार्य हैं - सृष्टि का उद्‌भव, पालन एवं संहार, तिरोभाव एवं प्रसाद (अनुग्रह)। शिव की दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं-लयावस्था एवं भोगावस्था। लयावस्था से तात्पर्य शिव का समस्त व्यापार से विरत होकर स्वरूप में स्थित होना है एवं भोगावस्था शिव के शक्ति के कारण कार्य का होना एवं शिव के ज्ञान एवं क्रिया में योग प्रदान करना है।

पशु का तात्पर्य जीवात्मा से है सीमित शक्तिवाला, अणु, नित्य, अनिष्क्रिय और सर्वव्यापी है। पाश अर्थात् बन्धन के हट जाने पर यह जीवात्मा शिव रूप होकर ज्ञान-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति सम्पन्न हो जाता है। अतः बन्धनहीन जीव शिव है। पशु के तीन प्रकार हैं - (1)विज्ञानाकल अर्थात् भोग, योग अथवा संन्यास से अपना कर्म क्षीण कर लेने वाला जिसका कलुष तनिक रह गया है,(2) प्रलयाकल अर्थात् जिसकी कलाएँ संसार के प्रलय द्वारा समाप्त हो जाती हैं।

पाश का अर्थ है बन्धन। जिसके कारण शिव रूप होने पर भी जीव को पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश भी चार प्रकार के हैं - मल, कर्म, माया एवं रोध-शक्ति।

पशु, पाश से मुक्त होने के लिए साधना करें क्योंकि जीव तो वस्तुतः शिव ही है। पाशों में जकड़ा हुआ जीवात्मा क्रियाओं द्वारा मुक्त होता है। ये क्रियाएँ हैं- सन्ध्योपासना, मंत्रसिद्धि, पूजा, जप, हवन आदि। ये नैमित्तिक कर्म ही शिव की साधना का मार्ग है जो सांसारिक मोह से जीवात्मा को मुक्त करने में सहायता करते हैं।

## पाशुपत सम्प्रदाय

पाशुपत सम्प्रदाय की चर्चा महाभारत में भी प्राप्त होती है।[1] पाशुपत सम्प्रदाय का उदय महाभारत के पूर्व ही हो चुका था। पाशुपत का उपदेश ब्रह्म के पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति शिव ने शांत चित्त होकर दिया था।[2] पाशुपत सम्प्रदायवादी भगवान्

---

1. महाभारत, शांतिपर्व, 349.64; सांख्य योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं यथा।
   ज्ञानान्येतानि राजर्षो विद्धि नानामतानि वै।।
2. वही, 349, 67; उमापतिर्भूतपतिः श्री कण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
   उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः।।

शंकर के अठारह अवतारों में से नकुलिश नामक ब्रह्मचारी से हुआ था, जो शिव का अवतार था।[1] लकुलिन् का अर्थ था 'लकुट' या 'लगुड' लाठी अथवा लकुल (लंगोट) धारण करने वाला। बाणभट्ट के अनुसार पाशुपत सम्प्रदायवादी शैवधर्मावलम्बी थे एवं ललाटों पर भष्म धारण करते थे **( धवलभष्मलटिकाभिः अक्षमालिका-परिवर्तनप्रचलकरलताभिः पाशुपतव्रतधारिणीभिः।** - कादम्बरी)।

यद्यपि यह मत शैव मत के समान प्रतीत होता है, किन्तु धर्म के सिद्धान्त-ग्रन्थों के अनुसार दोनों भिन्न हैं। गुण रत्न के अनुसार नैयायिकों को 'शैव' एवं वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा जाता सकता है। पाशुपत सम्प्रदाय से संबंधित ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं होते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में नकुलिश पाशुपत के नाम से अभिहित है। भासर्वस्व की 'गणकारिका' एवं महेश्वर रचित 'पाशुपतसूत्र' में इस सम्प्रदाय की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। 'पाशुपत मत' एवं इसके योग पक्ष की चर्चा वायु पुराण में मिलती है। पाशुपत मत ब्राह्मण विरोधी एवं जाति-पाति रहित बताया गया है।

पाशुपतों में भी पति, पशु पाश एवं को माना है जिसकी चर्चा शैव-सिद्धान्त के अन्तर्गत की गयी है। पाशुपत मतानुयायी द्वैतवादी थे। पाशुपतों ने मोक्ष हेतु पाँच बातों पर बल दिया है -(1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि और (5) दुःखान्त।

(1) कार्य परतंत्र है। कार्य तीन प्रकार के हैं - विद्या, अविद्या एवं पाश। कार्य के अन्तर्गत ही जीव एवं जड़ है। जीव का गुण विद्या है जो बोध एवं अबोध दो प्रकार की होती है। बोध विद्या ही चित्त है तथा धर्म एवं अधर्म से मुक्त विद्या अबोध है। पदार्थ भी कार्यरूप एवं कारण रूप हैं। कार्य-रूप पृथ्वी पञ्चमहाभूत हैं तथा कारण-रूप तेरह इन्द्रियाँ हैं। पशु पाशों से बंधा है, इसीकारण पशुत्व है। पशु भी दो प्रकार के हैं - शरीर एवं इन्द्रिय की कलाओं से सम्बद्ध मलयुक्त पशु सांजन है तथा मुक्त एवं निर्मल पशु निरंजन है।

(2) कारण ही परमात्मा या परम तत्त्व है। यह ही सृष्टि एवं संहार करने वाला है तथा स्वतंत्र है। यह जीवों को अपने अपरिमित ज्ञान एवं प्रभु शक्ति से प्रत्यक्ष कराता है। पति के रूप में वह ज्ञान एवं क्रिया की शक्तियों से सम्पन्न होता है।

(3) योग वह है जिसमें चित्र के माध्यम से 'आत्मा' (जीव पशु) का परमात्मा से संबंध स्थापित होता है। योग भी दो प्रकार के है - (1) क्रियात्मक जप, तप, ध्यान आदि एवं (2) अक्रियात्मक - क्रिया की निवृत्ति, अनुभव एवं तत्त्व ज्ञान।

(4) विधि वह साधक व्यापार है जिससे साधक साध्य की प्राप्ति करता है। विधि मुख्य एवं गौण दो प्रकार की है।

'विधि' वह साधक व्यापार है जिससे जीव को महेश्वर की प्राप्ति होती है।

1. वायु पु., अध्याय - 33

(1) मुख्य और (2) गौण इसके दो भेद निर्दिष्ट है। मुख्य विधि में धर्म का साक्षात् कारण है जिसे 'चार्या' भी कहते हैं। इस मुख्य विधि के भी दो प्रकार हैं - व्रत और द्वार। भस्म-स्नान, भस्म शयन, जप, उपहार और प्रदक्षिणा नामक कार्य 'पंचविधि व्रत' कहे जाते हैं। इसमें उपहार अथवा नियम की छह श्रेणियाँ निर्दिष्ट हैं-हसित, गीत,नृत्य, हुड्डुकार, नमस्कार और जप्य, जिसमें साधक क्रमशः हँसता, गाता, नाचता, बैल के समान शब्द करता, नमस्कार और जप करता है। द्वार के छह प्रकार हैं - (1) ग्राथन (असुप्त व्यक्ति का सुप्त मनुष्य की तरह चेष्टा करना), (2) स्पंदन (नि:शक्त के रूप में अंगों का कम्पन), (3) मंदन (लँगड़ाते हुए चलना), (4) शृंगारण (किसी कामिनी को देखकर कामुक जैसी चेष्टा करना), (5) अवितत्करण (विवेकहीन होकर निन्दित कार्य करना) (6) अवितद्भाषण (अज्ञान की बातें करना)। गौण विधि में अनुस्नान (पूजा के उपरान्त भस्म-स्नान), भैक्ष्य, उच्छिष्ट, निर्माल्य और लिंग धारण किया जाता है।

(5) 'दु:खान्त' का अभिप्राय है, दु:ख का अंत अर्थात् दु:खों से अत्यन्त निवृत्तिरुपा मुक्ति। दोनों (मलों) के कारण जीव बन्धन में रहता है, जो पाँच प्रकार के हैं - (1) मिथ्या ज्ञान (2) अधर्म (3) भक्तिहेतु (विषयों में आसक्ति और सम्पर्क), (4) च्युति (5) रुद्र से चित का च्युत हो जाना) और (5) पशुत्व (अल्पज्ञता आदि पशुत्व के उत्पादक धर्म योग और विधि से मन को स्थित करते हैं तथा मोक्ष-लाभ के लिए पंचविध उपायों में से 'प्रपति' को साधन बनाते हैं, जिसके कारण शिव का चित साधकों के प्रति दयार्द्र और कोमल हो जाता है, फलस्वरूप शिव के अनुग्रह से जीव को मुक्ति मिलती है। अत: दु:खान्त के दो प्रकार के हैं - अनात्मक (दु:खों की मात्र निवृत्ति) और (2) सात्मक (ज्ञान और कर्म की शक्ति से परमैश्वर्य की प्राप्ति)। ज्ञानशक्ति के पाँच भेद हैं - (1) दर्शन (सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान) (2) मनन (समस्त चिन्तित विषयों का ज्ञान), (3) श्रवण (भली-भाँति शब्दों का ज्ञान)। इसी प्रकार क्रियाशक्ति भी तीन प्रकार कही गई , जो मुक्त पुरुषों में अद्भुत रूप में उद्भूत होती है - (1) मनोजवित्य (तुरन्त कार्य करना), (2) कामरूपित्व (इच्छानुसार विविध रूप धारण कारण) (3) विकरदणधर्मित्व (इन्द्रिय-व्यापार के अवरूद्ध हो जाने पर भी ऐश्वर्यशाली होना)।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही पाशुपत सम्प्रदाय का विकास हुआ तथा उनका वैशिष्ट्य और साधना-तत्त्व शैव धर्म के अन्तर्गत गृहीत हुआ। पाशुपत सम्प्रदाय से संबधित नेपाल स्थित काठमांडू में पशुपतिनाथ का मंदिर है, जहाँ आज भी दर्शनाथियों और अनुयायियों की भीड़ लगी रहती है जिनमें भारत के विभिन्न भागों के यात्री भी होते हैं।

**कापालिक सम्प्रदाय**

कापालिकों के इष्ट देव भैरव हैं, जो शंकर के अवतार माने जाते हैं इस सम्प्रदाय के अनुयायो भैरव को ही सर्जन और संहार करनेवाला मानते हैं। वे लोग सुरापान करते और समाज में घृणित पदार्थ ग्रहण करते हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से इनकी ज्ञान शक्ति तीक्ष्ण होती है। साथ ही ये लोग सर्वदा भैरवी से आलिंगित रहने का समर्थन करते है। शंकर दिग्वजय में उल्लिखित है कि उज्जयिनी के माधव ने शंकराचार्य को कापालिकों से मिलाया। कपालिकों का आचार्य जब आचार्य शंकर से मिला तब उसका शरीर श्मशान भस्म से सना हुआ था। उसके एक हाथ में नर-कपाल और दूसरे हाथ में लौह-यष्टि थी। शैव होने के कारण आचार्य शंकर के शरीर पर भी भस्म की रेखाएँ थी। अत: उस कापालिक आचार्य ने शंकर से कहा -''तुम्हारी काया पर भी भस्म ठीक है, किन्तु कपाल पात्र के स्थान पर तुमने यह अपवित्र मृद्पात्र क्यों लिया है ? क्यों नहीं तुम कपाली भैरव की पूजा करते हो ? सुरा और रक्तरजिंत कपालों में पूजा किए बिना भैरव कैसे प्रसन्न होगें? ''अत: इस उदाहरण से स्पष्ट है कि कापालिक सम्प्रदाय का अनुयायी तामसी क्रियाओं का अनुसरण करके तथा उसके माध्यम से अपने उपास्य देव और भैरव को ग्रहण करता है। सिर पर जटाजुट, गले में रुद्राक्षमाला, शरीर पर श्मशान-भस्म, हाथ में नर कपाल धारण करना कापालिकों के प्रधान लक्षण हैं। इनका मत है कि छह मुन्द्रिकाओं के प्रयोग से भगासन पर बैठकर परम ब्रह्म आत्मा का चिंतन करने से मुक्ति संभव है। उनकी छह मुद्राएँ है।[1] (1) कंठिका, (2) रुचक, (3) कुंडल, (4) शिखामणि, (5) भस्म और (6) यज्ञोपवीत। सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार इन मुन्द्रिकाओं को धारण करने से मनुष्य आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

कूर्मपुराण में उल्लिखित है कि शैव धर्म के अन्तर्गत कापालिक सम्प्रदाय प्रमुख था।[2] कापालिकों का चरित्र और स्वभाव अत्यंत क्रूर और भयंकर होता था। भवभूति ने 'मालती-माधव' नामक नाटक में कापालिकों का उल्लेख किया है जिनका प्रधान पींठस्थान श्रीशैल था। उनकी नृशंसता और क्रूरता का चित्रण नाटककार ने सजीवता के साथ किया है। नाटक की नायिका मालती के कपालों की माला पहने हुए कपालकुंडला नामक स्त्री श्मशान-स्थित कराला चामुंडा की मूर्त्ति के सम्मुख ले जाकर उपस्थित करती है। वहाँ आचार्य अघोरघंट उसकी बलि देने वाले थे। किन्तु शैव धर्म के अन्तर्गत यह सम्प्रदाय अत्यंत भयंकर और आसुर प्रकृति का था तथा

---

1. ब्रह्मसूत्र, 2.2.35-36।
2. कूर्म पुराण, 16, कापालं लाकुलं वामभैरवं पूर्वपश्चिमम्।
   पांचरात्रं पाशुपतं तत्रन्यानि महस्रश:।।

भैरव को सुरा और नरबलि का नैवेद्य प्रदान कर भैरवी से आलिंगित होते हुए अपनी राक्षसी प्रवृत्ति व्यक्त करता था।

### कालामुख सम्प्रदाय

कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी कापालिकों के ही वर्ग थे, किन्तु वे उनसे भी अधिक अतिवादी और भयंकर प्रकृति के थे। अतिमार्गी होने के कारण ही शिवपुराण में उन्हें महाव्रतधर कहा गया है। नर-कपाल में भोजन करना, जल पीना, सुरा पीना तथा नर शव का भस्म शरीर पर लगाना आदि कार्य उनकी अतिमार्गी प्रवृत्ति स्पष्ट करते हैं।

### वीरशैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय

दक्षिण भारत में शैव धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ। इसके अन्तर्गत वीरशैव सम्प्रदाय का तीव्रता से विकास हुआ। वीरशैव सम्प्रदाय के अनुयायी 'लिंगायत' या 'जंगम' भी कहे गए। वर्ण-व्यवस्था के प्रतिकुल ये लोग आचरण करते हैं तथा शिवलिंग को चाँदी के सम्पुट में रखकर हर समय अपने गले में लटकाए रहते हैं। बसव पुराण के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन अल्लभप्रभु और उनके शिष्य बसव (या वसवण्ण) नामक ब्राह्मण ने किया था जो कलचुरि शासक विजय का मंत्री था। वीरशैवों का यह मत है कि भिन्न-भिन्न समयों में पाँच महापुरुषों ने इस धर्म का उपदेश दिया था। इनके नाम हैं-रेणुकाचार्य, दारूकाचार्य, एकोरामाचार्य, पंडिताराध्य और विश्वाराध्य। इन आचार्यों का शिव के विशिष्ट लिंगों से जन्म हुआ था। इन लोगों ने रम्भापुरी (मैसूर), उज्जैन, ऊखीमठ (केदारनाथ),श्रीशैल और काशी में अपने विशिष्ट सिंहासनों की स्थापना की। 'श्रीकरभाष्य' में श्रीपति (1060 ई०) ने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को उपनिषद् से निःसृत बताया है। लिंगायत सम्प्रदाय का अधिकतर साहित्य कन्नड़ भाषा में है। इनका दर्शन और सिद्धान्त निम्नलिखित आधार पर विकसित है -

(1) कर्म की प्रधानता इस सम्प्रदाय की विशेषता है। यह कर्म निष्काम कर्म है, जिसके प्रतिफल की अपेक्षा नहीं है। इसलिए इस मार्ग को 'वीरधर्म' और 'वीरमार्ग' की संज्ञा दी गई।

(2) शिव परम तत्त्व हैं जो पूर्णतः अहंता और स्वंतत्र हैं। उसकी परिभाषा 'स्थल' शब्द से की गयी है, इसीलिए कि वह 'स्थित' है, शिव में लय स्थिर कर चुका है। अतः वह परम शिव 'स्थल' है। शिव में ही उपास्य और उपासक के बीच क्रीड़ा करने की शक्ति है, जो अवसर पड़ने पर विभेदित हो जाता है और स्थल के दो भेद हो जाते हैं, एक अंगस्थल और दूसरा लिंगस्थल। लिंगस्थल उपास्य और

शिवरूप है तथा अंगस्थल उपासक और जीव। इसी तरह लिंग (शिव) की शक्ति का नाम कला है और अंग (जीव) की शक्ति का नाम भक्ति। कला-शक्ति 'प्रवृत्ति' है और भक्ति-शक्ति निवृत्ति। सृष्टि शिव से जन्मी तथा भक्ति के कारण सृष्टि का शिव से तादात्म्य होता है।

(3) लिंग के तीन भेद हैं - (1) भावलिंग, (2) प्राणलिंग और (3) इष्टलिंग। भावलिंग कलाविहीन सद्रूप काल और दिक् में अपरिच्छिन्न तथा परात्पर है। इसका साक्षात् श्रद्धा से होता है। प्राणलिंग कलाहीन और कलायुक्त चाक्षुष है। इन तीनों को क्रमशः सत्, चित् और आनन्द कहा जा सकता है। परमतत्त्व भावलिंग है, सूक्ष्म प्राणलिंग है और स्थूल इष्टलिंग।

(4) 'अंगस्थल' का व्यवहार 'जीव' के लिए किया गया, जो तीन प्रकार का है- (1) योगांग (जो जीव-शक्ति से एकीभाव स्थापित करके सोते जागते आनन्द प्राप्त करता है), (2) भोगांग (शिव के साथ जीव का आनन्दोपभोग करना) और (3) त्यागांग (क्षणभंगुर संसार का त्याग)।

## कश्मीरी शैव सिद्धान्त अथवा त्रिक् दर्शन

कश्मीर में जिस शैव मत का विकास हुआ वह अन्य शैव सिद्धान्तों से कहीं अधिक उपयुक्त और मानवीय था तथा वह त्रिक्दर्शन के नाम से जाना गया। इस कश्मीरी शैव दर्शन में पाशुपत, कापालिक और कलामुख के निन्दनीय आचारों और गंदे व्यवहारों का अभाव है। मांस, मदिरा, मैथुन, खोपड़ी में आहार ग्रहण करना, श्मशान की राख अपने शरीर पर मलना तथा मनुष्य और पशु का बलि चढ़ाना जैसे अभिचारों की इसमें भर्त्सना की गई है। इस दर्शन में ज्ञान और ध्यान को परमब्रह्म की प्राप्ति का प्रधान आधार माना गया है। इसकी तीन शाखाएँ हैं- आगमशास्त्र, स्पन्दनशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। त्रिक्दर्शन के आगमशास्त्र के अन्तर्गत सिद्धा, नामक और मलिकी तीन तत्त्व हैं जो क्रमशः पशु पति और पाश कहे गये हैं। स्पंदनदर्शन की दो पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ हैं जिनमें आध्यात्मिक तत्त्वों का एक समान विवरण प्राप्त होता है जिसमें शिव विश्व का स्वात्मैक्य रूप है। उनमें स्पन्दन है तथा शिव और शक्ति तत्त्व का योग है। इस संयुक्तता से सादाख्य (मैं यह हूँ) तत्त्व का निर्माण होता है। इससे ऐश्वर्य (यह मैं हूँ) का अविर्भाव होता है। स्पंद दर्शन शाखा के पहले दार्शनिक वसुगुप्त थे और इसके शिष्य कल्लट (नवीं सदी)। इस सम्प्रदाय के दो प्रधान ग्रन्थ हैं-शिवसूत्रम् और स्पन्दकारिका। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवर्तक सोमानन्द थे, जिनकी रचना का नाम 'शिवदृष्टि' है। उनके प्रमुख शिष्य का नाम उदयाकर था तथा प्रशिष्य का नाम अभिनवगुप्त (दसवीं सदी का उत्तरार्द्ध)। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल आशय था कि सब कुछ शिव है। शिव की ज्योति से हम

सब उद्‌भासित होते हैं। सब शिवमय है। जब यह ज्ञात कराया जाता है कि हम शिव हैं तब हम अपने को शिव समझने लगते हैं। यही स्थिति प्रत्यभिज्ञा दर्शन है।

कश्मीरी शैव सिद्धान्त में निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं -

परम तत्त्व अद्वय परमेश्वर है, जो शिव और शक्ति का तथा कामेश्वर और कामेश्वरी का समन्वित रूप है। वह चैतन्य, परा, संवित्, अनुत्तर परमेश्वर, स्पंद और परम शिव है, जो उसके पृथक्-पृथक् अभिधान हैं। उसके दो तत्त्व हैं, 'विश्वात्मक' और 'विश्वोत्तीर्ण'। 'विश्वात्मक' रूप में वह विश्व में सर्वत्र है तथा सृष्टि का अपने आधार पर उन्मीलन करता है।[1] उसकी पाँच शक्तियाँ हैं-चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, जिनमें समस्त सृष्टि का स्पन्दन है।

जगत् में उसी का रूप है। द्वैत भावना काल्पनिक है तथा अद्वैत भावना वास्तविक। परमेश्वर के ह्रदय में सृष्टि की इच्छा होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं, शिव रूप और शक्ति रूप। दोनों का एक-दूसरे से अटूट संबंध है। शिव को अपने प्रकाश का ज्ञान शक्ति के कारण होता है और तब सृष्टि होती है।

कलातत्त्व के कारण जीव सर्वकर्तृत्व से कुछ संकुचित हो जाता है। अत: विद्या के कारण इसका संकोचक तत्त्व राग के माध्यम से विषयों के प्रति आकृट होता है। 'काल' और 'नियति' के आवरण से हटने पर जीव की स्वाभाविकता होती है। वस्तुत: प्रत्यभिज्ञा का साधन-मार्ग विशिष्ट उपासना का मार्ग है, जिसमें भक्ति और ज्ञान का अपूर्व सामंजस्य है। अगर देखा जाय तो जीव ही वास्तविक रूप में शिव है। उसमें ज्ञान एवं भक्ति की सत्ता है जो अज्ञानवश ओझल रहती है। आवरण के हटने पर 'मोक्ष' है, शिव के परम पद की प्राप्ति है।

### नाथ सम्प्रदाय अथवा योगिनी कौल मार्ग

पूर्व मध्ययुग में शैवधर्म नए रूप और नए आयाम में विकसित हो रहा था, जिसे कालान्तर में नाथ सम्प्रदाय या नाथ पंथ अथवा हठ योग और सहजयान सिद्धि कहा गया। इस सम्प्रदाय में नौ नाथों को दिव्य पुरुष के रूप में माना गया। इसके पहले नाथ स्वयं शिव थे। दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रत्स्येन्द्रनाथ अथवा मच्छन्दरनाथ ने इस सम्प्रदाय का प्रचार किया। उनका जन्म बंगाल के एक परिवार में हुआ था। उन्होंने बंगाल और असम आदि विभिन्न स्थानों की यात्राएँ की, तत्पश्चात् 'योगिनी कौल' नामक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 'कौल ज्ञाननिर्णय' और 'अकुलवीरतंत्र' नामक उनके ग्रन्थों में योगिनी कौल सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'शिव' का नाम 'अकुल' है तथा उसकी शक्ति का 'कुल'।

1. प्रत्यभिज्ञाह्रदय, 2 स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति।

दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक दूसरे के बिना वे नहीं रह सकते। इन दोनों के संयोग से सृष्टि होती है। इस संयोग प्रक्रिया से मानव-जीवन में गृहीत करना ही इसकी धार्मिक क्रिया है। वस्तुतः संयोग का प्रतीक स्त्री-पुरुष का संबंध है। ऐसी स्थिति में यह साधना वज्रयानी बौद्धों की साधना से साम्य रखती है। इसलिए मत्स्येन्द्रनाथ को 'अवलोकितेश्वर' के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है और तिब्बत में उन्हें सिद्ध लुईपाद के रूप में माना गया है। 'अकुलवीर' नामक तंत्र में वह स्वयं शिव और बुद्ध के एकत्व को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युग में शिव और बौद्ध तंत्र एक-दूसरे के समीप आए तथा भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन को नया उत्साह प्रदान किया।

गोरखनाथ (10 वीं-11 वीं सदी) ने मत्स्येन्द्रनाथ के पंथ का अनुगमन किया। वह उनके सक्रिय शिष्यों में थे। नाथ के प्रचार-प्रसार में गोरखनाथ का सशक्त योगदान है। भारत के संत्रस्त सामाजिक और धार्मिक जीवन को उन्होंने नवीन प्रवाह प्रदान किया। अपने स्पष्ट और अनावृत व्यवहार से तत्कालीन समाज को उन्होंने नया मार्ग दर्शन दिया, जिसमें न ऊँच-नीच की भावना थी, न कर्मकाण्ड और पाखंड की। सम्भवतः वे उत्तरी-पश्चिमी भारत के निवासी थे। रावलपिंडी जिला, जो आज पाकिस्तान में है, उनका जन्म स्थान बताया जाता है। वैसे गोरखनाथ से संबंधित अनेक स्थान पाकिस्तान में हैं। गोरखनाथ का टीला झेलम जिले में स्थित है, गोरख टहरी पेशावर शहर में है तथा गोरख की धुनी बलुचिस्तान की लालबेला रियासत में है। उन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया तथा अपने सिद्धान्त का प्रचार किया। उन्होंने साधना में स्त्रियों के प्रवेश का विरोध किया तथा यह मन व्यक्त किया कि उनके संसर्ग से योग साधना संभव नहीं है। अतः उन्होंने इन्द्रिय-निग्रह और सदाचार की व्याख्या की। साथ ही सच्चरित्रता और जीवन की पवित्रता पर बल दिया। 'योगमार्ग', गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' जैसे ग्रन्थों में उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार 'शिव' ही परमतत्त्व है। जब उसकी सृष्टि की इच्छा होती है तब वह शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। शक्ति की पाँच स्थितियाँ हैं -(1) निजा (परम शिव में लीन), (2) परा (प्रत्यक्ष होने की कला), (3) अपरा (अभिव्यक्ति की स्थिति), (4) सूक्ष्मा (अभिमान का उदय) और (5) कुण्डली (अभिमान की चेतना की क्रिया)। इसी प्रकार इन्होंने शिव के भी पाँच रूपों का निर्देशन किया है - अपर, परम, शून्य निरंजन और परमात्मा। इनमें आनन्द के पाँच स्तर हैं- परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। फलतः इससे ब्रह्मांड का निर्माण होता है। उसकी प्रतिकृति पिंड है। कुण्डलिनी की शक्ति को सुषुम्ना के मार्ग से छह चक्रों में ऊपर की ओर शिरस्थान में अमृत केन्द्र सहस्त्रार में ले जाते हैं तब शक्ति और शिव का सायुजय होता है अथवा परमशिव की प्राप्ति

होती है। यह समस्त क्रिया योग के अन्तर्गत आती है। इस साधना में यह माना जाता है कि वीर्य की रक्षा, श्वास के नियमन एवं रसों के प्रयोग से योग सम्पुष्ट होता है। वस्तुतः गोरखनाथ के कारण नाथ सम्प्रदाय का शीघ्रता से विकास हुआ। यही नहीं, गोरखनाथ से संबंधित अनेक चमत्कारिक कथाएँ भी प्रचलित हुई तथा यह विश्वास व्यक्त किया गया कि इनका नाम लेने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वे अपनी साधना से उच्चतम आध्यात्मिक शिखर पर पहुँच गए थे। नेपाल, तिब्बत, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब और उत्तर भारत में इनके देवत्व से सम्बन्धित अनेक अनुश्रुतियाँ फैलीं। उन्हें शिव, ब्रह्म और विष्णु जैसे देवताओं की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था तथा समाज में उनका उच्चस्थ स्थान स्वीकार किया गया था। 'गोरक्षसंहिता' और 'गोरक्षसिद्धान्त' जैसी उनकी कृतियाँ अत्यन्त आदृत और ख्यात हैं। उनके हठ योग सहजयान योग का तत्कालीन समाज में तीव्रता से प्रसार हुआ जिसने भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन को आन्दोलित किया। उसके सिद्धान्तों में प्राचीन शैवों, अजीवकों, वज्रयान बौद्धों आदि के मतों और सिद्धान्तों का अनुपम समन्वय है। अनंगवज्र या रमणवज्र जैसा उनका बौद्ध नाम भी मिलता है। वस्तुतः गोरखनाथ ने महात्मा बुद्ध की तरह मध्यम मार्ग का अनुगमन किया। उन्होंने बौद्ध और हिन्दू तांत्रिकों की अतिरंजना का विरोध किया। संयम और सदाचरण को उन्होंने प्रधान आधार माना, साथ ही सहज जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए निर्देश दिया।

गोरखनाथ के पश्चात् नाथ सम्प्रदाय में अनेक शिष्य हुए जिन्होंने अपनी साधना और चमत्कारिक शक्ति से लोगों को आकृष्ट किया। ऐसे सिद्धों में कह्लपा, चर्पटी, चौरंगीनाथ (पूरन भगत), गोपीचन्द्र आदि प्रमुख हैं, जो अपनी साधना और सिद्धि से लोगों को चकित कर देते थे। ये लोग अपनी घर-गृहस्थी त्यागकर, योगी बनकर, अपने फटे कानों (कनफटे योगी) में मुद्रा धारण करके, सिर पर जट्टा रखकर, गले में रंग बिरंगे जोगड़े पहनकर कन्धे पर सिंगिया रखे वातावरण गुंजरित करते थे। नाथपथियों, सिद्धों और तांत्रिकों की जीवन-पद्धति में आचरण, नैतिकता आदि का कोई स्थान नहीं था। उनके दर्शन में खाने-पीने भोगने की खुली छूट थी। 'ज्ञानसिद्धि' में इन्द्रभूति का कथन है कि योगी यह नहीं देखता था कि उसे क्या खाना है, क्या पीना है, कहाँ जाना है, कहाँ नहीं जाना है। 'कुलरावितंत्र' (अध्याय) नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि कौलिकों को वे सभी वस्तुएँ खानी चाहिए जिन्हें सभी लोग वर्जित मानते हैं, उन पेयों को ग्रहण करना चाहिए जिन्हें सभी लोग निन्द्य मानते हैं तथा उन स्थानों पर जाना चाहिए जहाँ के लिए लोग मना करते हैं। वस्तुतः कौल अनुयायियों के मतानुसार मांस, मद्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा आदि विहित थे। ऐसा लगता है कि उनके दर्शन में ऐसी निन्दनीय बातों का समावेश इसलिए किया गया कि वे समाज की वर्तमान गति-विधियों में अपने इन कार्यों से अपना विरोध

प्रकट करना चाहते थे। 'हठयोग प्रदीपिका' जैसे ग्रन्थों में कौल अनुयायियों के कार्यों का लाक्षणिक अर्थ अभिव्यक्त किया गया है। जैसे, 'गोमांस' का अर्थ जीभ को मोड़कर तालु में लगाना था, 'वारुणी' का अर्थ शिरस्थान में ब्रह्मरन्ध्र के समीप सहस्रदल कमल की जड़ के निकट की योनि में स्थित चन्द्रमा से रिसनेवाला रस था। 'चर्यापदों' की टीका करते हुए मुनिदत्त ने कहा कि 'डूमनी' का अर्थ नैरात्म्य और 'शुण्डिनी' (शराब विक्रय करनेवाली) का अभिप्राय इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियों के बीच स्थित सुषुम्ना नाड़ी से है। इसी प्रकार की लाक्षणिक व्याख्या 'हेवज्रतंत्र' में की गई है, जिसमें 'ललना' का अर्थ 'स्त्री' न होकर, इस नाम की नाड़ी है तथा 'मुद्रा' का अभिप्राय भी 'स्त्री' न होकर उँगलियों के विशेष चिह्न को लिया गया। इस तरह 'मद्य', मांस और 'मैथुन' के वे अभिप्राय नहीं जो समाज में स्वीकृत हैं, बल्कि इनके अर्थ 'योग', 'रस' और 'वज्र' की साधनाओं से अभिव्यक्त किये गए। किन्तु ऐसे लाक्षणिक अर्थ लेकर, जो समाज में प्रचलित नहीं थे, नाथ पंथियों और योगियों ने समाज की वर्तमान प्रणाली पर अपना क्षोभ व्यक्त किया। उनके विचारों में वर्तमान सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों के प्रति प्रबल विद्रोह और व्यापक असंतोष था, जिससे तत्कालीन भारत में सामाजिक और धार्मिक क्रांति हुई।

## शक्ति-पूजा और शाक्त सम्प्रदाय : उद्भव और उत्कर्ष

हिन्दू धर्म में शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। शक्ति को नारी रूप में अभिव्यक्त किया गया है, जिसके दिव्य स्वरूप को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान स्पष्टतः अभूतपूर्व है। शक्ति का पारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती है जो जगज्जननी कही जाती हैं। वस्तुतः इनका तांत्रिक और दार्शनिक विकास शक्ति के रूप में हुआ है। अतः शक्ति और शिव की अभिन्नता स्वाभाविक है। शक्ति के रूप में विकसित होकर पार्वती 'कपिलावरण', 'काली'और सिंहवाहिनी दुर्गा बन गईं, कालान्तर में जिन्होंने असीमित शक्ति से सम्पन्न 'महाकाली' का रूप ग्रहण किया। यहाँ यह स्मरणीय है कि शिव भी महाकाल कहे जाते हैं। इसलिए शक्ति और शिव की एकात्मकता स्वयं सिद्ध है। वस्तुतः धर्म में विष्णु और शिव के अतिरिक्त अगर किसी देवता की महिमा और गरिमा चरम सीमा पर पहुँची तो वह केवल शक्ति (दुर्गा) की। वैष्णव और शैव धर्म की तरह समाज में शक्ति का भी प्रभाव रहा है तथा इसके अनुयायी अत्यधिक विकट और कट्टर भी रहे हैं। शक्ति की पूजा और उपासना करने के कारण इसके धर्मावलम्बी 'शाक्त' कहे गये। कालान्तर में यही 'शक्ति सम्प्रदाय' हिन्दू धर्म का प्रभावकारी और चमत्कारी सम्प्रदाय बन गया। धीरे-धीरे 'शक्ति' के साथ अनेक नाम जुट गए, जो अनेक विकसित होनेवाले

क्रमिक रूपो के परिचायक हैं। काली, चामुण्डा, देवी, शिवानी, रुद्राणी, भवानी आदि विभिन्न नाम इनके शैव संबंध को व्यक्त करते हैं। इसके साथ ही लक्ष्मी, वैष्णवी, ब्राह्मी, इन्द्रानी आदि विभिन्न नाम भी उनको प्रदान किए गए जो उत्तरोत्तर वृद्धिशील स्वतंत्र अस्तित्व को स्पष्ट करते हैं, न कि दूसरे देवताओं के प्रभाव को। 'वाग्देवी' सरस्वती से भी उसका संबंध स्थिर किया जाता है तथा उन्हें बुद्धि और प्रज्ञा की देवी माना जाता है। मध्यकाल तक आकार शक्ति की उपासना बहुत अधिक बढ़ गई तथा उन्हें सृष्टि, पालन और संहार-कर्त्री का रूप प्रदान करके उनकी उपासना और आराधना की जाने लगी।

अन्य देवताओं की तरह शक्ति देवी का रूप भी प्रागैतिहासिक काल से ही निखरने लगा था। उमा, पार्वती, अम्बिका, हेमवती, रुद्राणी और भवानी जैसे नाम आदि शक्ति की उपासना में विवृत हैं जिसे तांत्रिक 'देवसूक्त' कहते हैं। महर्षि अभृण की ब्रह्मवादिनी दुहिता का नाम 'वाक्' था, जिसकी देवी के साथ अभिन्नता थी। उसी के उद्गार इस सूक्त में दर्शित होते हैं। सिन्धु सभ्यता की मातृदेवी शक्ति-पूजा की ओर लक्षित करती है। कालान्तर में उस वाक् शक्ति का कथन है, "मैं ही ब्रह्म के द्वेषियों को मारने के लिए रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ। मैं ही सेनाओं को मैदान में ला खड़ी करती हूँ। मैं ही आकाश और पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त हूँ[1]।" निश्चय ही यह कथन शक्ति की महत्ता और तेजस्विता को व्यक्त करता है। वह अन्यत्र कहती है, "मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी हूँ। अपने उपासकों को धन की प्राप्ति करानेवाली, साक्षात् करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जाननेवाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश हैं। अनेक स्थानों में रहनेवाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी कहते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं[2]। स्पष्ट है कि देवी अद्वैत रूप में व्याप्त है। जगत् के उद्भव, पालन और संहार की जो कथा देवी सम्बद्ध की गई, उसका सूत्र ऋग्वेद में ही है। शक्ति का तत्त्व अत्यन्त विस्तृत है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से परे है **(परो दिवा पर एना पृथिव्या)**। 'अम्बिका' के रूप में देवी का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में हुआ है, जहाँ इन्हें रुद्र की बहन (स्वासा) बताया गया है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र की पत्नी पार्वती का सन्दर्भ मिलता है। 'उमा' शब्द का उल्लेख केन उपनिषद् में हुआ है, जहाँ उन्हें 'विद्यादेवी' का रूप मानते हुए 'हेमवती' (हिमालय की पुत्री) कहा गया है।[4] उनका

---

1. ऋग्वेद, 10.125, अहं रुद्राय श्रनुरातनोमि ब्रह्मद्विपे शरवे हन्तवा उ।
   अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवंश।।
2. वही, 10.125.3 अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुर्षी प्रथमा यज्ञियानाम्।
   तां मा देवा व्यदधुः पुरूत्रा भुरिस्थात्रां भूर्यवेशयन्तिम्।।
3. वाजसनेयी संहिता, 3.57; शतपथ ब्राह्मण, 2.6.2.9 - अम्बिका वे नामास्य रुद्रस्य स्वसा।
4. केन उपनिषद्, 3.12, स तस्मिन्नेवाकाशे स्वियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हेमवतीं तां होवाच
   किमेनद्यक्षमिति।

प्रादुर्भाव देवताओं को यह शिक्षा देने के लिए होता है कि अपनी तुच्छ शक्ति के ऊपर उन्हें कभी गर्व और अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की शक्ति के वे प्रतीक मात्र हैं। उसी परब्रह्म नियन्ता के निर्देशन में रहकर ही वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकने में समर्थ होते हैं। अत: उमा-हेमवती विद्या और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं। पार्वती, उमा, हेमवती आदि शब्द पर्वतीय प्रदेश को इंगित करने तथा उस प्रदेश में देवी-शक्ति के प्रभाव को भी अभिव्यंजित करते हैं। यही नहीं शिव को कैलाश (पर्वत) वासी माना गया है तथा 'कैलाशपति' के रूप में उनकी आराधना उनका गिरि-प्रदेश से संबंधित होना व्यक्त करता है। जिस प्रकार प्रारम्भ में शिव की प्रधानता दस्यु, किरात, निषाद जैसी आदिम जातियों में अधिक हुई, उसी प्रकार शक्ति की प्रधानता भी आदिम जातियों और पर्वतीय निवासियों में तीव्रतापूर्वक हुई। इस प्रकार प्रकृति की शक्ति को महत्त्व प्रदान करके माया के रूप में 'नित्या शक्ति' की अभिव्जंना की गई। 'माया' को प्रज्ञा और स्वप्न दोनों माना गया, इसलिए देवी शक्ति 'वाग्देवी' सरस्वती भी हुई और स्वप्नमयी मोहिनी रात्रि भी। शक्ति, ज्ञान और मोह को उद्भूत करनेवाली क्रिया-शक्ति सर्जन अथवा सृष्टि-शक्ति से संबंधित हुई। जगज्जननी के रूप में वही अपनी प्रभा से तीनों लोकों को प्रकाशित करने लगी।[1] दुर्गा अथवा महाकाली के रूप में तपस्-रूपी असुरों का संहार करने लगी, योग निद्रा के रूप में वह समस्त प्राणियों को निद्रा के वशीभूत करने लगी, प्रसन्न होने पर वह सभी कामनाओं को पूरा करने लगी[2] तथा भद्रकाली के रूप में अपनी स्मृति होने पर मनुष्य को कभी पराजित नहीं होने देती थी।[3] इस प्रकार देवी की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई और उसका प्रभाव व्यापक होता गया।

महाभारत के कतिपय उद्धरण इस बात का प्रमाण हैं कि देवी-शक्ति उस समय तक एक शक्ति-सम्पन्न स्वतंत्र देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ये उद्धरण उनके पूर्ववर्ती स्वतंत्र अस्तित्व को भी उद्घाटित करते हैं। महाभारत की कथा के अनुसार कृष्ण की सलाह पर भावी युद्ध में विजय प्राप्ति के निमित्त अर्जुन ने दुर्गा की आराधना की थी जिसमें उन्होंने देवी दुर्गा के कई नामों की स्तृति की जिनमें कुमारी, विजया, उमा, कान्तारवासिनी, कौशिकी, काली, महाकाली, कपाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला आदि नाम प्रमुख हैं।[4] उस स्तुति के एक श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रात:काल शक्ति का स्तोत्र पढ़ता है, वह संग्राम में विजयी होता

1. ब्रह्माण्ड पुराण, 4.29.145, त्रिजतां जननी बभासे विद्योतमानविभवा।
2. विष्णु पुराण, 5.1.86 नृणामशेषकामांख्यं प्रसन्ना सम्प्रदास्यसि।
3. वायु पुराण, 9.86.87, भद्रां काल्पास्तवोक्तानि देव्या नामानि तत्वत:।
ये पठन्ति नरास्तेषां विद्यते न पराभव:।
4. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 30; 23 कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णापिंगले।

है तथा उसे लक्ष्मी की ऐकान्तिक प्राप्ति होती है।[1] विराट पर्व में युधिष्ठर ने भी देवी की स्तुति की है जिसमें उन्होंने देवी को महिषासुरमार्दिनी, यशोदा के गर्भ से जन्म लेने वाली, विंध्याचल-निवासिनी, नारायण की परमप्रिया और वासुदेव की भगिनि कहा है।[2] कालकाली महाकाली को मदिरा, मांस और पशु में रुचि रखनेवाली भी दर्शित किया गया है।[3] विंध्यक्षेत्र को उनका शाश्वत स्थान बताया गया है[4] तथा घंटा, पाश, धनुष, चर्म आदि उनके विविध अस्त्र उल्लिखित किये गए हैं।[5] देवी-शक्ति द्वारा विंध्य पर्वत पर अपना शाश्वतस्थान बनाने के पहले की कथा महाभारत में स्तुति के सन्दर्भ में दी गई है, जिसमें यह कहा गया है कि देवी का जन्म नन्दगोप के वंश में यशोदा के गर्भ में हुआ था। जब कंस ने कन्या के रूप में उन्हें शिला पर प्रक्षिप्त किया, उस समय वह आकाश मार्ग में चली गईं[6] और विंध्य पर्वत पर जा बसीं।

देवी के उत्पन्न होने तथा उनके विविध रूपों की कथा पुराणों में दी गई है। हरिवंश-पुराण के अनुसार विष्णु ने पाताल लोक में जाकर कालरूपिणी योगनिद्रा से यशोदा की पुत्री के रूप में जन्म लेने के लिए आग्रह किया। जन्म लेने के उपरान्त वे कंस द्वारा शिला पर पटकी गईं तथा आकाशगामी होकर उन्होंने विन्ध्य पर्वत प शाश्वत रूप से स्थान ग्रहण किया। कुश गोत्र की होने के कारण वे कौशिकी भी कही गईं। शुंभ-निशुंभ जैसे असुरों का भी इन्होंने संहार किया। कालान्तर में सुरा, मांस और बलि से उनकी पूजा की जाने लगी।[7] इसी प्रकार की कथा विष्णु पुराण में दी गई है तथा निद्रा को यशोदा के गर्भ से उत्पन्न देवी के रूप में विवृत किया गया है। उत्पन्न होने पर कंस ने उन्हें शिला पर पटकना चाहा पर वे उसके हाथ से छूट कर आकाश में स्थित हो गईं।[8]

मार्कण्डेय पुराण में शक्ति की व्यापकता और महत्ता विवृत है। उसमें शक्ति के तीन रूपों का वर्णन किया गया हैं -(1) महाकाली (प्रथम अध्याय) (2)महालक्ष्मी (2 से 4 अध्याय) और (3) महासरस्वती (5 से 13 अध्याय)। उक्त पुराण में देवी

1. महाभारत, 23.21.24, य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः।
संग्रामे विजयेनित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम्।।
2. वही, विराटपर्व, अध्याय, 6
3. वही, 6.17, कालकालि महाकालि सूरामांसपशुप्रिये।
4. वही, विन्ध्वे चैव नागश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्।
5. वही, 6.10.11, पात्री च पंकजी घंटी.....पाशं धनुमहाचक्रं विविधान्यायुधानि।
6. वही, 6.2.2, यशोदागर्भसंभृता......नन्दगोपकुले जातां.....।
शिलापटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रतिगामिनीम्।।
7. हरिवंश पुराण योगनिद्रा, श्लोक 34.52
8. विष्णु पुराण, 5.17.80,

की समस्त प्राणियों में शक्ति, दया, शांति, तृप्ति, बुद्धि और माता के रूप में अवस्थित बताया गया हैं। शक्ति ही पृथ्वी रूप में सृष्टि की आधारशीला है तथा जल के रूप में सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करती है। अपार बल युक्त होकर वह वैष्णवी है। वह जगत् को तृप्त करती है। अपार बल से युक्त होकर वह वैष्णवी है। वह जगत् की कारणभूता परा माया हैं। जीव का बंधन और मोक्ष उसी में है। सम्पूर्ण विद्याएँ उसी में स्थित हैं। विश्व की समस्त स्त्रियाँ उसी का प्रतिरूप हैं। वह परा वाणी हैं। उक्त पुराण में यह भी उल्लिखित है कि सभी जीव महामाया के प्रभाव से वासना रूपी भ्रमर से युक्त मोह-रूपी गर्त में पतित होते हैं। जगदीश्वर श्री विष्णु की योगनिद्रा-स्वरूपिणी महामाया ही इस विश्व को विमोहित करती हैं। वे महामाया ज्ञानियों के चित्त का बलपूर्वक आकर्षण करके मोह में गिराती हैं।[1] अत: उसमें आगे कहा गया है कि वे योगनिद्रा महामाया नित्य हैं, जो समस्त जगत् में व्याप्त हैं तथा जो अनेक प्रकार से उत्पन्न हुई हैं। जब देवताओं के कार्य सिद्ध करने के लिए उनका आविर्भाव होता है तब उन नित्य-रूपा देवी को संसार में उत्पन्न हुई कहा जाता है।[2] मार्कण्डेयपुराण में ही देवी दुर्गा से सम्बन्धित 'दुर्गासप्तशती' नामक अंश है, जो अत्यन्त महनीय और प्रख्यात है। नवरात्र काल में देवी की आराधना में 'दुर्गा-सप्तशती का ही पाठ किया जाता है और मनोवांछित फल की कामना की जाती है।

महिषासुर को मारने के लिए विष्णु, शिव, ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि विभिन्न देवताओं के मुख से निकले हुए तेज से 'शक्ति' का उद्भव हुआ, जो महिषासुरमर्दिनी के रूप में ख्यात हुई। उस देवी को सभी देवताओं ने अपने-अपने अस्त्र प्रदान किये।[3] जिनका इन्होंने असुरों का विनाश करने में उपयोग किया था। देवी की उत्पत्ति से संबंधित एक और कथा मार्कण्डेयपुराण में विवृत है, जिसके अनुसार शुंभ-निशुंभ जैसे असुरों के आतंक से त्रस्त होकर देव-गण हिमालय पर जाकर देवी की स्तुति कर रहे थे। उसी समय भगवती पार्वती गंगा स्नान करने के लिए जा रही थीं। अत: उन्होंने देवगणों से स्तुति के विषय में पूछा। तभी उसके शरीर के केश से देवी शिवा (अम्बिका) का उदय हुआ, जिन्होंने अपने को वही देवी बतलाया जिनके लिए देवतागण स्तुति कर रहे थे। कोश से उत्पन्न होने के कारण वह देवी 'कौशिकी' कही गई। पार्वती के शरीर में अम्बिका के निकलने के कारण उनका शरीर कृष्ण वर्ण का हो गया जिसके कारण उन्हें 'काली' की संज्ञा दी गयी।[4] जब

---

1. मार्कण्डेय पुराण, 73, 40-42,
2. वही, 73, 47-48,
3. वही, 74.1.19
4. वही, 77.1.45,

वे असुरों का संहार करने के लिए गयी थीं तो उनका शरीर क्रोध से कृष्ण वर्ण का हो गया था और चण्ड मुण्ड को मारने के लिए उनके शरीर से करालमुखी काली निकली थीं। इसलिए अम्बिका ने उसका नाम चामुण्डा रखा। इसके साथ ही ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, नारसिंही और ऐन्द्री ये सात शक्तियाँ भी अम्बिका से ही व्युत्पन्न हुई थीं। नन्दसुता, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी आदि भी देवी के कई स्वरूप थे, जिनका उन्होंने स्वयं उल्लेख किया था। वायुपुराण में उल्लिखित है कि उमा के क्रोध से भद्रकाली उद्भूत हुई थीं।[1] मत्स्यपुराण के वर्णन के अनुसार देवताओं के कार्य सम्पन्न करने के निमित्त उमा के शरीर से देवी की उत्पत्ति हुई थी।[2] अतः इन वर्णनों से स्पष्ट है कि शक्ति देवी शिव की पत्नी थीं तथा शिव और शक्ति में अभिन्नता थी। शिव 'उमापति' थे और शक्ति 'महेश्वरी', 'महाकाली' आदि। गौरी जो प्रारम्भ में वरुण की पत्नी थीं, बाद में शिव की प्रिय बन गई और शिव गौरीश हो गए। वस्तुतः शक्ति में सभी देवताओं की दिव्यता समाहित थी तथा सभी देवताओं की शक्ति का परिवार शिव के परिवार में समाहित हो गया तथा शिव का परिवार उन्नत होकर व्यापक हो गया था। 'सप्तमातृका' के रूप में शक्ति का विकास हुआ जिनमें ब्रह्मणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और यमी या चामुण्डा, इनके सात स्वरूप माने गए। कुषाणकालीन स्थापत्य कला में सप्तमातृकाओं के चित्र मिलते हैं। गुप्त-कालीन कोशकार अमरसिंह ने सप्तमातृका की चर्चा की है।[3] 'कुमारसम्भव' में इन्हें 'मातरः' कहा गया है।[4] स्कन्दगुप्त के बिहार-स्तम्भलेख में भी इसका उल्लेख है।[5] यही नहीं, गुप्त-सम्राटों की विभिन्न मुद्राओं पर लक्ष्मी और दुर्गा के चित्र अंकित हैं।

हिन्दू धर्म में अन्य देवताओं की तुलना में देवी-शक्ति की सत्ता प्रभावशाली आधार पर स्थापित हुई तथा उसका वैभव और ऐश्वर्य धीरे-धीरे अत्यन्त शक्तिशाली होने लगा। फलतः मधुकैटभ, महिषासुर, शुंभ, निशुंभ, चंड, मुंड, रक्तबीज जैसे भयंकर असुरों का विनाश करके वे देव परिवारों में सर्वश्रेष्ठ हो गईं, क्योंकि उन अत्याचारी असुरों का वध कर डालने का बल ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि बलशाली देवताओं के पास नहीं था। अतः देवी की शक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व सम्मुख आया जो अत्यन्त व्यापक और अपार ऐश्वर्ययुक्त था। अपने शक्ति शिव से

---

1. वायु पुराण, 30, 134
2. मत्स्य पुराण 157.15-16
3. द्रष्टव्य, अमरकोश, ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
   वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः।।
4. कुमारसम्भव, 7.38.
5. बिहार-स्तम्भलेख स्कन्दप्रधानैर्भुवि मातृभिश्च।

पृथक् करके काली अथवा दुर्गा के रूप में उनकी स्वतंत्र उपासना प्रारम्भ हो गई। इसके साथ ही 'अर्धनारीश्वर' के रूप में शक्ति और शिव दोनों की स्थितियाँ संयुक्त हुईं तथा शिव और शक्ति दोनों सम्प्रदायों का पारस्परिक एकीकरण भी हुआ। किन्तु शक्ति का विस्तार बड़ा था, मान व्यापक था, इसलिए उनकी प्रधानता स्वाभाविक थी।

देवी-शक्ति के व्यापक विस्तार में देवी के अनेक रूप समाविष्ट हो गए तथा सभी देवियाँ एक देवी के साथ अभिन्न हो गईं। 'उमा' के रूप में वे शिव की पत्नी तथा सबकी रक्षा करने वाली देवी माँ हैं। तत्पश्चात् 'उमा' का नाम 'पार्वती' और 'हेमवती' के साथ जुट गया, जिससे देवी का और विस्तार हुआ। हिमालय की पुत्री और पर्वतप्रदेश से सम्बद्ध होने के कारण देवी की पूजा पर्वतीय प्रदेशों में तीव्रता से फैली। इसके साथ ही पुलिंद, शबर, बर्बर जैसी जंगली जातियों की भी वे आराध्य देवी बनीं, जिन्हें सुरा, मांस, बलि आदि का नैवेद्य प्रदान किया जाता था। उनके प्रारम्भिक नामों में 'काली' और 'कराली' नाम भी थे, जो अग्नि के सात जिह्वाओं में थीं। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, रुद्र का अग्नि के साथ एकीकरण हुआ था और कालान्तर में अग्नि के साथ जिह्वाओं के नामों में से दो जिह्वाओं के नाम शक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगे, जो शक्ति और शिव के सामंजस्य का परिचायक है। रुद्र-शिव भी आदिम जातियों के देवता थे तथा जंगली जातियों और दस्युओं द्वारा पूजित थे। किन्तु परवर्त्ती काल में उनकी पत्नी शिवा 'शक्ति' ने अपना विस्तार करके आदिवासियों, आदिम जातियों, जंगल-निवासियों, पहाड़ी जातियों तथा अन्य लोगों में अपना प्रभाव बढ़ा लिया। मनुष्य की अन्तस् वृत्तियाँ शक्ति की ही रूप मानी गईं, जिसमें इच्छा, क्रिया, सर्जन, मोह, विनाश आदि सभी सम्मिलित हैं। अतः शक्ति के तीन प्रधान रूप माने गए - (1)सौम्य रूप, (2) प्रचण्ड रूप और (3) काम-प्रधान रूप। समाज में प्रायः देवी की सौम्य रूप की ही पूजा-आराधना प्रचलित है। जन-साधारण देवी के सौम्य रूप की ही उपासना करता है। देवी के प्रचण्ड रूप की पूजा 'कापालिक' और 'कालामुख' जैसे घोरपंथी सम्प्रदाय के लोग करते हैं, जिसमें बलि, सुरा, मांस आदि का निर्बाध प्रयोग किया जाता है। कामरूपिणी देवी की उपासना 'शाक्त' लोग करते हैं, जो देवी 'मोह' और 'माया' को समस्त जगत् से ऊपर मानते हैं। वे देवी को 'आनन्द भैरवी', त्रिपुरसुन्दरी' 'ललिता' आदि कहते हैं तथा शिव को 'आनन्दभैरव' या 'महाभैरव'। शंकराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' में देवी के इसी अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण किया है। उस 'त्रिपुरसुन्दरी' का निवास चिन्तामणिगृह है, जो कल्पवृक्ष अथवा कदम्ब-वृक्षों से आवृत मणिमय मंडप में स्थित है। शिव, सदाशिव और महेशान उनके मंच, पर्यंक और उपबर्हण हैं तथा ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र और ईश्वर मंच के पैर हैं। अतः प्रतीकों के आधार पर देवी की सर्वोच्चता सिद्ध की गई है। महाभैरव को देवी की आत्मा माना

गया, जिनके नौ व्यूह हैं - काल व्यूह, कुल व्यूह, नाम व्यूह, ज्ञान व्यूह, चित्त व्यूह (अहंकार, चित्त, बुद्धि, महत् और मन)। अत: देवी भी नौ व्यूहों की आत्मा मानी गईं। उनके सम्मिलन से सृष्टि होती है। सृष्टि में 'महाभैरवी' और संहार में 'महाभैरव' की प्रधानता होती है, यद्यपि सृष्टि के पहले शिव और शक्ति की ही सत्ता रही हैं। प्रकाश रूप में शिव शक्ति के विमर्श रूप में स्थित होकर बिन्दु स्वरूप हो जाते हैं। तत्पश्चात् शक्ति भी शिव में प्रविष्ट होती हैं। तब बिन्दु विकसित होकर 'नाद' बन जाता है। 'नाद' और 'बिन्दु' सम्पृक्त होकर 'काम' को उत्पन्न करते हैं। श्वेत और रक्त बिन्दु क्रमश: शिव और शक्ति तत्त्व में मिलकर 'कला' को उद्भूत करते हैं। 'काम' और 'कला' से 'त्रिपुरसुन्दरी-स्वरूप' 'कामकला' का उदय होता है, जो सर्वोच्च स्थिति है।

शक्ति के लिए 'देवीभागवत' में कहा गया है ''उनके अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्म, न हरि, न शिव और न अनन्त (शेषनांग) जानते हैं। ये सब भी उसके अंश के अंश हैं। फिर अन्य देवी के विषय में कहा जाय! जगदम्बिका के लिए हमारा सदा नमस्कार हो। उनके पादपंकज की रज को पाकर ब्रह्म विश्व का सर्जन करते हैं, विष्णु सर्वदा पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं। उनकी कृपा के बिना ः देवता भी असमर्थ हैं। उन जगदम्बिका के लिए हमारा नमस्कार है।[1]

देवी को वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म से अभिन्न अथवा तद्रूप निर्दिष्ट किया गया है '' वे (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) उस परा शक्ति देवी का, जिसको ब्रह्म कहते हैं, जो परमात्मा रूप हैं उसकी नित्य और सनातन मानकर, सदा मन से ध्यान करते हैं।[2] आगे कहा गया, ''जो देवी शक्ति है, वही परमात्मा है, जो परमात्मा, है, वही देवी हैं। इन दोनों में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं[3]।'' इस प्रकार देवी ही ब्रह्मरूपिणी, परमात्मा और शक्ति-सम्पन्न मानी गईं।

## अन्य हिन्दू देवताओं का महत्त्व

प्राचीन हिन्दू कथाओं तथा आख्यानों में अनेक देवी-देवताओं की आराधना हुई है जिनमें अग्नि, सूर्य, स्कन्दकार्तिकेय, गणेश आदि विशिष्ट रूप से पूज्य रहे हैं।

**'अग्नि'** ऋग्वैदिक देवता हैं जिनका महत्त्व प्राचीन काल से ही रहा है। प्रारम्भ से ही अग्नि द्वारा देवताओं को आहुति दी जाती रही है। 'अग्नि' को 'होता' भी कहा गया है। 'अग्नि' देवताओं के आह्वान के लिए हैं। 'अग्नि' का विशिष्ट गुण होने के कारण यह महत्त्वपूर्ण देवता था। अग्नि का एक विशिष्ट गुण सर्वदा उर्ध्व दिशा

1. देवीभागवत, 5.98, 99
2. वही, 1.8.47
3. वही, 3.7.15

की ओर ही जलना। यह हमारे लिए प्रगति एवं सत्त्व गुण से युक्त मार्ग पर ले जाने वाला देवता है। उर्ध्व दिशा में जलने के कारण यह ही एक मात्र देव हैं जो इष्ट देव के आह्वान में सहायक हैं।

अग्नि की भाँति सूर्य की उपासना भी **'सवितृ'** देव के रूप में ऋग्वैदिक काल से होती रही है। वैदिक देवताओं में 'सवितृ' का विशिष्ट स्थान रहा है यद्यपि परवर्ती काल में विष्णु, शिव एवं भक्ति की उपासना विशिष्ट रूप से होने लगी, किन्तु अभी भी 'गायत्री-मंत्र' द्वारा सूर्य की उपासना की जाती है। ऋग्वैदिक कालीन सवितृ जिस प्रकार सात घोड़ों से जुते हुए रथ पर आरूढ़ होकर आकाश में अवतरित होते हैं[1] उसीप्रकार का वर्णन 'रघुवंश' में भी हुआ है।[2] कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में भी सूर्य के 'उपस्थापन' का वर्णन किया है।[3] थानेश्वर के राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन, प्रभाकरवर्द्धन जैसे अनेक भारतीय राजा सूर्योपासक थे। अनेक सूर्य मंदिर भी बनवाए गये थे। स्कन्दपुराण में मुल्तान के सूर्यमंदिर का वर्णन प्राप्त होता है –

**ततो गच्छेन्महादेवि मूलस्थानमिति श्रुतम्।**
**देविकायास्तटे रम्ये भास्करं दारितस्करम्।।**

उड़िसा का तेरहवीं शताब्दी में बना कोणार्क मंदिर इसका उत्कृष्ट नमूना है। सूर्य के अनेक पर्यायवाची शब्द अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। जैसे मार्तण्ड, वरुणस्वामी, आदित्य, भास्कर, इन्द्रादित्यादि। सूर्य के उपासक मस्तक पर चन्दन से सूर्य जैसी लाल आकृति बनाते हैं तथा लाल पुरुष की माला पहनते हैं तथा रविवार को सूर्य का व्रत (उपवास) रखते हैं।

अन्य प्रमुख हिन्दू देवताओं में **गणेश** या **गणपति** भी प्रमुख हैं। ऋग्वेद (2.23.1) में 'गणपति' शब्द का प्रयोग मिलता है (**गणनां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तम।**) गणेश के भी अनेक पर्यायवाची शब्द वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में इन्हें एकदन्त एवं वक्रतुण्ड कहा गया है (**एक दन्ताय विद्‌महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्**)। ऋग्वेद (8. 8.1.1) में इन्हें 'महाहस्ती' कहा गया है। 'गणपति' का शाब्दिक अर्थ है समुदायों का स्वामी। इसीलिए इन्हें गणेश कहा गया है। इन्हें 'विनायक' भी कहा गया है। विनायक का अर्थ है- विचरण करने वाली आत्मा। गणेश का यह नाम विघ्नकारी गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है कि मनुष्य के कार्यों में विघ्न उपस्थित करने के लिए रुद्र एवं ब्रह्म ने विनायक को गणपति

---

1. ऋग्वेद, 10.125; सूर्य आत्मा जगतस्थुपश्च।
2. रघुवंश, 3.22
3. विक्रमोर्वशीयम्, 5.4

बनाया। अम्बिका को गणपति की माता बताया गया है। यहाँ गणपति के मित, समित, कंटकट, कूष्माण्ड, शाल और राजपुत्र ये छह नाम बताए गये हैं।

पौराणिक आख्यानों के अनुसार गणपति भगवान् शिव के द्वितीय पुत्र बताए गए हैं जो विघ्नों को समाप्त कर जीवन को मंगलमय बनाते हैं। इसीलिए सभी हिन्दू पूजाओं में सर्वप्रथम गणपति की पूजा करने के बाद ही अन्य देवताओं की पूजा होती है। गणेश से सम्बन्धित अनेक रोचक कथाएँ हिन्दू परिवारों में सुनी-सुनाई जाती हैं। आज भी हिन्दू परिवारों में गणेश की पूजा होती है तथा गणेश की प्रतिमा घर में प्रायः दिख पड़ती है। विद्यारम्भ 'श्रीगणेश' से ही होता है। गणेश आज किसी भी शुभ कार्य के प्रारंभ के प्रतीक हैं।

गणेश की प्रतिमाएँ भारत के विभिन्न स्थानों एवं घर-घर में तीन रूपों में दिख पड़ती हैं-(1)खड़ी (2)बैठी एवं (3)नृत्य करती हुई। सभी मूर्तियों में गज-मस्तक एवं लम्बोदर दिख पड़ता है। गणेश का वाहन मूषक है। इन्हें चूहा पर सवार दिखाया जाता है। गणेश का प्रमुख भोग लड्डू माना गया है जो उन्हें अत्यन्त रुचिकर था।

गणेश के भाई **स्कन्द-कार्तिकेय** (जो शिव-पार्वती के प्रथम पुत्र थे) की पूजा भी हिन्दू परिवारों में होती है। कार्त्तिकेय के नाम की व्युत्पत्ति रामायण में बतायी गर है। रामायण के अनुसार अग्नि ने गंगा का अभिषेक किया था, तदनन्तर स्कन्द व जन्म हुआ था।[1] गंगा ने भ्रूण को हिमालय पर्वत पर फेंक दिया था तब उसक लालन-पालन कृतिकाओं ने किया था, इसीलिए उनका नाम 'कार्त्तिकेय' हुआ। यद्यपि महाभारत में भी कार्त्तिकेय को अग्नि का पुत्र माना गया है[2] किन्तु कालान्तर में अग्नि को शिव का प्रतिरूप मानते हुए कार्त्तिकेय को शिव का पुत्र बताया गया है। कार्त्तिकेय मयूर पर आरूढ़ हैं। ऐसा लगता है कि मयूर वाहन होने से कार्त्तिकेय जंगलों में निवास करते होंगे। अतएव शिव के साथ इनका संबंध उचित ही है। स्कन्द देवताओं की सेना के नायक थे, अतः इन्हें महासेन भी कहा जाता था। 'स्कन्द' का एक अन्य पर्यायवाची नाम 'कुमार' था। पतंजलि ने भी महाभाष्य में 'स्कन्द' पूजा का संकेत दिया है। स्कन्द देवता के रूप में शिव के साथ या स्वतंत्र रूप में याद किए जाते हैं।

हिन्दुओं के एक अन्य देवता है ब्रह्मा, जो जगत् के स्रष्टा कहे गये हैं। इन्हें ही 'प्रजापति'[2] या 'प्रजापति' को ही ब्रह्म के रूप में भी कहा गया है। ऋग्वेद में इन्हें सभी जीवों का स्वामी एवं देवोपरि देव कहा गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण में 'इन्हें

---

1. रामायण, 1.37.14, समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिंचत् पावकः।
2. शतपथ ब्रा., 2.6.3.4; .......प्रजापतिः प्रजां असृजत्.....।
3. ऋग्वेद, 10.121

वराह के रूप में पृथ्वी के उद्धारक के रूप में दर्शाया गया है।[1] प्रजा के कल्याण में लगे रहने के कारण इन्हें प्रजापति कहा गया है।[2] विष्णु पुराण (6.1.7) में कहा गया है कि वृत युग के प्रारम्भ से ही ब्रह्म सृष्टि करने को उद्यत थे (**आद्ये कृतयुगे सर्गो ब्रह्मणा क्रियते यथा।**)। वायु पुराण (5.22) में इन्हें प्रथम शरीरधारी और सर्जक बताया गया है (**स वै शरीर प्रथमः कारणत्वे व्यवस्थितः।**)। इन्हें चतुर्भुज भी कहा गया है। ब्रह्म की प्रतिष्ठा कालान्तर में शिव एवं विष्णु की तुलना में कम पड़ने लगी। ब्रह्म का जन मानस पर प्रभाव इतना क्षीण हो गया कि ब्रह्म का मंदिर एवं मूर्त्तियाँ अत्यल्प प्राप्त होती हैं।

सभी हिन्दू घरों में सामान्यतया इन देवी-देवताओं की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ प्राप्त होती हैं। जिनकी प्रार्थनाएँ प्रतिदिन की जाती हैं। व्रत, उपवास एवं धार्मिक त्योहारों को भी हिन्दू उत्सव की भाँति मनाते हैं। तीर्थाटन भी धर्म का एक प्रमुख साधन माना गया है।

हिन्दुओं में दिव्यात्माओं की पूजा-अर्चना भी होती रही है। साथ ही मानवेतर प्राणियों यथा-नाग, यक्ष, वृक्ष, गो, वृषभादि की पूजा का प्रचलन था। 'पञ्चगव्य' का हिन्दुओं में धार्मिक महत्त्व था। हिन्दू धर्म में सरिता, पर्वत जैसे जड़ पदार्थों के प्रति सम्मान का भाव है। पार्वती को हिमालय की पुत्री बताया गया है जिनका विवाह कैलाश पर्वत स्थित शिव के साथ बताया गया है। आज भी लोग तीर्थाटन हेतु कैलाश पर्वत की यात्रा करते है। गंगा (जाह्नवी) को भगवान विष्णु के पैर से निःसृत बताया गया है तथा मन्दाकिनी को शिव की जटा से होकर पृथ्वी पर निकली हुई, ऐसी धारणा है। 'सरस्वती' को देवी के रूप में हम पूजा-अर्चना करते हैं। पुष्कर झील को पुण्योदक बताया गया है जिसमें स्नान करने से मोक्ष प्राप्ति होती है।

## षड्-दर्शन

### मीमांसा दर्शन

षड्दर्शन में मीमांसा दर्शन का महत्त्व है। मीमांसा का अभिप्राय है युक्तियों की समीक्षा द्वारा किसी विषय या समस्या का निर्णय। इस दर्शन का आधार-ग्रन्थ है जैमिनिकृत 'पूर्वमीमांसा सूत्र'। उनका काल संभवतः ईसा के जन्म से पूर्व रहा होगा। उनके सूत्रों पर बोधायन, उपवर्ष और भवदास ने भाष्य लिखे। किन्तु इस समय शब्र स्वामी (लगभग 200 ई०) का भाष्य उपलब्ध है। 'शाबरभाष्य' पर कुमारिल के

1. शतपथ ब्रा., 14.1.2.11, इयमग्रे पृथिव्यास....वराह उज्जधान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः।
2. वायु पुराण, 5.29-37,....पातिर्यस्मात् प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः।

शिष्य प्रभाकर ने 'बृहती' और 'लध्वी' नामक टीकाएँ प्रस्तुत कीं। बाद में वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वबिन्दु' नामक ग्रन्थ की रचना की।

मीमांसा के दार्शनिकों के अनुसार जगत् और उसके विषय सत्य हैं। कुमारिल ने पाँच पदार्थों की चर्चा की है - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। प्रभाकर का मत है कि 'अभाव' कुछ नहीं, किन्तु परतंत्रता, सादृश्य और संख्या पदार्थ है। द्रव्य वह माना गया जिसका परिणाम था। अतः पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, प्रकाश, अंधकार, दिक्, काल, शब्द, आत्मा और मन द्रव्य के अन्तर्गत गृहीत किये गये। कुछ मीमांसकों के अनुसार आत्मा एक नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर से संयुक्त है। चेतनता इसका गुण है। जितने जीव हैं उतनी ही आत्माएँ हैं।

कुमारिल ने गुणों की संख्या चौबीस बताई है। नैयायिकों के वर्णन से उनका वर्णन मिलता हैं। केवल थोड़ा-सा अन्तर है। कुमारिल के अनुसार शब्द, धर्म और अधर्म गुण नहीं हैं। वे ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति को गुण मानते हैं।

मीमांसकों के मतानुसार कर्म गोचर है, जिससे पदार्थों में संयोग और वियोग होता है। इससे शक्ति उद्भूत होती है जिसे 'अपूर्व' कहा जाता है। यह ऐसी शक्ति है जो कर्म समाप्त हो जाने पर भी बनी रहती है और उसमें फल पैदा करने की क्षमता तद्वत रहती है। कुमारिल के 'अभाव' तत्त्व को प्रभाकर 'अधिकरण स्वरूप' मानते हैं, जैसे घड़े के न होने का अर्थ मिट्टी का होना है जिससे घड़ा बनता है, अर्थात् वह घड़े का अधिकरण हैं।

मीमांसा-विचारकों के अनुसार जगत् का न आदि है, न अन्त। यह सर्वदा रहा है और रहेगा 'न कदाचिदनीदृशं जगत्'। इसकी न सृष्टि है, न प्रलय होता है।

मीमांसा दर्शन में यह माना जाता है कि सभी ज्ञान अपने आप में प्रामाणिक हैं। ज्ञान में ही इसकी सत्यता है। इसमें भ्रम का कोई स्थान नहीं। उदाहरण के लिए रस्सी में साँप की भ्रांति। दोनों तरह के ज्ञान आपस में मिल जाते हैं। दोनों का ज्ञान सत्य है, किन्तु स्मृति-दोष के कारण ऐसी भ्रांति होती है। यह भ्रम अज्ञान नहीं है, बल्कि मिथ्या सत्य का रूप है, जो कभी नहीं होता। यह सिद्धान्त 'अख्यातिवाद' कहा जाता है, जिसे प्रभाकर ने विकसित किया। कुमारिल का मत इससे पृथक् है। उनका मत है भ्रम विषयों को लेकर नहीं होता बल्कि उनके संसर्ग के कारण होता है। रस्सी और साँप दोनों हैं। यह सिद्धान्त 'विपरीत ख्यातिवाद' कहलाता है। मीमांसक दो प्रकार का ज्ञान मानते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष।

शब्द के प्रमाण को मीमांसावादी महत्त्व प्रदान करते हैं। वे शब्द को नित्य मानते हैं। सुनाई पड़ने वाली सभी ध्वनियाँ शब्दों का प्रकट रूप हैं। एक ही शब्द बार-बार

सुनाई देता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द नित्य है, जो ध्वनियों के माध्यम से प्रकट होते हैं। शब्द गले से स्फुटित होता है, उद्भूत नहीं होता। कुमारिल के अनुसार शब्द में 'अभिधाशक्ति' है। वेदों को नित्य शब्दों का भण्डार माना गया है, जो अपौरुपेय हैं। कर्मों का विधान मान्य रूप है। कर्म करना आत्मशुद्धि है। कर्म करने के पीछे वेद का निर्देश समझना चाहिए। निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए जो निःश्रेयस् की ओर संचालित करता है। इस प्रकार मीमांसकों ने वैदिक कर्मवाद को नया आयाम प्रदान किया तथा उसकी नई व्याख्या की।

मीमांसा-दार्शनिकों को राजनैतिक और सामाजिक विचार भी अत्यन्त ग्राह्य हैं। जैमिनि ने 'पूर्वमीमांसा (6-1-3,6,16) में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी यज्ञादि करने के अधिकार को मान्यता दी है। शबरस्वामी ने यह स्वीकार किया है कि पति द्वारा अर्जित धन और सम्पत्ति पत्नी की है और वह धन रहने पर यज्ञ कर सकती है। जैमिनि ने शूद्र के लिए कहा कि वह किसी का दास नहीं है। यह सही है कि वह लोगों की सेवा करता है, किन्तु उसकी स्वतंत्र सामाजिक सत्ता हैं। ऐसी स्थिति में उसे दान में प्रदान नहीं किया जा सकता (पूर्व-मीमांसा,6-7)। जैमिनि का विचार है कि राजा को भूमि दान करने का कोई अधिकार नहीं क्योंकि वह उसकी सम्पत्ति नहीं, **'भूमिस्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्'** (पूर्वमीमांसा,6.7.3)। इस संबंध में शबरस्वामी का मत है कि जिस प्रकार भूमि पर राजा का अधिकार है, उसी प्रकार सबका अधिकार है, **''यावता भूभागेन सार्वभौमो भूमेरीष्टे तावतान्योऽपि''**। चूंकि राजा लोगों की रक्षा करता है, इसके बदले उसे भूमि के उपज का कुछ भाग प्राप्त होता है। किन्तु भूमि से उसका कोई मतलब नहीं है, **''असौ पृथिव्यां सम्भूताया व्रीह्यादीनां रक्षणेनं निविष्टस्य कस्यास्यचिद् भागस्येष्टे न भूमेः''**। अतः भूमि पर सभी व्यक्तियों का समान अधिकार है, राजा का विशेषाधिकार नहीं।

मोक्ष के विषय में मीमांसकों ने स्पष्ट रूप से नहीं सोचा। जैमिनि और शबर ने यज्ञों के माध्यम से स्वर्ग प्राप्ति की बात की। प्रभाकर ने धर्म-अधर्म के कारण प्राणियों के विभिन्न योनियों में जन्म लेने की चर्चा की है। आत्मज्ञान के माध्यम से मोक्ष-प्राप्ति का विचार किया गया जो शम, दम, सत्य और ब्रह्मचर्य से सम्भव माना गया।

## वेदान्त दर्शन

वेदान्त का अभिप्राय वेद का अन्त अथवा अन्तिम भाग है। वस्तुतः वेदान्त से उपनिषदों की अभिव्यक्ति होती है। बादरायण के 'वेदान्तसूत्र' अथवा 'ब्रह्मसूत्र' से वेदान्त दर्शन का उपाख्यान हुआ है, जिस युग में जैमिनि ने 'पूर्वमीमांसासूत्र' की रचना की थी, उसी युग में बादरायण ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तसूत्र' का प्रणयन किया

था। उपनिषदों का तत्त्वज्ञान 'वेदान्तसूत्र' (ब्रह्मसूत्र) में संग्रहीत है। 700 ई० के लगभग गौडपाद ने मान्डूक्य उपनिषद् पर कारिकाएँ लिखीं, जिनमें बादरायण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। बाद में उनके शिष्य गोविन्द ने वेदान्त दर्शन का विकास किया। तदनन्तर गोविन्द के शिष्य शंकर (शंकराचार्य) ने वेदान्त का विशद प्रतिपादन किया। उनका वेदान्त दर्शन कश्मीर से कन्याकुमारी और पंजाब से कामरूप तक प्रशान्त और प्रख्यात हुआ। 'आत्मबोध' 'दक्षिणामूर्ति' 'आनन्दलहरी' 'उपदेशसाहस्री' 'शिवापराधक्षमापण' 'हस्तामलक' आदि ग्रन्थों की उन्होंने रचना की। उन्होंने मीमांसा दर्शन का खण्डन किया, परंतु वैदिक निर्देशों के प्रति आस्था प्रकट की। बौद्ध सिद्धान्तों का उन्होंने विरोध किया, मगर बुद्ध के व्यक्तित्व की प्रशंसा की। उन्होंने ब्रह्म का प्रचार किया तथा विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, आदि देवताओं को विहित माना। शंकर के मतानुसार जगत् की विविधता में एकता है तथा भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एक ही सत्ता के रूप हैं, जो अनन्त, सत्य और ज्ञान हैं। यह सत्ता चैतन्य और आनन्दयुक्त है तथा देश, काल और अवस्था से परे है। साथ ही नामों, गुणों और विशेषणों से इसे आबद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए यह सत्ता 'ब्रह्म' है, जिसमें ऐसी शक्ति है, जिसके कारण वह अनेक रूपों में दर्शित होता है। इसी शक्ति को 'प्रकृति' अथवा माया कहते है। 'माया' रूपों में अलग है, किन्तु 'माया' के कारण उसे 'ईश्वर' माना जाता है। 'माया' के कारण ही वह सूक्ष्म दिखाई देता है। जगत् ब्रह्म का ही रूप है, जो सत्य है। वह असत् नहीं **'नाभाव उपलब्धे'** (ब्रह्मसूत्र, 2.2.28)। सत्य वह वस्तु है जिससे उस वस्तु का बोध होता है जो अपने आप में पूर्ण है: **'सर्वं च नामरूपादि सर्वात्मनैव सत्यं स्वतस्तु अनृतमेव'** (छांदोग्य उ. प०,6.3.2 पर शंकर का भाष्य)। तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) में ब्रह्म की सत्ता बनी रहती है, और तीनों कालों में जगत् भी बना रहता है: **''यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्वं व्यभिचरति''** (ब्रह्मसूत्र, 2.1.16 पर भाष्य)। इसप्रकार ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है।

ब्रह्म के विविध रूप जो दिखाई देते हैं, वे देश, काल, गुण, और आकार की सीमाओं में आबद्ध हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा की छाया जल में दिखाई देती है उसी प्रकार जगत् में जीव भी भिन्न-भिन्न तरह के दिखाई पड़ते हैं। किन्तु जल के न रहने पर जैसे चन्द्रमा की छाया नहीं दिखाई देती उसी प्रकार अविद्या के हटने से जगत् में दिखाई देने वाले प्राणी पूर्णतः नष्ट हो जायेंगे। अतः आवरण के हटने पर ब्रह्म अपने असली रूप में दर्शित होता है। जगत् की परिवर्तनशीलता में ब्रह्म की एकता को पहचानना विद्या का स्वरूप है अथवा ज्ञान की अवस्था, जो उसी जीवन में प्राप्त हो सकती है: **'सिद्धं जीवतोऽपि विदुपः अशरीरत्वम्'** (ब्रह्मसूत्र 114 पर भाष्य)। मुक्ति प्रदान करने के पश्चात् भी व्यक्ति जीवित रहते हुए अपना दैनिक कर्म

करता है। अतः मुक्ति का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाय बल्कि ज्ञान के माध्यम से वह जगत् को पहचाने। वेदान्त-भाष्यकारों के अनुसार आचरण का जीवन में अधिकाधिक महत्त्व है। ज्ञान की प्राप्ति जिन तत्त्वों से होती है, वे पुण्य है तथा जिनसे ज्ञान की प्राप्ति में बाधा होती है, वे पाप हैं। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार पुण्यकर्म हैं तथा असत्य, हिंसा, बर्बरता आदि पाप हैं। अतः वेदान्त में नैतिक आचार पर अत्यधिक बल दिया गया है।

**सांख्यदर्शन**

सांख्य दर्शन कपिलमुनि द्वारा प्रस्तुत की गई दर्शनपद्धति है। इसमें पच्चीस तत्त्वों की गणना करके उसकी व्याख्या की गई है, इसलिए इसको सांख्य कहा जाता है। इसके साथ ही साथ सम्यक् विचार करने के कारण भी इनको सांख्य कहा जाता है-

(क) **सांख्यं संख्यात्मकत्वाश्च कपिलादिभिरुच्यते**।-मत्स्यपुराण, 4/28

(ख) **चर्चा संख्या विचारणा**। - अमरकोश, 1/5/3

(ग) **संख्या प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।**
**तत्त्वानि च चतुर्विंशत्तेन सांख्यं प्रकीर्त्तितम्॥** - महाभारत

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक आचार्य कपिलमुनि हैं, जिन्हें भागवत के अनुसार विष्णु का पञ्चम अवतार माना जाता है। इन्होंने सांख्य दर्शन को सूत्रों में प्रस्तुत किया था। कपिल के शिष्य आसुरि थे। आसुरि के शिष्य पञ्चसिख थे। कपिल, आसुरि एवं पञ्चशिख का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, कुछ दार्शनिक आचार्य 'षष्ठितन्त्र' को कपिल अथवा पञ्चशिख का ही ग्रन्थ मानते हैं। इसीप्रकार विन्ध्यवास वार्षगन्य, जैगीषव्य; वोढु, देवल आदि प्रसिद्ध आचार्यों का भी कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। सांख्यदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य विज्ञानभिक्षु सोलहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। उन्होंने सांख्यसूत्र, सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यसार, योगसार, विज्ञानामृत भाष्य नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। वर्तमान युग में ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित सांख्यकारिका सांख्यदर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को इन्होंने षष्ठितन्त्र के आधार पर लिखा है। सांख्यकारिका में सत्तर कारिकाएँ हैं। इस ग्रन्थ पर वाचस्पति मिश्र की तत्त्व-कौमुदी, गौडपाद का गौड़पादभाष्य, नारायणतीर्थ की चन्द्रिका आदि प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गई हैं।

सांख्यदर्शन के तत्त्वों के तीन प्रकार हैं - व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ। व्यक्त तत्त्व के तेईस भेद हैं और ये कार्य-कारणभाव से प्रकृति से प्रादुर्भूत हुए हैं। अव्यक्त को प्रकृति अथवा प्रधान भी कहते हैं, यह जड़ हैं। 'ज्ञ' को पुरुष अथवा चेतन भी कहा जाता है- **व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्**। (सांख्यकारिका,2)। पुरुष निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त है तथा व्यक्त और अव्यक्त तत्त्व त्रिगुण, तथा अविवेकी हैं।

प्रत्येक पदार्थ परिवर्तशील धर्म से युक्त होता है। धर्म का परिवर्तन ही परिणाम है और व्यक्त और अव्यक्त में यह परिवर्तन होता ही रहता है। किन्तु चेतन में यह परिणाम रूप परिवर्तन नहीं होता।

व्यक्ताव्यक्त के सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण-ये तीन गुण रहते हैं, चेतन में इनमें से कोई गुण नहीं होता।

परिणामवाद के अनुसार मूल प्रकृति से बुद्धि (महत्तत्त्व), बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन (उभयेन्द्रिय), पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत-आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी का प्रादुर्भाव होता है।

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण की अव्यक्तावस्था में रहता है। इसलिए कोई भी पदार्थ उत्पन्न अथवा, विनष्ट नहीं होता। सभी पदार्थों में स्वरूप ही परिवर्तित होता है। महत्तत्त्व, अहंकारादि अव्यक्त प्रकृति की ही व्यक्तावस्था है। भगवद्गीता के अनुसार- नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः (2/16)। अर्थात् असत् से सत् नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता। इसलिए इस सृष्टि में जो भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे किसी न किसी कारण के ही परिणाम हैं। ईश्वरकृष्ण ने भी कारण-कार्य भाव को माना है और सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए पाँच तर्क प्रस्तुत किए हैं-(एक) असत् में दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता; (दो) प्रत्येक वस्तु किसी विशेष कारण से ही उत्पन्न होती है; (तीन) सभी वस्तुएँ सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होतीं तथा कारण कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होती है; तथा (पाँच) कारण और कार्य में अभेद है (सांख्यकारिका, 9)। अतएव यह सारा जगत् कार्यरूप है और कारण रूप मूलप्रकृति में अव्यक्तावस्था में रहता है। व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के धर्मों को इस प्रकार समझा जा सकता है-

| **व्यक्त ( महत्तत्त्वादि )** | **अव्यक्त ( प्रकृति )** | **ज्ञ ( पुरुष )** |
|---|---|---|
| अनित्य | नित्य | त्रिगुणातीत |
| अव्यापक | व्यापक | निर्लिप्त |
| क्रियाशील | निष्क्रिय | अहेतुमान् |
| अनेक | एक | नित्य |
| आश्रित | अनाश्रित | कैवल्य |
| जड़ | जड़ | निष्क्रिय |
| अविवेकी | अविवेकी | एक |
| विषय | विषय | अनाश्रित |

| व्यक्त ( महत्तत्त्वादि ) | अव्यक्त ( प्रकृति ) | ज्ञ ( पुरुष ) |
|---|---|---|
| सामान्य | सामान्य | अलिंगत्व |
| अचेतन | अचेतन | निरवयवत्व |
| | | उदासीन |
| प्रसवधर्मित्व | प्रसवधर्मी | स्वतन्त्र |
| त्रिगुण | त्रिगुण | विवेकी |
| सावयव | निरवयव | अविषय |
| अस्वतन्त्र | स्वतन्त्र | असामान्य |
| लय होना | लय न होना | चेतन |
| | | अप्रसवधर्मी |
| | | साक्षी |

सांख्यदर्शन के अनुसार तीन प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम। व्यक्त के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अव्यक्त और पुरुष की सिद्धि के लिए अनुमान एवं आगम की आवश्यकता होती है -

**सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।**

**तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।।** -सांख्यकारिका, 9

यद्यपि सांख्यदर्शन में पुरुषबहुत्व की सिद्धि की गई है। किन्तु बद्धपुरुष में बहुत्व हो सकता है, ज्ञ में नहीं। इस प्रकार जीवात्मा बद्धपुरुष है और ज्ञ (आत्मा) एक ही है। इसी चेतन के समान प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, इस प्रतीति के फलस्वरूप ही पुरुष कर्त्ता, भोक्ता और विषयों के प्रति आसक्त सा दिखाई पड़ा है प्रकृति आदि का चेतन के समान प्रतीत होना तथा पुरुष का प्रकृति के गुणों से युक्त दिखाई देना बन्धन है और पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान होना तथा प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति है। प्रकृति पुरुष को मुक्त कराने के लिए ही उपाय करती है। एक जन्म में पुरुष की मुक्ति सम्भव नहीं है इसीलिए प्रकृति एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है। सांख्यदर्शन में स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर को भी मान्यता दी गई है -

**पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।**

**संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।।** -सांख्यकारिका, 40

ज्ञान के द्वारा अविद्या के नाश होने पर, प्रकृति और पुरुष अपने-अपने स्वरूप को पहिचान लेते हैं। इस समय पुरुष स्वयं को निर्लिप्त तथा निस्संग समझने लगता है, ज्ञान रह जाता है और धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के सात भावों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और सृष्टि का प्रयोजन नहीं रहता, फलस्वरूप प्रकृति सृष्टि के कार्यों से

विरत हो जाती है और पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। इस समय उसकी स्थिति 'जीवन्मुक्त' की हो जाती है और पूर्वजन्म के संस्कारों के नष्ट होने पर ही पुरुष पूर्णमुक्त हो जाता है और कभी बन्धन में नहीं पड़ता।

### योग-दर्शन

भारतीय दर्शन में योग का अत्यधिक महत्त्व है। तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार के लिये योग-साधना की आवश्यकता प्रायः सभी दर्शनों एवं भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। वैदिक एवं अवैदिक (जैन एवं बौद्ध) दर्शनों में योग की उपादेयता सर्वमान्य है। सविकल्प बुद्धि को निर्विकल्प प्रज्ञा में परिणत करने हेतु योग-साधना की उपादेयता निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में योग की महनीयता का वर्णन उपलब्ध है। योग के कई प्रकार हैं। गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तथा ध्यानयोग का वर्णन है। राजयोग एवं हठयोग भी प्रसिद्ध है। यहाँ हम महर्षि पतञ्जलि के राजयोग का ही वर्णन करेंगे क्योंकि वही योग-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है तथा सांख्य-दर्शन से सम्बद्ध है। वैसे तो योग पतञ्जलि मुनि से बहुत प्राचीन हैं, किन्तु योग-सूत्र के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने इसे सुसम्बद्ध दार्शनिक रूप दिया है। सांख्य-योग सम्बद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय है। इन्हें एक ही सम्प्रदाय का दो रूप माना जाता है। सांख्य सिद्धान्तों का या तत्त्वों का वर्णन करता है, योग उस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रायोगिक साधना का विवेचन करता है, सांख्य की तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा को योग प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लेता है, सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द रूपी प्रमाण-त्रयी को योग ने स्वीकार किया है। योग ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, अतः इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। गीता में सांख्य को ज्ञान और योग को कर्म माना गया है तथा वस्तुतः दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

योग शब्द का प्रचलित अर्थ मिलन है अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। गीता में योग को 'दुःख-संयोग का वियोग' बताया गया है जो सांख्यसम्मत 'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति' की ओर संकेत करता है, किन्तु साथ ही उसे, सांख्य के विपरीत, अनन्त आनन्द या 'आत्यन्तिक सुख' भी बताया है। योग वह स्थिति है जहाँ योगी बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता, जिस स्थिति से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं मानता, और जिस स्थिति में वह आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है। गीता में ही योग को 'चित्त-निरोध' एवं 'समत्व' तथा 'ब्रह्म-भाव' भी बताया गया है। गीता के अनुसार योग में ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय हो जाता है। इस प्रकार गीता में योग का सम्पूर्ण वर्णन उपलब्ध है।

पातञ्जल योग-सूत्र में चार पाद है। प्रथम समाधिपाद है जिसमें समाधि के रूप एवं भेदों का और चित्त तथा उसकी वृत्तियों का वर्णन है। द्वितीय साधनपाद में क्रियायोग, क्लेश, क्लेश दूर करने के साधन, योग के बहिरङ्गों आदि का वर्णन है। तृतीय विभूतिपाद में योग के अन्तरङ्गों का एवं योगशक्ति से उत्पन्न विभूतियों का वर्णन है। और अन्तिम चतुर्थ कैवल्यपाद में समाधिसिद्धि तथा कैवल्य आदि का निरूपण है।

## चित्त तथा उसकी वृत्तियाँ

योग शब्द 'युज्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है समाधि। पतञ्जलि ने योग को चित्तवृत्तिनिरोध बताया है।[1] चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है, अतः योग को समाधि भी कहा गया है।[2] चित्त का अर्थ है अन्तःकरण। इसमें सांख्यसम्मत बुद्धि अहङ्कार और मन तीनों आ जाते हैं। योग में बुद्धि, अहङ्कार और मन इन तीनों को मिलाकर 'चित्त' नाम दिया गया है। चित्त (बुद्धि रूप में जिसके अन्तर्गत अहङ्कार और मन भी आ जाते हैं) प्रकृति का प्रथम प्रसूत तत्त्व है तथा इसमें सत्त्व गुण का प्राधान्य है। चित्त अचेतन होते हुये भी अत्यन्त सूक्ष्म है और पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है। पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित होने पर जड़ चित्त चेतनवत् प्रतीत होता है और निराकार तथा विभु पुरुष साकार तथा सीमित जीव के रूप में, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में प्रतीत होता है। चित्त संसार में शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुष की अभिव्यक्ति का माध्यम है। आग में खूब तपा हुआ लोहे का गोला अग्नि का गोला लगने लगता है। ठंडा लोहे का गोला प्रतप्त अग्नि-गोलक बन जाता है, और निराकार अग्नि साकार तथा सीमित गोलक का रूप ले लेती है। इसी प्रकार चेतन पुरुष के संसर्ग से अचेतन चित्त चेतनवत् प्रतीत होता है तथा नित्य निराकार पुरुष-चेतन चित्त के संसर्ग से साकार, सीमित और अनित्य जीवचैतन्य के रूप में प्रतीत होता है। यही पुरुष का बन्धन और संसरण है। जब पुरुष सम्यक् ज्ञान द्वारा चित्त में अपने प्रतिबिम्ब से अपना तादात्म्य हटा लेता है और चित्त को प्रकृतिजन्य अचेतन एवं अपने से सर्वथा विपरीत जान लेता है तब पुरुष-चैतन्य का प्रकाश चित्त से हट जाता है। उस दशा में चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है तथा चित्त अपनी जननी प्रकृति में विलीन हो जाता है, वह पुरुष अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में प्रकाशित होता है। यह पुरुष का स्वरूपावस्थान अर्थात् मोक्ष है।

जब चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है अथवा स्वयं ही

---

1. योगश्चित्तवृतिनिरोधः।
2. योगः समाधिः।

मानस विषयों के सम्पर्क में आता है, तब वह विषय का 'आकार' ग्रहण कर लेता है। इस 'आकार' को ही 'वृत्ति' कहते हैं। जब पुरुष-चैतन्य के प्रकाश से यह चित्त-वृत्ति प्रकाशित होती है तब हमें उस विषय का ज्ञान होता है। इन अनित्य वृत्तियों का प्रवाह चित्त में चलता रहता है। वृत्तियाँ क्षीण होकर चित्त में अपने संस्कारों का आधार करती हैं तथा ये संस्कार परिपक्व होकर पुनः वृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कारों की एवं संस्कारों से वृत्तियों की उत्पत्ति का चक्र चलता रहता है।

चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं - (1) प्रमाण, (2) विपर्यय, (3) विकल्प, (4) निद्रा और (5) स्मृति। प्रमाण सत्यज्ञान है। यह तीन प्रकार के हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। विपर्यय मिथ्याज्ञान है जैसे रज्जुसर्प का ज्ञान; संशय भी इसी के अन्तर्गत मान लिया गया है। विकल्प शब्दज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्यवस्तुशून्य ज्ञान है, यह कल्पना मात्र है, जैसे शशशृंङ। निद्रा ज्ञान अभाव मानी जाती है, किन्तु इसके वृत्तित्त्व में सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि जागने पर व्यक्ति को भान होता है कि उसे खूब गहरी नींद आई। स्मृति संस्कारजन्य ज्ञान है।

पुरुष जब बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य कर लेता है तो वह बद्ध जीव के रूप में प्रतीत होता है जो जन्म-मरण चक्र में संसरण करता है तथा नाना प्रकार के क्लेश भोगता है। कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म उत्पन्न होते रहते हैं। क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि रखना 'अविद्या' है; यह विपर्यय या मिथ्याज्ञान है पुरुष और चित्त नितान्त भिन्न है; दोनों को एक ही मान लेना 'अस्मिता' है। यह अहङ्कार ममकार है। इसी से भोक्ता-भोग्य भोग की भावना होती है। विषयसुखों की तृष्णा या आसक्ति 'राग' है। सुख के अवरोधक और दुःख के उत्पादक के प्रति जो क्रोध एवं हिंसा का भाव है उसे 'द्वेष' कहते हैं। प्रत्येक प्राणी में जीवन की आसक्ति और मृत्यु का भय स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहता है, इसी को 'अभिनिवेश' कहते हैं। अविद्या-निवृति तथा चित्तवृत्तिनिरोध का पर्याय है।

चित्त की पाँच भूमियाँ या अवस्थायें होतीं हैं- क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। क्षिप्तचित्त में रजोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह अस्थिर, चञ्चल और विषयोन्मुख बन कर सुख-दुःख भोगता है तथा तूफान में घिरी नाव के समान दोलायमान रहता है। मूढ चित्त में तमोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह विवेकशून्य, कर्तव्याकर्तव्यबोधरहित बनकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा में पड़ा रहता है या विवेकहीन कार्यों में प्रवृत्त होता है। विक्षिप्त चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता रहती

है, किन्तु कभी-कभी रजोगुण भी जोर मारता है। 'विक्षिप्त' का अर्थ 'विशेष रूप से क्षिप्त' अर्थात् अधिक क्षिप्त नहीं है, अपितु क्षिप्त से उत्तम (**क्षिप्ताद् विशिष्टम्**) है अर्थात् राजस क्षिप्त चित्त से सात्त्विक विक्षिप्त चित्त उत्तम है क्योंकि इसमें सत्त्वगुण के कारण कभी-कभी स्थिरता आ जाती है, जब कि राजस क्षिप्त चित्त सदा चञ्चल रहता है। चित्त की चौथी भूमि में चित्त 'एकाग्र' होता है। यहाँ सत्य का अत्यन्त उत्कर्ष रहता है तथा रजोगुण और तमोगुण दबे रहते हैं। चित्त बाह्यवृत्तियों से रहित होकर ध्येयवृत्ति पर एकाग्र रहता है। चित्त की पाँचवीं और अन्तिम भूमि में चित्त 'निरुद्ध' कहलाता है। यहाँ वृत्तियों का कुछ काल तक निरोध हो जाता है, किन्तु उनके संस्कार बने रहते हैं। जब सारी वृत्तियों और सारे संस्कारों का सर्वथा निरोध होकर अविद्यानिवृत्ति हो जाती है तो चित्त निरुद्ध होकर अविद्या में विलीन हो जाता है। यह मोक्ष की अवस्था है। इन पाँच चित्तभूमियों में प्रथम तीन योग के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं, केवल अन्तिम दो भूमियाँ ही, एकाग्र और निरुद्ध समाधि के लिए उपयोगी हैं।

**अष्टाङ्ग योग**

योग शरीर, इन्दियाँ और चित्त की शुद्धि के लिये आठ अङ्गों का वर्णन करता है जो इस प्रकार हैं-

1. **यम :** यह पाँच प्रकार का संयम है- अहिंसा अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य अर्थात् मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन करना, अस्तेय अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी अन्य की वस्तु का अपहरण न करना और किसी को भी उसके अधिकार से वञ्चित न करना, ब्रह्मचर्य अर्थात् मन, वचन और कर्म से यौन संयम करना, और अपरिग्रह अर्थात् मन, वचन और कर्म से विषयभोगार्थ पदार्थों का संग्रह न करना।

2. **नियम :** ये भी पाँच प्रकार के हैं- शौच अर्थात् शरीर और चित्त के मलों की शुद्धि, सन्तोष अर्थात् आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह की इच्छा न करना, तप अर्थात् भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करना, स्वाध्याय अर्थात् मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और मन्त्र-जाप, और ईश्वर-प्रणिधान या ईश्वर का ध्यान एवं स्मरण।

3. **आसन :** यह शरीर का संयम है। ध्यान के लिये वही आसन उत्तम है जिससे शरीर का सुख और चित्त की स्थिरता बनी रहे (**स्थिरसुखमासनम्**)।

4. **प्राणायाम:** यह प्राणवायु का, श्वास-प्रश्वास का संयम है। पूरक, कुम्भक, रेचक इसके प्रकार हैं।

5. **प्रत्याहार :** यह इन्द्रियों का संयम हे। इन्द्रियाँ स्वाभाव से ही विषयोन्मुख

होती हैं। बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होना उनका स्वभाव है। उनकी बहिर्मुखवृत्ति को अन्तर्मुख बनाना, उनहें बाह्य विषयों से हटाकर भीतर मन के वश में रखना, प्रत्याहार कहलाता है।

उपर्युक्त पाँच अङ्ग योग के बहिरङ्ग साधन हैं। निम्नलिखित तीन अङ्ग योग के अन्तरङ्ग साधन माने गये हैं -

6. **धारणा :** किसी देश में जैसे नासाग्र में, भ्रूमध्य में, हृत्कमल में, या किसी बाह्य वस्तु में जैसे इष्टदेवता की मूर्ति आदि में चित्त को लगाना 'धारणा' है **(देशबन्धश्चित्तस्य धारणा)**

7. **ध्यान :** ध्येय वस्तु विषयक चित्तवृतियाँ जब निरन्तर एकाकार रूप से प्रवाहित हों तब इसे ध्यान कहते हैं। ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता का नाम ध्यान है **(तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्)**। ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान की अलग-अलग प्रतीति होती है।

8. **समाधि :** समाधि का अर्थ है ध्येय वस्तु में चित्त की विक्षेपरहित एकाग्रता। समाधि में ध्यान ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। ध्यान और ध्येय की एकता होने पर ध्याता भी ध्येयाकार हो जाता है। समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी में ध्येय ही शेष रह जाता है तथा ध्याता एवं ध्यान ध्येयाकार हो जाते हैं।

समाधि दो प्रकार की होती है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। ध्याता तथा ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते हैं, इनकी ध्येय से पृथक् अनुभूति नहीं होती। असंप्रज्ञात समाधि में चित्त सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। ध्येय वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता। ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी का अनिर्वचनीय अद्वैत में विलय हो जाता है।

संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है-

1. **सवितर्क :** चित्त पदार्थ के सम्पर्क में आकर उसका आकार ग्रहण कर लेता है एवं इस प्रकार वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार करता है, इस साक्षात्कार को चित्त का 'आभोग' कहते हैं। स्थूल आलम्बन (विषय) में चित्त के आभोग की 'वितर्क' संज्ञा है। अत: सवितर्क समाधि में स्थूल वस्तु की भावना की जाती है।

2. **सविचार :** जहाँ तन्मात्रा आदि सूक्ष्म वस्तु की भावना की जाती है उसे सविचारसमाधि कहते हैं।

3. **सानन्द :** सानन्द समाधि में सूक्ष्म सुखात्मक इन्द्रियों की भावना की जाती है।

4. **सास्मित :** सास्मित समाधि में नितान्त सूक्ष्म 'अस्मिता' या चित्प्रकाशित बुद्धि की भावना की जाती है।

असंप्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है, भवप्रत्यय एवं उपायप्रत्यय। असंप्रज्ञात समाधि में चित्तनिरोध होता है। वृत्तिनिरोध होने पर यदि चित्त अविद्या में लीन हो जाय तो यह अज्ञानावस्था जड़समाधि, प्रकृति-लय या भवप्रत्यय कहलाती है। वस्तुतः यह अज्ञानावस्था है, समाधि नहीं है। वृत्ति-निरोध के कारण इसे उपचारवश असंप्रज्ञात समाधि कह दिया जाता है। उपायप्रत्यय ही वास्तविक असंप्रज्ञात समाधि है। शुद्ध ज्ञान या प्रज्ञा को 'उपाय' कहते है। प्रज्ञा के उदय होने पर अविद्या-नाश से वृत्तियों एवं संस्कारों का सर्वथा निरोध हो जाता है एवं द्रष्टा की अपने स्वरूप से अर्थात् नित्य विशुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठा हो जाती है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि प्रज्ञा के साधक हैं। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रज्ञा उदय होकर अविद्या, वृत्ति एवं संस्कार को भस्म करके चरमावृत्ति के रूप में स्वयं भी उपशान्त हो जाती है। उस समय विशुद्ध चैतन्यमात्र रहता है जो द्रष्टा पुरुष का 'स्वरूप' है। चित्तवृत्तिनिरोध एवं स्वरूपावस्थान कैवल्य या मोक्ष है। यही योग का चरम लक्ष्य है।

### ईश्वर

योग सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार करता है। पतञ्जलि मुनि ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार बताया है-क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्म-संस्कार) से सर्वथा अपृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वर है।[1] ईश्वर नित्य मुक्त है। मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बद्ध था, प्रकृतिलीन पुरुष की भविष्य में बन्धन की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु ईश्वर सदेव मुक्त और सदैव ईश्वर है। वह नित्य एवं दिक्-कालातीत है। ईश्वर में ज्ञान और ऐश्वर्य की पूर्णता है। वह गुरुओं का भी गुरु है; प्राचीन ऋषियों का भी गुरु है।[2] वही वेद का प्रथम उपदेष्टा है। प्रणव उसका वाचक है। योग-सूत्र में ईश्वर का उल्लेख अनेक बार हुआ है। (ईश्वर-प्रणिधान से भी सिद्धि होती है।[3] तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को क्रियायोग कहते हैं।[4] ईश्वर-प्रणिधान से समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है।[5] ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है चित्त को भक्तिपूर्वक दृढ़ता से ईश्वर में लगाना अर्थात् ईश्वर के ध्यान की एकतानता। जो समाधि-सिद्धि अभ्यास तथा वैराग्य रूपी कठिन साधनों से प्राप्त होती है उसे ईश्वर-प्रणिधान द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर प्रसन्न

---

1. योगसूत्र 1.24, क्लेशकर्मविपाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
2. स पूर्वेषामपि गुरु।
3. वही, 1.23, ईश्वरप्रणिधानाद् वा।
4. वही, 2.1, तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
5. वही, 2.45, समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

होकर समाधि के विघ्नों और क्लेशों को दूर करके समाधि में सिद्धि प्राप्त करा देते हैं। अतः ईश्वर-प्रणिधान समाधि, प्रज्ञा तथा कैवल्य का सरलतम उपाय है।

किन्तु योग-प्रतिपादित ईश्वर एक विशेष पुरुष है; वह जगत् का कर्ता, धर्ता, संहर्ता, नियन्ता नहीं है। असंख्य नित्य पुरुष तथा नित्य अचेतन प्रकृति स्वतन्त्र तत्वों के रूप में ईश्वर के साथ-साथ विद्यमान हैं। साक्षात् रूप में ईश्वर का प्रकृति से या पुरुष के बन्धन और मोक्ष से कोई लेना देना नहीं है। उनका कार्य अपने भक्तों के समाधि-पथ में आने वाले विघ्नों को दूर करके समाधि-सिद्धि को सम्भव बना देता है। मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर का कोई सहज घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष कैवल्य है जिसमें सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

## वैशेषिक दर्शन

सांख्य के बाद वैशेषिक दर्शन सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होता है। यह जैन तथा बौद्धमत से प्राचीन है, तथा न्याय से तो प्राचीन है ही। 'विशेष' नामक पदार्थ का विवेचन करने के कारण इसका नाम वैशेषिक रखा गया। यह बहुत्ववादी वस्तुवाद है जो वस्तुओं के भेद पर बल देता है। इसके प्रवर्तक आचार्य महर्षि कणाद हैं जिन्हें कणभुक् काश्यप और औलूक भी कहा जाता है। कटाई के बाद खेतों में जो बचे हुये अनाज के कण बिखरे पड़े रहते हैं उन्हीं कणों को बीन कर भोजनार्थ प्रयोग करने के कारण इन महर्षि का नाम कणाद या कणभुक् हो गया। पाणिनीय व्याकरण और वैशेषिक दर्शन को सर्वशास्त्रोपकारक माना जाता है। व्याकरण शब्द-निर्णय के लिये तथा वैशेषिक पदार्थ-निर्णय के लिये सक्षम माने गये हैं। कणादरचित वैशेषिक-सूत्र पर प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' नामक भाष्य है जो वैशेषिक दर्शन पर अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उदयन की 'किरणावली' तथा श्रीधर की 'न्यायकन्दली' इस पर प्रसिद्ध टीकायें हैं। आगे चलकर न्याय ने वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा स्वीकार कर ली तथा अपनी ज्ञानमीमांसा को विकसित किया और ये दोनों न्याय-वैशेषिक के नाम से संयुक्त दर्शन बन गये।

## पदार्थ

पदार्थ-निरूपण एवं परमाणुकारणवाद की स्थापना, ये दो वैशेषिक दर्शन के प्रमुख विषय है। यहाँ हम वैशेषिकसम्मत पदार्थ-निरूपण प्रस्तुत कर रहे हैं। पदार्थ का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'पद का अर्थ' अर्थात् किसी पद द्वारा सङ्केतित वस्तु। पदार्थ का सामान्य लक्षण है 'अभिधेयत्व' अर्थात् नाम से अभिहित होने की योग्यता वाली वस्तु और 'ज्ञेयत्व' अर्थात् ज्ञान का विषय बनने की योग्यता वाली वस्तु। पदार्थ वह है जो अभिधेय और ज्ञेय हो। कोई भी वस्तु जिसे नाम से अभिहित किया जा सके और जिसे ज्ञान का विषय बनाया जा सके 'पदार्थ' कहलाती है।

वैशेषिक-पदार्थ इन सबसे भिन्न है। वैशेषिक ने ज्ञेय पदार्थों या वस्तुओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, उसमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। वैशेषिक भेदमूलक बहुत्ववादी वस्तुवाद है।

वैशेषिक-सूत्र में छह भाव-पदार्थों के ही नाम परिगणित हैं। कणाद ने अभाव का भी वर्णन किया है, किन्तु उसे पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया। बाद के वैशेषिकों ने अभाव को भी पदार्थ रूप में मान्यता दे दी। पदार्थ दो प्रकार है- भावात्मक और अभावात्मक। भावात्मक पदार्थ छह हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। अभाव पदार्थ चार प्रकार का है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

## परमाणुकारणवाद

सांख्य के सत्कार्यवाद के विपरीत न्याय-वैशेषिक असत्-कार्यवाद को मानते हैं। कार्य उत्पत्ति-पूर्व असत् है, वह अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य नई उत्पत्ति है, नूतन सृष्टि है और उत्पत्ति से ही उसकी सत्ता का आरम्भ होता है। अतः असत्कार्यवाद को आरम्भवाद भी कहते हैं। वैशेषिक परमाणुओं को जगत्कारण मानते हैं। इस जगत् के सारे भौतिक पदार्थ सावयव और उत्पत्ति-विनाशशील हैं तथा नित्य परमाणुओं के विभिन्न संयोगों से बनते हैं। अतः पदार्थ की उत्पत्ति का अर्थ है परमाणु-संयोग और विनाश का अर्थ है-परमाणु-संयोग-विभाग। सृष्टि के मूल तत्त्व परमाणु नित्य है। भौतिक पदार्थों के अवयवों का विभाजन किया जा सकता है और इन विभक्त अवयवों को पुनः अन्य अवयवों में विभक्त किया जा सकता है एवं अनवस्था दोष से बचने के लिये अन्तिम अवयवों को स्वयं में निरवयव और अविभाज्य मानना पड़ेगा। अतीन्द्रिय, निरवयव, अविभाज्य और नित्य भौतिक द्रव्य परमाणु है।

परमाणु चार प्रकार के हैं - पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। आकाश विभु, एक और नित्य है तथा परमाणुओं के संयोग और विभाग के लिए अवकाश प्रदान करता है। प्रत्येक नित्य परमाणु में अपना 'विशेष' होता है जो उसका नित्य और व्यावर्तक पदार्थ है। इसके अतिरिक्त परमाणुओं में गुण-भेद भी होते हैं। वायु के परमाणु सूक्ष्मतम हैं जिनमें स्पर्श गुण रहता है। तैजस परमाणुओं में रूप और स्पर्श रहते है। जल के परमाणुओं में रस रूप और स्पर्श गुण होते हैं। तथा पार्थिव परमाणुओं में गन्ध, रस रूप और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं। सावयव पदार्थों के गुण उनके निर्माणक परमाणुओं के गुणों से आते है। परमाणु अतीन्द्रिय, निरवयव, अविभाज्य और नित्य होते हैं। ये गोल या परिमण्डल होते हैं। ये स्वभावतः क्रियाशून्य और निःस्पन्द होते हैं। इनमें आद्यस्पन्दन या गति (जिससे भौतिक सृष्टि

प्रारम्भ होती है) ईश्वर सञ्चालित 'अदृष्ट' से आती है। प्रत्येक संसारी आत्मा का अपना 'अदृष्ट' होता है जो उसमें संयुक्त रहता है एवं जिसमें उसके धर्माधर्मरूप (शुभाशुभ रूप) कर्मसस्कार सञ्चित रहते हैं। आत्मा के कर्मफल-भोग के लिए सृष्टि होती है क्योंकि आत्मा बिना शरीर इन्द्रिय और मन के भोग नहीं कर सकता। प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ मन संयुक्त रहता है। किन्तु भोगायतन शरीर और भोगसाधन इन्द्रिय के उत्पादार्थ भौतिक सृष्टि की आवश्यकता होती है। परमाणुओं में आद्य स्पन्दन होते ही एक परमाणु दूसरे परमाणु से जुड़ कर द्वयणुक बन जाता है; सर्वप्रथम सारे परमाणु द्वयणुकों में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर इन द्वयणुकों से सृष्टि-रचना होती है। तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक और चार त्र्यणुकों से चतुरणुक बनते हैं और इस प्रकार यह क्रम चलता है एवं स्थूल महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है।

वैशेषिक परमाणुवाद जड़वाद या भौकितवाद नहीं है, अपितु आध्यात्मिक वस्तुवाद है क्योंकि वैशेषिक को जड़ परमाणुओं के साथ उनसे स्वतन्त्र आत्मद्रव्यों की सत्ता भी स्वीकार है तथा वैशेषिक कर्मवाद को अदृष्ट को ईश्वर को एवं सृष्टि में अन्तर्निहित नैतिक नियम को भी मानता है।

## ईश्वर

कणाद सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। 'तद्वचन' होने से वेद प्रामाण्य है'।[1] इस वैशेषिक सूत्र में 'तद्वचन' का अर्थ कुछ विद्वानों ने 'ईश्वरवचन' किया है। किन्तु 'तद्वचन' का अर्थ 'ऋषिवचन' भी हो सकता है। तथापि प्रशस्तपाद से लेकर बाद के सभी ग्रन्थकारों ने ईश्वर की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है एवं कुछ ने ईश्वर-सिद्धि के लिये प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। अतः वैशेषिक दर्शन के संस्थापक कणाद मुनि को अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। वैशेषिक के अनुसार वेद ईश्वर-वाक्य है। ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ और पूर्ण है। ईश्वर अचेतन अदृष्ट के सञ्चालक हैं। ईश्वर इस जगत् के निमित्तकारण और परमाणु उपादान कारण हैं। अनेक परमाणु और अनेक आत्मद्रव्य नित्य एवं स्वतंत्र द्रव्यों के रूप में ईश्वर के साथ विराजमान हैं; ईश्वर इनको उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि नित्य होने से ये उत्पत्ति-विनाश-रहित हैं तथा ईश्वर के साथ आत्मद्रव्यों का भी कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर का कार्य, सर्ग के समय, अदृष्ट से गति लेकर परमाणुओं में आद्यस्पन्दन के रूप में सञ्चरित कर देना, और प्रलय के समय, इस गति का अवरोध करके वापस अदृष्ट में संक्रमित कर देना है।

---

1. वैशेषिकसूत्र 1.1.3 और 10.2.9, तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।

**बन्धन और मोक्ष**

बन्धन अविद्या से और मोक्ष विद्या से होता है। आत्मा, अविद्यावश, कर्म करता है, कर्म से धर्माधर्म-संस्कार अदृष्ट में सञ्चित होते हैं तथा फलोन्मुख होने पर आत्मा के कर्मफलभोगार्थ सृष्टि उत्पन्न होती है। ईश्वर अदृष्ट से गति लेकर परमाणुओं में आद्यस्पन्दन के रूप में सञ्चरित कर देते हैं और सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। आत्मा जब तक कर्म-जाल में फँसा है तब तक उसका बन्धन बना रहता है। ज्ञान द्वारा कर्म का विनाश कर देने पर नये कर्म उत्पन्न नहीं होते, तथा सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का शरीर, इन्द्रियों और मन से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है तथा आत्मा अपने शुद्ध रूप में स्थित हो जाता है। यह मोक्ष है जहाँ समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। वैशेषिक के अनुसार आत्मा अन्य द्रव्यों के समान एक द्रव्य है और ज्ञान, सुख, दुःख आदि उसके आगन्तुक गुण हैं जो विषयों से सम्पर्क होने पर आत्मा में उत्पन्न होते हैं। आत्मा का बाह्य पदार्थों या मानस भावों से सम्पर्क मन और इन्द्रियों के द्वारा या केवल मन द्वारा होता है। इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में रहती हैं। अतः आत्मा शरीरेन्द्रियमनः संयुक्त होने पर ही बाह्य विषयों के सम्पर्क में आ सकता है। मोक्ष में आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से सर्वथा वियुक्त हो जाता है, अतः मोक्ष में, विषय-सम्पर्क के अभाव में, आत्मा में ज्ञान, सुख, दुःख आदि कोई गुण उत्पन्न नहीं हो सकता। मोक्ष में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ ही ज्ञान और सुख की भी निवृत्ति हो जाती है। मोक्ष में आत्मा अपने 'विशेष' सहित नित्य द्रव्य के रूप में स्थित रहता है, जहाँ न ज्ञान है, न सुख है, न इच्छा है, न संकल्प है। मुक्त आत्मा में और अचेतन शिलाखण्ड या शुष्क काष्ठफलक में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। यह आत्मा को भौतिक द्रव्य के स्तर पर, ज्ञेय और विषय के स्तर पर, उतार देने का सहज परिणाम है।

वैशेषिक-दर्शन में पदार्थों का वर्गीकरण प्रस्तुत हुआ है। उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं होता। वैशेषिक बहुत्ववादी तथा अध्यात्मवादी वस्तुवाद है जिसमें कई अन्तर्विरोध हैं। वैशेषिक का पदार्थ-वर्गीकरण तथा परमाणुकारणवाद भौतिकवाद एवं क्षणिकवाद से श्रेष्ठ है तथा भारतीय दर्शन के विकास-क्रम में एक महत्त्वपूर्ण स्तर है, यद्यपि यह चरम विकास से अत्यन्त दूर है।

वैशेषिक सात पदार्थों को वस्तु-सत् मानता है। गुण और कर्म द्रव्य पर आश्रित होने से स्वतंत्र सत् नहीं हो सकते। सामान्य व्यक्ति-सापेक्ष है, विशेष नित्य-द्रव्य-सापेक्ष है; समवाय सम्बन्ध होने से वस्तु-द्वय-सापेक्ष है। अतः सामान्य, विशेष और समवाय, सापेक्ष तथा प्रत्ययाधीन होने के कारण, वस्तु-सत् नहीं हो सकते। अभाव

तो स्पष्ट ही भाव-सापेक्ष है। अतः स्वतंत्र और वस्तु-सत् पदार्थ के रूप में केवल द्रव्य ही रह जाता है। यह द्रव्य के गुण तथा सम्बन्ध के कारण सत् प्रतीत होता है, निर्गुण तथा सम्बन्ध शून्य द्रव्य की प्रतीक नहीं होती। यह भी वस्तु-सत् नहीं है।

वैशेषिक के अनुसार समवाय को नित्य अपृथक् सम्बन्ध माना गया है। किन्तु यह सम्बन्ध एकाङ्गी है। द्रव्य-गुणसम्बन्ध में गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकते, किन्तु द्रव्य गुणों के बिना रह सकता है। वैशेषिक का परमाणुवाद भी दोषपूर्ण है। परमाणुओं में गुणभेद सिद्ध नहीं होता। यदि परमाणुओं के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श गुण नित्य हैं तो आत्मा के ज्ञान, सुख आदि गुण नित्य क्यों नहीं हो सकते ? यदि कारण अपने गुणों को कार्य में सञ्चरित करता है तो परमाणु अपने परमाणुत्व को द्वयणुक, त्र्यणुक आदि में क्यों नहीं सञ्चरित करता ?

आत्मा को भौतिक द्रव्यों के समान द्रव्य मानना और ज्ञान को उसका आगन्तुक गुण मानना अत्यन्त दोषपूर्ण तथा हेय कल्पना है। यह आत्मा को भौतिक द्रव्य के धरातल पर उतार देना है और उसे ज्ञेय और विषय बना देना है। वैशेषिक मत में ईश्वर की कल्पना भी दोषपूर्ण है। ईश्वर इस विश्व का कर्ता, धर्ता, हर्ता, नियन्ता नहीं है। असंख्य नित्य परमाणु एवं असंख्य नित्य आत्मद्रव्य सदा स्वतन्त्र रूप से नित्य ईश्वर के साथ विराजमान रहते हैं। यद्यपि ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण माना गया है, तथापि वस्तुतः यह निमित्त कारण अदृष्ट ही है।

वैशेषिक सम्मत मोक्ष की कल्पना के दोष हम ऊपर बता चुके हैं। यदि मुक्त आत्मा में ज्ञान एवं आनन्द का सर्वथा अभाव है और वह अचेतन द्रव्य के समान है तो ऐसी मुक्ति किसे अभीष्ट होगी ? श्रीहर्ष ने वैशेषिक दर्शन को 'औलूक दर्शन' कहा है; औलूक कणाद का नाम भी है और इसका अर्थ उल्लुओं का दर्शन भी है।

### न्याय-दर्शन

गोतम या गौतम मुनि जो अक्षपाद नाम से भी जाने जाते हैं प्राचीन न्याय के प्रवर्तक आचार्य हैं एवं न्याय-सूत्र के रचयिता हैं। न्याय का अर्थ है प्रमाणों द्वारा तत्त्व-परीक्षण। यह प्रमुख रूप से तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा है। इसे तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वाद-विद्या तथा आन्वीक्षकी अर्थात् समीक्षात्मक परीक्षण भी कहा जाता है।

न्याय दर्शन की ग्रन्थ-सम्पत्ति विपुल है, गहन भी और विस्तृत भी। लगभग दो हजार वर्षों तक, चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से लेकर सतरहवीं शती तक न्याय में ग्रन्थनिर्माण होता रहा। गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन का न्यायभाष्य है जिस पर उद्योतकर का वार्तिक है। वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका है। उदयन के ग्रन्थों में न्यायकुसुमाञ्जलि और आत्मतत्त्वविवेक (बौद्ध-धिक्कार) अत्यन्त प्रसिद्ध

मौलिक ग्रन्थ हैं। जयन्त भट्ट की न्याय-मञ्जरी भी प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। नव्य-न्याय का प्रवर्तन मिथिला के आचार्य गङ्गेश उपाध्याय की युग-प्रवर्तक कृति तत्त्वचिन्तामणि से आरम्भ हुआ एवं इसके संवर्धन के लिये बंगाल के नवद्वीप के नैयायिक वासुदेव सार्वभौम, दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि तथा मथुरानाथ, जगदीश एवं गदाधर भट्टाचार्य सुप्रसिद्ध हैं।

### न्याय और वैशेषिक

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन परस्पर सम्बद्ध है तथा 'समान-तन्त्र' कहे जाते हैं। वैशेषिक में तत्त्वमीमांसा प्रधान है; न्याय में तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा का प्राधान्य है। वैशेषिक में सप्त पदार्थ तथा परमाणुवाद के विवरण द्वारा तत्त्व-निरूपण किया गया है; न्याय में प्रमा तथा प्रमाण की मीमांसा द्वारा तत्त्व-विषयक सम्यक् ज्ञान का निरूपण किया गया है। दोनों मानते हैं कि बन्धन अविद्या के कारण होता है तथा दुःखरूप है एवं मोक्ष तत्त्व-ज्ञान से सम्भव है जिसमें दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। न्याय ने वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा प्राय: स्वीकार कर ली है। दोनों में दो भेद मुख्य हैं जिन्हें जान लेना चाहिये। प्रथम, वैशेषिक सात पदार्थों को स्वीकार करता है और वैशेषिक के सातों पदार्थों का अन्तर्भाव अपने प्रमेय नामक द्वितीय पदार्थ में कर देता है। न्याय का प्रथम पदार्थ प्रमाण है तथा द्वितीय प्रमेय। इससे न्याय का तार्किक तथा ज्ञानमीमांसीय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। दोनों में द्वितीय भेद प्रमाण-संख्या को लेकर है। वैशेषिक केवल दो प्रमाणों को स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष और अनुमान, तथा शब्द एवं उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मानता है। न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चारों को प्रमाण कोटि में स्वीकार किया है।

शास्त्रों में प्रमाणों द्वारा निश्चित होने वाले अर्थ को 'सिद्धान्त' कहते हैं-शास्त्रितार्थनिश्चिय: सिद्धान्त:' (न्यायवृत्ति, 1.1.26)। इसके चार प्रकार हैं-सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभ्युपगम सिद्धान्त। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन-ये पाँच 'अवयव' हैं। ये ही अवयव अनुमानप्रक्रिया में सहायक होते हैं। साध्य के समान धर्मत्व से, जिसमें धर्म विद्यमान हो, वह 'उदाहरण' कहा जाता है। उदाहरण के साधर्म्य या वैधर्म्य की अपेक्षा रखते हुए 'तथा' या 'न तथा' इस प्रकार का साध्य का उपसंहार 'उपनय' है। हेतु का प्रतिज्ञा के साथ 'पुनर्वचन' ही 'निगमन' कहलाता है। निगमन में सभी अवयव एक ही विषय की सिद्धि दृढ़ करते हैं। संशयग्रस्त दोनों पक्षों में पृथक्-पृथक् कारण की उद्भावना अथवा कल्पना की जाती है, यही कल्पना 'तर्क' है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के साधन तथा प्रतिपक्ष पर दोषारोपण को समझकर अर्थ का निश्चय करना

ही 'निर्णय' है। शास्त्रीय चर्चा अथवा पक्ष-विपक्ष द्वारा अपने पक्ष का समर्थन और दूसरे पक्ष का विरोध तर्क द्वारा करना 'वाद' है। अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने के लिए छल, जाति निग्रहस्थानादि का प्रयोग 'जल्प' है। पक्ष और प्रतिष्ठा में से किसी की भी स्थापना न करके, परमत का खण्डन करने के उद्देश्य से ही की गई चर्चा 'वितण्डा' है। असत्य हेतु, जो साध्य को सिद्ध नहीं कर सकते, 'हेत्वाभास' हैं। हेत्वाभास पाँच प्रकार के हैं-सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल। किसी के कथन का विरुद्ध अर्थ लेकर उस पर आक्षेप करना 'छल' है। प्रयुक्त हेतु में व्याप्तिनिरपेक्ष साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के आधार पर दोष निकालना 'जाति' है। वाद-विवाद में पूर्वपक्षी अथवा उत्तरपक्षी के किसी प्रकार के अज्ञान का पर्दाफाश करना ही 'निग्रहस्थान' है।

न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञान का अधिकरण ही आत्मा है। यह सभी का द्रष्टा, सभी का भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य तथा सर्वव्यापक है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसका अनुमान किया जाता है। नैयायिक बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकार की आत्मा (जीवात्मा) को अनेक मानते हैं। स्वभावतः आत्मा जड़ है, मन के संयोग के कारण वह चैतन्य बनता है। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिणाम, पृथकत्व और विभाग ये जीवात्मा के गुण हैं।

न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि तथा प्रलय ईश्वर की इच्छा से होते हैं और उस तथ्य को अनुमान एवं आगमन प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है। प्राचीन न्यायशास्त्रियों ने ईश्वर की सत्ता पर स्पष्ट विचार नहीं किया है। किन्तु बाद के आचार्यों में उदयनाचार्य ने ईश्वर के अस्तित्व को युक्तियों से प्रमाणित किया है- (एक) प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्त्ता होता है इसी प्रकार जगत् रूप कारण का कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर है। (दो) कार्य जगत् की रचना परमाणुओं से होती है। इन जड़ परमाणुओं से ईश्वर रूप चैतन्य के संयोग से ही सृष्टि होती है। (तीन) जगत् को उत्पन्न करने वाले के अतिरिक्त, जगत् को धारण करने वाला और विनाश करने वाला चाहिए। ये सब काम सामान्य व्यक्ति नहीं कर सके, अतएव इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट व्यक्ति की ही आवश्यकता है, वह विशिष्ट व्यक्ति ईश्वर ही हो सकता है। (चार) इस जगत् में विद्यमान कला-कौशल को उत्पन्न करने वाला भी ईश्वर ही है। (पाँच) वेद को प्रमाण तभी माना जा सकता है, जब उनके रचयिता की जानकारी हो जाए। भारतीय मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं और इनकी रचना ईश्वर द्वारा ही हुई है। वेद और ईश्वर के प्रति श्रद्धा ही ईश्वर के अस्तित्व का हेतु है। (छः) श्रुतियों में भी ईश्वर को माना गया है। (सात) दो परमाणुओं के मिश्रण से 'द्व्यणुक' बनता है, द्व्यणुकों के तिगुने से 'त्र्यणुक' बनता

है। इस त्र्यणुक को बनाने में ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि को मानना चाहिए। स्पष्ट है कि न्यायदर्शन में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है।

न्यायदर्शन के अनुसार किसी वस्तु के सन्निकर्ष से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष है। इस प्रत्यक्षज्ञान का साधक प्रत्यक्षप्रमाण है। प्रत्यक्ष के पाँच प्रकार हैं-चाक्षुष प्रत्यक्ष, रासनप्रत्यक्ष, घ्राणज प्रत्यक्ष, त्वाच प्रत्यक्ष तथा श्रावण प्रत्यक्ष। इसके अतिरिक्त मन की अनुभूति से सम्बद्ध मानसिक प्रत्यक्ष भी होता है। बाह्य प्रत्यक्ष के दो भेद हैं - सविकल्पक तथा निर्विकल्पक।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय एवं विषय का सन्निकर्ष होना चाहिए। ये सन्निकर्ष छः प्रकार का है- संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय, समवेत-समवाय तथा विशेषण-विशेष्यभाव। अनुमान के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन की आवश्यकता है। अनुमान के दो अंग हैं- व्याप्ति तथा पक्षधर्मता। शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में नैयायिकों ने वाक्यार्थावबोध के लिए वाक्य में-आकांक्षा, योग्यता, सन्निद्धि एवं तात्पर्यज्ञान-इन चार गुणों को आवश्यक माना है। मीमांसक जहाँ स्वतः प्रामाण्यवादी हैं, वहाँ, नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं।

नैयायिक कारण और कार्य को परस्पर अभिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार कार्य कारण में नहीं रहता। किसी कार्य के होने के ठीक पहले नियतरूप से जिसका सदैव रहना हो, तथा जो अन्यथासिद्ध न हो, उसे ही कारण कहते हैं। कारण के तीन भेद हैं-समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो। यथा-सूत में समवायसम्बन्ध के कारण कपड़ा बनता है।

सम्बन्ध के दो प्रकार हैं- संयोग तथा समवाय। दो द्रव्यों के मिलने को संयोग सम्बन्ध कहते हैं-यथा-हाथ में धनुष का। दो पदार्थों का परस्पर आश्रित रहना, एक के रहने पर दूसरे का भी रहना समवायसम्बन्ध है, यथा घड़ा और उसका रूप। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी; क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य-विशेष-इनमें, अयुत्सिद्ध होने के कारण, समवायसम्बन्ध होता है। जो किसी कार्य का कारण हो, अन्यथासिद्ध न हो तथा कार्य के समवायिकारण में रहे, वह असमवायिकारण है। जैसे कपड़े का समवायिकारण है सूत और सूतों में परस्पर संयोग सम्बन्ध है। यह संयोग सूत में समवायिसम्बन्ध से है, सूतों के इस संयोग सम्बन्ध के बिना कपड़ा नहीं बन सकता। इसलिए संयोग सम्बन्ध सूतों का समवायिकरण होने के कारण कपड़े में भी विद्यमान हो जाता है, अतः असमवायिकारण है। इनके अतिरिक्त निमित्तकारण भी है।



# अध्याय-12

# प्राचीन संस्कृति में यज्ञ की महत्ता

## (सर्वं यज्ञमयं जगत्)

भारतीय संस्कृति में धर्म एवं अध्यात्म का अत्यन्त महत्त्व है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति अथवा आराधना ये धर्म के तीन साधन बताए गए हैं। इन तीनों का समन्वय यज्ञ में बताया गया है- **'सर्वं यज्ञमयं जगत्'** (कालिका पु. 31/40)। महर्षि वसिष्ठ के अनुसार यज्ञ से ही सृष्टि चलती है। यज्ञ से ही विविध प्रकार के अन्न, घास औषधि और फल होते हैं। अतः बुद्धिमानों को चाहिए कि वे प्राणी मात्र के लिये यज्ञ को अवश्य किया करें- **यज्ञात्सृष्टिः प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च।**

**तृणान्यौंषधान्यथ च फलानि विविधानि च।**
**जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रीयतां बुधैः।।**

संन्ध्या, तर्पण, देवपूजन, आतिथ्य, व्रत, जप, तप, कथाश्रवण, तीर्थयात्रा, अध्ययनाध्यापन, खान-पान, शयन, जागरणादि नित्य और उपनयन, विवाह-संस्कार आदि नैमित्तिक एवं पुत्रेष्टि, राज्यप्राप्ति आदि काम्य कर्म सभी यज्ञ स्वरूप ही हैं। गीता में भी द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ आदि का उल्लेख करके इन सभी को यज्ञ का ही रूप दिया गया है। गर्भाधान संस्कार एवं युद्ध को भी यज्ञ स्वरूप माना गया है। साधारणतया आत्मकेन्द्रित न होकर दूसरों के हितार्थ किया गया कर्म यज्ञ है और जो इस यज्ञ को नहीं करता वह विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार धर्म समन्वित सभी कर्मों को यज्ञ के रूप में देखा गया है :- **यथार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।** गीता 3/9 अर्थात् मनुष्य के समस्त कर्म यज्ञ के लिए ही होना चाहिए तथापि ये यज्ञ शास्त्रानुकूल हों, तो ये फलप्रद एवं महत्त्वप्रद होते हैं।

भारतीय मनीषियों ने पुरुष जीवन को यज्ञमय कहा है। पुरुष का प्रथम चौबीस वर्ष प्रातः सवन है। अग्रिम चौबालिस साल माध्यन्दिन-सवन तथा बाद का अड़तालिस वर्ष तृतीय सवन है। इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से स्वस्थतापूर्वक जीवन निर्वाह करने वाला अल्पायु नहीं होता (छान्दोग्य. 3/16)। हमारे सभी शास्त्रोक्त कर्म यज्ञ स्वरूप हैं। ब्रह्मचर्य, भगवद्प्रार्थना, धर्मार्थ बलिदान, समाज सेवा, गो सेवा, सभी प्रकार के दान (विद्यादान श्रमदान, भूदान, अभयदानादि) को यज्ञ माना गया है। माता-पिता तथा आचार्य की सेवा भी यज्ञ ही कहे जाएंगे।

## यज्ञ शब्द का अर्थ

**'यज्'** धातु से नङ् प्रत्यय के योग से 'यज्ञ' शब्द की उत्पत्ति हुई है।[3] धातुपाठ में **'यज्'** धातु का पाठ किया जाता है। **'धातवः अनेकार्थाः'** इस वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार कतिपय आचार्यों ने **'यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'** इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'यज्' धातु का देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान इन तीन अर्थों में प्रयोग किया है--

### देवपूजार्थक यज्ञ

(क) यजनं इन्द्रादि-देवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः।

(ख) इज्यन्ते (पूज्यन्ते) देवाः अनेनेति यज्ञः।

(ग) इज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः।

(घ) इज्यते असौ इति यज्ञः (विष्णुः)।

(ङ.) इज्यन्ते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा होत्रेति यज्ञः।

### संगतिकरणार्थक यज्ञ

(क) यजनं धर्मदेशजातिमर्यादारक्षायै महापुरुषाणामेकीकरणं यज्ञः।

(ख) इज्यन्ते सङ्गतीक्रियन्ते विश्वकल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा महान्तो विद्वांसः वैदिकशिरोमण्यः व्याख्यानरत्नाकराः निमन्त्र्यन्ते अस्मिन्निति यज्ञः।

(ग) इज्यन्ते स्वकीय बन्धुबान्धवादयःप्रेमसम्मानभाजः सङ्गतिकरणाय आहूयन्ते प्रार्थ्यन्ते च येन कर्मणेति यज्ञः।

### दानार्थ यज्ञ

(क) इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा स यज्ञः।

(ख) इज्यते भगवति सर्वस्वं निधाप्यते येन वा स यज्ञः।

(ग) इज्यते देवतोद्देशेन श्रद्धापुरस्सरं द्रव्यादि त्यज्यते अस्मिन्निति यज्ञः।

### 'यज्ञ' शब्द का वेद प्रतिपादित अर्थ

(क) यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः। याचञ्यो भवतीति वा यजुर्भिरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूँष्येनं नयन्तीति वा। (निरुक्त 3/4/19)

(ख) यत्र प्रक्षेपाङ्गको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागोऽनुष्ठीयते स यागपदार्थः। (भाट्टदीपिका 4.2.12)

---

1. अष्टाध्यायी 3.3.90; 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्'।

**'यज्ञ' शब्द के कतिपय व्युत्पत्तिजन्य अर्थ**

(क) येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णं विश्वं कल्याणं भजेत् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।

(ख) यागाङ्समूहस्य एकफलसाधनाय अपूर्ववान् कर्मविशेषोयागः।

(ग) येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।

यज्ञ की उपर्युक्त व्युत्पत्तिजन्य परिभाषाओं को संयुक्त कर मत्स्यपुराण (144. 44) में कहा गया है कि जिस कर्म विशेष में देवता हवनीय पदार्थ, द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिण- इन पाँच का संयोग हो उसे यज्ञ कहते हैं-

**देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।**
**ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते॥**

**यज्ञ की प्राचीनता एवं उपयोगिता**

यज्ञों की प्राचीनता इस बात से ही स्पष्ट है कि अपौरुषेय कहे जाने वाले ऋग्वेद का प्रथम मंत्र ही अग्नि के द्वारा देवताओं को आह्वान करनेवाला हैः-

**'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं। होतारं रत्नधातमम्।'**

वेद कर्मकाण्ड प्रधान हैं। वेदों का मुख्य विषय 'यज्ञ' है। यज्ञों से ही वेदप्रतिष्ठित एवं मान्य हैं। यज्ञ वैदिक संस्कृति का प्रधान अङ्ग है। यज्ञ के द्वारा ही समस्त संसार का कल्याण होता है। इसीलिए वेद में यज्ञ-यागादि क्रियाओं का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (2.104) में तो यहाँ तक कहा गया है कि वेदों का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिए ही हुआ है (**वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्तः**)। इससे स्पष्ट है कि आर्यों ने यज्ञ को सर्वाधिक महत्त्व दिया था। ऋग्वेद (1.164.35) में वर्णित है-**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**। अथर्ववेद (9.10.14) के अनुसार भी सम्पूर्ण विश्व का नाभि अर्थात् केन्द्र है (**यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।**)।

आये दिन एक विचार की एकदेशी लहर उठ पड़ी है, लोग समझने लगे हैं कि यज्ञ केवल वायु-शुद्धि के लिये किया जाता है, इसके अतिरिक्त इसका और कोई प्रयोजन नहीं है; किन्तु इस पक्ष में तथ्य का सर्वथा हाथ नहीं है। यज्ञ का प्रयोजन वायु को शुद्ध करना मात्र नहीं है, उसे तो नान्तरीयक भी माना जा सकता है। यज्ञ का आत्यन्तिक प्रयोजन है यज्ञकर्ता की देवताओं के साथ परस्पर-भावना। शास्त्रों में बड़े खुले शब्दों से इस बात की पुष्टि की गयी है।

ऋग्वेद में यजमान अग्नि से प्रार्थना करता है कि वे उसके हवि को देवता तक पहुँचा दें-**'आग्ने वह हरिरद्यय देवान्।'** अग्नि में जब उन-उन देवताओं को उद्देश्य कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक द्रव्य का त्याग किया जाता है, तब अग्नि के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे उन-उन देवताओं-तक उस-उस द्रव्य को पहुँचा दें,

जिससे कि उनकी तृप्ति हो जाय। इसीलिए वेद में अग्नि के लिये 'देवदूत' और 'देवमुख' - जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है- **'अग्निर्हि देवतानां मुखम्।'** यज्ञ देवताओं को सन्तुष्ट करने का सर्वोत्तम साधन है जो मानव में शक्ति एवं सुखादि का संचार करता है-**''यज्ञादिभिर्देवाः शक्तिसुखादीनाम्।''** **( महर्षिअङ्गिरा )** महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है **'हुतेन शाम्यते पापम्'** अर्थात् हवन करने से पापों का नाश होता है तथा पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। ( **'विधिवत्पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके महीहयो'** - अनुशासन पर्व 75.19)। गीता (3.9) के अनुसार यज्ञ कर्म से पृथक् कोई भी कार्य लोक बन्धनार्थ ही है - **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'** यज्ञ न करने वाले को परलोक तो दूर मर्त्यलोक (मानव जीवन) भी प्राप्त नहीं होता। गीता 4.31 में वर्णित है - **''नायं लोकोऽस्त्ययज्ञ स्व कुतोऽन्यः कुरुसत्तमम्।''** अथर्ववेद (12/2/37) के अनुसार यज्ञ न करने वाले तेजहीन हो जाते हैं **'अयज्ञियो हतवर्चा भवति।'** वायुपुराण (60.6) में कहा गया है- **'यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति।'** कालिकापुराण (21.16) में भी कुछ इसी प्रकार की उक्ति है कि यज्ञ बिना प्रजा भयातुर एवं भूख से पीड़ित हो जाती है। वर्षा के अभाव में अत्यन्त दुःख एवं विनाश झेलना पड़ता है-

> **यज्ञे विनष्टे सकलाः प्रजाः क्षुद्भयकातराः।**
> **वृष्ट्यभावान्महद्दुःखं प्राप्य प्राप्य नष्टाश्च काञ्चन।।**

महर्षि वसिष्ठ के अनुसार -

> **'यात्सृष्टिः प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च।**
> **तृणान्यौषधान्यथ च फलानि विविधानि च।**
> **जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रियतां बुधैः'।।**

वेदों में स्पष्ट वर्णित है कि जब देवतागण तृप्त हो जाते हैं, तब यजमान को तृप्त करते हैं :- **'तृप्त एव एनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।'** इस प्रकार यज्ञ की महत्ता आधिभौतिक ही नहीं, आधिदैविक है।

प्राचीन काल के ऋषि, महर्षियों, राजर्षियों ने तथा राजा, महाराजाओं ने यज्ञ की उपासना द्वारा अतुल शक्ति प्राप्त कर अपने-अपने इष्ट की सिद्धि प्राप्त की थी। देवताओं ने यज्ञ के द्वारा 'देवत्व' पद की और इन्द्र ने सौ रूप करके 'देवराज' पद की प्राप्ति की थी। महाराजा दशरथ ने यज्ञ करके पुत्र की प्राप्ति की थी तथा महाराजा दिलीप के 99 यज्ञों से खुश होकर इन्द्र ने 100 यज्ञों के करने का समस्त फल उन्हें वरदान स्वरूप दे दिया था।

अश्रद्धा से दी हुई आहुति को देवगण भी स्वीकार नहीं करते थे - **'नाश्रद्धधानाय**

**हविर्जुषन्ति देवा:।'** श्रद्धाहीन सम्पादित यज्ञ निन्दनीय होते हैं जिससे राजा एवं राष्ट्र दोनों की हानि होती है-

**शान्तिमङ्गलहोमेषु नास्तिक्यं यत्र जायते।**

**राजा वा म्रियते तत्र स देशो वा विनष्यति।।** मत्स्य पु. 271/11

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि जो मनुष्य रूप में विघ्न डालते हैं वे **'राक्षस'** कहलाते हैं - **'देवान् ह वै यज्ञेन यजमानस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्वमिति। तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि।** - 1.1.1.16 धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब शिशुपाल ने विरोध किया, तो श्रीकृष्ण ने उसका वध कर डाला था। हिरण्यकशिपु और बलि जैसे यज्ञ विरोधी अनेक असुरों का नृसिंहावतार एवं वामनावतार ने वध किया था।

याज्ञिक परम्परा का पुनरुत्कर्ष पतञ्जलि काल में हुआ था। पतंजलि कर्मकाण्डी श्रोत्रिय थे, अत: उनकी कृति में यज्ञ-यागविषयक उल्लेखों का प्राचुर्य स्वाभाविक है। वे स्वयं पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में पुरोहित थे और उसी अवसर पर उन्होंने शिष्यों को अष्टाध्यायी पढ़ाते हुए महाभाष्य का प्रणयन किया था। पतंजलि ने महाभाष्य में पुष्यमित्र द्वारा यज्ञ किये जाने का दो बार सीधा उल्लेख किया है और दो बार स्वयं द्वारा यज्ञ कराये जाने की चर्चा की है।[1] दूसरे, पतंजलि के समय तक यज्ञशास्त्र चरम उन्नति तक पहुँच चुका था। संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत से कल्प ग्रन्थ लिखे जा चुके थे।[2] इस समय तक स्वतन्त्र याजक शास्त्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भाष्यकार ने याजकों को शास्त्रकृत् कहा है और उनकी कृतियों को शास्त्र।[3] यज्ञों के व्याख्यान ग्रन्थों का भी उल्लेख भाष्य में मिलता है।[4] व्याख्यान-ग्रन्थों में उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा संक्षेप में कही हुई बात का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अध्याहृत वाक्य भी सम्मिलित रहते थे।[5]

**याज्ञिक शास्त्र**-याज्ञिकों के आम्नाय को याज्ञिक्य कहते थे। यज्ञग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले याज्ञिक कहलाते थे। यज्ञ-ग्रन्थों की भी याज्ञिक्य संज्ञा थी। सामान्यतया यज्ञ के अध्ययन का अर्थ यज्ञग्रन्थों का अध्ययन समझा जाता था।[6] याज्ञिक्य शास्त्र में निष्णात व्यक्ति याज्ञिक्य में परिगणित होता था।[7] किन्तु, निन्दा या

---

1. महाभाष्य, 3.1.26, वा. 3, पृ. 74; 3.2.12, वा. 1 पृ. 254; 3.3.142, वा. 1, पृ. 331; पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति।
2. महाभाष्य, 4.3.66, पृ. 240; कल्प: अर्थ: मन्त्र:
3. वा. 1, पृ. 21; याज्ञिका: शास्त्रेणानुविदधते।
4. महाभाष्य, 4.3.66, वा. 6, पृ. 240।
5. वा. 1, पृ. 25।
6. महाभाष्य, 4.2.60, पृ. 186।
7. महाभाष्य, 2.3.36, वा. 1, पृ. 431; परिगणितो याज्ञिक्ये।

अवक्षेपण व्यक्त करने में उसे याज्ञिक्य कहते थे। जैसे, इसे अपने याज्ञिक्य का बड़ा गर्व हो गया है।[1] यज्ञ का वेद यजुः है। उसमें प्रवीण याजुष्क कहलाता था। इसी प्रकार वर्हि-आस्तरण आदि कर्म में प्रवीण या नियुक्त याजक को वार्हिष्क कहते थे। जो नियमित रूप से यज्ञ का अध्ययन नहीं करता था, उसे व्यंग्य में 'प्रायेण याज्ञिक' कहते थे।[2] यज्ञ के अपने और यजमान के लिए करने की दृष्टि से यज् धातु का उभयपदीय प्रयोग तथा यज्ञपात्रों से भिन्न उपयोग में 'प्र' तथा 'उप' पूर्वक 'युज्' धातु का आत्मनेपद में प्रयोग भी इस बात का प्रमाण है कि यज्ञ के विषय में प्रयुक्त भाषा के भी सूक्ष्म नियम बन गये थे।[3]

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के मंत्रों का प्रयोग पुरोडाश के संस्कार के लिए होता है। इनकी व्याख्या करनेवाला ग्रन्थ पौरोडाशिक कहलाता था। पुरोडाश बनाने तथा उसकी आहुति देने की विधि का वर्णन जिस ग्रन्थ में हो, उसे पुरोडाशिक कहते थे। पौराडाशिक और पुरोडाशिक ग्रन्थों का भेद यज्ञ-सम्बन्धी अवान्तर बातों के विषय में भी ग्रन्थ-प्रणयन के प्रति विद्वानों की रुचि का द्योतक है।[4] उक्थ का अध्ययन करनेवाले औक्थिक और अग्निष्टोम, वाजपेय आदि यज्ञों का अध्ययन करनेवाले अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक आदि कहे जाते थे।

**याज्ञिकों की मान्यताएँ**–(1) वेदों में मन्त्र इस प्रकार नहीं मिलते कि उनका उपयोग यज्ञ में एक या अनेक पुरुष स्त्रियाँ, जब जिस प्रसंग में चाहें, कर सकें। याज्ञिक को प्रसंगानुसार उनमें लिंग या विभक्ति का परिवर्त्तन कर लेना चाहिए।[5] प्रकृति-यज्ञों के कल्पग्रन्थों में प्रयाज-मंत्र सविभक्ति ही पठित[6] हैं, फिर भी यदि अग्न्याधान के पश्चात् यजमान उदर-व्यथा से पीडित हुआ या संवत्सर के बीच में उसपर कोई बड़ी विपत्ति आ पड़ी, तो उसे फिर से नैमित्तिकी आधेय इष्टि करनी पड़ती है। इस प्रसंग में 'प्रयाजाः सविभक्तिककाः कार्याः' यह याज्ञिक आम्नाय[7] है।

---

1. महाभाष्य, 5.3.95, पृ. 478; अवक्षेपणे कन् - याज्ञिक्यकेनायं गर्वितः।
2. महाभाष्य, 2.3.18, पृ. 420।
3. महाभाष्य, 1.3.72; 1.3.64, पृ. 84; स्वरितत्रितः कत्रैभिप्राये क्रियापले।
4. महाभाष्य, 4.3.70 काशिका; पौरोडाश पुरोडाशात् ष्ठन् - पुरोडाशाः पिष्टपिण्डास्तेषां संस्कारको मन्त्रः पौरोडाशः तस्य व्याख्यानः तत्र भवो वा पौरोडाशिकः- पौरोडाशिको। पुरोडाशसहचरितो ग्रन्थः पुरोडाशस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः।
5. आ. 1, पृ. 2; न सर्वैलिङ्गैर्न सर्वाभिविभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः।
6. आ. 1, पृ. 6; याज्ञिकाः पठन्ति, प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति।
7. यद्यपि प्रकृतौ प्रयाजमन्त्राः सविभक्तिका एव पठ्यन्ते तथापि यज्ञाधानादन्तरं यजमान उदरव्यथावान् स्यात्, यदि संवत्सरमध्ये तस्य महती विपत् स्यात् तथा नैमित्तिकी पुनराधेयीष्टिर्विधीयते। तत्रेदमाम्नातम् - प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। शब्दकौस्तुभ।

(2) आहिताग्नि को अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त के लिए सारस्वती इष्टि करनी चाहिए।[1] (3) स्वर या वर्ण से दूषित शब्द का यदि यज्ञ में उच्चारण किया जाता है, तो वह मिथ्याप्रयुक्त शब्द वांछित अर्थ का बोधक न होकर वाग्वज्र बन जाता है और यजमान का नाश कर देता है। अशुद्ध उच्चारण के कारण ही 'इन्द्रशत्रु वर्धस्व' इस मन्त्र से इन्द्र का अभिचार करनेवाला वृत्र स्वयं नष्ट हो गया।[2] इसीलिए 'यद्वानः, तद्वानः' के स्थान पर 'यर्वाणः तर्वाणः' बोलनेवाले ऋषि भी, जिनका नाम ही अशुद्ध उच्चारण के कारण यर्वाण तर्वाण पड़ गया था, यज्ञकाल में इन शब्दों का विशुद्ध उच्चारण करते थे। असुर लोग यज्ञकाल में भी अशुद्ध उच्चारण करते थे, इसीलिए वे पराभूत हो गये।[3] अतः यज्ञ कराने का अधिकारी अर्थात् आर्त्विजीन वही ब्राह्मण बन सकता है, जो मंत्र का पदशः, स्वरशः और अक्षरशः शुद्ध उच्चारण कर सके।[4] (4) याज्ञिक शास्त्रों में अनेक ऐसे यज्ञों का वर्णन तथा विधि सन्निविष्ट है जिनका अनुष्ठान पतंजलि के समय बन्द हो गया था, किन्तु लेखक याज्ञिक शास्त्र पर ग्रन्थ लिखते समय उन दीर्घ सत्रों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करते थे। यहाँ तक कि शास्त्रकार याज्ञिक सौ वर्षों या हजार वर्षों तक चलनेवाले सत्रों तक का विधान शास्त्रों में करते थे।[5] यह ऋषि सम्प्रदाय था। (5) याज्ञिकों के मतानुसार यज्ञ करना और उसकी विधि के विवरणों को ठीक समझना तथा पूर्व श्रद्धा के साथ उसके रहस्यों को हृदयंगम करना आवश्यक माना जाता था। अग्निष्टोम या नाचिकेत अग्नि का चयन ही पर्याप्त नहीं, उसके महत्त्व का जानना भी आवश्यक था। इसके लिए याज्ञिक शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित होता है।[6] (6) किसी को दान करते या यज्ञ करते देखकर बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये उसके अनुकरण पर दान या यज्ञ करनेवाला भी अभ्युदय का भागी माना जाता है। उदाहरणार्थ, विश्वसृज सत्र में अध्यासीन व्यक्ति को देखकर जो कोई विश्वसृज् सत्र में अध्यासीन हो, वह भी

---

1. आ. 1, पृ. 9; याज्ञिकाः पठन्ति, आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।
2. आ. 1, पृ. 4; दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।
3. आ. 1, पृ. 25; यर्वाणस्तर्वाणो नामर्षयो बभूवुः - ते तत्र भवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितं ततस्ते पराभूताः।
4. आ. 1 पृ. 6; यो वा इमा पदशः स्वरशोऽक्षरश्च वाचं विदधीति स आर्त्विजीनो भवति।
5. आ. 1, पृ. 21; दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणिच। नचाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते।
6. आ. 1, पृ. 23; वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति-योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेत्रं वेद- योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैमेवंन वेद।

अनुकार्य व्यक्ति के समान श्रेयोभागी होता है।[1] लोक और वेद दोनों से इस धारणा को मान्यता प्राप्त थी। (7) याज्ञिक ग्रन्थकर्त्ता वैयाकरणों के समान संज्ञाएँ नहीं करते थे। जिस प्रकार वैयाकरण वा, विभाषा, विकल्प, अन्यतरस्याम् या बहुलम् आदि संज्ञाओं द्वारा आदेश आदि के विषय में विवक्षु को स्वतन्त्रता देते हैं, उस प्रकार याज्ञिक शास्त्र सांकेतिक या संज्ञा शब्दों का आश्रय नहीं लेते। वे सीधी भाषा द्वारा वैकल्पिकता का विधान करते हैं। उदाहरणार्थ, यज्ञ में पशु या अनड्वान् की बलि यजमान की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे, पशु बलि दे या न दे। याज्ञिक शास्त्र पशुबलि की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु इस यथेच्छ चिकीर्षा के लिए वे किसी पारिभाषिक शब्द का आश्रय न लेकर 'मेध्योनड्वान विभाषितः' कह देते है।[2] (8) सामान्यतया द्विज यज्ञ में सक्रिय भाग लेते थे। तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि कुछ जातियाँ भोजन पात्र से बहिष्कृत न थीं, किन्तु याज्ञ कर्म से निरवसित मानी जाती थीं।[3]

**यज्ञों के भेद**–वेदों में असंख्य प्रकार के यज्ञों का विधान है; परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकार के होते हैं-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं- जैसे सोमयाग के भेदों में अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। दो दिन से लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीयाग होते हैं, साथ ही त्रयोदश रात्रियों से लेकर सहस्रों संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकार के याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्र में कहा गया है-

औपासनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः; अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो बहिर्होमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः; अग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः।

इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येक के सात-सात भेद करके 21 प्रकार के यागों का उल्लेख किया गया है।

---

1. आ. 2, पृ. 48; लोके य एवमसौ ददाति य एवमसौ यजते य एवमसावधीते इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत वाधीयीत च सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। वेदेऽपि य एवमसौ विश्वसृजः सत्राण्यध्यासत इति तेषामनुकुर्वन् तद्वत्सत्राण्यध्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते।
2. महाभाष्य, 1.1.44, वा. 19, पृ. 26; याज्ञिकाः खलवेपि संज्ञामनारभमाणा विभाषेत्युक्ते नित्यत्वमवगच्छन्ति, तद्यथा मेध्यः पशुर्विभाषितो मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। आलब्धव्ये नालब्धव्य गम्यते।
3. महाभाष्य, 2.4.10, पृ. 465; याज्ञात्कर्मणो निरवसितानाम् - एवमपि तक्षायस्कारम् रजकतन्तुवायमिति न सिध्यति।

परंतु मुख्य रूप से इनका समाहार उपर्युक्त कथित तीन प्रकार की संस्थाओं-हविर्यज्ञ-संस्था, सोमयज्ञ-संस्था और पाकयज्ञ-संस्था के अन्तर्गत हो जाता है; फिर एक-एक में सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है -

1. **हविर्यज्ञ-संस्था**-मुख्य हविर्यज्ञ के रूप में सात यज्ञ-प्रकारों का उल्लेख मिलता है, इनमें से एक-एक यज्ञ के कई-कई भेद बतलाये गये हैं। पहला यज्ञ 'अग्न्याधेय' है, जिसे ब्राह्मण वसन्त-ऋतुमें, क्षत्रिय ग्रीष्म-ऋतु में, वैश्य वर्षा-ऋतु में तथा कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रों में प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञ में कई इष्टियाँ होती हैं और यह तेरह रात्रियों तक चलता है। घृत तथा दुग्ध के द्वारा प्रतिदिन किये जानेवाले हवन को 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। इसी का एक भेद पिण्ड-पितृ-यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्ध के समान होता है। इस क्रम में तीसरे मुख्य हविर्यज्ञ के रूप मं 'दर्शपौर्णमास' का उल्लेख मिलता है। जिसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया जा चुका है। हविर्यज्ञ का चौथा भेद 'आग्रायण' है, इसमें साँवाँ नामक धान्यविशेष से चरु बनाकर चन्द्रमा को आहुतियाँ दी जाती हैं। आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि और मित्रविन्दा आदि इसी के भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी, कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियाँ हैं, जिनके लिये पुराणों में कहा गया है कि उन्हें विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करने से कर्ता की दस पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है, जो चार-चार मासों में अनुष्ठेय है। इसके चार भेदों का उल्लेख मिलता है, जो वैश्वदेवीय, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय के नाम से जाने जाते हैं। छठा हविर्यज्ञ 'निरूढपशुबन्ध' है। यह प्रतिवत्सर वर्षा ऋतु में किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्नि के नाम से हवन होता है। यह पशुयाग कहलाता है। हविर्यज्ञ का सातवाँ अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। यह भी पशुयाग के अन्तर्गत ही है। इसके विषय में भागवत में कई निर्देश दिये गये हैं। विस्तार-भय के कारण यहाँ हविर्यज्ञों को मात्र संक्षिप्त रूपों में संकेतित किया गया है। विस्तृत जानकारी के लिये धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों का अवलोकन करना समीचीन होगा।

2. **सोमयज्ञ-संस्था**-यह आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग रहा है। इसे कालावधि के आधार पर एकाह, अहीन और सम-इन तीन रूपों में देखा गया है। अग्नि में सोमलता के रस की आहुति देने के कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञ-संस्था के अन्तर्गत 16 ऋत्विजों का उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (4-16)- में इस प्रकार मिलता है-होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंशी, आग्नींध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य एवं 17वाँ यजमान व्यक्ति।

अनुकार्य व्यक्ति के समान श्रेयोभागी होता है।[1] लोक और वेद दोनों से इस धारणा को मान्यता प्राप्त थी। (7) याज्ञिक ग्रन्थकर्त्ता वैयाकरणों के समान संज्ञाएँ नहीं करते थे। जिस प्रकार वैयाकरण वा, विभाषा, विकल्प, अन्यतरस्याम् या बहुलम् आदि संज्ञाओं द्वारा आदेश आदि के विषय में विवक्षु को स्वतन्त्रता देते हैं, उस प्रकार याज्ञिक शास्त्र सांकेतिक या संज्ञा शब्दों का आश्रय नहीं लेते। वे सीधी भाषा द्वारा वैकल्पिकता का विधान करते हैं। उदाहरणार्थ, यज्ञ में पशु या अनड्वान् की बलि यजमान की इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे, पशु बलि दे या न दे। याज्ञिक शास्त्र पशुबलि की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु इस यथेच्छ चिकीर्षा के लिए वे किसी पारिभाषिक शब्द का आश्रय न लेकर 'मेध्योनड्वान विभाषितः' कह देते है।[2] (8) सामान्यतया द्विज यज्ञ में सक्रिय भाग लेते थे। तक्षा, अयस्कार, रजक, तन्तुवाय आदि कुछ जातियाँ भोजन पात्र से बहिष्कृत न थीं, किन्तु याज्ञ कर्म से निरवसित मानी जाती थीं।[3]

**यज्ञों के भेद**—वेदों में असंख्य प्रकार के यज्ञों का विधान है; परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकार के होते हैं-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं- जैसे सोमयाग के भेदों में अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। दो दिन से लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीयाग होते हैं, साथ ही त्रयोदश रात्रियों से लेकर सहस्रों संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकार के याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्र में कहा गया है-

औपासनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः; अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो बहिर्होमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः; अग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः।

इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येक के सात-सात भेद करके 21 प्रकार के यागों का उल्लेख किया गया है।

---

1. आ. 2, पृ. 48; लोके य एवमसौ ददाति य एवमसौ यजते य एवमसावधीते इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत वाधीयीत च सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। वेदेऽपि य एवमसौ विश्वसृजः सत्राण्यध्यासत इति तेषामनुकुर्वन् तद्वत्सत्राण्यध्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते।
2. महाभाष्य, 1.1.44, वा. 19, पृ. 26; याज्ञिकाः खलवेपि संज्ञामनारभमाणा विभाषेत्युक्ते नित्यत्वमवगच्छन्ति, तद्यथा मेध्यः पशुर्विभाषितो मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। आलब्धव्ये नालब्धव्य गम्यते।
3. महाभाष्य, 2.4.10, पृ. 465; याज्ञात्कर्मणो निरवसितानाम् - एवमपि तक्षायस्कारम् रजकतन्तुवायमिति न सिध्यति।

परंतु मुख्य रूप से इनका समाहार उपर्युक्त कथित तीन प्रकार की संस्थाओं-हविर्यज्ञ-संस्था, सोमयज्ञ-संस्था और पाकयज्ञ-संस्था के अन्तर्गत हो जाता है; फिर एक-एक में सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है -

1. **हविर्यज्ञ-संस्था**-मुख्य हविर्यज्ञ के रूप में सात यज्ञ-प्रकारों का उल्लेख मिलता है, इनमें से एक-एक यज्ञ के कई-कई भेद बतलाये गये हैं। पहला यज्ञ 'अग्न्याधेय' है, जिसे ब्राह्मण वसन्त-ऋतुमें, क्षत्रिय ग्रीष्म-ऋतु में, वैश्य वर्षा-ऋतु में तथा कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रों में प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञ में कई इष्टियाँ होती हैं और यह तेरह रात्रियों तक चलता है। घृत तथा दुग्ध के द्वारा प्रतिदिन किये जानेवाले हवन को 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। इसी का एक भेद पिण्ड-पितृ-यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्ध के समान होता है। इस क्रम में तीसरे मुख्य हविर्यज्ञ के रूप मं 'दर्शपौर्णमास' का उल्लेख मिलता है। जिसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया जा चुका है। हविर्यज्ञ का चौथा भेद 'आग्रायण' है, इसमें साँवाँ नामक धान्यविशेष से चरु बनाकर चन्द्रमा को आहुतियाँ दी जाती हैं। आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि और मित्रविन्दा आदि इसी के भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी, कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियाँ हैं, जिनके लिये पुराणों में कहा गया है कि उन्हें विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करने से कर्ता की दस पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है, जो चार-चार मासों में अनुष्ठेय है। इसके चार भेदों का उल्लेख मिलता है, जो वैश्वदेवीय, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय के नाम से जाने जाते हैं। छठा हविर्यज्ञ 'निरूढपशुबन्ध' है। यह प्रतिवत्सर वर्षा ऋतु में किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्नि के नाम से हवन होता है। यह पशुयाग कहलाता है। हविर्यज्ञ का सातवाँ अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। यह भी पशुयाग के अन्तर्गत ही है। इसके विषय में भागवत में कई निर्देश दिये गये हैं। विस्तार-भय के कारण यहाँ हविर्यज्ञों को मात्र संक्षिप्त रूपों में संकेतित किया गया है। विस्तृत जानकारी के लिये धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों का अवलोकन करना समीचीन होगा।

2. **सोमयज्ञ-संस्था**-यह आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग रहा है। इसे कालावधि के आधार पर एकाह, अहीन और सम-इन तीन रूपों में देखा गया है। अग्नि में सोमलता के रस की आहुति देने के कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञ-संस्था के अन्तर्गत 16 ऋत्विजों का उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (4-16)- में इस प्रकार मिलता है-होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंशी, आग्नींध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य एवं 17वाँ यजमान व्यक्ति।

सोमयज्ञ-संस्था के मुख्य सात प्रकारों में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम की गणना होती है। इनके अन्य बहुत-से उपभेद भी हैं, जिनमें से एक मास की अवधि तक चलनेवाले या उशनस्तोम, गोस्तोम, वनस्पतिसव, बृहस्पतिसव, गौतमस्तोम, उपहव्य, चान्द्रमसी इष्टि एवं सौरी इष्टि आदि हैं। सूर्यस्तुत यज्ञ और विश्वस्तुत यज्ञ यश की कामना से, गोसव और पञ्चशारदीय पशुओं की कामना से तथा वाजपेय यज्ञ आधिपत्य की कामना से किया जाता है। इनमें वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञ की 17 दीक्षाएँ होती हैं। यह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथि को आरम्भ होता है। इस यज्ञ को सम्पादित करने से राजा सभी पापों से मुक्त हो जाता है, ऐसा पुराणों में कहा गया है। पाण्डु के पुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था, जिसका विस्तृत वर्णन भागवत पुराण के दशम स्कन्ध तथा अन्य पुराणों एवं महाभारतादि ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। पुराणों में विश्वजित् यज्ञ को सारी कामनाओं को पूर्ण करने वाला बताया गया है। इसे सूर्यवंशी राजा रघु ने किया था। पद्मपुराण में विस्तार के साथ यह घटना आती है। इसी प्रकार ज्योति नाम का एकाह यज्ञ ऋद्धिकी कामना से किया जाता है। भ्रातृत्वभाव की प्राप्ति के लिये विषुवत् सोम नामक यज्ञ, वर्ग कामना से आङ्गिरस यज्ञ, आयु की कामना से आयुर्यज्ञ और पुष्टि की इच्छा से जामदग्न्य यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। यह 4 दिनों तक चलता है।

शरद्-ऋतु में 5-5 दिनों के सार्वसेन, दैव, पञ्चशारदीय व्रतबन्ध और वावर नामक यज्ञ किये जाते हैं। जिनसे क्रमशः सेना-पशु, बन्धु-बान्धव, आयु एवं वाक्-शक्ति की वृद्धि होती है। 6 दिन तक चलनेवाले यज्ञों में विशेष रूप से पृष्ट्यावलम्ब और अभ्यासक्त आदि उत्तम हैं। अन्नादि की कामना से अनुष्ठेय सप्तरात्र यज्ञों में ऋषि-सप्तरात्र, प्राजापत्य, पवमानव्रत और जामदग्न्य आदि प्रधान हैं। जनकसप्तरात्र यज्ञ ऋद्धि की कामना से किया जाता है। अष्टरात्रों में महाव्रत ही मुख्य हैं। नवरात्रों में पृष्ठय और त्रिकटुक की गणना होती है। दशरात्रों में आठ यज्ञ करणीय माने गये हैं, जिनमें अध्यर्ध, चतुष्टोम, त्रिककुप्, कुसुरुबिन्दु आदि मुख्य हैं। ऋद्धि की कामना से किया जाने वाला पुण्डरीक यज्ञ दो प्रकार का होता है। यह नवरात्र एवं दशरात्र दोनों ही प्रकार का होता है। मत्स्यपुराण के अ. 53 के 25 से 27 तक के श्लोकों में, कार्तिक पूर्णिमा की तिथि में मार्कण्डेयपुराण को दान करने से इस यज्ञ के फल को प्राप्त करने की बात कही गयी है।

द्वादशाह यज्ञों में भरत-द्वादशाह मुख्य हैं; वैसे सामान्य रूप से द्वादशाह यज्ञ 4 बताये गये हैं, जो पृथक्-पृथक् संस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। जो सभी कामनाओं को प्राप्त करके विश्वजयी होना चाहता है, उसे अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये, जो सभी

यज्ञों का राजा है। श्रौत सूत्रों में शातधिक पृष्ठों में इसके विधान का वर्णन है। एक वर्ष तक चलने वाले इस यज्ञ में एक यज्ञिय अश्व छोड़ा जाता है और उसके पीछे राजा की सेना चलती है। वह जबतक लौटकर वापस नहीं आता, तबक पारिप्लव आख्यान चलते हैं। इस क्रम में दस-दस दिनों पर पहले दिन ऋग्वेद एवं वैवस्वत मनु का आख्यान, दूसरे दिन यजुर्वेद और पितरों का आख्यान्, तीसरे दिन अथर्ववेद और वरुणादित्य का पौराणिक आख्यान, चौथे दिन आङ्गिरस (अथर्वण) वेद एवं विष्णु और चन्द्रमा का आख्यान, पाँचवें दिन भिषग्वेद और कद्रू-विनता का आख्यान छठे-सातवें दिन असुरों का आख्यान और आठवें दिन मत्स्यपुराण का आख्यान तथा कई पुराणों का पाठ है।

इसी प्रकार दस-दस दिनों पर उसी क्रम से पाठ चलते हुए 360 दिनों के बाद दीक्षा होती है। इस तरह से उसके बाद भी कई मास तक यह यज्ञ चलता रहता है। पुराणों के अनुसार महाराज दशरथ ने राम आदि के जन्म की कामना से प्राय: तीन वर्षों तक यह यज्ञ किया था, जिसमें इस यज्ञ के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण यज्ञों को भी क्रमश: सम्पादित किया गया था।

3. **पाकयज्ञ-संस्था**-पाक यज्ञ के अन्तर्गत सप्तसंस्थाओं का उल्लेख मिलता है। जो क्रमश: अष्टका, पार्वण-श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी के नाम से जानी जाती हैं। कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष तथा माघ-इन चार मासों के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथियाँ अष्टका कही जाती हैं। पर अष्टकाश्राद्ध मार्गशीर्ष, पौष और माघ-इन तीन मासों की कृष्णाष्टमियों पर ही सम्पन्न होता है। इनमें पितरों का श्राद्ध करने का बहुत बड़ा माहात्म्य है। इसमें स्थलीपाक, आज्याहुतिपूर्वक पितरों के श्राद्ध होते हैं।

पर्व-पर्व पर या पितरों की निधन-तिथि पर और महीने-महीने पर होने वाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त एकोद्दिष्ट, आभ्युदयिक आदि श्राद्ध भी होते हैं, जिन्हें पाक-यज्ञों में गिना गया है। श्रावणी पूर्णिमा को होने वाले सर्पबलि, गृह्यसूत्र के तृतीय काण्डकी द्वितीय कण्डिका के अनुसार आग्रहायणी कर्म पाँचवीं पाक यज्ञ-संस्था है। उसमें सर्पबलि, स्थालीपाक पूर्वक श्रावणी के समान ही आज्याहुति और स्विष्टकृत्-हवन एवं भू शयन का कार्य होता है। चैत्री में शूलगव-कर्म (वृषोत्सर्ग) किया जाता है। पारस्कर गृह्य-सूत्र के तृतीय काण्ड की आठवीं कण्डिका के अनुसार शूलगवयज्ञ स्वर्ग, पुत्र, धन, पशु, यश एवं आयु प्रदान करने वाला है। इसमें पशुपति रुद्र के लिये वृषभ (साँड़) छोड़े जाने का आदेश है। इसी दिन स्थालीपाक पूर्वक विधिवत् हवन भी किया जाता है।

सातवीं पाकयज्ञ-संस्था आश्वयुजी कर्म है। इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्र के

द्वितीय काण्ड की 16 वीं कण्डिका में विस्तार के साथ हुआ है। इसका पूरा नाम पृषातकयज्ञ है। इसमें ऐन्द्रिय हविष्यका दधि-मधु से सम्मिश्रण कर इन्द्र, इन्द्राणी तथा अश्विनी कुमारों के नाम से आश्विन-पूर्णिमा को हवन किया जाता है। उस दिन गायों और बछड़ों को विशेष रूप से एक साथ ही रखा जाता है। ब्राह्मणों को भोजन करा देने के उपरान्त इस कर्म की समाप्ति होती है। फिर भी उपर्युक्त वर्णित यज्ञों को दो वर्गों-श्रौत और स्मार्त्त में बाँटा जा सकता है। श्रौत यज्ञों में वे बड़े-बड़े यज्ञ आते हैं, जिनके सिद्धान्तों और प्रक्रिया का वर्णन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सोमयाग इस श्रेणी में है। गृह्ययज्ञों का वर्णन गृह्यसूत्रों में मिलता है, जो स्वयं स्मृति-साहित्य के अन्तर्गत हैं। अतः उन्हें स्मार्त्त यज्ञ कहते हैं। इन यज्ञों का प्रारम्भ गृह्ययज्ञों से ही हुआ था, जिन्हें धनी, निर्धन, पण्डित और सामान्य जन सभी सरलता से कर सकते थे। इनके लिए न विशेष वेदी की आवश्यकता होती थी और न पुरोहितों की। यहाँ प्रमुख यज्ञों एवं यज्ञ संबंधी पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख सविस्तार किया जा रहा है-

**पाकयज्ञ** - प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करता था, जिनमें प्रातः सायं के अग्निहोत्र भी सम्मिलित थे। ये पाकयज्ञ कहलाते थे। इन होमों में चरु और पुरोडाश की आहुति दी जाती थी। यवागू भी आहुति के काम आती थी।[1] इन यज्ञों को पति और पत्नी साथ-साथ करते थे, इसलिए ये पत्नी-संयाज कहलाते थे।[2] पत्नी-संयाज त्रिवर्ण ही करते थे और यज्ञ-संयोग के कारण ही भार्या पत्नी-पद की अधिकारिणी होती थी। यज्ञाधिकारी न होने के कारण शूद्र की भार्या पत्नी नहीं कही जा सकती थी।[3]

पाकयज्ञ[4] गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्यों के अंग थे और गार्हपक्ष अग्नि में किये जाते थे। पाकयज्ञ अत्यन्त संक्षिप्त होते थे, जिनके लिए ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं होती थी।

प्रातःसायं अग्निहोत्र भी पाकयज्ञों के ही अंग थे। दर्श और पौर्णमास यज्ञ भी पाकयज्ञ प्राकृतिक माने जाते थे। इनमें प्रयाज, अनुयाज और सामधेनिक विधि की आवश्यकता नहीं होती थी। केवल उक्त विधियों के मंत्रों के अन्त में स्वाहा जोड़कर दक्षिणाग्नि में पकाये हुए ओदन, खीर, दधि, धृत या दुग्ध की आहुतियाँ दी जाती थी।[5]

---

1. महाभाष्य, 2.3.3, पृ. 40; यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति।
2. वही, 4.1.33, पृ. 50-51; पत्नीसंयाज इति यत्र यज्ञसंयोगः सर्वेण च गृहस्थेन पञ्चमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यच्चादः प्रातः सायं होमचरुं पुरोडाशान्निर्वपति तस्यासावीष्टे।
3. वही, 4.1.33; पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।
4. वही, 4.2.35, वा 1, पृ. 176; नवयज्ञोऽवर्त्ततेऽस्मिन् काले नावयाज्ञिकः पाकयज्ञिकः।
5. वाराह गृह्यसू., 21-1 से 4; गृहाग्नौ पाकयज्ञान् विहरेत्, ह्रस्वात्-पाकयज्ञो हि स्वयंपाक इत्याचक्षते दर्श पौर्णमासप्रकृतिः पाकयज्ञविधिः अप्रयाजानुयाजोऽसामधेनिकः स्वाहाकारन्ते

गृह्य अग्नि में वैश्वदेव यज्ञ भी क्रिये जाते थे, जो पाकयज्ञों के ही अन्तर्गत थे। इससे सिद्ध या पकाये हुए हविष्य से आहुतियाँ दी जाती थीं और अवशिष्ट हविष्य बलि के काम आता था।[1] बलि में प्रयुक्त होनेवाले तण्डुल बालेय कहे जाते थे। भाष्य में उन्हें गुणान्तर-युक्त, अर्थात् संस्कारयुक्त कहा है।[2] बलि का हविष्य व्यंजनों से उपसिक्त रहता था। वैश्वदेव में प्रयुक्त अन्न को विधस कहते थे।[3] द्राह्यायण गृह्यसूत्र में गृह के भीतर या बाहर चार, मणिक देश (पानी रखने का स्थान) में एक, घर के मध्य में एक, गर्भगृह के द्वार पर एक, शय्या के पीछे एक, घूरे या अवस्कर के पास एक, खूंटे या पशु बाँधने के स्थान में एक, इस प्रकार दस बलियाँ रखने का विधान है। पितर, रुद्र ये बलि-देवता है।[4] इसके अतिरिक्त महाराज की बलि का भी उल्लेख किया है। काशिका में कुवेर-बलि की भी चर्चा है।[5]

पाकयज्ञों में गृह्यसूत्रकारों ने स्वयंहोत्र का विधान किया है। कुछ आचार्यों के मत से पत्नी ही आहुति देती थी, क्योंकि पत्नी का दूसरा नाम गृह भी है और उसी के नाम पर इस अग्नि का नाम गृह्य पड़ा था।[6] गृह्याग्नि को ही एकाग्नि भी कहते थे। उसमें हवन करनेवाले भी एकाग्नि कहलाते थे।[7]

**नवयज्ञ**—बिना यज्ञ किये नया अन्न खाना निषिद्ध था, इसीलिए नई फसल तैयार होने पर प्रत्येक गृहस्थ उससे हवन कर तब नवान्न ग्रहण करता था। नवान्न का यह होम नवयज्ञ कहलाता था। शरद की पूर्णिमा या अमावस्या को व्रीहि से और वसन्त में यव से नवयज्ञ किया जाता था। इसमें इन्द्र और अग्नि देवता के लिए पायस तैयार कर आहुति दी जाती थी। नव यज्ञ पाकयज्ञ के अन्तर्गत था।

**दर्श-पौर्णमास**-ये इष्टियाँ भी पाकयज्ञ के ही अन्तर्गत मानी जाती थीं। भाष्य के अनुसार जिसके द्वारा यज्ञ किया जाय अथवा जिसके द्वारा कोई कामना की जाय,

---

निगद होमाः परतन्त्रोत्पत्तिर्दक्षिणाग्नावाहिताग्निर्गोमयेन गोचर्म पात्रं चतुरस्रं वास्थण्डिलमुपलिप्येषु-पात्रं, तस्मिन् लक्षणं कुर्वीत 'सत्यं सदसीति' पश्चार्धादुदीचीं लेखां लिखे।

1. हविष्यं वा सिद्धस्य वैश्वदेवः। अग्नये सोमाय, प्रजापतये धन्वतरये वास्तोष्पतये विश्वेभ्यो देवेभ्योऽग्नये स्विष्टकृते च जुहुयात्- अवशिष्टस्य बलिं हरेत्। - वारा. गृ. सू., 20.3, 4
2. बालेयास्तण्डुलाः, गुणान्तरयुक्ता हि तण्डुला वालेयाः। - 5.1.13, पृ. 304, 304।
3. विधसः उपसर्गेऽदः। - 3.3.49 का.।
4. बलीन्नयेत्-बहिरन्तर्वाचतुर्निधाय मणिकदेशे मध्ये द्वारि-शय्यामनु वर्चवा-अर्थ सस्तूपम्-शेषमद्भिः सार्वदक्षिणा, पृथ्वी वायुः प्रजापतिः विश्वेदेवा आप ओषधिर्वनस्पतय आकाशः कामो मन्युर्वा रक्षोगणानि नयेत-पितरो रुद्र इति बलिदेवतानि। - द्राह्य. गृ. सू., 1.5.22 से 23।
5. चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः- कुबेरबलिः महाराजबलि। - 2.1.36 का. तथा यो हि महाराजाय बलिर्दीयते महाराजार्थः स भवति। - वही, पृ. 288।
6. पत्नी जुहुयादित्येके। गृहाः पत्नी गृह्योऽग्निरेष इति। - वही 1.5.17, 18।
7. महाभाष्य, 1.2.24, वा, 3, पृ. 216।

उसे इष्ट कहते हैं।[1] जिस काल में सूर्य और चन्द्रमा साथ रहते हैं, उसे दर्श कहते हैं और जिस समय चन्द्रमा सब कलाओं से पूर्ण हो जाता है, उसे पौर्णमास कहते हैं। दर्श और पौर्णमास को की जानेवाली इष्टियाँ भी इसी नाम से प्रसिद्ध थीं।

**चातुर्मास्य यज्ञ**–चातुर्मास्यों का उल्लेख चार-चार मास में किये जाने वाले यज्ञों के रूप में किया है। इन को यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाला चातुर्मासक या चातुर्मासी कहा जाता था।[2] आश्वयुजी पौर्णमासीं का भी नाम चातुर्मासी था। इस दिन रुद्र देवता को पायस या पृषातक की आहुति दी जाती थी।[3] पृषातक दूध में घी मिलाकर तैयार किया जाता था।[4]

चातुर्मास्य तीन माने जाते थे- वैश्वदेव, वरुण प्रधास और साकमेघ। वैश्वदेव फाल्गुनी या चैत्री पूर्णमासी को निष्पन्न होता था। वरुण प्रधास आषाढी और साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन होता था।

**अष्टका**–अष्टका को पितृदैवत्य भी कहा गया है।[5] प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में इसका सविस्तार वर्णन मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को आग्रहायणी कर्म होता था और इसके बाद तीन पित्र्या अष्टकाएँ होती थीं, जो क्रमशः ऐन्द्री, वैश्व देवी और प्राजापत्य कहलाती थीं।[6] द्राह्यायण गृह्यसंहिता के अनुसार आग्रहायणी के बाद की तीन तामिस्र अष्टमियाँ ही ये अष्टकाएँ थीं। इनमें हवि के लिए स्थालीपाक तैयार किया जाता था। प्रथम अष्टका में आठ अपूप भी 'अष्टकाएँ स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा अग्नि में चढ़ाये जाते थे। अन्तिम अष्टका में शाक और मध्यम में गौर की आहुति दी जाती थी। पित्र्यहोम 'वह वपाम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा होता था और 'दैवत्य जातवेद' इत्यादि मंत्र द्वारा। इसके लिए पुरोहित की आवश्यकता होती थी और पशुहोम में उसकी दक्षिण पशु ही होता था।[7] अष्टका एकविशतिसंस्थ होम था।[8]

---

1. इज्यतेऽनयेतीष्टिः - इष्यतेनयेतीष्टिः। 3.3.95, वा. 3, पृ. 313।
2. अमावास्येनं हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमासे नापरपक्षम्। गोभिल गृ. सू., प्रपा. 1, क. 5, सू. 6
3. आश्वयुजी रुद्राय पायसः। - द्राह्या. गृ. सू., चार्तु. प्रकरण, 3.3.1।
4. पयस्यवनेत् आज्यं तत्पृषातकम्। - वही, 3.3.3।
5. अष्टकापितृदैवत्ये उपसंख्यानं कर्त्तव्यम् - पितृदैवत्य इति किमर्थम् - अष्टिकाखारी। 7.3.45, वा. 9, पृ. 190।
6. मार्गशीर्ष्या पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म ऊर्ध्वमाग्रहायण्यासितस्रोऽष्टकाः ऐन्द्री वैश्वदैवी प्राजापत्या पित्र्येति। - 3.3.1, 2।
7. ऊर्ध्वमाग्राहायण्यास्तिस्त्रस्तामिस्राष्टम्योष्टकाइत्याचक्षते- तासुस्थालीपाकाः- अष्टौ चापूपाः प्रथमायाम्-तानपरिवर्त्तयन् कपाले श्रपयेत् - अष्टकायै स्वाहेति जुहुयात्- उत्तमायां शाकम्-न्वाहार्ये-मध्यमायां गौः। 3.3.27 से 32 तथा 3.4.। वदृवपायामिति पित्र्येवपा होमः-जातवेद इति दैवत्ये-पशुरेव पशोर्दक्षिणा। 3.4.26, 27, 30।
8. अष्टकायामष्टका होमात्र्जुहुयात्तस्यां हर्वीषि धानाः करम्भः शष्कुल्यःपुरोडाश उदोदनः क्षीरोदनस्तिलोदनो यथोपपादि पशुः। - 14.138.2, 4।

**अग्निहोत्र का अर्थ**–अग्निहोत्र शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। उसका एक अर्थ ज्योति है; क्योंकि अग्निहोत्र प्रज्वलित करता है, यह प्रयोग लोग करते हैं। दूसरा अर्थ हवि है। इसीलिए, 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य सार्थक होता है। जुहोति का प्रयोग प्रीणन और प्रक्षेपण दोनों अर्थों में देखा जाता है। 'यवागवाऽग्निहोत्र जुहोति' के दोनों अर्थ होते हैं–यवागू अग्नि को प्रसन्न करती है और यवागू हवि अग्नि में है।[1] इससे यवागू का हवि के रूप में व्यवहार स्पष्ट है, भले ही कौशिक गृह्यसूत्र में उसका उल्लेख न हो।

**पंचावत्ती**–जामदग्न्यों को पंचावत्ती कहा गया है। पंचम अवदान सर्वप्रथम जमदग्नि ने किया था, इसलिए जामदग्न्य गोत्रवालों को छोड़कर अन्य कोई पंचावत्त हवन नहीं करता।[2] अन्य लोग चतुरवत्त याग करते हैं। रखी गई हवि में से होमपरिमित भाग को काटकर अलग करना अवदान कहलाता है। चतुरवत्त में अध्वर्यु आज्य से स्रुव द्वारा जुहू में एक बार आज्य लेकर होता को अनुवाक्या पढ़ने के लिए 'अनुब्रूह्यन्त' मन्त्र से संप्रेष देता है। इस क्रिया की आवृत्ति तीन बार होती है। जिस यजमान के यज्ञ में इस प्रकार चार बार आज्यावदान होता है, वह चतुरवर्त्ती कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में जामदग्न्य, वत्स, विद, अवार्ष्टिषेण, भार्गव, च्यावन, और्व ये पंचावत्ती कहे गये हैं।[3]

**पंचौदन सव**–यह सवनेष्टि का पर्याय है। सवनेष्टि भी पाकयज्ञों का अंग है, जिसमें अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश, को एकादश-कपाल पुरोडाश, और विश्वेदेवों को द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। पंचौदन सब में आदेन की पाँच विशेष आहुतियाँ दी जाती थीं।[4]

पाकयज्ञों के नाम उनमें दी जानेवाली मुख्य आहुति के आधार पर भी रखे गये थे। उदाहरणार्थ, जिन यज्ञों में मोदक या शष्कुली प्रमुख होती थी, वे मौदकिक या शाष्कुलिक कहे जाते थे।[5]

**इन्द्रमह गंगामह और कशेरुयज्ञ**–ये सम्भवतः सामान्य पाकयज्ञ थे[6], जो

---

1. अयमग्निब्दोऽस्त्येव ज्योतिषि वर्त्तते-तद्यथाऽग्निहोत्रं ज्वलयति। अस्ति हविर्षि वर्त्तते- तद्यथाऽग्निहोत्रं जुहोति। जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणे वर्त्ततेऽस्ति प्रीणात्यर्थे वर्त्तते। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति, अग्निं प्रीणाति, यवागूं हविरग्नी प्रक्षिपति। - 2.3.3, पृ. 406।
2. जमदग्निर्वा एतत्पञ्चममवदानमावद्यतस्मान्नाजमदग्न्यः पञ्चावत्तं जुहोति।- 1.1.44, वा. 17, पृ. 264।
3. श्रौ. प. नि., पृ. 39।
4. श्रौ. प. निर्व., पृ. 144।
5. मोदकाः प्रकृता अस्मिन् यज्ञे मौदकिको यज्ञः, मोदकमयः, शाश्कुलिको, शष्कलीमयः। - 5.4.23 का.
6. इन्द्रमहार्थमैनद्रमहिकम् गाङ्गामहिकम्, काशेरुयज्ञिकम्।-5.1.12, वा. 1, 2, पृ. 302, 303।

वैदिक न होकर लोक-परम्परा पर आश्रित थे। श्रौत या गृह्यसूत्रों में इनका विवरण नहीं है। इन यज्ञों में सम्बद्ध देवताओं के लिए विशिष्ट आहुतियों दी जाती थीं और उत्सव, गीत तथा रात्रि-जागरण किये जाते थे।

**श्रौतयज्ञ**—श्रौतयज्ञ वे हैं, जिनका विधान संहिताओं और व्याख्या-ग्रन्थों में मिलता है। इनमें कुछ तो सवार्त्मक यज्ञ है और कुछ सामान्य। शत, सहत्र वर्षों तक चलनेवाले यज्ञों की भी चर्चा है।[1] ये दीर्घ सत्र कहलाते थे। विश्वसृज् या प्रजापति का यज्ञ भी दीर्घकाल तक चलने के कारण सत्र की कोटि में आता था।[2] विश्वसृज् सत्र सहस्र संवत्सर का था।[3] दीर्घ सत्रों में कुछ तो श्रोत्रिय लोगों द्वारा आत्मकल्याणार्थ किये जाते थे और कुछ राजाओं या धनिक यजमानों के लिए। इन दीर्घ सत्रों में होनेवाली क्रिया या वस्तु दार्घसत्र कहलाती थी।[4] दीर्घ सत्र सामान्यतया अप्रयुक्त थे। केवल ग्रन्थों में उनका विधान रह गया था।[5]

हवि की दृष्टि से यज्ञों के दो भाग थे- यज्ञ और ऋतु। ऋतु विशिष्ट यज्ञ थे, जिनमें सोम की आहुति की जाती थी।[6] जिन ऋतुओं का विधान अध्वर्यु वेद में मिलता है, वे अध्वर्युक्रतु कहलाते थे। ऋतु शब्द सामान्यतया सोमयज्ञों में रूढ़ था। पाणिनि ने कुण्डपाय्य और संचाय्य ऋतुओं का उल्लेख किया है। कुण्डपाय्य ऋतु में कुण्ड (पात्र) द्वारा सोमपान किया जाता था। यह द्वादशाह ऋतु की विकृति है और वर्ष-भर चलता है। संचाय्य संज्ञा सोम का संचयन किये जाने के कारण थी।[7] अर्क, अश्वमेध, सायाह्न, अतिरात्र आदि अध्वर्यु ऋतु थे। राजसूय, वाजपेय भी अध्वर्युऋतु थे। दर्श पौर्णमास का विधान अध्वर्यु वेद में है, पर वे ऋतु नहीं थे।[8] ऋतुओं में अग्निष्टोम, वाजपेय और राजसूय सर्वाधिक सिद्ध जान पड़ते हैं।

**अग्निष्टोम**—अग्निष्टोम यज्ञ करना और उसे आस्थापूर्वक ठीक समझना अभ्युदयकारी माना जाता था।[9] अग्निष्टोमयाजी विशेष सम्मानार्थ प्रयुक्त होता था।[10] अग्निष्टोम का प्रारम्भ वसन्त में होता था। वासन्तिक अग्न्याधान ब्राह्मण का कर्त्तव्य

---

1. दीर्घसत्राणि, वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च। - वा. 1, पृ. 21।
2. वेदेऽपि य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासत इति। - आ. 2, पृ. 48।
3. सहस्र संव्रत्सरं विश्वसृजाम्। - कात्या., 24.5.24।
4. दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम्। - 7.3.1।
5. अप्रयुक्त दीर्घसत्रवत्। - आ. 1, वा. 4, पृ. 21।
6. क्रतुः शब्दः सोमयज्ञेषु रूढः। - 2.4.4 का.।
7. क्रतौ कुण्डमाय्यं संचाय्यौ। - 3.1.130। - तथा का.।
8. काशिका, 2.4.4।
9. योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद। - आ. 1, पृ. 23।
10. अग्निष्टोमयाजी। - 3.4.1, वा. 2, पृ. 341।

माना जाता था।[1] अग्न्याधान यज्ञारम्भ की प्रतिपत्ति के लिए था। कात्यायन श्रौतसूत्र में अग्निष्टोम का प्रारम्भकाल वसन्त ही बतलाया गया है।[2] इसके तीन भेद हैं- एकाह, अहीन और सत्र। जिसमें सुत्या कर्म एकाह साध्य होता है, वह एकाह और जिसमें दो, तीन से बारह दिन तक सुत्याकर्म चलता है, वह अहीन तथा जिसका पक्ष, मास, संवत्सर और इस प्रकार सहस्र वर्ष तक अनुष्ठान चलता है वह सत्र कहलाता है। कुछ लोगों के मत से यहाँ संवत्सर शब्द दिन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3]

अग्निष्टोम सम्पूर्ण श्रौतयागों की प्रकृति है। यह सबसे सरल एवं सर्वाधिक प्रचलित था। इसमें सोलह ऋत्विज् होते थे। अग्नि को एक छाग की बलि दी जाती थी और बारह स्तोत्रों का उपयोग होता था। प्रातः सवन में वहिष्पवमान और चार आज्य-स्तोत्रों, मध्याह्न सवन में माध्यन्दिन पवमान और चार पृष्ठ-स्तोत्रों तथा सायं सवन में तृतीय या आर्भव पवमान और अग्निष्टोम साम का प्रयोग होता था। अग्निष्टोम साम के प्रयोग के ही कारण इसे अग्निष्टोम संस्थ ऋतु कहते हैं।

**तुरायण**–तुरायण की प्रकृति पौर्णमास यज्ञ है। यह एक वर्ष तक चल सकता था। शांखायन ब्राह्मण में इसे 'स्वर्गकामस्य यज्ञः' कहा है।[4] कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यह सत्र है और वैशाख या चैत्र शुक्ल-पंचमी को प्रारंभ होकर वर्ष-भर चलता है। यजमान तौरायणिक कहलाता है।

**राजसूय**–इसमें राजा (सोम) का सवन होता है, उसे राजसूय ऋतु कहते हैं।[5] राजसूय विशुद्ध सोम-यज्ञ नहीं था, अपितु अनेक यज्ञों की संसृष्टि से युक्त लगभग दो साल से भी अधिक काल में समाप्त होनेवाला जटिल याग था। यह अनेक इष्टियों, सोमयज्ञों और पशुमेघों का समवाय था। लाट्यायन में दोनों मतों का समन्वय मिलता है।[6] कुछ लोगों के मत से राजसूय वही कर सकता था, जिसने वाजपेय न किया हो। शतपथब्राह्मण में कहा है कि राजसूय करनेवाला राजा और वाजपेय करनेवाला सम्राट् होता था।[8] इससे वाजपेय का स्थान उच्चतर मालूम होता

---

1. लोके वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनांदधीत। -वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुमिर्यजेतेत्यग्न्याधाननिमित्तं वसन्ते वसन्त इष्यते - वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यग्न्याधानं यज्ञमुखप्रतिपत्त्यर्थम्। - 6.1.84, वा. 4, 5 पृ. 116, 117।
2. कात्या. श्रौ. सू. 7.1.4।
3. मीमांसादर्शन, अ. 6, पा. 7, अधि. 13, सू. 31.40।
4. शांखा. ब्रा., 4.19।
5. राजा सोतव्यः राजा वा इह सूयते राजसूयः क्रतुः। - काशि. 3.1.114।
6. राजा तत्र सूयते तस्माद् राजसूयः। राज्ञो वायज्ञो राजसूयः। - मीमां. शाबर भा., 4.4.1।
7. कात्या., 25.1.2।
8. शत., ब्रा. 9.3.4.8।

है। भाष्य में भी यज्ञों के प्रसंग में सर्वत्र अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय का क्रमिक ही उल्लेख हुआ है, जो शतपथ के अनुकूल है। राजसूय में यजमान को फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् के दिन पवित्र-संज्ञक सोमयज्ञ की दीक्षा लेनी पड़ती थी, जिसकी प्रक्रिया अग्निष्टोम के ही समान है।[1] इसके एक वर्ष बाद अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचनीय इस यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था।[2] यज्ञारम्भ होने के लगभग 15 दिन बाद फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को अनुमति की इष्टि की जाती थी, जिसमें अनुमति को पुरोडाश हवि दी जाती थी।[3] इसके बाद वैश्वदेव, वरुण प्रधास और साकमेध नामक चातुर्मास्यों का प्रारम्भ हो जाता था और अगली फाल्गुन शुक्ल अमावस्या को शुनासीरीय पर्व के साथ उनकी समाप्ति होती थी। इसके बाद छोटे-मोटे अनेक कृत्य, जिसमें पंचावत्तीय और अपामार्ग होम भी सम्मिलित है, होते थे।[4] बारह दिनों तक 'रत्निनां हवींषि' होती थी, जो रत्नियों (सेनापति, पुरोहित आदि विशिष्ट राज्याधिकारी) के घर दी जाती थी।[5] चैत्र के प्रथम दिन अभिषेचनीय विधि होती थी। अभिषेचन के लिए पुरोहित सत्रह उदुम्बर-पात्रों में सत्रह प्रकार का जल लाता था, जो अनेक याज्ञिक विधियों के बाद राजा पर डाला जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब इस जल से राजा का अभिषेचन करते थे।[6] अभिषेचनीय के बाद दस दिन तक 'ससृषां हवींषि' दी जाती थी।[7] और दिन दशपेय (सोमपान) कृत्य होता था।[8] यही अवभृथरनान का दिन था। इसके एक वर्ष बाद तक राजा को देवव्रतों का पालन करना पड़ता था।[9] इन व्रतों की समाप्ति केशवपनीय विधि से होती थी। इस समय यजमान के सालभर से बढ़े हुए केशों का वाप होता था।[10] इसके बाद व्युष्टि द्विराज और क्षत्रधृति यज्ञ होते थे।[11] इनके साथ ही राजसूय की समाप्ति हो जाती थी, यद्यपि इसके एक मास बाद सौत्रामणि इष्टि करनी पड़ती थी।

**वाजपेय**–वाजपेय के कई अर्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सोम का नाम

1. लाट्या. 9.1.2; आश्व., 9.3.2
2. लाट्या. 9.1.4।
3. कात्या. 15.1.9 तथा आप. 18.8.10।
4. आप. 18.9.10, 11, 15.20।
5. वही, 18.10।
6. वही, 18.16.3, 5।
7. वही, 18.20.7 तथा कात्या. 15.8.1 से 4।
8. लाट्या. 9.21, कात्या. 15.8.14
9. लाट्या. 9.2.17।
10. आश्व. 9.3.24।
11. वही, 9.2.24।

वाजपेय है और अन्न का भी। यह शक्ति का पेय है। इससे देवों को शक्ति प्राप्त हुई।[1] शांखायन श्रौतसूत्र के अनुसार अन्न को वाज और पान को पेय कहते हैं। इन दोनों की प्राप्ति के लिए वाजपेय करना चाहिए।[2] सत्रह की संख्या इसकी एक विशेषता है। आपस्तम्ब और ताण्ड्य ब्राह्मण दोनों के अनुसार इसमें सत्रह स्तोत्र और सत्रह ही शस्त्र है। इसमें प्रजापति के लिए सत्रह पशुओं की बलि का विधान है। सत्रह वस्तुएँ ही दक्षिणा में दी जाती हैं।[3] वाजपेय का यूप भी सत्रह अरत्नि लम्बा होता था, जिसे परिवृत करने के लिए वस्त्र के सत्रह टुकड़े काम में लाये जाते थे।[4] सत्रह दिन तक यह यज्ञ चलता था, जिनमें 13 दिन दीक्षा के, तीन दिन उपसद के तथा एक दिन सुत्या के लिए था। एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि इसमें प्रजापति को सत्रह सुरा के तथा सत्रह सोम के (चमस) पात्र चढ़ाये जाते थे और सत्रह अश्वरथों की दौड़ होती थी, जिसका प्रारम्भ वेदी की उत्तर श्रेणी में रखी गई सत्रह दुन्दुभियाँ बजाकर किया जाता था।[5] वाजपेय आधिपत्य, समृद्धि या स्वराज्य की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता था[6] और ब्राह्मण या क्षत्रिय ही इसके अधिकारी थे, वैश्य नहीं।[7] इसका अनुष्ठान काल शरद था।[8]

**सौत्रामणि**–सौत्रामणि शब्द सूत्रामन् से बना है, जिसका अर्थ है सम्यक् रक्षा करनेवाला। ऋग्वेद सूत्रामन् इन्द्र का विशेषण है। यह सोमयज्ञ नहीं, अपितु इष्टि और पशुमेध का मिश्रण है।[9] सुरा की आहुति इस यज्ञ की मुख्य विशेषता है। इस यज्ञ की अवधि चार दिन की होती है, जिनमें प्रथम तीन दिन तक विभिन्न वस्तुओं से सुरा बनाई जाती है और चतुर्थ दिन तीन पात्र दुग्ध और तीन पात्र सुरा तथा पशुमांस से अश्विनों, सरस्वती तथा इन्द्र को आहुति दी जाती है। कात्यायन-भाष्य में बतलाया गया है कि सर्ज की छाल, त्रिफला, सोंठ, पुनर्नवा, चतुर्जातक-युक्त पिप्पला,

---

1. वाजाप्यो वा एषः वाजं ह्येतेन देवा। ऐप्सन् सोमो वै वाजपेयः। - तैत्ति. ब्रा., 1.342।
2. पानं वै पेयः। अन्नं वाजः। पानं वै पूर्वयथान्नम्। तयो रुभयोराप्तौ। शांखा. श्रौ. सू., 15.1.4 से 6।
3. आप. 18.1.12; ताण्ड्य 18.7.5।
4. आप. 18.1.12।
5. वही, 18.4.4 से 7।
6. कात्या. 14.1.1; आप. 18.1.1।
7. स वा एव ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः। - तै. ब्रा., 1.3.2 तथार्थ ब्राह्मणा राजानश्च पुरस्कुर्वीरन् स वाजपेयेन यजेत। - लाट्या. 8.11.1।
8. शरदि वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत। - शाबरभाष्य, 10.2.64 तथा एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते गच्छति स्वाराज्यम्। - तैत्ति. ब्रा., 1.3.2 तथा वाजपेययाजी वात्र प्रजापति माप्नोति। -ता. ब्रा. 18.6.4।
9. यदुदुम्बरवर्णानां घटानां मण्डलं। महत् पीते न गमयेत् स्वर्ग तत्कि क्रतुगतं नयेत्। - आ. 1।

गजपिप्ली, वंश, अवका, बृहच्छत्रा, चित्रक, इन्द्रवारुणी, अश्वगन्धा, धान्यक, यवानी, जीरक, कालाजीरा, दो हल्दी की गांठें, गुर्च, ब्रीहि और यव के अंकुर ये सब वस्तुएँ सुरा में डाली जाती है।[1]

**अश्वमेध**--अश्वमेध सर्वाधिक प्राचीन यज्ञों में है। आश्वलायन का मत है कि जो राजा सब कामों की पूर्त्ति तथा सर्वविजय चाहे, वह अश्वमेध करे।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में तो अश्वमेध से साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, पारमेष्ठ्य आदि समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति बतलाई है।[3] इसका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल-अष्टमी या नवमी को अथवा ज्येष्ठ या आषाढ की इसी तिथि को याजक ब्राह्मणों को ब्रह्मौदन, सहस्रगी तथा सुवर्ण दिया जाता था।[4] इस समय विभिन्न सखियों समेत राजा की चार रानियाँ उसके पास उपस्थित रहती थीं।[5] अश्व या तो काले गोल चित्तों सहित सम्पूर्ण श्वेत होता था अथवा अग्रकृष्ण तथा शेष श्वेत अथवा श्यामपुच्छ या श्यामकर्ण होता था।[6]

अश्वमेध की प्रक्रिया भी राजसूय के समान दीर्घ और जटिल है। इसमें सालभर तक सायंकाल धुति इष्टि की जाती[7] थी और वर्ष-भर तक ही सावित्री इष्टि जारी रहती थी, जिसमें पारिप्लव साम का गायन-श्रवण चलता था।[8] इस बीच यदि अश्व बीमार पड़ जाता था मर जाता, तो कुछ अन्दर इष्टियाँ करनी पड़ती थी या अश्व को शत्रु छीन लेता, तो यज्ञ नष्ट माना जाता था।

यज्ञशाला में पशुओं के बाँधने के लिए 21 यूप गाड़े जाते थे, जो अरत्नि के

---

1. सर्जत्वक् त्रिफला चैव शुण्ठी चैव पुनर्नवा। चतुर्जातकसंयुक्ता पिप्पला गजपिप्पली।। वशोऽवका बृहच्छत्रा चित्रकं चेन्द्रवारुणी। अश्वगन्धां समुत्पाट्य मुलान्येतानि निर्दिशेत्।। धान्यकं च यवानां च जीरकं कृष्णजीरकम्। द्वे हरिद्रे वचा चैव विरूढा व्रीहयो यवाः।। - कात्या. भाष्य., 19.1.20।
2. सर्वान् कामानाप्स्यन् सर्वा विजितीविजिगौषमाणः सर्वा व्युष्टीव्युशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत। - आश्व. 10.6.1।
3. स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वाजितीजयेताय सर्वानुलोकानुविन्देता य सर्वेषां राज्ञा त्रैष्ठ्यमतिष्ठा परमतांगच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यमाहाराज्यमयमाधिपत्यमयं सगन्तपर्यायो स्यात् सार्वभौमः सर्वायुष् आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत। - ऐत. ब्रा., 39.1।
4. कात्या. श्रौ. सू. 20.1.2 से 6 तथा लाट्या श्रौ. सू., 9.9.6.7।
5. या पत्नीनां प्रियतमा यजमानस्य सा वावाता राजपुत्री। अनपचिता परिवृक्ती। - लाट्या. 9.10. 1, 2।
6. शत. ब्रा. 8.4.2.4 तथा कात्या. श्रौ. सू. 20.1.29 से 35 तथा लाट्या. श्रौ. सू. 9.9.4।
7. वाजस. सं., 22.7.8।
8. शत. ब्रा. 13.1.3.5 तथा विसृष्टवाचि यजमाने सम्प्रेष्यति वीणा गणाकिनी देवैरिमं यज्ञमानं सङ्गायतेति। - आप. 30.7.14, 15।

बराबर ऊँचे रहते थे। इन यूपों में बहुत से पशु बांधे जाते थे और बलि दिये जाते थे। अन्त में अनेक विधियों के साथ, जिनमें ब्रह्मोध (धार्मिक संवाद, जिसमें प्रश्न, पहेलियाँ तथा उत्तर होते हैं) होता था तथा अश्व की बलि करके उसके रक्त और मांस को पकाकर आहुति दी जाती थी।

**अहीन**--अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ प्रायः एकाह हैं। उनमें एक ही दिन प्रातः, मध्याह्न और सायं सोम की आहुति दी जाती है। बृहस्पति सव, गोसव, श्येन, उद्भिद, विश्वजित् और व्रात्यस्तोम भी एकाह है। विश्वजित् कर्त्ता, एक सहस्र गायें अथवा अपने भाग की सारी सम्पत्ति दान कर स्वयं वृक्षों के नीचे भिक्षा पर जीवन व्यतीत करता था और वर्ष-भर, जो मिल जाता था, उसी भिक्षा पर निर्वाह करता था। गोसव का अनुष्ठान स्वराज्य का प्रदाता होता है।[1] गोसव करने के बाद एक वर्ष तक पशुव्रत का अनुष्ठान किया जाता था, जिसमें पशुवत् खाने-पीने और रहने का विधान है।[2]

दो से बारह दिन तक जिन यज्ञों में सुत्याकर्म होता है, वे अहीन कहे जाते थे। इनकी समाप्ति सदा ही अतिरात्र से होती थी और इसकी सम्पूर्ण अवधि दीक्षा और उपसद को मिलाकर एक मास से अधिक नहीं होती थी। ये पूर्णिमा को प्रारंभ होते थे। इनके त्रिरात्र (गर्ग त्रिरात्र) पंचरात्र, षडह आदि वर्ग हैं। द्वादशाह की गणना अहीन और सत्र दोनों के अन्तर्गत है।[3]

**अतिरात्र**–अतिरात्र एक दिन में समाप्त न होकर एक दिन और एक रात्रि बीतने पर समाप्त होता था, इसीलिए इसे यह नाम दिया गया है। इसमें बहुत सारे अनुष्ठान, स्तोत्र और शस्त्र अपेक्षित होते हैं। अतिरात्र स्तोत्र और शस्त्र तेरह है। अतिरात्र संस्था में सुत्या (सोमरस के हवन) के दिन सरस्वती देवता के लिए पशुयाग किया जाता है।

**अग्निष्टुत्**–यह एक सोमयाग विकार है। इस यज्ञ में त्रिवृत नाम स्तोम-पद्धति से अग्निदेवता का स्तवन किया जाता है। अनुष्ठान का प्रकार अग्निष्टोमवत् है। मंत्र-तंत्र में थोड़ा अन्तर है। पापमोचन और अभक्ष्य-भक्षण दोष निवृत्ति आदि के लिए यह सोमयाग भिन्न-भिन्न स्तोम पद्धतियों से किया जाता है।[4]

---

1. तैत्ति. ब्रा. 2.7.6।
2. तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्तृणानि चाच्छिन्द्यात्।
3. आश्व. 10.5.2।
4. अग्निष्टुतो नामैकाहाः - सोमविकृतयस्तेषु आग्नेयोऽग्निदेवत्यो निगदः स्यात्। -लाट्या.1.4.1; तत्र गौतमीयम् अग्न आगच्छ रोहिताभ्यां बृहद्भये धूमकेतो, जातवेदो विचर्षणाङ्गिरस ब्राह्मणाङ्गिरसे ब्रुवाण इति प्राक् सुत्यादेशात् (एतावदहे सुत्यामित्यतः प्राक्)। लाट्या. 1.4.1।

**सत्र**–सत्र और अहीन में मुख्य अन्तर यह था कि सत्र केवल ब्राह्मण कर सकते थे, किन्तु अहीन तीनों वर्णों द्वारा किया जा सकता था। सत्र वर्षों चल सकता था, किन्तु अहीन बारह दिन से अधिक नहीं होता था। सत्र में यजमान पुरोहित दोनों एक ही होते थे। इसलिए, उनमें दक्षिणा नहीं होती थी। अहीन का अन्तिम दिन अतिरात्र होता था। किन्तु, सत्र के प्रारंभ और अन्त दोनों में अतिरात्र होता था। सत्रों के दो भेद किये जा सकते हैं - रात्रिसत्र और संवत्सरसत्र।

सत्र-समाप्ति से पहला दिन जिसे महाव्रत कहते हैं, बहुत मनोरंजक होता था।[1] महान् यह प्रजापति का वाचक है। इस दिन प्रजापति को सोम की अतिरिक्त हवि दी जाती थी और उसके लिए पशुबलि दी जाती थी। ये हवि महाव्रतीय कहलाती थी। इस अवसर पर महाव्रत साम का गान होता था और उसके बाद महदुक्थका। इसके बाद आर्य-शूद्र-युद्ध, ब्रह्मचारी और वेश्या का वाग्युद्ध, स्त्री-पुरुष-मैथुन आदि विचित्र क्रियाएँ भी होती थीं, जो अन्य यज्ञों में वर्जित थी।

**महाव्रत**--किसी-किसी सोमयाग में महाव्रत नाम की एक विशेष विधि होती थी। यह प्रायः अग्निष्टोमादि सत्रों का अंग थी। ऐतरेय आरण्यक में इसे एकदिवससाध्य स्वतन्त्र ऋतु भी बताया है। इसमें कई मनोरंजक बातें होती थीं। आग्नीधीय मंडल के सामने और हविर्धात मण्डल के बीच में फैलाये हुए एक धारीदार चर्म को ब्राह्मण और शूद्र ताकत से अपनी-अपनी ओर खींचते थे। होता झूले पर बैठकर अपने मंत्र बोलता था। सुवर्णासन पर बैठकर अध्वर्यु और स्वर्ण खचित आसन पर बैठकर उद्‌गाता अपने मंत्र बोलते थे। जब उद्‌गाता साम गाते थे, तब यजमान की स्त्रियाँ सौ तारों के एक तन्तुवाद्य, कर्करी आदि अन्य वाद्यों के साथ उनका साथ देती थीं। कुछ दासियाँ सामगान के समय सिर पर पानी से भरे घड़े रखकर मार्जालीय मण्डप के उत्तर में विशिष्ट प्रकार से नृत्य करती थीं। भूमि-दुन्दुभि से गान पर ताल दिया जाता था। पश्चात् एक धनुर्धर राजपुत्र के पास टाँगे हुए चर्म पर बाण मारता था। महाव्रत ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख मिलता है, जिसका अनुष्ठाता महाव्रतिक कहलाता था।

**अवभृथ**–चातुर्मास्यों में वरुणप्रधास, सौत्रामणि और सर्व प्रकार के सोमयागों के अन्त में नदी आदि जल-प्रवाह के पास जाकर वह सोम देवता के लिए छोटी-सी इष्टि की जाती है। उसके बाद स्नान-विधि होती है। याग-समाप्ति दर्शक इस याग और स्नान को अवभृथ कहते हैं।

**सव**–जिस यज्ञ के अन्त में यजमान को विशिष्ट रीति से अभिषेक करना होता था, उन यज्ञों को सव कहते थे। ये सव सोमरस, पश्वंगों और पुराडोश के हवन-

---

1. दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च नचाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति। - आ. 1, वा 4, पृ. 21।

प्रधान कार्यों से सम्पादित किये जाते थे। ओदनसव में पकाये भाग का होम मुख्य था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणादि क्रम से दूध, घी, दही और सत्तू से भरा एक-एक पात्र यजमान को देते थे। उन चारों पात्रों में चार व्यक्ति हाथ लगाते थे एवं यजमान मंत्र बोलता था। पश्चात् यजमान होम से बचा भात खाता था। बाद में यजमान को अभिषेक कराया जाता था। सवन तीन होते हैं- प्रातः सवन को आर्भव, माध्यन्दिन को अभिषवादि और सायं को आदित्यारम्भण कहते हैं; ये आर्भवादि पवमान हैं।

**यज्ञशाला**–यज्ञशाला के लिए याज्यकुल शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[1] यज्ञशाला में अग्नींध्र और यजमान के रहने के लिए पृथक् स्थान बनाये जाते थे, जिन्हें क्रमशः आग्नीध्र और आवसथ कहते थे।[2] आवसथ में रहने के कारण यजमान आवसयिक कहलाता था।[3] आवसथ के पास मूत्रादि क्रियाएँ वर्जित थीं।[4] यह संज्ञा आवसथ अग्नि के स्थान की थी।

यज्ञशाला के लिए उपयुक्त देश यज्ञिय कहा जाता था।[5] यज्ञभूमि का यह भाग, जिसमें छन्दोग लोग सम्मिलित रूप से स्तुतिगान करते थे, जो संस्ताव कहलाता था।[6] भाष्य में यज्ञभूमि के लिए देवयजन शब्द का प्रयोग भी हुआ है।

**अग्निचयन**–अग्न्याधान के पूर्व श्रौतयज्ञों में अग्निचयन होता था। इसे चित्या भी कहा गया है। अग्निचित्या यज्ञकुण्ड और यज्ञवेदी के निर्माण की क्रिया है। अग्निचयन स्वतन्त्र और जटिल विधि है। शतपथब्राह्मण के तृतीयांश में अग्निचयन की प्रक्रिया है। प्रो. स्पलिंग ने सेकेड बुक्स ऑफ् ईस्ट की भूमिका (वाल्यूम 43, पृ. 14) में लिखा है कि अग्निचयन पहले स्वतन्त्र संस्कार था और बाद में सोमयज्ञों की प्रक्रिया में सम्मिलित कर दिया गया। यज्ञवेदी ईटों से बनाई जाती थी और उसमें प्रजापति पुत्र होने के कारण पुरुष द्वारा निर्माण करने की भावना निहित थी।[7] इस प्रकार, यजमान प्रजापत्य कर्म का अनुष्ठान करके सन्तोष-लाभ करता था। हाँ महाव्रत में, जो गवामयन की समाप्ति के एक दिन पहले होता है, उसका होना आवश्यक है। यज्ञ की नींव में एतदर्थ बलि दिये गये पशुओं के सिर भी चुने जाते

---

1. उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा ग्रासनादीनि लभते। - 1.1.56, आ. 1, पृ. 334।
2. अग्नीधः शरणमाग्नीध्रम्। - 4.3.120, वा. 9, पृ. 252।
3. आवसथात् ष्ठल्। - 4.4.74।
4. दूरमावसथान्मूत्रम्। - 2.3.35, वा. 2, पृ. 430।
5. महाभाष्य, 5.1.71 काशिका।
6. संस्तावश्छन्दोगानाम्। समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यस्मिन् सन्देशः संस्ताव इत्युच्यते। - 3.3.31 काशिका।
7. अग्निचयमेवाग्निचित्या, अग्निचित्येति भावेऽन्तोदातो भवति। - 3.1.132, वा. 1; प्राजापत्यं वा एतत्कर्म प्रजापर्तिं ह्येतेन कर्मणारभते निरुक्तो वै प्रजापतिः। - शत. ब्रा. 6.2.2.21।

थे। यजमान चाहता, तो सोने या मिट्टी के बने सिर काम में ला सकता था।[1] वेदी कई प्रकार से बनाई जाती थी- यथा द्रोणचित्, चक्रचित, श्येनचित्, कंकचित्, सुपर्णचित् आदि।[2] इसके लिए चौकोर, तिकोनी, पंचकोण आदि विविधाकार की पकी ईटों की आवश्यकता होती थी। आजकल श्येनचित वेदी का ही विशेष प्रचार है। ईटों के परिमाण और चुने जाने के निश्चित नियम थे। इसके लिए वास्तुविद्या और रेखागणित दोनों का ज्ञान आवश्यक था। हर ईंट एक विशिष्ट मंत्रोच्चार के साथ रखी जाती थीं? ईटों के निश्चित नाम थे। 'युष्मती' ईटें वेदी के मध्य भाग में लगाई जाती थी, पार्श्व या पुच्छ-भाग में नहीं लगाई जा सकती थी। जिस मंत्र को बोलकर इष्टका-चयन किया जाता था, उसे उपधान-मंत्र कहते थे। चयन के समय बोले जानेवाले मंत्रों के आधार पर ईटों के वर्चस्या, तेजस्या, पयस्या, रेतस्या, आश्विनी, वयस्या, मूर्धन्वती आदि नाम होते थे।[3] शतपथब्राह्मण के अनुसार हर रद्दे के लिए दो सौ ईटें आवश्यक होती थीं।[4] इस प्रकार, कुल 1000 ईटों की आवश्यकता होती थी। किन्हीं विकृति यज्ञों में प्रकृति यज्ञ से दुगुनी या तिगुनी बड़ी वेदी की आवश्यकता होती थी, जिसे द्विस्तावा या त्रिस्तावा वेदी कहते थे।[5] विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा बतलाये गये चयन-काल में भी अन्तर है। इसके लिए गारा (पुरीष), चात्वाल (पास में बनाये गये गड्ढे) से खोदकर तैयार किया जाता था। यज्ञशाला का कूड़ा आदि फेंकने के लिए उत्कर या अवस्कर भी शाला के भीतर बनाया जाता था।[6]

**अग्नि**–अग्नियों में गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि की आवश्यकता श्रौत यागों में होती है। पाकयज्ञ केवल गार्हपत्य अग्नि में किये जाते है। गृहपति से संयुक्त होने के कारण ही इसे गार्हपत्य कहते हैं। दक्षिणाग्नि का भी संयोग गृहपति से होता है। उसमें भी गृहपति यज्ञ करता है। इसलिए, जिसका गृहपति से विशेष संयोग हो, उससे प्रत्यय होता है और विशेष संयोग गृहपति का उस अग्नि से होता है जिससे पत्नी-संयाज किये जाते हैं अथवा जिसमें गृहपति नाम का मंत्र बोला जाता है।

---

1. कात्या. 16.1.32 तथा अष्टा. 3.2.91 तथा 3.2.92।
2. तैत्ति. सं. 5.4.11; कात्या. 16.5.9 तथा श्येनचितं चिन्वीत्य सुवर्णकामः कङ्कचितं चिन्वीत यः कामयेत शीर्षप्रधानममुस्मिल्लोके स्यामिति। जलजचितं चिन्वीत चतुः सीतं प्रतिष्ठाकामः। - तैत्ति. सं. 5.4.11।
3. महाभाष्य, 4.4.125 से 127 कारिका।
4. शत. ब्रा. 11.5.22।
5. द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः, यावती प्रकृतौ वेतिस्ततो द्विगुण या त्रिगुणा वा कस्याञ्चिद्विकृतौ तत्रेदं निपातनम्। 5.4.84 का.।
6. पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद् वुन्। - 4.3.28।

गार्हपत्य शब्द अग्निविशेष में रूढ संज्ञा भी मान सकते हैं। द्राह्यायण के अनुसार, जिसमें गृहपति पाणिग्रहण करता है, वह गृह्य अग्नि होती है।[1] विवाह के समय होनेवाले हवन की अग्नि को गृहस्थ सर्वदा प्रज्वलित रखता था और उसी में दैनन्दिन होम करता था। गार्हपत्याग्नि अम्बरीष या भड़भूजे के यहाँ से या शूद्र को छोड़कर अन्य किसी बहुयाजी परिवार से लाकर प्रतिष्ठित की जा सकती थी।[2] पारस्कर के अनुसार दार-काल के अतिरिक्त दायाद्यकाल में भी संयुक्त परिवार के बँटवारे के साथ विभक्त भ्राता स्वतंत्र आवसथ्याग्नि की स्थापना कर सकते हैं।[3] आनाय्य उस विशेष दक्षिणाग्नि को कहते हैं, जो गार्हपत्य अग्नि से लेकर प्रतिष्ठित की जाती है और सदा प्रज्वलित नहीं रखी जाती। दक्षिणाग्नि वैश्य-कुल से या भ्राष्ट्र से या गार्हपत्य से लाई जाती है। दक्षिणाग्नि और आहवनीय का मूल यदि एक ही गृह्याग्नि हो, तो उसे आनाय्य कहते हैं। जिस दक्षिणाग्नि का मूल कारण आहवनीय से भिन्न हो, उसे आनाय्य कहकर आनेय कहते हैं।[4] यज्ञाहुतियों के अनुसार अनेक यज्ञाग्नियों के पृथक्-पृथक् नाम हैं और उनके लिए विशेष प्रकार की वेदियाँ बनाने का विधान किया गया है। उदाहरणार्थ, नाचिकेत,[5] निष्टर्क्य। नाचिकेत काठकचयन का एक भेद है। कठ महर्षि ने जिस चयन-पद्धति का प्रचार किया, उसे काठक कहते हैं। ये पाँच प्रकार की होती हैं-सावित्र, नाचिकेत, चातुर्होत्र, वैश्यसृज और अरुणकेतु। चित्य अग्नि के तीन रूप होते हैं-प्रारम्भ, अर्थात् कुण्ड में प्रज्वलन के पूर्व तैयार अग्नि परिचाय्य, संवर्धमान अवस्था की अग्नि उपचाय्य और जलकर बुझी हुई अग्नि में समूह्य कही जाती है। परिचाय्य का फल ग्रामप्राप्ति कहा गया है।[6] परिचाय्य उपचाय्य, समूह्य और चित्य से सब विशेष स्थितियों में यज्ञाग्नियों के नाम हैं।[7] इनमें से प्रत्येक के चयन के भिन्न-भिन्न प्रकार और फल माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, पशु-समृद्धि की कामनावाले को निष्टर्क्याग्नि का चयन करना चाहिए।[8] समूह्याग्नि

---

1. द्राह्य. गृ. सू. 1.5.1 से 5।
2. यस्मिन्नग्नौ पाणिं गृह्णीयात्सगृह्य :- यस्मिन् वाऽन्त्यां समिधमादध्यात्, अम्बरीषाद्वा नयेत् बहुयाजिनो वोऽगाराच्छूद्रवर्जम्। - द्राह्या. गृ. स. 1.5.1 से 5।
3. आवसथ्याधानं दारकाले-आवापकाले एव केषाम् पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः। - पार. गृ. सू., आवसथ्याधान सू. 1, 2, 6।
4. आनाय्योऽनित्ये-दक्षिणाग्नाविति वक्तव्यम्-आनेयोऽन्यः। आनाय्योऽनित्य इति चेद्दक्षिणाग्नौ वृतं भवेत्। एकयोनौ तु तं विद्यादानेयोऽन्योऽन्यथा भवेत्। 3.1.127, पृ. 193, 194 तथा का।
5. योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य 3 चैमनमेवं वेद। - आ. 1, पृ. 23 तथा हव्यवाडग्निरजरः। पिता नः 3.2.66; का.- कव्यवाहनः पितृणाम्। - 3.2.65, का.।
6. परिचाय्यं चिन्वीत ग्रामकामः। - शत. ब्रा. 5.4.11.3।
7. अग्नौ परिचाय्योपचाय्यसमूह्यः। समूह्यं चिन्वीत पशुकामः। पशवो वै पुरोषम्। पशूनेवास्मै तत्समुहाय। - 3.1.131, पृ. 195।
8. निष्टर्क्य चिन्वीत पशुकामः। - 3.1.123, पृ. 191।

का भी फल पशु-वृद्धि है। अग्नि-चयन में प्रयुक्त होनेवाला पुरीष या गारा पशुओं का प्रतीक है। जो व्यक्ति अग्नि-चयन के लिए पुरीष एकत्र करता है, वह अपने लिए पशु एकत्र करता है, ऐसा समझना चाहिए। कार्य के अनुसार 'अ' न के हव्यवाहन, कव्यवाहन, पुरीषवाहन, पुरीष्यवाहन आदि नाम मिलते हैं।[1] हव्य को देवताओं तक तथा कव्य को पितरों तक पहुँचाने के कारण ही अग्नि का नाम हव्यवाहन और कव्यवाहन भी है। वेद में उसे हव्यावट् अजर और पिता कहा है हव्यवाहन को चित्याग्नि भी कहा है।

अग्नि देवताओं तक हव्य द्रव्य पहुँचाने का माध्यम है। इसलिए, ऋग्वेद में उसे साक्षात् पुरोहित, होता, ऋत्विक् और रत्नभासुर कहा है।[2] भाष्य में हिरण्यवर्ण और शुचि शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में आये हैं।[3]

**समिध्**—अग्नि के आधान के लिए समिधा की आवश्यकता होती है। समिधाएँ पीपल, उदुम्बर, खदिर या पलाश की होती थीं।[4] इनके प्राप्त न होने पर विभीतक, विल्वक, तिल्वक, बाधक, नीप, निम्ब, राजवृक्ष, शाल्मली, अरलु, दधित्थ, कोविदार और श्लेषमातक को छोड़कर अन्य किसी भी वनस्पति का उपयोग यज्ञेन्धन के लिए हो सकता है।[5] समिधाएँ अरत्नि (लगभग एक हाथ) और प्रादेश (वित्त) बराबर लम्बी काटी जाती थी। समिधाओं का आधान विशेष ऋचाओं के उच्चारण के साथ किया जाता था। ये ऋचाएँ सामिधेनी कहलाती हैं। समिधाओं को इध्म भी कहते थे।[6] सामिधानी ऋचाएँ तेरह हैं, किन्तु प्रथम और अन्तिम की तीन बार आवृत्ति की जाती है, इसलिए वे सप्तदश सामिधेनी कहलाती हैं।[7] सत्रह ही समिधाएँ काटी जाती हैं और प्रति ऋचा के साथ एक समिध् का अग्नि में आधान किया जाता है। एक साथ ही सत्रह प्रदेश या सत्रह अरत्नि-भर लम्बी लकड़ी अग्नि में नहीं रख दी जाती; क्योंकि एक सत्रह अरत्नि या प्रदेशभर लम्बा काष्ठवेद में समा नहीं सकता, दूसरे

1. कव्यपुरीषपुरीष्येषुक्युट्-हव्येऽन्तः पादम्। 3.2.65.66।
2. अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्। - 1.1.1।
3. हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः। 7.3.45, वा. 2, पृ. 189।
4. समिध आध्यरा (औदुम्बराः खादिराः पालाशास्तदभावे यज्ञियाः पञ्चदश समिधोऽग्नावाधाय। - द्राह्या. गृ. सू. 1.2.21, रुद्रस्कन्दवृत्ति।
5. अथेध्यानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा.। खादिरपालाशाभावे विभीतक विल्वकतिल्वकबाध-कनीयनिम्बराजवृक्षशाल शाल्मल्यरलुदधित्यकोविदारश्लेष्मातकवर्ज सर्ववनस्पतीनामिन्धनो यथार्थं स्यात्। गोभिल. गृ. सू. प्रपा. 1, क. 5 स. 14, 15।
6. अग्नेः समिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यः (आश्व. भाष्य. 1.2.3) तथा इन्वेह्वाएतदर्ध्युध्येनाग्निं तस्मादिन्धो नाम। समिन्धे सामिधेनीभिर्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम। - शत. ब्रा. 1.3.5.1
7. सप्तदशसामिधेन्यो भवन्तीति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुतमामित्यावृतितः सप्ताः - दशत्वं भवति। - आ. 2, प. 41।

प्रति प्रणव एक समित् रखने का विधान है।[1] दर्शपौर्णमास में पन्द्रह सामिधेनी अन्तिम को तीन-तीन बार आवृत्ति कर यह संख्या पूरी की जाती है। सामिधेनी एक श्रुति में पढ़ी जाती है। भाष्य में पलाश और अश्वत्थ की समिधाओं का नामपूर्वक उल्लेख किया है।[2] विशिष्ट सामिधेनी को धाय्या कहते हैं।[3]

**हविष्य**—यज्ञाहुति द्रव्यों में आज्य का स्थान प्रमुख है। यज्ञ के हविष्य घृत को आज्य कहते हैं। भाष्य में उसे रूढ संज्ञा कहा गया है। यव, तिल और व्रीहि के चावलों की आहुति सामान्य है। तण्डुल चरु और बलि दोनों के काम आते हैं। 'चरु' गार्हपत्याग्नि से अंगार लेकर चूल्हे पर मन्त्रोच्चारणादि पूर्वक यज्ञार्थ पकाये गये चावलों को कहते हैं। अग्नि में पकाये जाने के कारण चरु अग्निमान् सा कहा गया है। जिन चावलों से चरु बनाया जाता है वे चरव्य तण्डुल कहलाते हैं।[4] दुग्ध में पकाये गये तण्डुलों को पयसि चरु कहते हैं। तण्डुल (पकाये हुए) बलि के काम भी आते हैं, इसलिए उन्हें बालेय भी कहते हैं।[5] पुरोडाश भी व्रीहि के पिष्ठ का बनता है। व्रीहि का पुरोडाश व्रीहिमय कहलाता है।[6] पुरोडाश छोटी--मोटी रोटी के समान होता है। पुरः या पहली आहुति के रूप में चढ़ाये जाने के कारण इसे पुरोडाश कहते हैं।[7] आमिक्षा की भी हवि होती है, जो आमिक्ष्य या आमिक्षीय कही जाती है।[8] आमिक्षा सायंकाल के जमाये हुए दूध में प्रातः काल के गर्म दूध को डालकर बनाई जाती है। गर्म दूध में दही डालने पर उसके दो भाग हो जाते हैं। धनीभूत भाग आमिक्षा और जल-रूप भाग वजिन कहलाता है। चरु, दधि और अपूप एक साथ भी हवि के काम आते हैं। भाष्य में चरु को अपूपवान्, दधिवान्, सरस्वतीवान् और भारतीवान् कहा है।[9] स्थाली में परिपक्व ओदन, या स्थाली पाक हवि कहलाती है। जिस देवता को स्थालीपाक की हवि दी जाती है, उसी के नाम पर स्थालीपाक का

---

1. सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। विषम उपन्यासः। प्रत्यृचं चैव हि तत्कर्म चोद्यतेऽसम्भवश्चाग्नी वेद्यांच। यथा तर्हि सप्तदशप्रादेशमात्राराश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधति न प्रादेशमात्रं काष्ठमभ्याधीयते। अत्रापि प्रतिप्रणवं चैव तत्कर्म चोद्यते तुल्यश्चासम्भवोऽग्नौ वेद्यां च। - आ. 2, पृ., 62।
2. वही तथा पालाशी समित्। 4.3.115, पृ. 266।
3. महाभाष्य, 3.1.129
4. चरव्यास्तण्डुलाः। 5.1.2 वा., 3 पृ., 295।
5. बालेयास्तण्डुलाः। 5.1.13, पृ. 304।
6. व्रीहेः पुरोडाशे। 4.3.148।
7. पुरोडाः पुरः दाश्यते दीयते इति। - 3.2.71, पृ. 227।
8. हविरपूपादिभ्यो विभाषाया अवकाशः अभिक्ष्यम्, आमिक्षीयम्, पुरोडाश्यम्। पुरोडाशीयम् 5.1. 2, वा. 3, पृ. 295।
9. सरस्वतीवान् भारतीवान् अपूपवान् दधिवांश्चरुरित्यत्र न प्राप्नोति। - 8.2.15, पृ. 339।

नाम रख दिया जाता है। जैसे, ज्ञा देवता को स्थालीपाक की 'ज्ञ' संज्ञा होती है।[1] उसी प्रकार देवताओं के नाम पर चरु भी आग्नेय, कालेय आदि कहलाते हैं।[2] चरु या पुरोडाश जितने कपालों में पकाये जाते हैं, उनके अनुसार उनके नाम होते हैं - यथा अष्टाकपाल चरु, पंचकपाल पुरोडाश आदि।[3] हवि या आहुति का नाम होम के आधार पर भी होता है - जैसे स्विष्टकृत् होम में दी जानेवाली आहुति सौविष्टकृती होती है। यवागू हवि का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। जिन यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी, उनमें वसा-मांसादि की आहुति होती थी।[4] आहुति की बलि भी भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम पर चढ़ाई जाती थी।[5] बलि देनेवाले को बलिकर कहते हैं।[6]

**सान्नाय्य**—सोमपायी अग्निहोत्री अग्निहोत्र में अमावस्येष्टि को इन्द्राग्नि के बदले इन्द्र या महेन्द्र को आहुति देते हैं। इनका हविर्द्रव्य पुरोडाश से भिन्न होता है। वे अमावस्या की रात्रि को दूध जमा देते हैं और अगले दिन उस जमे दही और तपाये हुये दूध के मिश्रण का हविर्द्रव्य बनाते हैं। दही और दूध के इस मिश्रित हवि को सान्नाय्य कहते हैं।

**पशुबलि**—यज्ञों में पशुबलि की प्रथा थी, किन्तु सब रूपों में पशुबलि आवश्यक नहीं थी। जिन यज्ञों में बलि दी जाती थी, उनमें भी पशु की बलि करना वैकल्पिक था।[7] भाष्यकार ने पशु और अनड्वान को वैकल्पिक रूप से मेध्य कहा है। गो और अज मुख्य बलिपशु थे।[8] गौ में गाय और बैल दोनों सम्मिलित थे। केवल स्वर-ज्ञान से ही जाना जा सकता है कि कैसी गाय आलम्भन के लिए उपयुक्त होती है।[9] गो शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकार के मेध्य थे। जहाँ शुक्ल का विधान है, वहाँ शुक्ल की ही बलि उपयुक्त मानी जाती थी। इसी प्रकार, कृष्ण गो के विषय में

---

1. ज्ञादेवताऽस्य स्थालीपाकस्य ज्ञः स्थालीपाकः। - 7.3.33, पृ. 184।
2. अग्निदेवताऽस्याग्नेयः कलिदेवताऽस्य कालेयश्चरुः। 4.2.7, पृ. 169 तथा अन्नादायाऽन्नपतये य आहुतिमन्नादांकत्वा। 3.2.1, वा. पृ. 205।
3. अष्टाकपालं चरुं निर्वपेत् हविषोति किम् अष्टकपालं ब्राह्मणस्य। - 6.3.46, वा. 2, पृ. 334।
4. इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां भेदः प्रस्थितं पश्च। 2.3.61, पृ. 448।
5. कुबेरबलिः महाराजबलिः। - 2.1.36 काशि.
6. बलिकारः। 3.2.21।
7. मेध्यः पशुर्विमोषितः मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। नतद्विचार्यतेनड्वात्र नड्वामिति। किं तर्हि आलब्धव्यो नोपेलब्धव्य इति। - 1.1.44, वा. 15, पृ. 263।
8. गौरनुवध्योऽजोग्निषोमीय इति न वाहीकोऽनुबध्यते। - 1.1.15, पृ. 187।
9. स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेतेति-तस्यां सन्देहः - स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती। ता ना वैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। - आ. 1, पृ. 3।

समझना चाहिए।[1] गो के मारने, उससे जुआ खेलने और उसे भेंट में देने का भी उल्लेख मिलता है। अज की बलि अग्नीषोम और इन्द्राग्नि को दी जाती थी।[2] रुद्र के लिए सामान्य पशु की बलि का वर्णन है। पशु की बलि चढ़ाने का अर्थ पशु को अग्नि में प्रक्षिप्त करना माना जाता था।[3] एक स्थान पर इन्द्राग्नि को छाग की हवि, वसा और मेदस् चढ़ाने का भी उल्लेख है।[4] केवल अग्नि के लिए भी छाग, वसा और मेदस् की आहुति का विधान ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।[5]

पशुमेध स्वतन्त्र यज्ञ भी है और सोमयाग का अंग भी। प्रथम को निरूढ-पशुबन्ध कहते हैं और द्वितीय को सौमिक।[6] निरूढ पशु अग्नीषोमीय पशु का ही दूसरा रूप है। पशुमेध वार्षिक (वर्षा ऋतु में) या उत्तरायण और दक्षिणायन का प्रारम्भ होने पर किये जाते थे। चातुर्मास्य यज्ञों के लिए आवश्यक पाँच पुरोहितों के अतिरिक्त पशुबन्ध में प्रशास्त् नामक छठे पुरोहित की भी आवश्यकता होती थी, जिसे मैत्रावरुण भी कहते थे।

**सोम**–ऋतुओं में सोमसुत्या का दिन मुख्य माना जाता था। सोम के अभिषवण की बड़ी लम्बी प्रक्रिया श्रौतयाग के ग्रन्थों में दी है। कुछ लोग सोमवल्ली के विक्रय का व्यवसाय करते थे। वे भूजवन्त पर्वत से सोम लेकर उसे गाड़ियों पर लादकर बेचने निकलते थे। अध्वर्यु उसे जल से अभ्युक्षित कर पूछता था, 'क्या वे भूजवत् से लाये गये है?' विक्रयी उत्तर देता था 'हाँ बेचता हूँ।' अध्वर्यु उसे जल से अभ्युक्षित कर पूछता था, 'क्या वे भूजवत् से लाये गये है ?' 'विक्रयी 'हाँ' में उत्तर देता था। फिर, अध्वर्यु इसी प्रकार वार्त्तालाप करता हुआ छाग, गो, वस्त्र या हिरण्य से सोम खरीदता था। सोमशोधन, क्रयणानुमन्त्रण, क्रयणानुगमन, क्रयणांग सोमोपस्थान, क्रयणाभिमर्शन, सोमविमान, सोमवेष्टन, सोमावेक्षण, शकट-परिवहन, उपस्तम्भन, आसन्दी प्रतिष्ठापन आदि क्रियाएँ क्रयण से सम्बद्ध थीं।[7] फिर मदन्ती जल से उसका आप्यायन होता था।[8] वह गोचर्म पर फैलाया जाता था।[9] और पत्थर से पीसा जाता।

1. शुक्लमालभेत कृष्णमालभेत। तत्र यः शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते नहि तेन यथोक्तं कृतं भवति। - 1.1.1, वा. 13, पृ. 106।
2. गां घ्नन्ति गां प्रदीव्यन्ति गां सभासद्भ्य उपहरन्ति। - 2.3.60, पृ. 448।
3. गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्निषोमीयः। 1.1.15, पृ. 187; इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां भेदः प्रस्थितं पश्य। 2.3.61, पृ. 448।
4. पशु ना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। अग्नौ किल पशुः प्रक्षिप्यते तद् रुद्रायोपह्रियत इति। - 1.4.32, पृ. 448।
5. अग्नये छागस्य हविषो वपायाः मेदसः प्रेष्य (या) अनुब्रूहि। - 2.3.61, काशि.।
6. आश्व., 3.8.3, 4
7. श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृ. 268 से 278।
8. यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः। ऋग्. 9.65.6।
9. एष सोमो अधित्वचि गवां क्रीणाति अद्रिभिः। - ऋग. 9.6.29 तथा गब्ये अधित्वचि। 9.10. 1.16।

इसलिए, इसे अद्रिसुत, अद्रिदुग्ध और अद्रिसंहत कहते थे।[1] सोम पीसने-छानने की क्रिया आसुति कहलाती थी।[2] सोम के रस निकालने की क्रिया को सुत्या (3.3.99) कहते थे। सोमसुत् को सत्या भी कहते थे। (3.2.103)। सुन्वन् यजमान की संज्ञा थी। कुछ सत्रों में, जहाँ याजक स्वयं यजमान रहते थे और सत्री कहलाते थे, सुन्वन् माने जाते थे। पाणिनि ने प्रमुख कर्त्तृक रूप से सुत्या करनेवाले को सुन्वन् कहा है।[3] इसमें दूध, घी आदि भी मिलाये जाते थे। ये सब क्रियाएँ पवन कहलाती थीं।[4] सम्भवतः, सोम पकाया भी जाता था, इसलिए बहुवचन में 'श्राताः सोमाः' और एकवचन में 'श्रितः सोमः' ये विशिष्ट वैदिक प्रयोग मिलते हैं।

सोम मधु मिलाकर पिया जाता था। इसे सोम्यमधु कहते थे।[5] इसे पीने के अधिकारी ब्राह्मण भी सौम्य कहे जाते है।[6] याज्ञिक परम्परा के अनुसार जिसकी दस ऊपरी पीढ़ियों में कोई पुरुष ब्राह्मण-कर्त्तव्य-विहीन न हुआ हो, वही ब्राह्मण सोमपान का अधिकारी हो सकता है।[7] यदि किसी कारण सोम उपलब्ध न हो सकता, तो उसके स्थान पर पूतीक तृणों की सुत्या की जा सकती थी, किन्तु इस अर्थ में यह नहीं कि सोम के उपयोग की उपेक्षा कर दी जाय।[8]

सोम-विक्रय कुत्सित कर्म माना जाता था और इसीलिए सोम बेचनेवाले को सोमविक्रयी कहते थे, किन्तु धान्य बेचने वाले को धान्य-विक्रय।

**यूप**—पशुबन्ध के लिए यूप की आवश्यकता होती थी। यूप के लिए अध्वर्यु तक्षा को लेकर उस स्थान में जाता था, जहाँ वृक्ष होते थे।[9] यूप पलाश, खदिर, विल्व, रोहितक या विभीतक वृक्ष का बनता था। भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि किसी भी ऊँचे काष्ठ को गाड़कर पशु बाँध सकते हैं, तो भी याज्ञिकों ने नियम किया है कि यूप विल्व या खदिर का हो; क्योंकि ऐसा करना अभ्युदयकारी होता है।[10] वेद में

---

1. अद्रिसुतः। - ऋग् 9.72.4; अद्रदुग्धः। 9.54.9; अद्रसंहतः 9.98.6 वही।
2. आसुर्ति करिष्ठः। 6.4.145, पृ. 493।
3. 3.2.132, काशिका
4. सोप पवमानः। - 2.3.69. वा. 5
5. मयेव सौम्यं मधु पिवन्ति। - का. 4.4.138।
6. सोममर्हति यः सोममर्हन्ति सोम्याः ब्राह्मणः। - वही, 4.4.137।
7. एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति-दशपुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा व पिबेरन् स सोमं पिवेदिति। - 4.1. 93, वा. 5। पृ. 120।
8. वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषिणुयादित्युच्यते न च तत्र सोमोभूतपूर्वो भवति। - 1. 1.56, वा. 13, पृ. 341।
9. कात्या. 6.1.5, आप. 7.1.13।
10. आ. 1, पृ. 19, वैल्वः खादिरो वा यूपः स्यादित्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं धानेन किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यनुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम्। तत्र नियमः क्रियते। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति।

स्फ्य, यूप और चषाल ये पारिभाषिक शब्द हैं।[1] व्युत्पत्ति से इनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। याज्ञिकों को इन शब्दों का उपयोग करते देखकर अन्य लोग भी जान लेते हैं कि यह इनकी संज्ञा है।

**याजक**-जो व्यक्ति अपने कल्याण के लिए यज्ञ करता है, उसे यजमान और जो यजमान के कल्याण के लिए उसके व्यय से उसे यज्ञ कराता है, उसे याजक कहते हैं। याजक दक्षिण और लाभ की आशा से यजमान को यज्ञ कराते थे। किन्तु, याजक लोग उन्हीं को यज्ञ कराते थे, जिन्हें शास्त्र से यज्ञ करने की अनुमति थी।[2] ये यजमान: प्राय: क्षत्रिय थे।[3]

**अध्वर्यु**—सम्भवत:, कार्य को निर्विघ्न सम्पादित करने की दृष्टि से (अ+ध्वरं= प्रदूषित) यह नाम पड़ा है। यज्ञ में इनका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण था कि यज्ञवेद या यजुर्वेद का नाम ही अध्वर्यु वेद पड़ गया।[4]

**ऋत्विज्**-ऋत्विज् शब्द सामान्य पुरोहित के लिए व्यवहृत होता था। जो परिवार ऋत्विक्-कर्म के योग्य होता था, उसे आर्त्विजीन कहते थे।[5] आर्त्विजीन होना ब्राह्मण के लिए सम्मान की बात थी।[6] पतंजलि के समय में ऋत्विज् लोग लाल रंग की पगड़ी पहनते थे।[7]

**होता**- यह देव का आवाहक और आहुतिकर्त्ता है। प्रारम्भ में यही एक पुरोहित होता था और सबसे महत्त्वपूर्ण बाद में भी बना रहा है। एकाधिक पुरोहित होने पर सामान्य तथा सभी पुरोहित होता कहे जाते थे।[8] देवों का आवाहन होने के कारण ही अग्नि भी होता कहा गया है। होता के कारण आहुति भी होत्री कहलाती है। ऋग्वेद (2.1.2, 10.91.10) में होता, पोता, नेष्टा, अग्नींध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन सात पुरोहितों का उल्लेख है। उद्गाता इनमें नहीं है। वह बाद में सम्मिलित किया गया है। पहले इन पुरोहितों की स्थिति भी निश्चित न थी। उद्गाता का महत्त्व सामवेद के साथ बढ़ा। पहले उसका (होता का) वरण किया जाता था और स्थान

---

1. महाभाष्य, 1.1.1, वा. 4, पृ. 95, वेदे याज्ञिका: संज्ञां कुर्वन्ति स्यो यूपश्चषाल इति। तत्र भवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति।
2. वही, 3.3.10, पृ. 88, अङ्गं यजतां लस्यन्तेऽस्य याजका:। य एन याजयिष्यन्ति।
3. वही, 3.3.147, पृ. 332, यदा भवद्विध: क्षत्रियं याजयेत्।
4. आ. 1, वा. 5, पृ. 21, एकशतमध्वर्युशाखा: सहस्रवर्त्मा सामवेद:।
5. वही, 1, पृ. 6, यो वा इमां पदश: स्वरशोऽक्षरश: वाचं विदधाति स आर्त्विजीन:। आर्त्विजीना: स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।
6. महाभाष्य, 6.1.1, वा. 145, पृ. 15, लोहितोष्णीषा ऋत्विज: प्रचरन्ति।
7. ऋग्. 10-35-10; 10-61-1
8. रिलीजन देर वेद, पृ. 383, 391, 395।

निश्चित था। बाद में यह स्थान ब्रह्मा को मिल गया। पहले होता सम्पूर्ण यज्ञ के लिए उत्तरदायी होता था, पर बाद में यह काम अध्वर्यु को मिल गया और होता उसका सहकारी बन गया। ऋग्वेद (3.35.50) में अध्वर्यु और होता का पद बराबर का बताया गया।[1]

**नेष्टा**-नेष्टा सहायक पुरोहित है। यह सुरा तैयार करता तथा यजमान की पत्नी को यज्ञस्थान तक ले जाता था।[2]

**उद्गाता**-उद्गाता का काम सामगान है।

**यजमान**-यजमान यजि क्रिया का मुख्य कर्त्ता होता है। इसलिए, सोमयाग में उसे 'सुन्वन्' कहते हैं। 'सुन्वन्' का शतृ प्रत्यय यज्ञ के मुख्य कर्त्ता का द्योतक है। यह आवश्यक नहीं है कि यजमान स्वयं यज्ञ करे। यज्ञ-क्रिया के कर्त्ता होने की स्थिति में व्यक्ति यजमान कहलाता था और उसके पुरोहित याजक। जो व्यक्ति यज्ञ कर चुका है, उसे यज्वा कहते हैं।[3] वेद में यज्वनी और यज्वरी शब्द आये हैं।[4] अग्निष्टोम आदि विशेष यज्ञ करनेवाले अग्निष्टोमयाजी आदि कहलाते थे।

**मन्त्र**-यज्ञ की क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण के साथ की जाती हैं।[5] यज्ञ के प्रारम्भ के पूर्व स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन किये जाते थे। मन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रिया को पाणिनि ने मन्त्रकरण कहा है।[5] मन्त्र जिस देवता की स्तुति, आवाहन या आहुति के लिए प्रयुक्त होता था, उसी के आधार पर ऋचा या मन्त्र का नाम पड़ जाता था-जैसे ऐन्द्री या आग्नेयी ऋचा।[6] इसी प्रकार यज्ञविशेष में प्रयुक्त मन्त्रों का नाम भी उन यज्ञों के आधार पर होता है।

**त्रैस्वर्यमंत्र**-वैदिक मन्त्रों के उच्चारण दो प्रकार से होते हैं। त्रैस्वर्ययुक्त और एक श्रुति। सामान्य प्रपाठ में त्रैस्वर्य का ध्यान रखा जाता है, किन्तु यज्ञ-कर्म में जप, न्युंख और सामो को जोड़कर अन्यत्र एकश्रुति उच्चारण होता है। जपमन्त्र का उच्चारण यजमान करता है और न्युंख का उच्चारण सामयागों में प्रातःकालीन आहुति के समय होता है। न्युंखों में कुछ उदात्त हैं और कुछ अनुदात्त। वाक्यविशेषस्थ गीतियाँ सामन् कहलाती हैं। इन तीनों में सस्वर उच्चारण किया जाता है। अन्यत्र

---

1. अध्वर्योर्वा प्रयतं शक्रहस्तात् होतुर्वा यज्ञं हविषो जुस्व।
2. महाभाष्य, 1.2.1, वा. 8, पृ. 468।
3. वही, 4.1.7 वा. 1, पृ. 30, बहुलं छन्दसि डीब्री वक्तव्यौ यज्वरीरिषः, यज्वनोरिषः।
4. वही, 3.1.86, पृ. 146, मन्त्रं वोचेमाग्नये।
5. वही, 1.3.25 का., उपान्मन्त्रकरणे-ऐन्द्रय्यागार्हपत्यमुपतिष्ठते, आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते।
6. वही, 4.3.6, वा. 5, पृ. 240, मन्त्रे भवेषु लुग्वक्तव्यः अग्निष्टोमे भवो मन्त्रोऽग्निष्टोमः राजसूयः वाजपेयः।

यज्ञ-कार्यों में एक श्रुति होती है।[1] वौषट् का उच्चारण अधिक ऊँचे स्वर से किया जाता है और एकश्रुति भी। पर यह नियम वैकल्पिक है।[2] त्रैस्वर्य वैदिक अध्ययन में आवश्यक था। ब्राह्मणों में उद्धृत वेद-मन्त्र एकश्रुति या एकतार ही बोले जाते थे। पाणिनिकाल से ही त्रैस्वर्योच्चारण का नियम ढीला पड़ चला था।[3] मंत्र के पूर्व ओम् का प्रयोग किया जाता है।

**एकश्रुति**–भाष्यकार ने उच्चारण में सात स्वर बतलाये हैं। उदात्त, उदात्ततर, अर्थात् अतिशय उदात्त, अनुदात्त, अनुदात्ततर, अर्थात् अतिशय अनुदात्त, स्वरित, स्वरित का अनुदात्त-युक्त उदात्तभाग तथा एकश्रुति।[4] एकश्रुति में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विभाग नहीं प्रतीत होता, अर्थात् भेद का तिरोधान हो जाता है।[5] उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के समान एकश्रुति भी स्वर का नाम[6] है।

**दक्षिणा**–दक्षिणा यज्ञ का महत्त्वपूर्ण भाग है। दक्षिणा में गाय तो अवश्य ही दी जाती थी। जिन यज्ञों में हजार गाय की दक्षिणा का विधान है, उनमें विशिष्ट लक्षण की एक गाय (1 वर्ष की, 4 वर्ष की या वृद्धा) चुनकर उसे सहस्रतमी संज्ञा दी जाती थी, और उसका विशिष्ट विधि से दान किया जाता था। पशुमेघों में ज्ञपिता को पशु ही दक्षिणा में मिलता था। याज्ञिक को अश्व और वैयाकरण को हाथी दक्षिणा में देने की प्रथा भी सामान्य मालूम होती है।[7]

**उद्ग्राभ**-स्रुक् को उठाने की क्रिया उद्ग्राभ कही जाती है।

**निग्राभ**-स्रुक् को नीचे रखने की क्रिया को निग्राभ कहते हैं।[8]

**प्रस्तर**-प्रकृति-इष्टियों में चार मुट्ठी दर्भ काटे जाते हैं। प्रथम दर्भ-मुष्टि मन्त्रों

---

1. महाभाष्य, का., यज्ञकर्मणि जपन्युङ्ख सामसु। -1.2.34; जपोऽनुकरणमन्त्रः - ममाग्नेर्वर्च्चो. ... स्वस्तुन्यूङ्खा ओङ्कारा: षोडशो-तेषु केचिदुदात्ता: केचिदनुदात्ता:-सामानि वाक्यविशेस्था गीतय उच्यन्ते।
2. वही, 1.2.36 का., उच्चैस्तरा वा वषट्कार:-वष्ट् शब्देनात्र वौषट् शब्दो लक्ष्यते। वौषडित्यस्यैवेदंस्वरविधानम्।
3. विभाषा छन्दसि-व्यवस्थितविकल्पोऽयमिति केचित्-व्यवस्था च वेदे मन्त्रदले नित्यं त्रैस्वर्यं ब्राह्मणदले नित्यमैकश्रुत्यमिति। - 1.2.36 का.।
4. वही, 1.2.33 पृ. 514, तएते तन्त्रे तरनिदेशे सप्तस्वरा भवन्ति-उदात्त:, उदातत्तर:, अनुदात्त, अनुदात्ततर:, स्वरित:, स्वरिते य उदात्त: सोऽन्येन विशिष्ट:, एकश्रुति: सप्तम:।
5. वही, 1.2.33 का., स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदतिरोषानमेकश्रुति:।
6. वही, 6.4.174, वा. 4, पृ. 506, एकश्रुति: स्वरनाम यथा नपुंसकलिङ्गनाम।
7. वही, 6.2.52, वा. 7, पृ. 269, याज्ञिकाश्व: वैयाकरणहस्तो।
8. वही, 3.3.36, वा. 3, पृ. 303, उद्ग्राभ: निग्राभ इतोमौ शब्दो छन्दसि वक्तव्यौ स्रुगुद्यमनं निपातनयोरर्थयो, उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्मदेवा अवीवृवन्।

से संस्कृत की जाती है। जिस वेदी पर जुहू रखी जाती है, उसी पर यह भी रखी जाती है। उसे प्रस्तर करते हैं।[1]

**प्रयाज**–प्रधान याग से पूर्व जिन मन्त्रों से यज्ञ किया जाता है, उन्हें प्रयाज कहते हैं। प्रकृतियज्ञों में पाँच प्रयाज होते हैं। इनमें चार के देवता वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् तथा पंचम के हेमन्त और शिशिर होते हैं।

**अनुयाज**-प्रधान याग के पश्चात् जिन मंत्रों से होम किया जाता है, वे याज्या-मंत्र अनुयाज कहे जाते हैं।

**अवदान**-यज्ञ के लिए स्थापित हविष् में से होम के काम आनेवाले भाग को अलग करने का नाम अवदान है।[2]

**देवयजन**-'देवा इज्यन्ते यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार देवताओं को उद्देश्य मानकर जिस स्थान में यज्ञ किया जाता है, वह यागभूमि देवयजन कही जाती है।[3]

**प्राशित्र**–उपभृत में रखे हुए आज्य को जुहू में करके जुहू और उपभृत को यथा स्थान रखकर मंत्र से प्रथम प्रधान द्रव्य-सम्बन्धी प्राशित्र को अलग कर प्रणीता-पात्र के पश्चिम में रखते है।[4] यह प्रधान द्रव्य का भाग प्रशिता (ब्रह्मा) का भाग होने के कारण प्राशित्र कहा जाता है।[5]

**स्थालीपाक**-स्थाली में पकाया हुआ ओदन, जो गृहयज्ञों में आहुति के काम आता है।

**व्रत**-पत्नी और यजमान व्रतश्रयणागार (यज्ञ का रसोईघर) में पर्युषितत्वादि दोषों से रहित घी या दूध मिला जो पदार्थ खाते हैं, वह भक्षणीय द्रव्य व्रत कहलाता है।[6]

वर्तमान में इनमें से कुछ बड़े-बड़े यज्ञों का सम्पादन सर्वसामान्य के लिये सम्भव नहीं है। साथ ही कलियुग में अश्वमेधादि कुछ यज्ञों का निषेध भी है। आज रुद्रयाग, महारुद्रयाग, अतिरुद्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, सहस्रचण्डीयाग, लक्षचण्डीयाग, महाशान्तियाग, कोटिहोम, भागवत सप्ताह यज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं। ये यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं और निष्काम भी। अग्नि, भविष्य, मत्स्य आदि पुराणों में जो यज्ञों तथा उनकी विधि आदि का विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण मिलता है, वह वेद और कल्पसूत्रों (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र

1. महाभाष्य, 3.3.32, प्रे स्त्रे यज्ञे।
2. वही, 1.1.44 बा. 17, पृ. 264, जमदग्निर्वा एतत्पञ्च मम वदानमवाद्यत्।
3. वही, 6.3.67 पृ., 356, समाप नाम देवयजनम्।
4. वही, 5.1.98, पृ. 344, आशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम्।
5. वही, 4.1.85, वा. 9, पृ. 95।
6. आ. 1, पृ. 19, पयोव्रतो ब्राह्मणः।

आदि)-पर आधृत है। अनेक राजाओं के चरित्र-वर्णन में विधि यज्ञानुष्ठानों के सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणों में उपलब्ध होते हैं। इन यज्ञों से परमपुरुष नारायण की ही आराधना होती है। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड (3/124) में स्पष्ट कहा गया है कि-'यज्ञ से देवताओं का आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन होता है, इस प्रकार संसार का पालन-पोषण करने के कारण ही यज्ञ कल्याण के हेतु कहे गये हैं-

**यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।**
**आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः॥**

सभी वेदों-पुराणों ने यज्ञों के यथासम्भव सम्पादन पर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञों का फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठान से देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभी को अपने अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वाङ्गीण अभ्युदय भी हुआ है। अतः इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है, ऐसी प्राचीन धारणा है।

आज के अर्थप्रधान संस्कृति के युग में मनुष्य का नाता अध्यात्म से लगभग टूट चुका है। यज्ञादि में उसकी आस्था लुप्तप्राय सी है। परन्तु यज्ञ न केवल वैयक्तिक तथा सामाजिक वायुमंडल को शुद्ध करता है, अपितु पर्यावरण संरक्षण कर वायुमंडल को कृमिमुक्त कर पवित्र कर देता है। आज पर्यावरण-संरक्षण की समस्या सुरसा की तरह वर्द्धमान है। यज्ञ में आहुत किये गए सुगंधित द्रव्य और वनस्पतियाँ अग्नि द्वारा सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो वायुमण्डल में फैल जाते हैं। अग्नि स्थूल को सूक्ष्म बनाकर परिमाणात्मक परिवर्तन तो करती ही है, उसमें गुणात्मक परिवर्तन भी कर देती है। अग्नि में डालने से हवि सूक्ष्म होकर सूर्य तक फैल जाती है- **'अग्नौ हुतं हविः सम्यक् आदित्यं उपतिष्ठति'** (मनु)। अतः यज्ञ से वायुमंडल पवित्र, रोगजीवाणु-मुक्त हो जाता है। यज्ञ मंत्रोच्चारपूर्वक किया जाता है। मंत्रोच्चार से स्वर लहरियाँ वायुमंडल में प्रसारित हो जाती हैं जिनसे रोग निवारण होता है। मंत्रोच्चार से ऐसी स्वरलहरियां उत्पन्न होती हैं जिनसे रोग निवारण होता था। अतः पर्यावरण संरक्षण की भीषण समस्याओं का निराकरण यज्ञ से संभव है।



# उपसंहार

''संस्कृति'' एक अमूर्त्त अवधारणा है। इसके उपादान अपार हैं। जीवन के उच्चतर आदर्शों की ओर उन्मुख होने की मनुष्य की शाश्वत अभिलाषा और भव्य साधनाओं की विमल विभूति ही संस्कृति का मूल स्रोत है। भौतिक, जैविक, नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का समन्वित रूप मानव व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इन शक्तियों का परिमार्जन एवं सामञ्जस्य ही संस्कृति का ध्येय है। अतएव संस्कृति समष्टिगत है जो समान अनुभवों से उत्पन्न होती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह पुरातन है। किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के श्रेष्ठ पुरुषों के वैयक्तिक आदर्शों की महान् मर्यादा और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पूर्ण प्रतिष्ठा ही संस्कृति है। यद्यपि सभी संस्कृतियों का लक्ष्य मानव जीवन को परिमार्जित एवं श्रेष्ठतर बनाना है। फिर भी, भिन्न-भिन्न देशों की अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं जिनमें धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला आदि की दृष्टि से स्तरीय भेद है। संस्कृति का संबंध संस्कार, नैतिकता, रीति-रिवाज, धर्म आदि से इतना अधिक है कि संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए इन सभी की स्पष्ट अवधारणा का होना आवश्यक है। इसी को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत पुस्तक के विभिन्न अध्यायों को विषयवार प्रस्तुत किया गया है।

सभ्यता एवं संस्कृति का संबंध इतना सन्निकट है कि लोग सभ्यता अथवा संस्कृति को एक मान लेते हैं, जबकि संस्कृति सभ्यता का परवर्त्ती है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सभ्यता के कोख से उत्पन्न उत्तम संतति ही संस्कृति है। मानव ने जब अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर ली अर्थात् जब मानव ने प्रकृति पर इतना नियंत्रण कर लिया जिससे उनकी मौलिक आवश्यकताएँ पूरी होने लगीं तब इससे एक सभ्य समाज की स्थापना हुई। इस प्रकार आर्थिक, भौतिक, राजनैतिक पक्ष सभ्यता से सम्बद्ध थे जबकि धार्मिक एवं आध्यात्मिक पक्ष संस्कृति से। अर्थात् सभ्यता का सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकताओं से है और संस्कृति का संबंध आत्मा के सात्विक गुणों के साथ। सभ्यता अपरा विद्या है तो संस्कृति पराविद्या है।

संस्कृति की वैश्विक अवधारणा जीवन को परिष्कृत बनाना है, किन्तु संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। ग्रीस की संस्कृति वहाँ की आदर्श कला के कारण जानी जाती थी। रोम की राजनीतिपरक संस्कृति थी। ये दोनों संस्कृतियाँ आज लुप्त हो चुकी हैं जबकि भारतीय संस्कृति शाश्वत एवं सर्वव्यापी है क्योंकि आरंभ

से आज तक भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु आत्मज्ञान एवं मोक्ष रहा है। अविनाशी शक्ति के प्रति आस्था की अविरल धारा भारतीय संस्कृति में निरंतर प्रवाहित हो रही है।

भारत की सामाजिक संस्कृति का निर्माण कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। फिर भी, बहुमान्य अवधारणा है कि आर्यों के भारत वर्ष आने के बाद और गीता की रचना के पूर्व आर्य और आर्येतर (विशेषकर द्रविड़ सभ्यता) सभ्यताओं के सम्मिश्रण से इस सर्वसमावेशी उन्नत संस्कृति का निर्माण हो चुका था और कालान्तर में जो भी सभ्यता एवं संस्कृति विदेशियों के साथ आयीं, भारत के साथ इस संस्कृति में रच-बस गयीं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति को विश्वजनीन संस्कृति के रूप में प्रस्तुत करने में कोई हिचक नहीं होती।

हमारी संस्कृति समन्वयवादी संस्कृति है, जिसमें दर्शन की समग्रता है। जब विश्व के व्यापक रूप पर चर्चा होती है तो हम कहते हैं कि वह पूर्ण है जो मेरे सामने यह सृष्टि की प्रक्रिया है, यह भी पूर्ण है। उस पूर्ण से पूर्ण निकालने पर भी अवशिष्ट पूर्ण ही रह जाता है। यह अवधारणा भारतीय संस्कृति की समग्रता का प्रतीक है जिसमें गणित का भौतिकवादी सिद्धान्त कार्य नहीं करता। भारतीय संस्कृति में प्रेम एवं भक्ति का प्रवाह है जिस प्रवाह से जितना भी निकाला जाय, पूर्ण ही बचता है। प्रेम एवं भक्ति को कितना भी उलीचा जाय, प्रेम एवं भक्ति बढ़ता ही जाता है-

**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। ईशावास्योपनिषद्-1**

भारतीय संस्कृति में समग्रता का द्वितीय परिचायक 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे विधि वाक्य हैं। **'आत्मवत् सर्वभूतेषु, सर्वभूतेषु चात्मानम्।'** अथवा **'अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।'** जैसी पंक्तियाँ भारतीय संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना को दर्शाती हैं। यह भारतीय संस्कृति ही है जहाँ सभी के कल्याण का भाव है -

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्।।**

भारतीय संस्कृति शुभ कर्म के प्रति प्रेरित करता है। क्योंकि पुनर्जन्म एवं कर्मफल के सिद्धान्त हमें श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त करते हैं तथा दूषित कर्मों से निवृत्त। यह कर्मफल का सिद्धान्त ही पुनर्जन्म का आधार बनता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष की परिकल्पना पुनर्जन्म से छुटकारा है।

विशेषकर वैदिक संस्कृति जैसा उच्चतम, श्रेष्ठतम और वरणीय स्वरूप अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। विद्वेष से दूर रहकर मात्र प्रेम की धारा का प्रवाह वेदों में मिलता है-

दिवाकर शुक्ल



**सहृदयं सामञ्जस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।**
**अन्योन्यं अभिहर्यत वत्सं जातमिवाऽध्न्या।। अथर्ववेद**

वैदिक वाङ्मयों में **'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'** (सभी दिशाएँ मेरी मित्र बन जाएँ)। या **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्!'** (ऐसे निवास कर कि सम्पूर्ण विश्व तुम्हारे लिए घोंसला बन जाए।) जैसे अनेक वाक्य भारतीय संस्कृति में मानवीय सद्भावना के परिचायक हैं। हमारे वेद मानव-धर्म के प्रचारक हैं जिनमें सुख-शांति, सामाजिक समृद्धि, सेवा भावना, सहयोग, सत्याचरण, सदाचरण, प्रेरक मंत्र हैं।

भारतीय संस्कृति में अग्रजों के प्रति सम्मान है- **'मातृदेवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव।'** जैसी भावना भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है जहाँ माता-पिता एवं गुरु के प्रति इतना सम्मान है। भारतीय संस्कृति का सत्य के प्रति विशेष आग्रह है। **'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'** (तै. उप. शिक्षा व. 1.1) तथा **'सत्यमेव जयते।'** जैसे कथन सत्य से ही धर्म की प्रतिष्ठा है, यह दर्शाते हैं।

आज सांस्कृतिक संक्रमण का संकटपूर्ण काल है। यह काल सांस्कृतिक प्रदूषण का काल है जिसमें ईमानदार, आदर्शवादी, सत्यवादी या श्रेष्ठ लोगों का जीवन कठिन है। आज की भोगवादी संस्कृति में येन केन प्रकारेण उन्नति एवं समृद्धि को प्राप्त करने की इच्छा है। इस भौतिकवादी प्रतिस्पर्द्धा में स्वार्थ प्रबल होता जा रहा है। शाश्वत जीवन की प्रायोगिक पद्धति के रूप में भारतीय संस्कृति पर काले बादल मडराने लगे हैं जिस संस्कृति ने अभी तक सत्य, सनातन एवं अमरजीवन का आनन्दमय मार्ग प्रशस्त किया है।

आज के सांस्कृतिक संकट का मूल कारण यह है कि हमारी संस्कृति जिन मानवीय मूल्यों एवं आदर्शों का प्रतीक है उनके प्रति मानव-मानस में अनिश्चय एवं भ्रांति है। नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की ऊँचाई पर अवस्थित भारतीय संस्कृति तक हम अपनी पहुँच नहीं बना पा रहे हैं। हमारे बौनेपन का कारण यह है कि हम अपने को अन्य प्राणियों से अलग नहीं कर पा रहे हैं और न ही हम अपनी सकारात्मक ऊर्जा का सदुपयोग ही कर पा रहे हैं। हम आकाश की ऊँचाई से जमीन की गहराई तक जाने की क्षमता तो रखते हैं किन्तु अपने शरीर की अन्तरात्मा तक पहुँचने में असमर्थ हो रहे हैं। यह सांस्कृतिक दोष नहीं, हमारी सोच में दोष है।

भारतीय परिवेश में आज अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए और विश्व शांति में योगदान के लिए भारत को आर्थिक दृष्टिकोण से उन्नत होने के साथ ही नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी उन्नत होना होगा। आध्यात्मिकता की दृष्टि से जो तप है, वही भौतिकता की दृष्टि से श्रम एवं उद्यम है। हमें अभ्युदय एवं निःश्रेयस् दोनों के लिए शारीरिक श्रम करना है। त्याग हमारी मानसिक उदारता है एवं तेज हमारी शक्ति। आज हमें अपनी सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा करनी है तभी हमारा अस्तित्व भी सुरक्षित रह सकेगा।





## पुस्तक परिचय

**भारतीय संस्कृति** हम भारतीयों को हमारी सांस्कृतिक सम्पदा को समझने हेतु पाठकों तथा समीक्षकों के समक्ष प्रस्तुत है । प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय सामाजिक संस्थाओं की अविच्छिन्न परम्परा को दर्शाने का प्रयास किया गया है, जो सत्य, त्याग, तप, दया, दान एवं धर्ममूलक अर्थ काम एवं मोक्ष पर आधृत है। हमारा विपुल संस्कृत वाङ्मय संतुलित समन्वयकारी, सत्य, सनातन एवं अमर जीवन प्रदान करने वाली भारतीय संस्कृति का संरक्षक रहा है। जिन संस्कृत वाङ्मयों के माध्यम से हम भारत के गौरवपूर्ण अतीत और हमारे देश के प्राण-तत्त्व रूप भारतीय संस्कृति को समझते हैं उन संस्कृत वाङ्मय से प्रसङ्गानुकूल यथा संभव उद्धरण लिए गए हैं तथा उनके अवलोकन के आधार पर भारतीय सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है । साथ ही, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इन सामाजिक संस्थाओं की उपादेयता या प्रासङ्गिकता को दर्शाने का प्रयास किया गया है ।

भारतीय संस्कृति के व्यापक आयाम में जो कुछ भी विवेच्य, प्रमेय तथा अनुसन्धेय है उसके मुख्य उपादान इस ग्रन्थ में पर्याप्त मौलिक प्रमाणों के साथ आ गये हैं। वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, संस्कार, नारियों की स्थिति, विवाह तथा शिक्षा जैसे सामान्य सांस्कृतिक उपादानों पर तो स्वतन्त्र अध्याय इस पुस्तक में हैं ही, कुछ अभिनव पक्षों पर भी प्रस्तुत पुस्तक में गम्भीर विचेचन किया है जैसे आर्ष महाकाव्यों में विवेचित तात्कालिक संस्कृति, पुराण-कालीन संस्कृति, प्राचीन भारत में अध्यात्म और धर्म की चेतना एवं अन्त में भारतीय संस्कृति में यज्ञ की महत्ता पर स्वतन्त्र अध्याय देकर इसका गम्भीर एवं व्यापक विवेचन किया गया है ।

---



**प्रो. दीपक कुमार** दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से एम.ए.,एम. फिल., पी.एच. डी., नेट एवं जे. आर. एफ. उत्तीर्ण हैं। वर्तमान में महाराजा कॉलेज, आरा (बिहार) के संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं आचार्य पद पर कार्यरत हैं। परिवारिक परम्परा से प्राप्त संस्कृत, संस्कृति, दर्शन, एवं अध्यात्म विषयों के ज्ञान पर आपकी लेखनी रचनारत है। आप शोध-पत्रिका 'पाटलिपुत्रा जर्नल ऑफ इन्डोलॉजी' का प्रमुख सम्पादन कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं विश्व सम्मेलनों में आपकी सक्रिय भागीदारी रही है। आपके निर्देशन में अनेक शोध-कार्य सम्पन्न हो चुके हैं एवं आपके तीस से अधिक शोध-निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

**आपकी प्रकाशित पुस्तके हैं:**

- आत्रेय रामानुज • ईशावस्योपनिषद् (नवीन अवधारणा) • भारतीय संस्कृति

---



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी-221001
csp_naveen@yahoo.co.in
www.chaukhamba.co.in


ISBN : 978-93-83721-07-8
9789383721078